पूज्य पिताजी

के

उन चरण-कमलों में

जिनकी छाँव ने हमें मातृहीनता का अनुभव नहीं होने दिया

श्रद्धा तथा स्नेहपूर्वक

समर्पित

अपनी बात

(प्रथम संस्करण)

यह-पुस्तक, जो आपके हाथों में है, मुख्यत: बिहार तथा पटना-विश्वविद्यालयों के नागरिक-शास्त्र, द्वितीय पत्र के प्राक्-विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है। किन्तु, आई० ए० और बी० ए० कक्षाओं के राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस पुस्तक में भारतीय संविधान और शासन की जटिलता को यथासंभव सरल भाषा एवं प्रन्थिलता को रोचक शैली में बोधगम्य बनाने प्रयास किया गया है। यथाप्रसंग कठिन तथा पारिभाषिक शब्दों और वाक्यांशों के अँगरेजी-रूपान्तर भी कोष्ठकों में दिये गये हैं। साथ ही, विद्यार्थियों के मनन के लिए, विश्वविद्यालय की प्रणाली में, प्रत्येक अध्याय के अन्त में अँगरेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में सम्बद्ध विषय पर प्रश्नावली भी दे दी गई है।

इस पुस्तक को अत्यन्त ही अल्प समय में और सुन्दर रूप में प्रकाशित करने के लिए हमारे प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

अपनी ओर से मैं उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति, जिनकी अँगरेजी तथा हिन्दी रचनाओं से इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है, आभार-प्रदर्शन करता हूँ।

धन्यवाद !

रेड-रूफ राँची

रामनरेश त्रिवेदी

विजयादशमी, १९५६

(द्वितीय संस्करण)

बड़े ही हर्ष के साथ भारतीय शासन का यह संशोधित द्वितीय संस्करण आपके हाथों में उपस्थित कर रहा हूँ। विगत मात्र महीनों की अल्प अवधि के पश्चात् ही नये संस्करण का प्रकाशन, इस पुस्तक की उपयोगिता और लोक-प्रियता को निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है।

'भारतीय शासन' का सौभाग्य है कि इसके प्रथम संस्करण का प्राध्यापकों, विद्यार्थियों एवं अन्यान्य पाठकों द्वारा कल्पनातीत स्वागत हुआ तथा सभी ओर से इसे यथेष्ट यश और सम्मान मिला। लेखक इन सभी गुरुजनों एवं मित्रों का आभारी है।

बिहार तथा पटना-विश्वविद्यालयों ने, अपने बी० ए० राजनीति-विज्ञान (तृतीय पत्र) प्राक्-विश्वविद्यालीय नागरिक-शास्त्र (द्वितीय पत्र) के पाठ्यक्रमों के लिए इसे स्वीकृत कर इसकी उपयोगिता और श्रेष्ठता प्रमाणित कर दी है।

इस संस्करण में कोई वृहत् संशोधन या परिवर्द्धन नहीं किया गया, फिर भी, बीते दिनों में होनेवाले प्रधान परिवर्त्तनों, जैसे बम्बई का गुजरात और महाराष्ट्र में विभाजन इत्यादि, का समावेश कर दिया गया है। पिछले संस्करण की भूलें और अशुद्धियाँ भी सुधार दी गई हैं।

राजनीति-विज्ञान तथा नागरिक-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी है, ऐसा मेरा विश्वास है। भारतीय शासन के पठन-पाठन से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों द्वारा इस पुस्तक का पूर्ववत् ही स्वागत हो, यही मेरी कामना है।

रेट-रूफ
राँची — रामनरेश त्रिवेदी
जून, १९६०

(चतुर्थ संस्करण)

इस संस्करण में कोई वृहत् संशोधन या परिवर्द्धन नहीं किया गया है, फिर भी, गत आम निर्वाचन के फलस्वरूप जो मुख्य परिवर्त्तन हुए हैं, उनका समावेश कर दिया गया है। आशा है कि अगले जुलाई में 'भारतीय शासन' का नवीन संस्करण आपके हाथों में प्रस्तुत होगा।

रेट-रूफ
राँची — रामनरेश त्रिवेदी
जून, १९६२

(पंचम संस्करण)

'भारतीय शासन' के चतुर्थ संस्करण को आशातीत सफलता मिली। अक्टूबर, १९६२ तक इस संस्करण की सारी प्रतियाँ बिक गईं।

भारतीय शासन के पठन-पाठन से सम्बन्धित विद्यार्थियों एवं शिक्षकों की माँग के कारण यह संस्करण चतुर्थ संस्करण की पुनरावृत्ति के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। पाठकों के हाथों में शीघ्रातिशीघ्र इस पुस्तक को उपलब्ध कराने के फलस्वरूप इस संस्करण के प्रकाशन में यदि कुछ त्रुटियाँ रह जायँ तो पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

राजनीति-विज्ञान-विभाग
राँची-विश्वविद्यालय — रामनरेश त्रिवेदी
जून, १९६३

विषय-सूची

*प्रेस की भूल के कारण पृष्ठ-संख्या ४६ के बाद पृष्ठ-संख्या ११३ दे दी गई है। पाठ्य सामग्री क्रमश: है। पाठक इसे पृष्ठों की छूट नहीं समझें।

अध्याय		पृष्ठ-संख्या

१ | भारतीय शासन-व्यवस्था की प्रारंभिक चर्चा

सदियों प्राचीन एव विविध रगीन भारतीय शासन-व्यवस्था के लम्बे इतिहास में हमारे देश की मौजूदा शासन-पद्धति का अध्याय २६ जनवरी, १६५० ई० से शुरू होता है। वैसे तो भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट, १६४७ (Indian Independence Act, 1947) के अनुसार, १५ अगस्त, १६४७ ई० को ही भारत लगभग स्वतन्त्र हो गया था, लेकिन भारत के मौजूदा नये सविधान के लागू होने तक हमारे देश की शासन-व्यवस्था का सचालन तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रश्नो का निर्णय मुख्यत अंगरेजी राज्य के दिनों में बनाये गये '१६३५ के भारत-सरकार-अधिनियम'[1] (Government of India Act of 1935) द्वारा ही होता रहा और हमारे देश की 'अधिराज्य-स्थिति' (Dominion Status) कायम रही।

२६ जनवरी, १६५० ई० को हमारे देश के वर्त्तमान सविधान के लागू होने के साथ हमारी 'अधिराज्य-स्थिति' का अन्त हुआ और भारत दुनिया के रंगमच पर एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य के रूप में उदित हुआ। इस नये सविधान के आधार पर हमारे देश की वर्त्तमान शासन-व्यवस्था की नींव पडी।

आजकल हमारे देश की शासन-व्यवस्था एक सवैधानिक कानून (Law of the Constitution) के अनुसार चल रही है। आम तौर पर भारत के लिखित मूल सविधान को ही सवैधानिक कानून माना जाता है। लेकिन असलियत यह है कि भारतीय गणतन्त्र का लिखित मूल सविधान इस सवैधानिक कानून का सिर्फ एक ही अग है। भारत के सवैधानिक कानून के चार और भी अग हैं—(१) सवैधानिक सशोधन, (२) भारतीय गणतन्त्र के सविधान में की गई व्यवस्थाओं के अनुसार बनाये और जारी किये गये कानून (Statutes), आर्डिनेन्स, नियम (Rules), विनियम (Regulations) और आदेश (Orders), (३) न्यायिक निर्णय एव (४) सवैधानिक प्रथाएँ और परम्पराएँ।

---

१. इस अधिनियम की कुछ धाराओं में सशोधन कर दिये गये थे, जिनके द्वारा गवर्नर-जेनरल तथा गवर्नरों के विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया गया था।

इस प्रकार, वर्त्तमान भारतीय शासन-पद्धति जिस संवैधानिक कानून के अनुसार संचालित होती है, उसके पाँच अंग हुए। इन पाँचों अंगों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है—

भारत के संवैधानिक कानून के अंग

(१) लिखित मूल संविधान,
(२) संवैधानिक संशोधन,
(३) संवैधानिक कानून, नियम और आदेश,
(४) न्यायिक निर्णय,
(५) प्रथाएँ और परम्पराएँ;

(१) भारतीय गणतन्त्र का लिखित मूल संविधान—इसे भारत की संविधान-सभा (Constituent Assembly) ने बनाया। यह संविधान-सभा 'कैबिनेट-मिशन-योजना'[१] के अधीन बनाई गई थी। इसमें ३८५ सदस्य थे, २९२ ब्रिटिश भारत के तथा ९३ देशी रियासतों के, जो विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि थे। साधारण तौर पर प्रति १० लाख व्यक्तियों पर एक प्रतिनिधि चुना गया था। इन प्रतिनिधियों का चुनाव प्रान्तीय विधान-मण्डलों के सदस्यों ने साम्प्रदायिक आधार पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) द्वारा एकल-संक्रमणीय मत-पद्धति (Single Transferable Vote System) के अनुसार किया था। इस सभा के सदस्यों का चुनाव जुलाई १९४६ ई० में हुआ था। संविधान-सभा की पहली बैठक ९ दिसम्बर, १९४६ ई० को हुई थी। उस समय इस सभा को सम्पूर्ण (अविभाजित) भारतवर्ष के लिए एक ही संविधान बनाना था।

कैबिनेट-मिशन-योजना के अधीन बनाई गई इस संविधान-सभा के ऊपर दो मर्यादाएँ (Limitations) लगी हुई थीं—पहली, इस योजना में वर्णित नये संविधान की मुख्य रूप-रेखा में यह किसी भी प्रकार का अदल-बदल नहीं कर सकती थी और दूसरी, यह सभा प्रभुत्व-सम्पन्न न होकर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट की अन्तिम सत्ता के अधीन थी।

३ जून, १९४७ ई० को माउण्टबैटन-योजना[२] (Mountbatten Plan) को कार्य में लाने के लिए, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने जुलाई, १९४७ ई० में भारतीय स्वाधीनता-अधिनियम

---

१ ब्रिटिश सरकार की ओर से भेजे गये ब्रिटिश-मंत्रिमण्डल के तीन सदस्यों के एक शिष्टमण्डल द्वारा १६ मई, १९४६ ई० को घोषित की गई योजना। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की भारतीय संवैधानिक तथा राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के हेतु यह शिष्टमण्डल मार्च, १९४६ में भारत भेजा गया था।

२ उस समय के समूचे भारतवर्ष को भारत तथा पाकिस्तान नामक दो हिस्सों में बाँट दिये जाने की योजना।

(Indian Independence Act of 1947) पास किया। इस अधिनियम के अनुसार भारत अँगरेजी राज्य के चगुल से मुक्त तो अवश्य हो गया, लेकिन साथ ही भारत और पाकिस्तान नामक दो अलग और स्वतन्त्र उपनिवेशो मे बँट गया।

इस ऐक्ट ने सविधान-सभा के स्वरूप का कायाकल्प कर दिया। कैबिनेट-मिशन-योजना के अनुसार जो दो मर्यादाएं इसपर लगी हुई थीं, वे सब समाप्त हो गईं। अब यह एक पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न विधान-निर्मात्री सभा (Fully Sovereign Constituent Assembly) बन गई। अब इसे सिर्फ भारत (India) ही के लिए एक सविधान बनाना था।[1]

भारत के वर्तमान सविधान का प्रारूप (Draft) ५ नवम्बर, १९४७ ई० को इस सभा के सामने पेश किया गया। इस ड्राफ्ट मे कई सशोधन तथा परिवर्त्तन किये गये। २६ नवम्बर, १९४९ ई० को अन्तिम रूप से भारतीय गणतन्त्र का लिखित मूल सविधान इस सभा द्वारा पास हो गया। यह सविधान, जो २६ नवम्बर, १९४९ ई० को ही बनकर तथा पास होकर तैयार हो गया था, २६ जनवरी, १९५० ई० को लागू किया गया। इस प्रकार, इस सविधान के बनने मे २ वर्ष ११ महीने और ८ दिन लगे। यह एक बहुत ही बडा तथा व्यापक लेख्य (Document) है, जिसमे ३९५ धाराए (Articles) और ९ अनुसूचियाँ (Schedules) हैं।

(२) संवैधानिक संशोधन—भारतीय सविधान के मूल रूप मे अवतक १७ सशोधन हो चुके हैं और १८वाँ सशोधन विचाराधीन है। ये सशोधन भी हमारे देश के सवधानिक कानून के अनिवार्य अग बन गये हैं चूँकि इनके द्वारा मूल सविधान की कुछ धाराओं को रद्द तथा सशोधित किया गया है और कुछ नई धाराएँ जोडी गई हैं।

(३) कानून, नियम, विनियम, ऑर्डिनेन्स और आदेश (Statutes, Rules, Regulations, Ordinance and Orders)—भारत के सविधान ने सघीय ससद् (Union Parliament) और राज्यों के विधान-मडलों (State Legislatures) को कई सवैधानिक विषयों मे कानून (Statute) द्वारा विशेष रूप से व्यवस्था कर सकने का अधिकार दिया है। जैसे, लोकसभा के सदस्यो की सख्या कितनी होगी, कौन कौन व्यक्ति भारत के नागरिक होंगे इत्यादि। इनपर और इसी प्रकार के अन्य विषयो पर जो कानून (Statutes) बनाये जाते हैं, वे भी हमारे देश के सवैधानिक कानून के अग हैं।

---

१ पाकिस्तान का सविधान पाकिस्तान-सविधान-सभा को बनाना था।

संविधान संघीय संसद् तथा भारत के राष्ट्रपति को बहुत-से नियम (Rules) बनाने का अधिकार भी देता है। जैसे संघीय संसद् का प्रत्येक सदन अपनी कार्य-प्रणाली और कार्य-सञ्चालन के सम्बन्ध में नियम बना सकता है। इसी प्रकार भारत का राष्ट्रपति भी संघ-सरकार के कामों को चलाने तथा मन्त्रियों को विविध शासन-कार्य सुपुर्द करने के सम्बन्ध में नियम बना सकता है। संघीय संसद् तथा राष्ट्रपति द्वारा बनाये गये इस प्रकार के नियम (Rules) भी भारत के संवैधानिक कानून के अंग बन जाते हैं।

भारत के राष्ट्रपति को ऊपर कहे गये नियमों के अलावा विनियमों (Regulations) के बनाने का भी अधिकार है। उदाहरण के तौर पर, संघीय तथा राज्यों के संयुक्त लोक-सेवा-आयोगों (Public Service Commissions) के सदस्यों की सर्विस की शर्तों के सम्बन्ध में।

नियम और विनियम बनाने के अलावा भारत का राष्ट्रपति विशेष परिस्थितियों में आर्डिनेन्स तथा आदेश भी जारी कर सकता है। आर्डिनेन्स जारी कर सकने का अधिकार राज्यपालों को भी दिया गया है। इस प्रकार के आर्डिनेन्स तथा आदेश भी भारत के संवैधानिक कानून के अंग हुआ करते हैं।

अत, "संवैधानिक कानून के साथ सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर जो कानून भारत की पार्लियामेंट या राज्यों के विधान-मंडल बनायें, या जो आर्डिनन्स राष्ट्रपति और राज्यपालों द्वारा जारी किये जायें, ऐसे विषयों पर जो भी नियम पार्लियामेन्ट और राष्ट्रपति बनायें, और राष्ट्रपति द्वारा इन विषयों में जो भी नियम, विनियम और आदेश निर्धारित किये जायें, वे सब भारत के संवैधानिक कानून के तृतीय अंग हैं।"

(४) न्यायिक निर्णय (**Judicial Decisions**) —किसी भी देश के संवैधानिक कानूनों के अर्थ तथा उस देश के संविधान की सभी धाराओं के अर्थ और अभिप्राय पूरी तौर पर साफ नहीं हुआ करते। उनके बनाने के समय में अगर इन्हें बिलकुल साफ कर भी दिया जाय, तो भी समय के बदलने के साथ उनके नये अर्थ और नई व्याख्या की जरूरत पड़ जाती है।

भारत का संवैधानिक कानून इसका अपवाद नहीं है। हमारे देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को संविधान की व्याख्या करने का अधिकार और कार्य दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय की एक बेंच का काम सिर्फ संवैधानिक कानून-सम्बन्धी मामलों का ही फैसला करना है। इस प्रकार के न्यायिक निर्णय भी भारत के संवैधानिक कानून के अंग हैं।

(५) संवैधानिक प्रथाएँ और परम्पराएँ (**Usages and Conventions**) —प्रत्येक देश की शासन-व्यवस्था के संचालन में उस देश के संविधान की

धाराओं के अलावा कुछ अलिखित प्रथाओं एवं परम्पराओं का भी हाथ रहता है। इंगलैंड की शासन-व्यवस्था तो मुख्यतः प्रथाओं और परम्पराओं पर ही आधारित है।

यद्यपि भारत के संविधान को लागू हुए कुल पन्द्रह वर्ष हुए हैं, फिर भी इतने ही कम समय में कुछ संवैधानिक परम्पराएं इस देश में भी चल पड़ी हैं। जैसे, संविधान में कहीं भी यह बात समाविष्ट नहीं की गई है कि राष्ट्रपति भारत के प्रधान मंत्री के पद पर उस व्यक्ति को नियुक्त करे, जो लोकसभा में बहुमत-प्राप्त दल का नेता हो, लेकिन, इस तरह की परम्परा शुरू हो गई है। संविधान में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि किसी भी मंत्री को, प्रधान मंत्री के सलाह देने पर ही, राष्ट्रपति हटा सकेगा। वरन् संविधान तो कहता है कि मंत्रिगण राष्ट्रपति के प्रसाद-काल (During the pleasure) तक ही अपने पदों पर रह सकते हैं।

राज्यपालों की नियुक्ति में राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मंत्री तथा सम्बन्धित राज्यों के मुख्य मंत्रियों से परामर्श लिया जाना भी प्रथा और परम्परा का ही परिणाम है, यह संविधान में लिखित नहीं है।

ऐसी संवैधानिक प्रथाओं और परम्पराओं को हमारे देश के संवैधानिक कानून का पंचम अंग माना जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि इन प्रथाओं और परम्पराओं का कोई कानूनी मूल्य नहीं है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय और देश के अन्य न्यायालयों की नजर में उनकी कोई मान्यता नहीं।

प्रश्न

(१) जिस संवैधानिक कानून द्वारा वर्त्तमान भारतीय शासन-व्यवस्था संचालित होती है, उसके कितने अंग हैं? प्रत्येक अंग का नाम बताइए और उनके संक्षिप्त विवरण दीजिए।

How many parts has the Law of the Constitution of India upon which is based the present Indian Administrative system ? Give the names and a brief description of each one of them

★

१ भारत के संविधान की मुख्य विशेषताएँ

(Salient features of the Indian Constitution)

वर्तमान भारतीय शासन पद्धति की आधार-शिला, भारतीय गणतन्त्र का संविधान, हमारे देश के दीर्घकालीन एवं गौरवशाली इतिहास में एक युग का पटाक्षेप और दूसरे युग का प्रारम्भ है। प्रत्येक देश के संविधान की भाँति, इसकी भी कुछ मुख्य विशेषताएँ हैं।

(१) लिखित और निर्मित संविधान (**Written and Enacted Constitution**)—भारत का संविधान लिखित और निर्मित है। यह ३९५ धाराओं और ६ अनुसूचियों का एक विशाल और व्यापक लेख्य है। इसे भारत की संविधान-सभा ने ६ दिसम्बर, १९४६ ई० से २६ नवम्बर, १९४९ ई० तक, २ वर्ष ११ महीने और ८ दिनों की अवधि में बनाया।

संविधान की मुख्य विशेषताएँ

१ लिखित और निर्मित संविधान,
२ जनता का अपना संविधान;
३ संविधान की सर्वोच्चता,
४ सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य,
५ धर्म-निरपेक्ष राज्य
६, संघात्मक राज्य,
७ शक्तिशाली केन्द्र,
८ संसदीय शासन-प्रणाली,
९ नम्य और अनम्य संविधान,
१० मौलिक अधिकारों का रक्षक;
११ स्वतन्त्र न्यायपालिका,
१२ राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व,
१३ सामाजिक तथा आर्थिक जनतन्त्र का हामी;
१४ साम्प्रदायिकता का शत्रु एवं परिगणित जातियों के हित का रक्षक;
१५ राष्ट्रीय एकता तथा एकरूपता को सुदृढ करनेवाला संविधान;

१६. विश्व-शान्ति का समर्थक ;
१७ कानून की सत्ता ;
१८ वयस्क मताधिकार की व्यवस्था ।

जब हम इस संविधान को लिखित कहते हैं, तब इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि इसका कोई अलिखित तत्त्व नहीं है । पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि गत पन्द्रह वर्षों में ही बहुत-सी संवैधानिक प्रथाएँ और परम्पराएँ चल पड़ी हैं । इस प्रकार कुछ अलिखित तत्त्व तो आ ही चुके हैं और भविष्य में भी आते ही रहेंगे । इसी प्रकार, इस संविधान को निर्मित कहने का यह अभिप्राय कतई नहीं कि इसके पीछे ऐतिहासिक विकास की कोई पृष्ठभूमि नहीं रही है । इसके निर्माण की कहानी भारतीय संविधान-सभा की कहानी से बहुत ही अधिक पुरानी और लम्बी है । इसकी कहानी की शुरुआत तो सचमुच भारत मे ब्रिटिश शासन-काल के प्रारम्भिक दिनों से ही होती है ।

भारत में अँगरेजी राज्य के दिनों मे शासन-प्रबन्ध चलाने के लिए ब्रिटेन की संसद् ने बहुत-से ऐक्ट पास किये थे, जैसे, १८६१ ई० का इडियन कौन्सिल ऐक्ट, १९०९ ई० का मॉर्ले-मिण्टो-सुधार या १९१९ और १९३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियम । इन ऐक्टों की, विशेषकर १९३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियम की, कितनी ही धाराओं तथा व्यविधानों की गहरी छाप, वर्तमान संविधान पर साफ दीख पड़ती है । कुछ लेखकों का तो मत है कि भारत के नये संविधान के ७५ प्रतिशत भाग का स्रोत (Sources) १९३५ ई० का भारत-सरकार-अधिनियम ही है ।

इस प्रकार इस संविधान के कुछ अलिखित और विकसित (Unwritten and Evolved) तत्त्वों के रहने पर भी इसे संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत रूस और फ्रांस के संविधानों के समान लिखित और निर्मित संविधानों की ही श्रेणी में गिना जाता है । इस दृष्टि से इंगलैंड के संविधान से, जो एक लिखित तथा विकसित संविधान है, भारत का संविधान सर्वथा भिन्न है ।

(२) *जनता का अपना संविधान*—स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़नेवाली दूसरी विशेषता यह है कि भारतीय गणतन्त्र का संविधान सार्वजनिक सप्रभुता (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त पर आधारित है । यह संविधान भारतवासियों द्वारा बना है । संविधान की प्रस्तावना से स्पष्ट होता है कि इस संविधान की रचना भारत-वासियों द्वारा किसी भी प्रकार के बाह्य प्रभाव के अभाव मे हुई । इस संविधान के लागू होने के पहले के भारत के संविधान ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये थे और वही उनमे परिवर्तन भी कर सकती थी ।

प्रस्तावना

(Preamble)

"हम" भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए ... ...
दृढ सङ्कल्प होकर अपनी इस संविधान-सभा में
इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

कुछ लेखकों की राय में इस संविधान को 'जनता का अपना संविधान' कहना उचित नहीं। इन लोगों का कहना है कि इस संविधान को बनानेवाले भारतीय संविधान-सभा के सदस्य, भारत की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से बालिग मताधिकार के आधार पर नहीं चुने गये थे। भारतीय संविधान सभा के सदस्यगण केवल १३ प्रतिशत मतदान-अधिकार-प्राप्त भारतीय जनता द्वारा, अप्रत्यक्ष रूप से, साम्प्रदायिक आधार पर चुने गये थे और वह भी प्रान्तों के विधान-मंडलों द्वारा। इन सदस्यों द्वारा बनाया गया संविधान देश की सारी जनता के सामने मंजूरी के लिए रखा भी तो नहीं गया। वैसी हालत में इसे जनता का अपना संविधान कहना सही नहीं।

इस प्रकार की आलोचना सैद्धान्तिक दृष्टि से तो बिलकुल ठीक है, लेकिन व्यावहारिक-दृष्टि से इसमें कोई तथ्य नहीं। यह तो जानी हुई बात है कि यदि उस समय संविधान-सभा के सदस्यों के लिए आम-चुनाव होता भी, तो कॉंग्रेस-पार्टी के ही प्रतिनिधिगण बहुमत से चुने जाते। आम-चुनाव में समय और धन दोनों की बरबादी के बाद भी नई संविधान-सभा पुरानी संविधान-सभा से अधिक भिन्न नहीं हो पाती।

इसके अतिरिक्त यह संविधान भारत की जनता को ही राज्यशक्ति का मूल स्रोत मानता है। इसके अनुसार भारतीय शासन की अन्तिम सत्ता या प्रभुता का निवास भारतीय जनता में ही है।

(३) संविधान की सर्वोच्चता—संविधान की सर्वोच्चता का तात्पर्य है कि संघीय संसद् या राज्यों के विधान-मंडल, संविधान के उपबन्धों के विपरीत कोई भी कानून नहीं बना सकते। यदि वे ऐसा करते हैं, तो संवैधानिक सर्वोच्चता के संरक्षक, भारत के उच्चतम न्यायालय को उन कानूनों को अवैध घोषित करने का पूरा अधिकार प्राप्त है।

(४) सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य (Sovereign Democratic Republic)— भारत का यह नया संविधान हमारे देश को एक 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' घोषित करता है। सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न से तात्पर्य यह है कि अपनी भौगोलिक सीमा के अन्दर पड़नेवाले क्षेत्रों के शासन में तथा

विदेशी मामलों में, भारत-संघ की सर्वोच्च सत्ता, क्रमशः किसी व्यक्ति, संस्था या सत्ता और किसी भी अन्य देश या सत्ता के कानूनी नियन्त्रण से पूर्णतः स्वतन्त्र है।

स्वाधीन भारत के इस नवीन संविधान द्वारा भारत को 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' घोषित करना इसलिए आवश्यक था कि सन् १९४७ ई० के पूर्व, राज्य के अति आवश्यक तत्त्व 'सार्वभौमिकता' प्राप्त नहीं रहने के कारण, भारत को राज्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती थी। भारत पर ब्रिटिश शासन के नियन्त्रण की समाप्ति को घोषित करने के अतिरिक्त, इस घोषणा का यह अभिप्राय था कि स्वाधीन भारत की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत रहनेवाला कोई व्यक्ति, कोई संस्था या समुदाय भारत-सरकार के आदेशों तथा नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता है।

इस सम्बन्ध में भारत द्वारा राष्ट्रमंडल (Commonwealth of Nations) की सदस्यता स्वीकार किये जाने को लेकर आलोचना की जाती है। आलोचकों का कहना है कि राष्ट्रमंडल की सदस्यता के कारण भारत की सम्पूर्ण सप्रभुता में बाधा पहुँचती है। पर बात ऐसी नहीं है। राष्ट्रमंडल की सदस्यता भारत पर जबरदस्ती लादी नहीं गई है। भारत ब्रिटिश सम्राट् को सिर्फ राष्ट्रमंडल की एकता का प्रतीक मानता है। इसके अलावा, राष्ट्रमंडल की सदस्यता भारत की इच्छा पर निर्भर करती है और भारत जब चाहे, इससे अलग हो सकता है। श्रीनेहरू ने इस सम्बन्ध में उठाये गये विवादों और संशयों को दूर करने के लिए ठीक ही तो कहा था कि 'राष्ट्रमंडल किसी भी हालत में राष्ट्रों से बढ़कर राज्य नहीं है। हमने तो स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्वेच्छा से बनाये सम्पर्क के औपचारिक प्रधान के रूप में ब्रिटिश सम्राट् या सम्राज्ञी को स्वीकार किया है।'[१]

'लोकतंत्रात्मक गणराज्य' का अर्थ हुआ कि भारतीय शासन-व्यवस्था भारतवासियों की इच्छाओं और आकांक्षाओं के ही अनुसार संचालित होगी। साथ ही उस शासन-व्यवस्था का प्रधान कोई वंशक्रमानुगत राजा या रानी नहीं, वरन् देशवासियों द्वारा निर्वाचित उचित योग्यता रखनेवाला कोई भी नागरिक हो सकता है।

(५) धर्म-निरपेक्ष राज्य (**Secular State**)—इस संविधान के अनुसार भारत में एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है कि राज्य के लिए सभी धर्म समान हैं और राज्य की ओर से किसी भी विशेष धर्म को बढ़ावा नहीं दिया जायगा। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार अशोक ने बौद्धधर्म को राज्य-धर्म (State

---

१. "So far as the Constitution of India is concerned the King has no place and we shall owe no allegience to him."

J Nehru

'Religion) बना दिया था या जैसा कि पाकिस्तान इस्लाम को मानता है, इस प्रकार भारत-संघ का कोई भी अपना 'राज्य-धर्म' नहीं होगा। धार्मिक मामलों में राज्य की ओर से तटस्थता की नीति अपनाई जायगी और किसी भी नागरिक को अपने धर्म के कारण न तो कोई विशेष अधिकार ही मिलेगा और न उसे किसी अधिकार से वंचित ही किया जायगा।

कुछ लोग 'धर्म-निरपेक्षता' का तात्पर्य अधार्मिकता या नास्तिकवाद को बढ़ावा देना समझते हैं। यह विचार बिलकुल गलत है। 'धर्म-निरपेक्षता का असल अर्थ है कि राज्य न धार्मिक है और न धर्म-विरोधी, बल्कि धार्मिक कार्यों और सिद्धान्तों से सर्वथा अलग है और इस तरह धार्मिक मामलों में पूर्णतः तटस्थ है।'

श्रीरामथ ने ठीक ही कहा है कि 'धर्म-निरपेक्ष राज्य न ईश्वर-विहीन राज्य है, न अधार्मिक राज्य है और न धर्म-विरोधी राज्य।'

(६) संघात्मक राज्य—भारतीय संविधान ने हमारे देश को राज्यों का एक संघ (Union of States) कहा गया है। संघात्मक संविधान के चार प्रमुख लक्षण माने गये हैं—

१ दो स्तरीय शासन-व्यवस्था—संघ तथा इकाइयों की,
२ संघीय तथा राज्य-सरकारों के बीच अधिकारों का विभाजन,

---

१ राज्य—१ आन्ध्र-प्रदेश, २ आसाम, ३ बिहार, ४ गुजरात, ५ जम्मू और कश्मीर, ६ केरल, ७ मध्यप्रदेश, ८ मद्रास, ९ मैसूर, १० महाराष्ट्र, ११ पश्चिम बंगाल, १२ पंजाब, १३ राजस्थान, १४ उड़ीसा, १५ उत्तरप्रदेश, और १६ नागालैंड।

संघ-क्षेत्र—१ हिमाचल-प्रदेश, २ मणिपुर, ३ त्रिपुरा, ४ दिल्ली, ५ अण्डमन तथा निकोबार-द्वीप-समूह, ६ लक्ष द्वीप-समूह ७ दादरा, और नागरहवेली, ८ गोआ, डामन और डिउ तथा ९ पाण्डिचेरी।

स्मरण रहे कि गुजरात तथा महाराष्ट्र राज्यों की स्थापना १ मई, १९६० को हुई। इस तिथि के पहले इन दोनों राज्यों के सम्मिलित क्षेत्र को बम्बई राज्य कहा जाता था और भारतीय संघ में सम्मिलित राज्यों की कुल संख्या १४ थी। इसी प्रकार नागालैंड राज्य की स्थापना सन् १९६३ ई० में हुई।

भारत-संघीय क्षेत्र का १४ राज्यों तथा ६ संघ-क्षेत्रों—इन दो इकाइयों में बँटा होना, पहली नवम्बर, १९५६ ई० से लागू हुए राज्य-पुनर्गठन-अधिनियम (The State Reorganisation Act) का परिणाम था। इस ऐक्ट के लागू होने के पहले भारत-संघ में २८ राज्य सम्मिलित थे, जो संविधान की प्रथम अनुसूची में उल्लिखित 'क', 'ख', 'ग' तथा 'घ' नामक चार श्रेणियों में बँटे हुए थे।

३. लिखित एवं अनमनीय सर्वोच्च संविधान; और
४ स्वतन्त्र एवं सर्वोच्च न्यायपालिका।

भारतीय सघ में १६ राज्य (States) और ६ संघ-क्षेत्र (Union Territories) सम्मिलित हैं।[1] दूसरे सघात्मक राज्यो के समान भारत मे भी दो प्रकार की सरकारें हैं—पहली सघीय सरकार (भारत-सरकार) और दूसरी, कई राज्य-सरकारें (जसे, बिहार-सरकार, मद्रास-सरकार इत्यादि)। केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारो की अधिकार-क्षेत्र-सीमा साफ ढग से दिखाने के लिए सविधान शक्तियों का, केन्द्र तथा अवयव एकको के बीच तीन सूचियों—सघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची—मे अलग-अलग विभाजन करता है। प्रत्येक सरकार की सत्ता अपने-अपने क्षेत्र मे सामान्यत सर्वोच्च बनाई गई है। यदि इन दोनों प्रकार की सरकारों के बीच किसी प्रकार का अधिकार-सम्बन्धी विवाद पदा हुआ, तो उसके निपटारे के लिए सर्वोच्च न्यायालय की भी स्थापना की गई है। भारत के सविधान का अनमनीय (Rigid) स्वरूप भी सघात्मक शासन-व्यवस्था की ही पुष्टि करता है।

इस प्रकार, सघीय सरकार से भारत की राष्ट्रीय एकता तथा भारतीय सघ के अधीन विविध राज्यो की सरकारों द्वारा हमारे देश की विभिन्नताओ की अभिव्यक्ति होती है। भारतीय सघ का यह रूप सदा के लिए जड नहीं बनाया गया है। भाषा, सस्कृति आदि के आधार पर वर्तमान राज्यो का पुनर्गठन हो सकता है, जैसा कि सन् १९६० ई० मे बम्बई के साथ हुआ और उसे महाराष्ट्र तथा गुजरात नामक दो राज्यो मे बॉट दिया गया, या जैसा कि सन् १९५६ ई० मे हुआ जबकि सन् १९५० ई० वाले 'क', 'ख', 'ग' और 'घ' श्रेणियो के विभिन्न राज्यों का स्वरूप बदल गया। इसके अलावा राज्यो को अपने निवासियो की निजी भाषा, सस्कृति और अन्य विशिष्टताओं (Specialities) का भलीभाँति विकास कर सकने की सुविधा और अधिकार भी दिये गये हैं।

अत एक सघात्मक राज्य के लिए जो भी तत्त्व तथा लक्षण आवश्यक हैं, वे सभी भारत के सविधान मे पाये जाते हैं। फिर भी, भारत का सघात्मक राज्य दुनिया के अन्य सघों से बहुत-सी बातों में भिन्न है और इसमे एकात्मक राज्यों के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं। केन्द्रीय सरकार को बहुत ही शक्तिशाली बनाया गया है और युद्ध तथा अन्य सकट-कालीन परिस्थितियो मे यह बिलकुल एकात्मक राज्य की भाँति काम कर सकता है। इस सम्बन्ध मे और भी अधिक चर्चा आगे चलकर की जायगी।

(७) शक्तिशाली केन्द्र—यद्यपि भारत का सविधान हमारे देश मे सघात्मक शासन की व्यवस्था करता है, फिर भी यह एक अत्यन्त ही शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की भी स्थापना करता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि भारतीय संघ अन्य सघो की तरह नहीं है।

संविधान में अँगरेजी भाषा के 'Federation' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है, जैसा कि अन्य संघीय संविधानों में हम पाते हैं। हमारा संविधान 'Union of States' कहता है, न कि 'Federation of States'।

इस प्रकार, हमारे देश की संघीय शासन-व्यवस्था कनाडा की संघीय शासन-व्यवस्था से मिलती-जुलती है, क्योंकि वहाँ भी एक शक्तिशाली केन्द्र है।

भारत के संविधान द्वारा जो शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार बनाई गई है, उसका एकमात्र उद्देश्य है—देश की एकता को अक्षुण्ण रखना। संघ-सूची में प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख है। इस सूची पर केन्द्रीय सरकार को पूर्ण अधिकार प्राप्त है। समवर्ती सूची का भी यही हाल है और इस सम्बन्ध में संघ-सरकार को ही प्राथमिकता दी गई है। अवशिष्ट अधिकार (Residuary powers) भी केन्द्रीय सरकार को ही प्रदान किये गये हैं।

कहा जा चुका है कि राज्यों को संविधान बनाने अथवा उसमें संशोधन करने का अधिकार नहीं है।

संकट-काल की घोषणा के दौरान तो राज्य-सरकारों की सारी शक्तियाँ सिमटकर केन्द्रीय सरकार के हाथों में ही आ जाती हैं, यहाँ तक कि केन्द्रीय कार्यपालिका राज्य-सरकारों को आदेश भी दे सकती है।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि साधारण तथा संकट—दोनों कालों में संघ की केन्द्रीय सरकार अत्यन्त ही शक्तिशाली और सुदृढ बना दी गई है।

(८) संसदीय शासन-प्रणाली (**Parliamentary form of Government**):—

भारतीय संविधान, संघ और राज्यों—दोनों क्षेत्रों में संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापना करता है। इस प्रणाली के मुताबिक संघीय तथा राजकीय दोनों स्तरों पर शक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथों में दी गई है। संघीय मन्त्रिमण्डल को संसद् के निम्न सदन यानी लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप में उत्तरदायी बना दिया गया है।

इसी भाँति राज्यीय मन्त्रिमण्डल भी विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। संघीय स्तर पर भारत का राष्ट्रपति एवं राज्यीय स्तर पर राज्यपाल सिर्फ संवैधानिक प्रधान हैं।

---

१ "The Indian constitution combines the presidential system of government with responsible executive drawn from the parliament" — *P B Mukherji*

चूँकि, भारत-सरकार का संवैधानिक प्रधान राष्ट्रपति है, राजकीय शक्ति का प्रयोग भी उसी के नाम से किया जाता है और उसे अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार भी दिये गये हैं, इसलिए कुछ लोग इस भ्रम मे पड जाते हैं कि भारत में अध्यक्षात्मक (Presidential) शासन-प्रणाली तो नहीं है ? ऐसा भ्रम सर्वथा निराधार है; क्योंकि अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति में कार्यकारिणी व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र हुआ करती है। इसमें मन्त्रिमण्डल के सदस्य न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और न उसके प्रति उत्तरदायी ही। साथ-ही-साथ इस शासन-प्रणाली का संवैधानिक प्रधान, संसदीय पद्धति की तरह नाममात्र का दिखाऊ प्रधान न होकर वास्तविक सत्ताधारी हुआ करता है।

इसे इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रपति को बहुत अधिकार और शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, पर इनका वास्तविक प्रयोग राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की सहायता और परामर्श के अनुसार ही करता है। इस दृष्टि से भारत का राष्ट्रपति इंगलैंड के सम्राट् से अधिक मिलता-जुलता है। वह संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की तरह यथार्थ अधिकार-प्राप्त सर्वोच्च सत्ताधारी नहीं है।

अत, भारतीय संविधान संसदीय पद्धति की स्थापना करता है, न कि अध्यक्षात्मक प्रणाली की।

(६) नम्य और अनम्य संविधान (Flexible and Rigid Constitution)—ऊपर कहा जा चुका है कि भारत का संविधान संघात्मक और लिखित है। इन दोनों प्रकार के संविधानों की एक विशेषता कठोरता या अनम्यता (Rigidity) मानी जाती है। अतएव, भारत के संविधान में कठोरता तो होनी ही चाहिए और है भी।

भारत का संविधान, एक अनम्य संविधान की भाँति, संवैधानिक और साधारण दोनों प्रकार की विधियों में विभेद करता है। संविधान के अधिकांश भाग का संशोधन, नम्य (Flexible) संविधान की तरह, साधारण कानून बनाने की सामान्य पद्धति द्वारा न होकर, एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा ही हो सकता है। अर्थात्, साधारण कानून भारतीय संसद् के प्रत्येक सदन के साधारण बहुमत से बनाया जा सकता है, लेकिन संवैधानिक संशोधनों के लिए संसद् के प्रत्येक सदन की कुल सदस्यता का बहुमत और उपस्थित तथा वोट देनेवाले सदस्यों के दो-तिहाई मत आवश्यक हैं। इतना ही नहीं, संविधान के उन भागों में, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भारतीय संघ तथा उसके अन्दर के राज्यों के बीच अधिकार-वितरण से सम्बन्ध रखते हैं, कोई संशोधन तभी किया जा सकता है, जबकि प्रत्येक सदन की कुल सदस्यता का बहुमत और उपस्थित तथा मत देनेवाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से संसद् द्वारा पास हो जाने के अलावा भारतीय संघ के अन्दर कुल राज्यों में कम-से-कम आधे राज्यों के विधान-मंडल भी उस संशोधन के समर्थन में प्रस्ताव स्वीकृत करें।

इस प्रकार, सैद्धान्तिक रूप में भारत का संविधान अनम्य हुआ। फिर भी यह एक पूर्णत अनम्य संविधान नहीं है। इसका कुछ अंश ऐसा भी है, जिसमें भारतीय संघ की पार्लियामेंट को उसी ढंग से संशोधन करने का अधिकार है, जिससे कि यह साधारण कानून बनाती है या साधारण कानूनों में परिवर्तन करती है। इसके अतिरिक्त संकटकाल (Emergency) की घोषणा के दौरान तो भारत का संविधान बिना किसी औपचारिक संशोधन के ही संघात्मक के स्थान पर एकात्मक रूप धारण कर सकता है।

अत, सैद्धान्तिक रूप में एक अनम्य संविधान होने पर भी भारतीय संविधान की संशोधन-प्रणाली, संयुक्तराज्य अमेरिका के समान अनम्य संविधानों की भाँति जटिल, कठोर और कानूनी विवादों (Legalism) के दोषों से युक्त न होकर सरल एवं सहज है। इसमें फैलाव, विकास तथा परिवर्तनशीलता के सभी गुण मौजूद हैं। फिर भी इसकी नम्यता इंगलैंड के पूर्णत नम्य संविधान की तरह निस्सीम नहीं है।

सचाई तो इसमें है कि भारतीय संविधान पूर्णत न तो नम्य है और न अनम्य ही। इसमें नम्यता और अनम्यता का अभूतपूर्व एवं अनुपम मिश्रण है। समय और परिस्थितियों के अनुसार यह नम्य और अनम्य दोनों रूपों में काम में लाया जा सकता है। लॉर्ड ब्राइस (Bryce) के शब्दों में इस संविधान की तुलना एक वृक्ष की ऐसी नरम शाखाओं से की जानी चाहिए, जो किसी ऊँची गाडी को अपने नीचे से निकल जाने के लिए अस्थायी रूप से ऊपर उठ जाती है और उस ऊँची गाडी के निकल जाने के बाद यथास्थान आ जाती है।

(१०) नागरिकों के मौलिक अधिकारों का रक्षक—हमारे देश के नये संविधान में सभी नागरिकों को बिना किसी प्रकार का भेद-भाव किये ७ प्रकार के समान मौलिक अधिकार दिये गये हैं।

नागरिकों के मौलिक अधिकार

> (१) समता का अधिकार, (२) स्वतन्त्रता का अधिकार, (३) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, (४) सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार, (५) सम्पत्ति का अधिकार, (६) शोषण के विरुद्ध अधिकार और (७) संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

संविधान में इन मूल अधिकारों का केवल परिगणन (Enumeration) ही नहीं किया गया है, वरन उनकी रक्षा की भी व्यवस्था की गई है। इसमें यह भी कहा गया है कि यदि राज्य का कोई विशेष कानून इन अधिकारों पर कुठाराघात करेगा, तो ऐसा कानून रद्द समझा जायगा। इन मूल अधिकारों की रक्षा का भार न्याय-विभाग को सौंपा गया है।

स्मरण रहे कि भारत का संविधान असीमित तथा अनियंत्रित मूल अधिकार नहीं देता है। राष्ट्र की सुरक्षा तथा सार्वजनिक हित आदि के लिए इन अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं। विशेष परिस्थितियों, जैसे संकट-काल, में इनको स्थगित भी किया जा सकता है।

(११) **स्वतन्त्र न्यायपालिका**—संविधान में परिगणित मूल अधिकारों की सुरक्षा तथा संघात्मक शासन-प्रणाली को सफल बनाने के लिए, भारतीय संविधान एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था करता है। भारत में संसदीय शासन-पद्धति की स्थापना करने के हेतु यह संविधान भारतीय संसद् की सर्वोपरि सत्ता को स्वीकार तो करता है, लेकिन संसद् की सर्वोच्चता के भी ऊपर एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना करता है। न्याय-पालिका को संघीय या राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा बनाये गये कानूनों की व्याख्या करने तथा विशेष परिस्थितियों में उन्हें अवैध घोषित करने का भी अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार भारत का संविधान पूर्णतः न तो इंगलैंड की संसदीय सम्प्रभुता के सिद्धान्त को अपनाता है, न अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को ही। भारत के संविधान द्वारा संसद् तथा संविधान—दोनों की सर्वोपरि सत्ता का एक साथ ही स्वीकार किया जाना परस्पर-विरोधी विषय मालूम पड़ता है। बात ऐसी है कि भारतीय संसद् की सम्प्रभुता इंगलैंड की पार्लियामेंट की तरह असीमित नहीं है और न अमेरिकी कॉंग्रेस की तरह बिलकुल ही सीमित। जहाँ तक और जबतक संघीय संसद् तथा राज्यों के विधान-मंडल संविधान के उपबन्धों और व्यविधानों के विपरीत कोई भी कानून नहीं बनाते, उनकी सर्वोपरि सत्ता पर किसी प्रकार की आँच नहीं आती। लेकिन, यदि वे इस सीमा का उल्लंघन करेंगे, तो उनके द्वारा बनाये गये ऐसे कानून वैध नहीं माने जायेंगे और न्यायपालिका उन्हें अवैध घोषित कर सकती है।

अतः, सामान्य परिस्थितियों में संसद् की सर्वोच्चता रहेगी, लेकिन विशेष परिस्थितियों में संविधान की सार्वभौमिकता संसद् की सर्वोच्चता से ऊँची रहेगी। संसदीय सर्वोच्चता से परे इस संवैधानिक सर्वोच्चता की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की गई है और इस न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा तटस्थता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए संवैधानिक व्यवस्था भी की गई है।

(१२) **राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व (Directive Principles of State Policy)**—कहा गया है कि भारतवासियों को नये संविधान द्वारा दो अपूर्व निधियाँ मिली हैं—प्रथम, मूल अधिकार और द्वितीय, राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व। ये

निदेशक तत्व भारतीय संविधान की एक अपूर्व विशेषता है जो इन तत्वों के ग्रहण करने में भारत का संविधान स्पेन (Spain) तथा आयरलैंड (Ireland) के संविधानों से प्रभावित हुआ है, क्योंकि दुनिया के अन्य संविधानों में इन निदेशक तत्वों का उल्लेख नहीं पाया जाता है।

इन निदेशक तत्वों में उन आदर्शों (Ideals) की चर्चा की गई है, जिन्हें भविष्य की सभी भारत-सरकारों को राजकीय नीति के निर्धारण में सदैव ध्यान में रखना होगा, ताकि वे संविधान द्वारा इंगित उद्देश्य-पथ से विचलित नहीं हों। ये तत्व बतलाते हैं कि भारतीय राज्य की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था कैसी होगी। इन तत्वों की मुख्य बातें हैं—स्त्री और पुरुष दोनों को बिना किसी भेद-भाव के आजीविका के साधन तथा समान वेतन उपलब्ध कराना, ग्राम-पंचायतों की स्थापना कराना, १४ वर्ष के बालकों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रबन्ध करना, लोगों के स्वास्थ्य और आर्थिक स्तर को ऊँचा करना, राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों, स्थानों और चीजों की रक्षा करना तथा विश्व-शान्ति की स्थापना आदि।

मूल अधिकारों तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्वों में भेद है। जहाँ मूल अधिकारों को कानूनी मान्यता प्राप्त है, वहाँ ये निदेशक सिद्धान्त न्यायालयों द्वारा समर्थनीय (Justiciable) नहीं हैं। इन सिद्धान्तों के पालन के लिए या नहीं पालन करने के विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही नहीं की जा सकती है। फिर भी, इन तत्वों को जनमत की मान्यता प्राप्त है।

(१३) **सामाजिक तथा आर्थिक जनतन्त्र का हामी**—भारत का संविधान राजनीतिक लोकतन्त्र (Political Democracy) का प्रतिपादक तथा पालक तो है ही, इसके साथ-साथ यह सामाजिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र का भी हामी है। इसके निर्माताओं को यह भलीभाँति मालूम था कि सामाजिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र की अनुपस्थिति में एक सच्चा और यथार्थ राजनीतिक लोकतन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता। अतएव, इस संविधान ने यदि एक ओर स्त्रियों और पुरुषों को समान रूप से वयस्क मताधिकार का अधिकार दिया, तो दूसरी ओर छुआछूत, जाति पाँति, ऊँच-नीच और अमीर-गरीब आदि आर्थिक और सामाजिक विषमताओं और असमानताओं को भी दूर करने का प्रयास किया है, जैसे, संविधान के अनुसार अस्पृश्यता (Untouchability) को एक भीषण अपराध घोषित कर दिया गया है।

(१४) **सम्प्रदायिकता का शत्रु, लेकिन परिगणित जातियों (Scheduled Castes) के हितों का रक्षक**—साम्प्रदायिकता की विषैली भावना के बुरे

अभावों का ही तो फल था कि हमारा देश दो टुकड़ों में बँट गया। सच पूछा जाय, तो पाकिस्तान के बनाने का एकमात्र कारण था ब्रिटिश शासन-काल में शुरू की गई पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली तथा भिन्न-भिन्न जातियों के लिए सुरक्षित स्थानों की प्रथा। अतएव, भारत के नये संविधान के लिए तो यह आवश्यक ही था कि वह साम्प्रदायिकता का अन्त करे। सभी जनता के लिए एक-से ही निर्वाचन-क्षेत्र रखे गये हैं और संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली को अपनाया गया है।

फिर भी देश की कुछ दलित या परिगणित जातियों (Backward and Scheduled Castes) के लिए, जो संख्या में अधिक होते हुए भी इतनी पिछड़ी हुई हैं कि अपने हितों की रक्षा स्वयं, बिना किसी प्रकार की मदद के, नहीं कर सकतीं, कुछ संरक्षण दिये गये हैं। अछूतों तथा अनुसूचित जातियों के लिए संसद् तथा विधानमंडलों में स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। सरकारी सेवाओं (Public Services) में भी उन्हें विशेष सुविधाएँ दी गई हैं। प्रारम्भ में ये सुविधाएँ जन-संख्या के अनुपात के आधार पर फिलहाल सिर्फ १० वर्षों के लिए ही दी गई थीं, लेकिन दिसम्बर, १९५९ के संविधान के अष्टम संशोधन के अनुसार इन सुविधाओं की व्यवस्था आगामी दस वर्षों के लिए और भी बढ़ा दी गई है।

(१५) राष्ट्रीय एकता तथा एकरूपता को सुदृढ़ बनानेवाला संविधान—हमारे देश के अत्यन्त ही लम्बे तथा पुराने इतिहास में यह पहला अवसर है, जबकि भारत की ३६ करोड़ जनता तथा उसके १,२००,००० वर्गमील के समस्त एवं विस्तृत क्षेत्र एक ही संविधान के अधीन प्रजातंत्रीय शासन-प्रणाली द्वारा शासित हो रहे हैं। अँगरेजी राज्य से स्वाधीन होने के पहले भारत में जो ५०० से अधिक स्वतंत्र देशी रियासतें तथा राज्य-सरकारें थीं, उन सबको सदा के लिए भारत-संघ का अविच्छिन्न (inseparable) अंग बना दिया गया। उन देशी रियासतों की जनता को अन्य राज्यों के निवासियों की ही भाँति जनतंत्रात्मक शासन और समान मूल अधिकार प्राप्त हो गये हैं।

सम्पूर्ण देश के लिए एक ही नागरिकता, भारतीय नागरिकता, रखी गई है। कनाडा या अमेरिका की तरह, संघ की अलग और राज्यों की अलग दोहरी नागरिकता के सिद्धान्त को भारत के संविधान ने नहीं अपनाया है। सारे देश के लिए एक ही कानून-विधान है, एक ही न्याय-व्यवस्था है, एक ही दण्ड-विधान और एक ही प्रकार की सरकारी सेवाएँ हैं।

इनके अलावा भारतीय राष्ट्रीयता को दृढ़ करने के हेतु सम्पूर्ण देश के लिए एक राजभाषा (हिन्दी) रखी गई है, जबकि आयरलैंड और कनाडा में से प्रत्येक में दो राजभाषाएँ हैं और स्विट्ज़रलैंड में तीन। याद रहे की संविधान की अनुसूची ८ में १४ प्रादेशिक

भाषाओं की परिगणना की गई है, लेकिन हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा का स्थान दिया गया है। संविधान के लागू होने के बाद से १५ वर्षों तक सरकारी कार्यों में अँगरेजी-भाषा के प्रयोग होने की अनुमति दी गई है।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि भारतीय गणतंत्र का यह नया संविधान भारतीय राष्ट्र की अखंड एकता का संस्थापक तथा पोषक है। शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना भी राष्ट्रीय एकता तथा एकरूपता को सुदृढ बनाने के उद्देश्य से ही की गई है।

(१६) विश्व-शान्ति का समर्थक—इस संविधान के नीति-निदेशक तत्त्वों में कहा गया है कि 'भारतीय सरकार स्वतंत्रता तथा समानता के आदर्शों का पालन करती हुई विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा के कार्य में सहयोग देगी, वह अन्तरराष्ट्रीय कानूनों के प्रति आदर का भाव रखेगी तथा अन्तरराष्ट्रीय संघर्षों के निपटारे के लिए पंच-निर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन करेगी।' इस प्रकार, इस संविधान के उद्देश्यों की परिधि भारत की भौगोलिक चहार-दीवारी तक ही सीमित नहीं है। हाल ही में हासिल की गई भारत की आजादी का पहरेदार होने के साथ-साथ यह संविधान दुनिया के अन्य सभी देशों की सुरक्षा और शान्ति का भी कट्टर समर्थक है।

(१७) कानून की सत्ता (Rule of Law)—भारतीय संविधान कानून की सत्ता स्थापित करता है। देश का संवैधानिक कानून सभी व्यक्तियों से बड़ा और ऊपर माना गया है। भारत के सभी नागरिक इस कानून के अन्दर हैं। कानून की नजर में सभी बराबर माने गये हैं। कानून के प्रशासन में नागरिकों के बीच तो किसी प्रकार का विभेद नहीं किया गया है, सरकारी और गैर-सरकारी व्यक्तियों के लिए भी एक ही प्रकार का कानून है।

इस दृष्टि से भारत का संविधान फ्रांस की भाँति नहीं है, जहाँ सरकारी व्यक्तियों के लिए एक दूसरे प्रकार का कानून (Administrative Law) हुआ करता है। यहाँ हम फिर इंगलैंड के संविधान का प्रभाव पाते हैं, क्योंकि इंगलैंड में भी Rule of Law ही है।

(१८) वयस्क मताधिकार की व्यवस्था—भारत का संविधान हमारे देश के प्रत्येक २१ वर्ष के पुरुष और स्त्री को, अगर वह अन्य कारणों से अयोग्य ठहराया नहीं गया हो, देश के आम चुनावों में वोट देने का अधिकार देता है। इस व्यवस्था के फलस्वरूप भारतीय शासन-व्यवस्था को 'जनतंत्र का महान् प्रयोग' कहा गया है।

भारत के संविधान की ये ही मुख्य विशेषताएँ हैं।[1] इसके पहले कि इस सविधान के संघात्मक होने के सम्बन्ध में जो विवाद है, उसकी चर्चा की जाय, इसकी अपनी खास विशेषताओं या विशिष्ट गुणों की जानकारी हासिल कर लेना उचित होगा।

भारतीय संविधान की असामान्य विशेषताएँ

(Specific or uncommon features of the Indian Constitution)

भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताओं के अध्ययन से यह ठीक पता है कि ससार के अन्य सविधानों की बहुत-सी मुख्य विशेषताएँ भारतीय सविधान मे मिलती हैं। लेकिन भारतीय संविधान की कुछ ऐसी विशेषताएँ भ हैं, जो विश्व के अन्य सविधानो मे नही मिलतीं। इन्हीं निम्नलिखित असामान्य (uncommon) या निजी (specific) विशेषताओं से परिपूर्ण रहने के कारण भारत के सविधान को एक अद्वितीय और अनूठा सविधान कहा गया है।

संविधान की निजी विशेषताएँ

१ ससार का सबसे विशाल संविधान,
२ विदेशी संविधानो की व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण,
३. राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व,
४ नम्य और अनम्य दोनों साथ-साथ,
५ संसदीय एवं संवैधानिक सर्वोच्चता का सामजस्य,
६ स्वयभू सघात्मक संविधान,
७ गणराज्य होते हुए राष्ट्रमंडल की सदस्यता,
८ किसी विशेष अर्थ-व्यवस्था से संबन्धित नहीं,
६. संकटकाल में एकात्मक बन सकने वाला संघ;
१० अतीत से गहरा संबंध,
११ सामजस्य और संतुलन का उत्कृष्ट नमूना;
१२ जनतंत्र का महानतम प्रयोग।

(१) संसार का सबसे विशाल संविधान—भारत का सविधान एक बहुत ही विशाल और व्यापक लेख्य (Document) है। इसमें २२ भाग, ३६५ धाराएँ (Articles) और ६ अनुसूचियाँ (Schedules) हैं। ससार के लगभग सभी लिखित संविधानो से यह बड़ा तथा विस्तृत है (Lengthiest constitution in the world)। उदाहरण के तौर पर, अमेरिका के सविधान मे केवल ७ (सात) धाराएं हैं एव कनाडा, दक्षिण-अफ्रिका और चीन के सविधान मे क्रमश १४७, १५३ और १०६ धाराए ही पाई जाती हैं।

---

१. इस सबध में भारतीय संविधान की अपनी खास विशेषताएँ (सं० १ और सं० २) भी देखें।

सवाल उठता है कि हमारे देश के संविधान बनानेवालों ने क्यों इतना लम्बा-चौड़ा संविधान बनाया? उत्तर है कि इस संविधान में संघ तथा राज्यों के बीच अधिकारों के विभाजन की बृहत् व्याख्या की गई है तथा दोनों के शासन की विस्तृत रूपरेखा भी दी गई है। इसके अलावा इसमें मूल अधिकारों तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों के विशद वर्णन के साथ साथ बहुत-सी नई संस्थाओं, जैसे चुनाव-कमीशन, लोकसेवा-कमीशन, वित्त (Finance) और भाषा-कमीशन इत्यादि की व्यवस्थाओं का भी जिक्र है। इतना ही नहीं, संकट-काल के समय भारतीय शासन-व्यवस्था कैसे चलेगी, इसका भी उल्लेख इसमें किया गया है। अछूतों, पिछड़ी हुई जातियों और कबायली इलाकों में बसनेवालों की भलाई किस प्रकार होगी, इन सब बातों को भी इसमें जगह दी गई है।

अत हम पाते हैं कि इस संविधान में केवल संवैधानिक मूल सिद्धान्तों और नियमों का ही वर्णन नहीं है, बल्कि शासन-सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों और ब्योरों का भी। इसके संक्रमण-काल के लिए की गई कुछ अस्थायी व्यवस्थाओं को भी संविधान में ही जगह दे दी गई है। इसके अलावा इस संविधान के इतने बड़े और व्यापक होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि इसके लागू होने के पहलेवाला संविधान, यानी सन् १९३५ ई० का भारत-सरकार अधिनियम, भी बहुत ही बड़ा तथा विस्तृत था और वह अपनी एक छाप इस नये संविधान पर भी छोड़ गया।

भारतीय संविधान की विशालता तथा जटिलता की कटु आलोचना हुई है। जेनिंग्स (Jennings) तथा लास्की (Laski) के अनुसार हमारा संविधान अनावश्यक रूप में बहुत ही अधिक विशाल तथा जटिल है।[1] संविधान-सभा के एक सदस्य के अनुसार भारतीय संविधान 'वास्तव में वकीलों का स्वर्ग' (A Lawyers' Paradise) है।

इन आलोचनाओं के उत्तर में डा० अम्बेदकर का कथन कि "भारत की भूमि स्वभावत अजनतन्त्रात्मक रही है। इसमें जनतंत्र को ऊपर से सजाकर खड़ा कर दिया गया है। अत इन परिस्थितियों में यही अधिक उचित है कि प्रशासन की रूपरेखा-निर्धारण-सम्बन्धी विभिन्न बातें व्यवस्थापिका पर न छोड़ी जायें।[2]

---

१ It is "long and complicated . It is quite obvious that there are clauses which do not need to be constitutionally protected"
—*Jennings*

२ "Democracy in India is only a top dressing on the Indian soil which is essentially undemocratic In the circumstances it is wiser not to trust the legislators to prescribe forms of administration"
—*Dr Ambedkar*

(२) विदेशी सविधानों की व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण—इस संविधान की दूसरी निजी विशेषता यह है कि विश्व के प्रमुख सविधानो से बहुत-सी बातें लेकर इसे बनाया गया है।[१]

सबसे पहले, इस सविधान मे १६३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियम की बहुत-सी धाराओं का हू-बहू उल्लेख मिलता है। इस अधिनियम की छाप इस सविधान पर इतनी ज्यादा और गहरी है कि कुछ लोग इसे १६३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियम का सिर्फ संशोधित रूप मानते है। विदेशी सविधानो में ब्रिटिश सविधान की ससदीय शासन-प्रणाली को अपनाया गया है। कनाडा के संविधान की तरह भारत-सघ को 'यूनियन' (Union) कहा गया है, अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Power) राज्यो को न दी जाकर केन्द्र को दी गई हैं और राज्यपालों की नियुक्ति का तरीका भी अपनाया गया है। समवर्ती सूची (Concurrent List), जो कि १६३५ ई० के भारतीय सविधान मे भी थी, असल मे आस्ट्रेलिया के सविधान से ली गई है और यहीं से वे तरीके भी लिये गये हैं, जिनके द्वारा समवर्ती-सूची के संबंध में राज्यों और केन्द्र के बीच पैदा होनेवाले झंझटो का निपटारा किया जाना सम्भव हो। राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व तो साफ-साफ आयरलैंड के सविधान की देन है। राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्वाचन मडल (Electoral College) और ससद तथा राज्य-विधान मडलों के ऊपरी सदनो (Upper Houses) मे साहित्य, कला, विज्ञान और समाज-सेवा के क्षेत्रों मे नाम हासिल किये प्रसिद्ध व्यक्तियो का राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत (Nominate) किया जाना भी आयरलैंड के सविधान से ही मिलता है।

इसी प्रकार, भारतीय संविधान की प्रस्तावना (Preamble), सर्वोच्च न्यायालय का सगठन, राष्ट्रपति की कुछ शक्तियाँ, नागरिकों के मौलिक अधिकार तथा उपराष्ट्रपति का पद एवं स्थान आदि व्यवस्थाएँ संयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान से ग्रहण की गई है। सविधान में सशोधन की प्रणाली दक्षिण-अफ्रिका के संविधान से और 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्द जापान के सविधान से लिये गये है।

अतएव, हम पाते हैं कि हमारा सविधान एक मौलिक या अभूतपूर्व-संविधान न होकर विदेशी सविधानो के 'नमूनो पर आधारित है' (An adaptation from the existing constitutional models)। इस सविधान-रूपी अट्टालिका की नींव भारत-सरकार का सन् १६३५ ई० का कानून है और इसके ऊपरी हिस्सो के भागो में अमेरिका इंगलैंड, आस्ट्रेलिया, दक्षिण-अफ्रिका और जापान आदि के सविधानों के कुछ उपबन्ध साफ दीख पडते हैं। इसकी आलोचना की गई है और कहा गया है कि 'यह सविधान अन्य

१ "It is a Unique document drawn from many sources."

संविधानों की खिचड़ी है।' कुछ लोगों ने इसे 'भानुमती का कुनबा' (Hotch Potch) कहा है, तो दूसरों ने 'वर्णसंकर' (Hybrid) तथा 'विदेशी संविधानों से उधार ली गई व्यवस्थाओं का संकलन-मात्र' (Mere collection of borrowed materials from foreign constitutions) कहा है। एक लेखक ने इसे 'कैंची और गोंद का खिलवाड़' (Result of scissors and paste) कहा है।

यह सत्य है कि हमारे संविधान में विश्व के विभिन्न संविधानों से अनेक बातें ली गई हैं, लेकिन आख मूँदकर उनकी नकल नहीं की गई है। वरन्, भारत की विशेष परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं और देशवासियों की इच्छाओं के अनुसार उन्हें एक विशेष साँचे में ढाला गया है। इस संविधान के बनानेवाले 'अन्धी मौलिकता' (Blind originality) के पुजारी नहीं थे। उनका उद्देश्य था एक अच्छा, उपयोगी तथा व्यावहारिक संविधान बनाना। अतएव, उन लोगों ने स्वतन्त्रतापूर्वक विदेशी संविधानों से ऐसी व्यवस्थाएँ ले लीं, जो वहाँ सफल सिद्ध हुई थीं और जो भारत की तत्कालीन दशा के लिए मौजूद थीं। जस्टिस पी० बी० मुखर्जी ने ठीक ही कहा है कि हमारे संविधान ने दुनिया के संवैधानिक खजानों से बहुत-सी चीजें ली हैं, लेकिन विदेशी संविधानों की यह नकल-मात्र नहीं है। अपने समन्वय और चरित्र में यह एक अनूठा संविधान है।[1] कहा जा सकता है कि भारत का संविधान दुनिया के प्रमुख विधानों के सर्वश्रेष्ठ तथा सफल गुणों की खान है।

(३) राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों का वर्णन—(विवरण ऊपर देखिए—मुख्य विशेषता सं० १२)

(४) नम्य और अनम्य दोनों साथ-साथ—(विवरण ऊपर देखिए—मुख्य विशेषता सं० ६)

(५) संसद् और संविधान दोनों की सर्वोच्चता का सामंजस्य—(विवरण ऊपर देखिए—मुख्य विशेषता सं० ३ और सं० ८)

(६) स्वयंभू संघात्मक संविधान (Sui Generis Federation)—सुदृढ़ केन्द्रवाला संघात्मक संविधान या एकात्मक आत्मा-सहित संघात्मक संविधान (विवरण ऊपर देखिए —मुख्य विशेषता सं० ६)

---

१ "While it has drawn, upon the treasury of the world's experience in constitutional experiments, it is not mere imitation dntulsiands by itse unique in its character and assimilation."

(७) गणराज्य होते हुए राष्ट्रमंडल (Commonwealth) की सदस्यता—सिद्धान्त की दृष्टि से यह एक विचित्र व्यवस्था है, क्योंकि राष्ट्रमंडल[1] का प्रधान इंगलैंड का सम्राट् हुआ करता है और गणराज्य में राजा का कोई स्थान नहीं होता। फिर भी, व्यावहारिक दृष्टि से भारत की सम्प्रभुता (Sovereignty) पर कोई आँच नहीं आती है।

(८) किसी विशेष अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं—यह संविधान पूँजीवादी, समाजवादी या साम्यवादी, किसी भी आर्थिक सिद्धान्त से बँधा नहीं है। कुछ लोगों की शिकायत है कि गांधीवादी विचारधाराओं पर इसे क्यों नहीं आधारित किया गया? फिर भी, इस संविधान में वर्णित 'राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों' से साफ पता चल जाता है कि राजनीतिक लोकतन्त्र के अलावा सामाजिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र की भी स्थापना होगी और भारत-सरकार समाजवादी व्यवस्था (Socialistic pattern) की ओर चलेगी।

(९) सामान्य परिस्थितियों में संघात्मक, लेकिन संकट-काल में एकात्मक—ऊपर कहा जा चुका है कि भारत का संविधान बिना औपचारिक संशोधन (Formal Amendment) किये ही संकट-काल में संघात्मक से एकात्मक हो जा सकता है।

(१०) अतीत से गहरा सम्बन्ध—यद्यपि इस संविधान के लागू होने के पहले का संविधान एक विदेशी सरकार द्वारा जबरदस्ती लादी गई चीज थी, फिर भी स्वतन्त्रता हो जाने के बाद भी उस संविधान से बिलकुल सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया गया है। इस दृष्टि से भारत का संविधान सोवियत रूस या साम्यवादी चीन के संविधानों से सर्वथा भिन्न है; क्योंकि इन देशों में क्रान्तियों के बाद जो संविधान बने, वे साम्यवादी व्यवस्था से बँधे हुए थे और पहले संविधानों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

(११) सामंजस्य और संतुलन का उत्कृष्ट उदाहरण—भारत के संविधान की एक निजी विशेषता यह भी है कि इसमें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और परस्पर-विरोधी विचारधाराओं और सिद्धान्तों में सामंजस्य तथा संतुलन स्थापित करने का सफल प्रयास किया गया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि संविधान की कई धाराओं तथा उपबन्धों में विरोधाभास-सा दीख पड़ता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि यह संविधान संघीय शासन-पद्धति की व्यवस्था करता

---

१. राष्ट्रमंडल उन देशों की एक संस्था है, जो पहले ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन थे, लेकिन बाद में चलकर काफी हद तक या पूरे रूप से स्वतन्त्र हो गये। आजकल इंगलैंड, भारत, पाकिस्तान, घाना, कनाडा, न्यूजीलैंड, केनिया, जमैका, नाइजीरिया, टैंगानिका, युगाण्डा, सियरालियोन आदि देश अपनी स्वतंत्र इच्छा से इसके सदस्य हैं।

है। लेकिन, इसे Indian Federation या Federation of States नहीं कहकर Union of States कहा गया है। अर्थात्, कोशिश की गई है कि स्थानीय स्वतन्त्रता और विभिन्नताओं तथा राष्ट्र की एकात्मकता और एकरूपता के बीच सामजस्य स्थापित हो।

इसी प्रकार, ससदीय शासन-प्रणाली की व्यवस्था किये जाने पर भी नियन्त्रण और सतुलन (Check and Balance) के सिद्धान्त को भी ग्रहण किया गया है। मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है, परन्तु मन्त्रिगण व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति के प्रति।

नागरिकों को मूल अधिकार दिये गये हैं, लेकिन उनपर मर्यादाए लगा दी गई हैं। ससद् तथा सविधान दोनों की सर्वोच्चता स्वीकार की गई है। हिन्दी को राजभाषा घोषित किया गया है, लेकिन १५ वर्षों के लिए अँगरेजी को भी चलने देने की व्यवस्था की गई है।

अत भारत के सविधान मे किसी भी एक विचारधारा या दृष्टिकोण से अतिशयोक्ति नहीं पाई जाती है, वरन् उनका एक उत्कृष्ट सामजस्य और सतुलन पाया जाता है।

(१२) जनतन्त्र का महानतम प्रयोग— स्वाधीनता-प्राप्ति के तुरत बाद समस्त वयस्क भारतीय नागरिकों को वोट देने का अधिकार देना, भारतीय सविधान का महानतम साहसिक कार्य है। मताधिकार के इतिहास मे यह एक अभूतपूर्व घटना है। ससार के किसी भी देश मे निर्वाचकों की इतनी बडी सख्या राज्य के प्रतिनिधियों के चुनाव मे भाग नही लेती। देश की तत्कालीन परिस्थितियों के वयस्क मताधिकार के प्रयोग के अनुकूल नहीं रहने पर भी ऐसे क्रान्तिकारी कदम का उठाया जाना, ठीक ही 'जनतन्त्र का महानतम प्रयोग' कहा गया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय गणतंत्र का सविधान एक निराला एव अनूठा संविधान है। ससार के अन्य सभी प्रगतिशील सविधानों की बहुत-सी सफल अच्छाइयों को ग्रहण करने के बाद भी इसका अपना एक अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह वर्तमान विदेशी सविधानों के अवगुणों तथा सद्गुणों का नीर-क्षीर-विवेक है।

भारतीय संविधान संघात्मक है अथवा एकात्मक ?

भारत का सविधान एक सघात्मक राज्य की स्थापना करता है। इस सम्बन्ध में विचारकों में काफी मतभेद है। बहुत-से आलोचकों का मत है कि यह सविधान वास्तव में एक पूर्णतया सघीय सविधान नहीं है। जैसे डा० के० सी० ह्वीयर का कहना है कि 'भारत एक एकात्मक राज्य है, जिसमें संघात्मक के कुछ गौण लक्षण हैं, न कि एक सघात्मक राज्य, जिसमें एकात्मक के कुछ गौण लक्षण हैं।'[१] श्री जी० एन्० जोशी का कहना है कि 'भारतीय संघ एक अर्द्ध-सघ है, जिसमें एकात्मक राज्यों के कतिपय महत्त्वपूर्ण गुणों का समावेश है।[२]

अतएव प्रश्न उठता है कि भारत संघीय राज्य है या नहीं ? पहले[३] हम कह आये हैं कि एक सघात्मक राज्य के सभी आवश्यक लक्षण और तत्व इस सविधान मे पाये जाते हैं। जिन तर्कों के आधार पर इसके सघीय न होने का दावा किया जाता हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) भारत को फेडरेशन (Federation) न कहकर यूनियन (Union) कहा गया है।

(२) भारत की केन्द्रीय और सघ-सरकार अत्यन्त ही सुदृढ एवं शक्तिशाली है। सघ-सूची मे सभी महत्त्वपूर्ण विषय, जिनकी सख्या ६७ है, तो रखे गये हैं ही, समवर्ती सूची मे परिगणित ४७ विषय भी सघ के इच्छानुसार व्यावहारिक प्रयोजनो के लिए सघीय कार्य-क्षेत्र मे परिणत किये जा सकते है। ऐसा इसलिए सभव है कि यदि सघ और राज्य दोनो द्वारा समवर्ती सूची के किसी विषय से सम्बन्धित विधि का निर्माण होता है और अगर दोनो आपस मे विरोधी या एक-दूसरे से असगत हैं तो वैसी दशा मे राज्य-विधि के मुकाबले मे सघीय-विधि को ही प्राथमिकता और मान्यता प्राप्त होगी।

---

१ "It is a unitary state with subsidiary federal features rather than a federal state with subsidiary unitary features".

—*K C Wheare*

२ "The union is not strictly a federal polity but a quasi-federal polity with some vital and important elements of unitariness

—*G N. Joshi*

३ पृष्ठ संख्या—६।

(३) अवशिष्ट अधिकार और शक्ति (Residuary powers) राज्यों की सरकारों को न देकर संघ-सरकार को ही दिये गये हैं। साथ ही, यह भी साफ-साफ कह दिया गया है कि अगर कहीं भूल से किसी चीज का उल्लेख इन तीनों सूचियों में नहीं हो पाया हो या आगे चलकर कोई नई चीज पैदा हो जाय, तो उसका विचार भी संघ-सरकार ही करेगी, न कि राज्य-सरकारें।

(४) जो विषय राज्य-सूची के अन्दर रखे गये हैं, उनमें से भी किसी को यदि केन्द्र की राज्य-सभा, दो-तिहाई बहुमत से, राष्ट्रीय महत्त्व का विषय घोषित कर दे, तो उसके सम्बन्ध में भी कानून बनाने का अधिकार संघीय संसद् को प्राप्त हो जाता है। राज्यों की सरकारें स्वयं भी राज्य-सूची के विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार संघीय संसद् को दे सकती है।

(५) भारतीय संघ के राज्यों को रूसी (Russian) संघ के समान संघ से अलग हो सकने का अधिकार तो नहीं है, उन्हें अमेरिकी संघ की तरह अपना अलग संविधान स्वयं बनाने तथा अपनी शासन-व्यवस्था में कोई परिवर्तन अपने-आप कर सकने के अधिकार भी प्राप्त नहीं है।

(६) संघीय संसद् के ऊपरी सदन (Upper House) यानी राज्य-सभा में राज्यों के समान प्रतिनिधित्व का भी अधिकार प्राप्त नहीं है और न राज्य-सभा को ही राज्यों के अधिकारों की रक्षा करने की पूरी शक्तियाँ दी गई हैं।

(७) संविधान की भाषा में ही भारत की मौलिक एकता पर अधिक महत्त्व दिया गया है और इसलिए समूचे देश के लिए एक नागरिकता की व्यवस्था की गई है। अमेरिका की तरह यहाँ द्वैध या दोहरी नागरिकता का व्यवधान नहीं है।

(८) संविधान के अनुसार एक ही राजभाषा रखी गई है और शासन के विविध अंगों, जैसे दंड-विधि, नागरिक अधिकार, सरकारी सेवाएं, न्याय-व्यवस्था आदि बातों में एकरूपता लाने की चेष्टा की गई है।

(९) संकट-काल के लिए भारत के राष्ट्रपति को असाधारण अधिकार (Emergency powers) दिये गये हैं। वैसी अवस्था में केन्द्रीय कार्यपालिका किसी भी राज्य के शासन को सीधे अपने हाथों में ले सकती है। संकट-काल की घोषणा हो जाने पर संविधान की साधारण व्यवस्थाएँ स्थगित कर दी जा सकती हैं। ऐसी दशा में केन्द्रीय संसद् को भी राज्य-सूची के विषयों पर अधिनियम बनाने का अधिकार मिल जाता है।

(१०) राज्यों के राज्यपाल तथा चीफ कमिश्नर आदि की नियुक्ति का अधिकार भी केन्द्रीय कार्यपालिका को ही सुपुर्द किया गया है।

(११) वित्तीय (Financial) मामलों में राज्यों की संघ-पराश्रयता, न्यायपालिका

का एकीकरण तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के गठन और सगठन में सघीय अधिकारियों को दी गई शक्तियाँ तथा भारतीय संविधान का अन्य किसी भी संघीय सविधान की अपेक्षा अधिक सरलता से सशोधित किया जा सकना।

(१२) कुछ विशिष्ट प्रकार की राज्य-विधियो का राष्ट्रपति की पूर्व मजूरी या स्वीकृति के लिए रखा जाना आवश्यक है। उच्च प्रशासकीय सेवाओं, अर्थात् अखिलभारतीय नौकरियों, जैसे अखिलभारतीय ऐडमिनिस्ट्रेटिव सावस और पुलिस सर्विस पर भारतीय सघ को जैसा सपूर्ण अधिकार तथा नियत्रण प्राप्त है, वैसा ससार के अन्य किसी भी दूसरे सघीय सविधान मे नही पाया जाता है।

(१३) भारतीय संघ का प्रत्येक इकाई-राज्य अपने अस्तित्व के लिए सघ तथा राष्ट्रपति की दया पर निर्भर है। कोई भी इकाई नष्ट हो जाने की सभावना से सर्वथा सुरक्षित नहीं है। ऐसा इसलिए कहा जाता है कि किसी भी राज्य का नाम, सीमा या क्षेत्र का परिवर्त्तन, पुनर्वितरण या एकीकरण करके नये राज्य का सस्थापन, सघीय ससद् सामान्य विधि-प्रक्रिया से ही कर सकती है। इन सब कार्यों के लिए सविधान मे सशोधन करना आवश्यक नहीं। इस प्रकार का कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश से ही ससद् मे पेश किया जा सकता है।

इस सबध मे सविधान इस बात की व्यवस्था अवश्य करता है कि राज्यों मे परिवर्त्तन-विषयक कोई बिल ससद् मे भेजे जाने की सिफारिश करने के पहले, राष्ट्रपति उस बिल से सम्बन्धित राज्य के विधान-मडल का मत अवश्य जान ले। लेकिन, यदि उस राज्य का विधान-मडल उस विधेयक के विरुद्ध अपना मत प्रकट कर दे, तो वैसी हालत मे राष्ट्रपति उस विधेयक को ससद् के पास नहीं भेजे, ऐसी व्यवस्था नहीं की गई है।

राज्य-पुनर्गठन-आयोग की सिफारिशों के सम्बन्ध मे हमने देखा कि भिन्न-भिन्न राज्यों के विधान-मंडलों के बावजूद सघीय ससद् ने उस सम्बन्ध के सभी विधेयकों को पास कर दिया।

ऊपर कथित तर्कों के आधार पर बहुत-से सविधान-विशारदों का दावा है कि भारतीय सघ पूर्णत एक सघ नहीं है, क्योंकि इसमे एकात्मक संविधान के बहुत-से प्रधान तत्त्व पाये जाते हैं। कहा गया है कि भारतीय संविधान का रूप सघात्मक है, लेकिन उसकी आत्मा एकात्मक है।[१] प्रोफेसर डी० एन० बनर्जी के मतानुसार भारत का सविधान बनावट में सघात्मक होते हुए भी एकात्मक सरकार की तरफ साक्षात् झुका हुआ है।"[२]

---

१ "The Indian Constitution, although federal in form is unitary in spirit"

२ "The Indian Constitution is federal in structure with a pronounced unitary bias."

प्रश्न उठता है कि वास्तविकता क्या है? क्या सचमुच भारत का संविधान संघात्मक राज्यों के लिए आवश्यक माने जानेवाले सभी सिद्धान्तों तथा लक्षणों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता ?

यह तो स्पष्ट ही है कि संयुक्तराज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया या स्विट्जरलैंड के सदृश संघीय संविधानों से भारतीय संघ अवश्य ही भिन्न है। वहाँ की संघ-सरकारें भारतीय संघ-सरकार के समान अत्यन्त ही सुदृढ तथा शक्तिशाली कदापि नहीं हैं। उन संघों के अधीनस्थ राज्य भारतीय संघ के राज्यों की तरह, संघ के मुकाबले में, सर्वथा निर्बल और निःशक्त न होकर, अपने क्षेत्र में सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न हैं।

उन देशों की राज्य-सरकारों को दी गई शक्तियाँ, भारत की राज्य-सरकारों की तरह, संघ-सरकार द्वारा नियन्त्रित, सीमित तथा मर्यादित नहीं की जा सकतीं।

संकट-काल में भारतीय संघ एकात्मक शासन-प्रणाली में परिणत हो सकता है, इसे भी अस्वीकार नहीं ही किया जा सकता है।

इन सब बातों के बावजूद यह नहीं कहा जाना चाहिए कि 'भारत का संविधान संघात्मक न होकर एकात्मक है' या कि 'भारत एक एकात्मक राज्य है, जिसमें संघात्मक के कुछ गौण लक्षण हैं।' इसे 'अर्द्ध-संघ' (Quasi-Federal) कहना भी ठीक नहीं है।

भारत का संविधान स्पष्टतः संघात्मक आधार पर बनाया गया है। जिन-जिन लोगों द्वारा इसके संघात्मक होने में संदेह और शंका प्रकट की जाती है, वे भारतीय संविधान की साधारण तथा सामान्य प्रवृत्तियों को दृष्टि से ओझल कर उसकी कतिपय असाधारण विशेषताओं पर ही जोर देते हैं।

कहा जा चुका है कि एक संघ-राज्य के वाञ्छनीय गुण एवं तत्त्व भारतीय संघ में विद्यमान हैं।[1] संघीय संसद् और कार्यपालिका को अवश्य बहुत ही अधिक शक्तियाँ दी गई हैं, लेकिन वे शक्तियाँ इतनी अपरिमित नहीं हैं कि भारतीय संघ की कुछ इकाइयों को जड़ से नाश कर उनके स्थान पर सदा के लिए एक एकात्मक राज्य की स्थापना कर सकें।

केन्द्र और इकाइयों के बीच विधायिकी और कार्यकारिणी शक्तियों का बँटवारा ही संघात्मकता का मुख्य लक्षण माना गया है। भारतीय संविधान ने बँटवारे के इस सिद्धान्त को अपनाया है। बँटवारे की इस सीमा को केन्द्र अपनी इच्छा द्वारा बदल नहीं सकता और न न्यायपालिका ही बदल सकती है। अतः, इस लक्षण के आधार पर भी भारत एक संघ है।

---

1 पृष्ठ-संख्या ६।

भारतीय संविधान के संघीय होने में शंका प्रकट करनेवाले आलोचक यह भूल जाते हैं कि इस संघ का निर्माण, अन्य संघों की तरह, कई विलग स्वतंत्र, सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के एक साथ मिल जाने से नहीं हुआ है, वरन् ब्रिटिश शासनकालीन भारत की एकात्मक सरकार को संघात्मक बनाने से।[२] सन् १८६७ ई० में कनाडा में और १८८९ ई० में ब्राजिल में संघ का निर्माण इसी ढंग से हुआ था। इसी प्रकार, भारत के पिछले विगत इतिहास से अनभिज्ञ व्यक्ति ही केन्द्रीय संसद् तथा कार्यपालिका के संकट-कालीन असाधारण अधिकारों के औचित्य में शंका प्रकट कर सकता है। जो आलोचक अमेरिका और स्विट्जरलैंड के संघों की कसौटी पर भारतीय संविधान में दिये गये संघ के अधिकारों तथा एकीकरण की प्रक्रिया को 'संघत्व-गुणों' के विपरीत मानते हैं, वे उन देशों में राज्यों को संघ से अलग होने से रोकने लिए हुए गृह-युद्धों को भूल जाते हैं।

इस सम्बन्ध में प्रोफेसर केनेडी के विचार उल्लेखनीय हैं। कनाडा के संविधान के संघात्मक रूप की विवेचना करते हुए प्रो० केनेडी ने संघात्मकता की एक कसौटी का उल्लेख किया है। उनके अनुसार "संघात्मकता पर विचार करते हुए यह देखना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार और क्षेत्रीय सरकार के बीच किस तरह का सम्बन्ध है। अगर क्षेत्रीय सरकार केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि-मात्र ही है, अगर केन्द्रीय सरकार और क्षेत्रीय सरकार के बीच 'Principal' और 'Delegate' का सम्बन्ध है, तो वह राज्य एकात्मक है। लेकिन जहाँ क्षेत्रीय सरकार की सारी शक्तियाँ केन्द्र से ही प्रदत्त नहीं होतीं, अर्थात् जहाँ केन्द्रीय सरकार और क्षेत्रीय सरकार के बीच प्रधान (Principal) और प्रतिनिधि (Delegate) का सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ संघात्मक राज्य होता है।"

प्रो० केनेडी के अनुसार केन्द्र की शक्तिशालिनता के बावजूद कनाडा की राज्य-सरकार स्वतंत्ररूपेण अपने अधिकार-क्षेत्र में कार्य सम्पादित करती है, अतएव वह संघ है। एकात्मकता और संघात्मकता की इस कसौटी पर, कनाडा के संविधान की भाँति, भारत का संविधान भी संघात्मक रूप में खरा उतरता है; क्योंकि इसमें इकाइयों की शक्तियाँ केन्द्र द्वारा नहीं, वरन् संविधान द्वारा प्रदत्त हैं।

---

२ ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत एक एकात्मक (Unitary) राज्य था। सबसे पहले मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट में यह कहा गया था कि भविष्य में भारत के राज्यों का एक संघ बनाया जायगा। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भारत को एक संघ के रूप में संगठित करने की बात पर स्पष्ट रूप से विचार किया गया था। सन १९३५ ई० के भारत-सरकार अधिनियम ने एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया था, लेकिन वह संघ बन नहीं सका। अन्त में भारत के नये संविधान ने देश को संघ-रूप में संगठित किया।

चूँकि हमारा सविधान विश्व के अन्य प्रमुख संघीय सविधानों से भिन्न है और किसी से पूरा-पूरा नहीं मिलता है, इसलिए यह एक सघात्मक सविधान नहीं है—इस दलील का कोई महत्व नहीं है ।

निष्कर्ष—भारतीय सघ एक स्वयभू सघ (Suigeneris Federation) है, जिसकी पूरी तथा ठीक-ठीक तुलना दुनिया मे साधारणत पाये जानेवाले अन्य किसी भी सामान्य सघात्मक सविधान से नहीं हो सकती है । इस सबध मे, अधिक-से-अधिक, श्रीदुर्गादास वसु के इस मत को स्वीकार किया जा सकता है कि "भारतीय सविधान न तो पूर्णतः सघात्मक है न पूर्णत एकात्मक । दोनो तत्वों के सम्बन्ध से यह एक नये प्रकार का सघ या मिश्रित राज्य बन गया है ।"[१] श्री एस० एन० मुखर्जी ने भी ठीक ही कहा है कि "भारतीय सविधान एक लचीले सघ (Flexible Federation) का निर्माण करता है ।"

इसमे तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि साधारण समय एव सामान्य परिस्थितियों मे भारतीय सघ अन्य सघ-राज्यों की तरह ही सचालित होगा । युद्ध तथा अन्य सकटकालीन परिस्थितियों मे यह एक एकात्मक रूप ले सकता है ।[२] अतएव, हम कह सकते हैं कि भारतीय सविधान अपने स्वरूप और भावना मे सघात्मक है, क्योंकि इसमे संघात्मक संविधान की सभी आवश्यक विशेषताएँ विद्यमान हैं ।[3] यह एक Typical सघ नहीं, वरन एक Sui generis सघात्मक राज्य है ।

भारतीय संघ सविधान के निर्माण-काल की विशेष परिस्थितियों और समस्याओं द्वारा दी गई चुनौती का समुचित उत्तर देनेवाला एक अनूठा संघ है ।

---

१ "In fine, it may be said, that the constitution of India is neither purely federal nor unitary but is a combination of both, it is a Federation or Composite state of a novel type"

—*D D Basu* . 'The Constitution of India'

२ "The Constitution of India is designed to work as a federal system in normal times and as a unitary system in war and other emergencies".

—*Krishnamachari*

३ "True, the sphere of Central Government is made exceptionally wide, but it only means that India has a federal form of Government with an exceptionally strong centre, particularly in times of emergencies and crises"

—*Palande*

प्रश्न

१ भारत के संविधान की मुख्य विशेषताओं का विवरण दीजिए ।
Discuss the salient features of the Indian Constitution

२ भारतीय गणतंत्र के संविधान की निजी विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
Discuss the specific features of the Constitution of the Indian Republic.

३. भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षणों का वर्णन कीजिए ।
Describe the federal features of the Indian Constitution

४. "भारतीय संविधान संघात्मक भी है और एकात्मक भी ।" क्या आप इससे सहमत हैं ?
"The Indian Constitution is federal as well as unitary' Do you agree with this view ?

५. भारत के संविधान के संघीय होने में शंका करने के लिए किन किन तर्कों का सहारा लिया जाता है ? वे तर्क कहाँ तक मान्य है ?
What arguments are given in support of the view that the Indian Constitution is not a federal one ? How far are they acceptable ?

३ नागरिकों के मूल अधिकार
(Fundamental Rights)

भारतीय गणतन्त्र के संविधान ने हमारे देश के नागरिकों को दो अमूल्य निधियाँ प्रदान की हैं। पहली नागरिकों को दिये गये मूल अधिकार और दूसरी, राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व। भारत के नागरिकों को दिये गये इन मूल अधिकारों को 'संविधान की आत्मा' तथा 'नागरिकों को संविधान की सबसे बड़ी देन' कहा गया है। इन अधिकारों के द्वारा भारतवासियों को उन सुविधाओं या दशाओं को प्राप्त कराने का प्रयास किया गया है, जिनसे उनके व्यक्तित्व का विकास हो सके।

भारतीय नागरिकों के मूल अधिकार

१ समानता का अधिकार,
२ स्वतन्त्रता का अधिकार,
३ शोषण के विरुद्ध अधिकार,
४ धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार,
५ संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार,
६, सम्पत्ति का अधिकार,
७ संवैधानिक उपचारों का अधिकार,

मूल अधिकार का अर्थ—मानव इतिहास के प्रारम्भिक दिनों से ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा राज्य के कानूनों के बीच एक निरन्तर संघर्ष चलता आ रहा है। प्रभुत्व और स्वाधीनता के बीच सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाय, यह समस्या मानवी सभ्यता की सबसे बड़ी समस्या रही है। एक ओर यदि व्यक्तियों में निसर्गत (inherently) यह प्रवृत्ति होती है कि वे अवसर मिलते ही राज्य के कानूनों को भंग करने लगते हैं, तो दूसरी ओर राज्यों में भी निसर्गत यह प्रवृत्ति होती है कि वे मौका मिलते ही व्यक्तियों की स्वतंत्रता को हड़पने से बाज नहीं आते। राज्यों की इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही मूल अधिकारों की व्यवस्था की गई है। नागरिकों को कुछ ऐसे अधिकार दिये जाते हैं, जिन्हें राज्य अपहरण नहीं कर सकता।

मूल अधिकारों का तात्पर्य नागरिकों के उन अधिकारों से है, जो उन्हें राज्यों के विरुद्ध दिये जाते हैं। इन अधिकारों के विपरीत जानेवाला, इनको छीनने या कम करनेवाला कोई भी

कानून राज्य के द्वारा नही बनाया जा सकता । इन अधिकारों की मर्यादा का उल्लघन करने का दुस्साहस यदि कोई राज्य करता भी है, तो नागरिकों को यह अधिकार प्राप्त रहता है कि वे राज्य की इस निरकुशता और हठधर्मी के विरुद्ध न्यायालय मे फरियाद कर सकें । न्यायालय यदि उस कानून को, मूल अधिकारो के विरुद्ध मान ले, तो उसे अवैध घोषित किया जायगा और फिर राज्य उसे प्रयोग मे नही ला सकता । इस प्रकार मूल अधिकारो की व्यवस्था द्वारा कार्यपालिका (Executive) तथा व्यवस्थापिका (Legislature) की संभावित निरकुशता को नियन्त्रित किया जाता है ।

राज्यों की निरकुशता को नियन्त्रित करने के अतिरिक्त लोकतन्त्रात्मक राज्यो मे सत्तारूढ़ बहुमत पार्टी द्वारा विरोधी अल्पसख्यक दलों या व्यक्तियो की स्वतंत्रता के अपहरण किये जा सकने के भय को दूर करने के लिए भी मूल अधिकारो की व्यवस्था की जाती है ।

अत , मूल अधिकार के वे साधन है, जिनके द्वारा एक निश्चित मात्रा मे नागरिको की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाती है और इन रक्षित स्वतन्त्रताओ की सतत उपलब्धि का आश्वासन दिया जाता है । कहा गया है कि राज्यो के अन्तिम उद्देश्य या अस्तित्व—नागरिकों के कल्याण की पूर्ति, मूल अधिकारो द्वारा ही होती है ।

भारतीय गणतत्र के सविधान मे भारत के नागरिकों को दिये गये मूल अधिकारो का वर्णन ही नहीं है, वरन् उनकी सुरक्षा के समुचित प्रबन्ध का भी समावेश है । इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय सविधान नागरिको के मूल अधिकारों मे सद्धान्तिक दृष्टि से विश्वास करनेवाला सविधान है । इस सविधान के रचयिताओ ने इस मत को स्वीकार नही किया कि मूल अधिकारों को सविधान मे उल्लिखित नहीं करना चाहिए, क्योकि व्यक्तियो के अधिकार समय और परिस्थिति पर निर्भर करते हैं तथा उनकी रक्षा और महत्ता जनमत पर निर्भर करती है । डाक्टर अम्बेदकर के शब्दो मे "मौलिक अधिकारो को विधान-मडलो की इच्छा पर छोड देना उचित नही था, क्योकि भारत मे लोकतत्र अभी तक नहीं पनप पाया था । इसलिए इन अधिकारों को सविधान मे ही रखा गया है ।"

भारतीय सविधान मे मूलभूत अधिकार—भारत के नागरिको को दिये गये मूल अधिकारो का उल्लेख सविधान के तीसरे भाग मे, धारा १२वीं से ३५वी तक, पाया जाता है । इन अधिकारो का प्रतिपादन बडे ही विशद रूप से किया गया है और कुछ लेखको का दावा है कि इन अधिकारो की लम्बी तथा अर्थपूर्ण सूची दुनिया के प्राय सभी सविधानो के मूल अधिकार-सम्बन्धी सूचियो से अधिक बडी और विस्तृत है ।

इन अधिकारों के विश्लेषण के पूर्व इनकी मुख्य विशेषताओ का उल्लेख आवश्यक है ।

मुख्य विशेषताएँ —

(क) सर्वोच्च—संविधान देश का सर्वोच्च विधान होता है और उसमें वर्णित होने के कारण ये अधिकार भी सर्वोच्च हैं।

(ख) सीमित—ये अधिकार असीमित (Unlimited) नहीं हैं। इनपर युक्तिसंगत प्रतिबन्ध (Reasonable Restrictions) लगा दिये गये हैं।

(ग) संरक्षित—इन अधिकारों की सुरक्षा की भी व्यवस्था संविधान में ही कर दी गई है। इनके संरक्षण का दायित्व स्वतन्त्र तथा शक्तिशाली न्यायपालिका को सौंपा गया है।

(घ) स्थगन—संकटकालीन अवस्था (Emergency) में इन अधिकारों को स्थगित किया जा सकता है। मूल अधिकारों का विवरण—

भारत के नागरिकों को निम्नलिखित सात मूल अधिकार दिये गये हैं—

(१) समता का अधिकार (Right to Equality),

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Liberty),

(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right against Exploitation),

(४) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Freedom of Religion),

(५) सांस्कृतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार (Cultural and Educational Rights),

(६) सम्पत्ति का अधिकार (Right to property),

(७) संवैधानिक उपचारों का अधिकार (Right to Constitutional Remedies)।

उपर्युक्त सात मूल अधिकारों के अतिरिक्त तथा इनके वर्णन से पूर्व ही (१२वीं तथा १३वीं धाराओं में) कुछ सामान्य उपबन्धों का भी उल्लेख किया गया है। अतः इससे पहले कि हम इन सात अधिकारों का, एक-एक करके विवरणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करें, इन सामान्य उपबन्धों की थोड़ी चर्चा भी आवश्यक प्रतीत होती है।

(१) सामान्य (General)—इन उपबन्धों का वर्णन संविधान की १२वीं तथा १३वीं धाराओं में पाया जाता है। इनका उद्देश्य सभी सात मूल अधिकारों की रक्षा करना है। १२वीं धारा के अनुसार मूल अधिकारों के क्षेत्र को पर्याप्त रूप से व्यापक तथा विस्तृत बनाया गया है। इसमें कहा गया है कि संघ-सरकार, राज्य-सरकार, संघीय तथा राज्यों के विधान-मंडल तथा सभी स्थानीय एवं अन्य अधिकारी, जो भारतीय राज्य-क्षेत्र में हैं, अथवा भारतीय राज्य-क्षेत्र के बाहर हैं, लेकिन भारत-सरकार के नियंत्रण में हैं, मूल अधिकारों के लागू होनेवाले क्षेत्र में पड़ते हैं। इस प्रकार, इस धारा के अनुसार सभी सात

मूल अधिकार भारत के सभी क्षेत्रों में, जो भविष्य में भी भारत के अन्दर आयेंगे या भारत के नियन्त्रण में रहेंगे, लागू होंगे तथा यह भारत-सरकार के सभी तरह के अधिकारियों को इन अधिकारों के अतिक्रमण करने से नियन्त्रित करता है।

संविधान की १३वीं धारा के अनुसार भारत के राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत सब प्रचलित विधियाँ—जैसे कानून, आदेश, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ आदि, जो संविधान के लागू होने के पहले या बाद बनी हैं— उस मात्रा तक शून्य तथा गैरकानूनी होंगी, जिस मात्रा तक वे इन मूल अधिकार-सम्बन्धी उपबन्धों से असगत हैं। इन मूल अधिकारों को छीनने या कम करने-वाला कोई भी कानून राज्य द्वारा नहीं बनाया जायगा और यदि राज्य इस प्रकार के अतिक्रमण करने की हठधर्मी करेगा, तो इस प्रकार का बना हरेक कानून मूल अधिकारों के उल्लघन करने की मात्रा तक शून्य तथा अवैध होगा।

इन मूल अधिकारों की रक्षा का कार्य देश की न्यायपालिका को सौंपा गया है। संविधान लागू होने के दिनों से अबतक इस धारा का उपयोग करते हुए भारत के न्यायालयों ने बहुत-से कानूनों को अवैध घोषित किया है। उदाहरण के लिए उच्चतम न्यायालय ने सन् १९५० ई० के नजरबन्दी कानून (Preventive Detention Act) की १४वीं धारा को गैरकानूनी ठहराया, क्योंकि यह कानून संविधान की २१वीं तथा २२वीं धाराओं के विरुद्ध था। इसी प्रकार, पूर्वीपंजाब जन-सुरक्षा-कानून की धारा ७ (१९४९), मध्य-प्रदेश और बरार के बीड़ी-निर्माण सबंधी कानून की धारा ३ और ४ (१९४८) इत्यादि कानून भी अवैध घोषित किये गये हैं।

मूल अधिकारों का वर्णन

१. समता या समानता का अधिकार (**Right to equality**)—इन अधिकारों का वर्णन संविधान की १४वीं से १८वीं धाराओं में किया गया है। इस संविधान के द्वारा देश में जनतन्त्रात्मक शासन की व्यवस्था की गई है और इस शासन का मूलभूत सिद्धान्त होता है—सब व्यक्तियों की समानता। अतएव, समता के अधिकार के अनुसार भारत के सभी नागरिक कानून की नजर में एक समान समझे जायेंगे। धर्म, जाति, जन्म, नस्ल, कुल, लिंग, जन्म-स्थान आदि के आधार पर राज्य किसी भी नागरिक के साथ भेद-भाव आदि का वर्त्ताव नहीं करेगा।

समानता का अधिकार

(क) कानून के सामने बराबरी;
(ख) समाजिक समानता,
(ग) अवसर की समानता,
(घ) अस्पृश्यता का अन्त,
(ङ) पदवियों का अन्त।

समानता के अधिकार द्वारा पाँच प्रकार के निम्नलिखित अधिकार दिये गये हैं—

(क) कानून के सामने बराबरी (Equality before law)—इसके अनुसार भारत के सभी नागरिक कानून की नजर में समान समझे जायेंगे और सबको कानून का समान संरक्षण प्राप्त होगा। राज्य कोई भी ऐसा कानून नहीं बना सकता, जो भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भी व्यक्ति को कानून के सामने समता से अथवा कानून के समान संरक्षण से वंचित करे।

अर्थात्, भारत का कोई भी नागरिक, बड़ा या छोटा, ऊँच या नीच अमीर या गरीब, कानून के परे नहीं है। कानून के आचरण की दृष्टि से सरकारी तथा गैरसरकारी व्यक्तियों में भी विभेद नहीं किया गया है। किसी भी नागरिक को विशेष सुविधा नहीं दी गई है। समाज में कोई विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग (Privileged class) नहीं हो सकता। राज्य के सभी वर्गों के लोग देश के साधारण कानून के अन्दर रहेंगे। एक ही प्रकार के अपराध के लिए मुकदमा चलाने का अधिकार सभी बालिग व्यक्तियों के लिए एक समान ही होगा। सभी नागरिकों को न्याय पाने का स्मृतिस्त अधिकार होगा और समान परिस्थिति के व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जायगा। सर्वोच्च न्यायालय ने 'चिरंजित लाल बनाम भारत-सरकार' (१९५० ई०) तथा 'बंगाल-सरकार बनाम अनवर अली सरकार' नामक मुकदमों में कहा था कि यदि कानून की नजर में किन्हीं दो व्यक्तियों के स्थान बराबर हों, तो उनमें किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायगा।

कानून के सामने इस बराबरी का अर्थ यह नहीं है कि नागरिकों के बीच न्यायोचित भेद-भाव नहीं किया जायगा। विधायिका को नागरिकों में उचित तथा बुद्धिसंगत वर्गीकरण करने का अधिकार है, पर ऐसा करने में मनमानी नहीं की जा सकती।

(ख) सामाजिक भेद-भाव करने की मनाही—धारा १५ के अनुसार राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। उपर्युक्त आधारों पर कोई नागरिक दुकानों, भोजनालयों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश पाने से वंचित नहीं किया जा सकता और न कुओं, तालाबों, स्नान-घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के, जिन्हें राज्य से सहायता मिलती है या जो सार्वजनिक उपयोग के लिए हैं, उपयोग करने से ही रोका जायगा।

लेकिन राज्य को स्त्रियों तथा बच्चों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकने का अधिकार है। संविधान में किये गये प्रथम संशोधन (१९५१ ई०) द्वारा राज्य को पिछड़े वर्ग के लोगों, अनुसूचित जातियों और जन-जातियों या आदिवासियों के विकास के लिए विशेष सामाजिक तथा शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान कर सकने का अधिकार दिया गया है।

(ग) सार्वजनिक पदों की प्राप्ति में अवसर की समानता— संविधान की १६वीं धारा के अनुसार राज्याधीन सभी नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के संबंध में सभी नागरिकों को अवसर की समानता प्रदान की गई है। संविधान साफ शब्दों में इस बात की घोषणा करता है कि केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग और जन्म-स्थान के आधार पर अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में किसी प्रकार की न तो अपात्रता (Disqualification) होगी और न किसी प्रकार का विभेद (Discrimination) ही किया जायगा।

परन्तु इस सम्बन्ध में एक अपवाद है। राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए सरकारी नौकरियों में कुछ स्थान सुरक्षित रखे।

(घ) अस्पृश्यता (Untouchability) या छूत— हमारे देश का सदियों पुराना सामाजिक कलंक तथा अभिशाप-स्वरूप अस्पृश्यता की प्रथा का सदा के लिए अन्त कर दिया गया है। इस अधिकार द्वारा देश में एक बड़ा सामाजिक सुधार हुआ है। संविधान की १७वीं धारा में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अस्पृश्यता का किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध तथा दंडनीय है। छुआछूत से उपजी किसी भी प्रकार की निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा।

संविधान के प्रारंभ होते समय ऐसे अपराधों के लिए कोई दंड-विधान नहीं था, किन्तु संसद् द्वारा पारित सन १९५५ ई० के अस्पृश्यता-अपराध-संबंधी अधिनियम (The Untouchability Offences Act, 1955) के बाद से छुआछूत के भेदभाव बरतनेवाले को ६ महीने तक के कारावास तथा ५०० रुपये जुर्माने या दोनों की सजा दी जा सकती है।

इस संबंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कानून द्वारा तो छुआछूत की प्रथा का सदा के लिए अन्त कर दिया गया है, लेकिन अब भी यह प्रथा सर्वथा निर्मूल नहीं हुई है।

(ङ) पदवियों का अन्त—इसके अनुसार सैनिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी पदवियों को छोड़कर अन्य सभी उपाधियाँ उठा दी गई हैं। ऐसा इसलिए किया गया है कि सरकारी पदवियाँ, अँगरेजी राज्य के दिनों के समान, समाज में वर्गभेद पैदा नहीं कर सकें। कोई भी भारतीय नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं करेगा। भारत-सरकार की सेवा में रहनेवाला कोई भी व्यक्ति, जो यहाँ का नागरिक नहीं भी है, किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि बिना राष्ट्रपति की सहमति के स्वीकार नहीं करेगा।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि स्वतंत्र भारत में 'भारतरत्न', 'पद्म-विभूषण' तथा 'पद्मश्री' इत्यादि विभिन्न प्रकार के पदक देशसेवकों को, उनकी

विभिन्न क्षेत्रों में की गई सेवाओं के उपलक्ष्य में दिये जाते हैं। इनकी तुलना हमें ब्रिटिश शासन-काल की उपाधियों से नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उस समय की पदवियां, जैसे—सर, के० सी० आई०, रायबहादुर इत्यादि, तो नाम के पहले अनिवार्य रूप से प्रयुक्त की जाती थीं और उनका उद्देश्य भारतवासियों को देशभक्ति की राह से भटकाकर राज्यभक्ति पर ले जाना होता था।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि समता के अधिकार के इन उपबन्धों के द्वारा भारत की समस्त जनता को सामाजिक न्याय और समता की प्राप्ति हुई है।

२. स्वतंत्रता का अधिकार
(Right to Liberty)

१९ से २२ तक की चार धाराओं में भारत के प्रत्येक नागरिक को (भारत में निवास करनेवाले विदेशी व्यक्तियों को नहीं) संविधान द्वारा दिये गये स्वतन्त्रताओं के अधिकारों का उल्लेख पाया जाता है। इन चार धाराओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण धारा १९ है, जिसके द्वारा नागरिक को सात प्रकार की निम्नलिखित स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं—

(क) भाषण और विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता,
(ख) शान्तिपूर्वक और निरस्त्र होकर एकत्र होने तथा सभा करने की स्वतन्त्रता,
(ग) संगठन या संघ बनाने की स्वतन्त्रता,
(घ) भारत-राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र बे-रोक-टोक घूमने और आने-जाने की स्वाधीनता,
(ङ) भारत-राज्य-क्षेत्र में किसी भी जगह निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता,
(च) सम्पत्ति उपार्जन करने, रखने, उसे व्यय करने और उसे दूसरों को दे सकने की स्वतन्त्रता,
(छ) कोई भी पेशा, कारोबार, व्यापार और कार्य कर सकने की स्वतन्त्रता।

ऊपर वर्णित इन 'सात स्वतन्त्रताओं'[1] (Seven freedoms) पर जब दृष्टिपात करते हैं, तब पाते हैं कि एक जनतन्त्रात्मक देश के नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए जिन वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं की आवश्यकता है, वे सभी उन्हें उपलब्ध हैं। इन अधिकारों के द्वारा भारत के नागरिकों को उन सारी दशाओं को प्राप्त कराने का प्रयास किया गया है, जिनसे वे सुखी और आनन्दमय जीवन बिता सकें, बिना वजह उनकी शारीरिक स्वतन्त्रता का अपहरण राज्य द्वारा न हो।

इन अधिकारों का दुरुपयोग न हो, इस हेतु इन्हें असीमित तथा अनियन्त्रित नहीं रखा गया है। इनके ऊपर मर्यादाएँ लगा दी गई हैं।

---
१ प्रेस (Press) की स्वतन्त्रता भी इसी में सम्मिलित है।

भाषण और विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध—कहा जा चुका है कि प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को सफल बनाने के लिए भारत के नागरिकों को भाषण, लेख, मुद्रण और अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रकट कर सकने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। लेकिन संविधान में इस स्वतन्त्रता के कुछ अपवादों का भी उल्लेख किया गया है।

संविधान में कहा गया था कि इस अधिकार के बावजूद अपमान-लेख (Libel), अपमान-वचन (Slander), मानहानि (Defamation), न्यायालय का अपमान (Contempt of Court) और शिष्टता (Decency) पर आघात करनेवाले अथवा राज्य की सुरक्षा दुर्बल बनाने या राज्य के उलटने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए राज्य कोई कानून बना सकता था। हमारे संविधान-निर्माताओं ने सोचा था कि इन अपवादों से इस अधिकार का दुरुपयोग नहीं हो पायगा।

उच्चतम तथा कुछ उच्च न्यायालयों ने कुछ मुकदमों में, जैसे 'रमेश थापर बनाम मद्रास-राज्य' (१६५० ई०), यह फैसला दिया कि यदि भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता द्वारा अपराध या हत्या को प्रोत्साहन मिले या सार्वजनिक सुरक्षा खतरे में पड़े, लेकिन राज्य की सुरक्षा दुर्बल न हो, तो राज्य इस अधिकार को नियन्त्रित और सीमित नहीं कर सकता। इन फैसलों से यह स्पष्ट हो गया कि इस अधिकार के दुरुपयोग को रोकने के लिए जिन अपवादों की व्यवस्था की गई थी, वे पर्याप्त नहीं थे। अतएव, जून, १६५१ ई० में संविधान में संशोधन किया गया और अपवादों की संख्या बढ़ा दी गई। कहा गया कि सार्वजनिक व्यवस्था (Public Order), अपराध के लिए उकसाना (Incitement to an Offence) और विदेशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध पर आघात पहुँचानेवाले कार्यों के संबंध में संघ और उसके अन्तर्गत राज्यों की सरकारें युक्तिसंगत प्रतिबन्ध (Reasonable Restrictions) लगा सकती हैं।

अनेक विचारकों ने संविधान के इस प्रथम संशोधन की बड़ी ही कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि इस संशोधन के द्वारा जो भी प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, वे बहुत ही व्यापक हैं। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक व्यवस्था और राज्यों की सुरक्षा के नाम पर ऐसे कानून बनाये जा सकते हैं, जिनके द्वारा यह स्वतंत्रता सिर्फ दिखाने के लिए ही रह जायगी।

दूसरे, जब संघ या राज्यों के विधान-मंडल, जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित करने या छीनने या स्थगित करने के अभिप्राय से कोई कानून बना देते हैं, तब न्यायालय उन्हें अवैध नहीं घोषित कर सकते। ऐसा इसलिए है कि हमारे संविधान में 'विधि की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) का प्रयोग न होकर 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) का व्यवहार किया गया है।

'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) शब्दों के प्रयोग का अर्थ यह हुआ कि न्यायालय केवल इस बात की जाँच करेंगे कि किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार किसी कानून के द्वारा छीने, स्थगित या कम किये जा रहे हैं या बिना किसी कानून के ही। वे इस बात पर विचार नहीं कर सकते कि जिस कानून के अनुसार वैसा किया जा रहा है, वह कानून स्वयं उचित है या अनुचित, अच्छा है या बुरा।

तीसरे, इन अधिकारों पर, साधारण तथा असाधारण दोनों हालतों मे, प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं, जैसे भारत के नागरिकों को युद्ध या शान्ति, इन दोनों मे से किसी भी समय में, नजरबन्द बनाया जा सकता है।

इन आलोचनाओं के आधार पर यह आशंका प्रकट की जाती है कि संघ या राज्य-सरकारों की सत्तारूढ़ बहुमत पार्टियाँ अपनी विरोधी अल्पसंख्यक पार्टियों के लोगों के स्वातन्त्र्य-अधिकार का अपहरण, जब भी चाहें, कर सकती हैं। कहा गया है कि अपवादों और प्रतिबन्धों के लगा दिये जाने से स्वतन्त्रता के अधिकार सिर्फ नाममात्र की एक दिखाऊ चीज बन गये हैं।

इन अपवादों और प्रतिबन्धों के लगाये जाने तथा इस सम्बन्ध मे किये गये संविधान के प्रथम संशोधन के पक्ष मे यह दलील दी जाती है कि राज्य की सुरक्षा और सार्वजनिक व्यवस्था के हित मे इनका होना भारत की मौजूदा हालतों मे बिलकुल वाजिब है, क्योंकि हमारे देश के नन्हें जनतन्त्र को सभी तरह की प्रतिक्रियागामी (Reactionary) शक्तियों, जैसे साम्यवादी, सम्प्रदायवादी आदि, की हिंसक कार्यवाहियों से भय है।

दूसरे, कुछ राज्य-न्यायालयों ने, कानून और व्यवस्था के हित मे चन्द राज्यों द्वारा उठाये गये कदमों को, अवैध घोषित कर दिया। जैसे हावड़ा के पास १४४ दफा को तोड़ने की नीयत से आगे बढ़नेवाली भीड़ को तितर-बितर करने के अभिप्राय से पुलिस द्वारा किये गये लाठी-चार्ज को न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया, क्योंकि पुलिस का वह काम नागरिकों को भारत-राज्य-क्षेत्र मे सर्वत्र बे-रोक-टोक घूमने और आने-जाने की स्वाधीनता के विपरीत था। इस प्रकार, अबतक हमारे देश में अच्छी नागरिकता की अच्छी प्रथाएँ नहीं हो पाई हैं।

तीसरे, हमें यह ध्यान मे रखना चाहिए कि स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाने के राज्य के अधिकार के सिलसिले मे भारत के संशोधित संविधान मे 'युक्तिसगत प्रतिबन्ध' (Reasonable Restrictions) शब्द का प्रयोग किया गया है। 'युक्तिसगत' शब्द के लगा देने से राज्य की विधायिका तथा कार्यकारिणी दोनों ही मनमानी नहीं कर सकते हैं;

क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय बराबर ही यह निर्णय दे सकता है कि लगाये गये प्रतिबन्ध युक्ति-संगत है या नहीं।

अतः, यह नहीं कहा जा सकता है कि इन प्रतिबन्धों का लगाया जाना अनुचित है। कोई भी अधिकार पूर्ण (Absolute) अथवा असीमित (Unlimited) नहीं होता। ठीक ही कहा गया है कि अधिकार केवल कर्त्तव्य की दुनिया में ही जीवित रह सकते हैं। स्वतंत्रता के अधिकार इस उक्ति के अपवाद नहीं हैं, अतएव उनपर प्रतिबन्ध होते हैं और होने चाहिए। अधिकारों के दुरुपयोग को रोकने के लिए उन्हें सीमित या मर्यादित करना कतई अनुचित नहीं, क्योंकि स्वतन्त्रता (Liberty) का अर्थ कभी स्वच्छन्दता (Licence) नहीं होता।

अन्य प्रतिबन्ध—'सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता के हित में' राज्य कानून द्वारा नागरिकों के शान्तिपूर्वक और बिना हथियार लिये एकत्र हो सकने, जुलूस निकाल सकने और सभाएँ कर सकने और स्वतन्त्रतापूर्वक समुदाय और संघ बना सकने के अधिकारों पर युक्ति-संगत प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसी प्रकार, 'सर्वसाधारण जनता के हित में और अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा के प्रयोजन से' नागरिकों को दिये गये, 'भारत-राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र बे-रोक-टोक घूमने, आने-जाने और किसी भी जगह निवास करने और बस जाने तथा 'सम्पत्ति कमाने, रखने, उसे खर्च करने और उसे दूसरों को दे सकने की स्वतन्त्रता' के अधिकारों को भी राज्य द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है।

भारत के नागरिकों को कोई आजीविका व्यापार या कारोबार कर सकने की दी गई स्वतन्त्रता पर भी दो प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। सर्वसाधारण जनता के हित को दृष्टि में रखकर नागरिकों की इस स्वतन्त्रता को सीमित और नियंत्रित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, बहुत-से राज्यों में मोटर-बस-सर्विस के धन्धे का प्राइवेट मालिकों के हाथ से छीनकर, राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। इसी प्रकार, इस अधिकार के बावजूद राज्य को यह अधिकार प्राप्त है कि वह कानून द्वारा किसी विशेष पेशे, व्यापार, कारोबार और धन्धे को कर सकने के लिए विशेष व्यावसायिक या टेक्निकल योग्यता निश्चित कर सके और नागरिकों को बिना शामिल किये कोई व्यवसाय, उद्योग तथा व्यापार चलावे।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि राज्य द्वारा लगाये जानेवाले ऊपर कहे गये सभी प्रतिबन्ध 'युक्तिसंगत' होने चाहिए। एक-दो मामलों में जबकि राज्यों ने इसे ध्यान में नहीं रखा, उनके कानून न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित कर दिये गये। जैसे, सन् १९५० ई० में, 'मध्यप्रदेश-बीड़ी कानून' को न्यायालय ने असंगत और असंवैधानिक घोषित इसलिए कर दिया कि कुछ ग्रामों में खेती के साथ संबंध रखनेवाले लोगों को बीड़ी बनाने के धन्धे

से रोकने के प्रयोजन से बनाया गया वह कानून नागरिकों के जीविकोपार्जन के अधिकार पर अनुचित प्रतिबन्ध लगाता था ।

अपराध के लिए सजा पाने की सुरक्षा—कहा जा चुका है कि संविधान द्वारा दिये गये स्वतन्त्रता के अधिकारों का उल्लेख १६ से २२ धाराओं में किया गया है । १६वीं धारा में वर्णित ७ प्रकार के अधिकारों की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं । २०वीं धारा के अनुसार किसी भी भारतवासी को किसी अपराध के लिए उस समय तक दोषी नहीं ठहराया जा सकता और न सजा ही दी जा सकती, जबतक कि अपराध करने के समय उसने किसी लागू या चालू कानून का उल्लंघन (Violation) न किया हो और न उसको उससे अधिक दण्ड ही दिया जा सकता है, जो इस अपराध के करने के समय कानून के मुताबिक दिया जा सकता था । इसका आशय यह है कि राज्य ऐसा कानून नहीं बना सकता, जो किसी बीती घटना पर लागू हो सके । ऐसे कानूनों को अंगरेजी में 'एक्स-पोस्ट-फैक्टो लॉज' (Ex-Post-Facto Laws) कहते हैं । न्यायालय से दण्डित हुए बिना किसी व्यक्ति को अपराधी नहीं माना जा सकता और अपराधियों को कानून के अनुसार ही सजा दी जा सकेगी ।

इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति पर एक अपराध के लिए एक बार से अधिक न तो अभियोग ही चलाया जा सकता है और न उसे एक अपराध के लिए एक बार से अधिक सजा ही दी जा सकती है । किसी अपराध में किसी अभियुक्त को स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता । इसका अर्थ यह हुआ कि अभियोग को सिद्ध करने का भार अभियोग लगानेवाले पर है, न कि उसपर, जिसके विरुद्ध अभियोग लगाया गया हो ।

प्राण तथा शारीरिक स्वाधीनता की रक्षा—संविधान की २१वीं धारा के अनुसार किसी व्यक्ति को अपने जीवन, प्राण अथवा शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार से 'कानून द्वारा विहित प्रक्रिया' (Procedure established by Law) को छोड़-कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता ।

यदि किसी व्यक्ति को गिरफ्तार किया जाय, तो जरूरी है कि उसे यथासम्भव शीघ्र गिरफ्तारी का कारण बताया जाय । बिना कारण बताये किसी को हवालात या जेलखाने में बन्द नहीं रखा जा सकता । गिरफ्तारी के २४ घण्टों के अन्दर गिरफ्तार व्यक्ति को निकटस्थ मैजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाय और बिना उस मैजिस्ट्रेट के हुक्म के किसी व्यक्ति को २४ घण्टे से अधिक समय के लिए हवालात या जेल में नहीं रखा जा सकता । गिरफ्तार हुए प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपनी पसन्द के वकील से परामर्श कर सके और उससे अपनी पैरवी करा सके ।

उपर्युक्त उपबन्ध उन व्यक्तियों के संबंध मे लागू नहीं होंगे, जो (१) उस समय भारत के किसी शत्रु-देश के नागरिक हो और (२) जिन्हे नजरबन्दी-कानून (Preventive Detention Act) के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया हो।

स्वातन्त्र्य-अधिकार वाले उपविभाग की अंतिम धारा, यानी धारा २२, के अनुसार यदि एक ओर संघ तथा राज्यों की सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे मुकदमा चलाये बिना भी किसी व्यक्ति को गिरफ्तार और नजरबन्द करने के लिए कानून बना सकती हैं, तो दूसरी ओर बन्दीकरण और निरोध से नागरिकों की सरक्षा की व्यवस्था भी की गई है।

संविधान मे बन्दीकरण या निवारक-निरोध-कानून (Preventive Detention Act) की भी व्यवस्था है। इसके अनुसार संघ या राज्य-सरकारें यदि सन्तुष्ट हो या उन्हें विश्वास हो कि किसी व्यक्ति की गतिविधि (१) भारत या भारतीय राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत किसी राज्य की शान्ति और सुरक्षा या (२) विदेशों के साथ भारत के संबंध तथा भारत की शान्तिपूर्ण स्थिति या (३) देश में आवश्यक सेवाएँ (Essential services) बनाये रखने की दृष्टि से अनुचित या हानिकारक हो, लेकिन उसे न्यायालय मे प्रमाण द्वारा अपराधी सिद्ध करके दण्डित करना सरकार के लिए सम्भव नहीं हो, ऐसी दशा मे राज्य उस व्यक्ति को तीन महीने के लिए गिरफ्तार कर सकता है और उसपर बिना मुकदमा चलाये ही उसे जेल मे रख सकता है। इसी को नजरबन्द करना कहा जाता है।

इसी प्रकार की नजरबन्दी से नागरिको की सरक्षा के हेतु यह भी कहा गया है कि नजरबन्द व्यक्तियों को राज्य के द्वारा गिरफ्तारी के बाद यथासम्भव जल्द-से-जल्द गिरफ्तारी के कारणों को बता दिया जाना चाहिए। साथ-ही-साथ उन कारणों के संबंध मे सरकार के सामने अपना मत प्रकट कर सकने का अवसर भी उन्हें दिया जाना चाहिए। इसमें उन अभियुक्तो को वकील से सलाह लेने की सुविधा दी जायगी। दस सप्ताह से अधिक किसी को भी बिना परामर्श-समिति की सहमति के कैद मे नहीं रखा जायगा। नजरबन्द लोग विशेष स्थितियों मे पेरोल (Parole) पर छोड़े जा सकेंगे। लेकिन यदि राज्य यह कहे कि किसी व्यक्ति की नजरबन्दी का कारण या तथ्य (Facts) बताना लोकहित के विपरीत है, तो उन तथ्यों को बताने के लिए राज्य को मजबूर नहीं किया जा सकता। तीन महीनों की अवधि भी दो तरह से बढ़ाई जा सकती है

(१) अगर इस अवधि के अन्त होने के पहले परामर्श-समिति[1] (Advisory Board) यह राय दे कि अवधि बढ़ा दी जानी चाहिए।

---

१ इस समिति में तीन सदस्य होंगे, जो किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश रह चुके हों या न्यायाधीश होने की योग्यता रखते हों।

(२) यदि संसद् किसी विशेष परिस्थिति के लिए क़ानून बनाकर बिना परामर्श-समिति की स्वीकृति के भी, इस अवधि को बढ़ा दे।

भारतीय संसद् द्वारा बनाये गये सन् १९५० ई० के नजरबन्दी-क़ानून के अनुसार राज्य की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति को एक वर्ष तक बिना मुकदमा चलाये ही नजरबन्द रखा जा सकता है। इस प्रकार, किसी भी समय में भारत के किसी भी नागरिक को नजरबन्द किया जा सकता है। तीन महीनों या उससे कम समय के लिए राज्य पूरी मनमानी कर सकता है और राज्य द्वारा बताये गये नजरबन्दी के कारणों की सत्यता या असत्यता की जाँच करने का अधिकार न्यायालयों को नहीं दिया गया है।[1]

संविधान की इस २२वीं धारा की सबसे अधिक आलोचना की गई है। कहा गया है कि धारा १९ में जो प्रतिबन्ध नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर लगाये गये हैं, वे नागरिकों की स्वतन्त्रताओं पर सिर्फ रोक (Restrictions) लगाने के अभिप्राय से, लेकिन धारा २२ के प्रतिबन्धों का आशय तो व्यक्तियों (Persons) को जीवन की स्वतंत्रता से पूर्णतः वंचित (Deprive) करने से सम्बद्ध है। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा है कि इस भाग के द्वारा देश में फासिज्म (Fascism) की बुनियाद डाली गई है और संविधान में नागरिकों को जो भी मौलिक अधिकार दिये गये हैं, उन्हें मटियामेट कर दिया गया है अथवा उन सबपर पानी फेर दिया गया है। बख्शी टेकचन्द के अनुसार निवारक निरोध-अधिनियम, दमन का अधिकार-पत्र (Charter of Oppression) और स्वतन्त्रता के निषेध का अधिकार-पत्र (Charter of Denial of Liberty) है।

हमें देखना है कि इस तरह की आलोचनाएँ कहाँ तक सच हैं। ऊपरी सतह तक ही दृष्टि दौड़ाने से यह अवश्य दीखता है कि इस भाग के द्वारा सत्तारूढ़ दल की सरकार अपने राजनीतिक विरोधियों का दमन करने तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता को छीनने की बहुत ही बड़ी शक्ति पाती है। जबसे संविधान लागू हुआ है, लगातार नजरबन्दी क़ानून बनते रहे हैं और हजारों व्यक्ति नजरबन्द किये गये हैं। दुनिया के किसी भी प्रजातन्त्रात्मक देश में भारत की तरह किसी भी समय और परिस्थिति में (युद्ध या शान्ति, साधारण या सङ्कट-काल) नागरिकों को नजरबन्द किये जा सकने की व्यवस्था नहीं पाई जाती है।

---

१ बिहार के तेजनारायण झा के मुकदमे में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश श्री फजल हुसैन का कथन "आप अपनी नजरबन्दी के विरुद्ध सरकार से प्रार्थना कर सकते हैं। यदि क़ानून-सम्बन्धी कोई बात हो, यदि क़ानून का अतिक्रमण हुआ हो तो हम आपकी प्रार्थना पर विचार कर सकते हैं। किन्तु मुश्किल यह है कि कारण की सत्यता या असत्यता पर विचार करने का हमें अधिकार नहीं है।'

अपने देश की मौजूदा परिस्थितियों की तहों में जाने के फलस्वरूप हम पाते है कि आज ऐसे व्यक्तियों, सस्थाओ और शक्तियों की कमी नहीं है, जो राष्ट्र-विरोधी एव हिंसात्मक अराजकता की भावनाओं को फैलाकर हाल ही मे हासिल की गई राष्ट्रीय स्वाधीनता को नष्ट करने तथा भारत के वर्तमान आर्थिक और सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने में संलग्न हों। भारत मे आज भी तोड-फोड, हिंसा और साम्प्रदायिक वैमनस्य की विषैली भावना को भड़कानेवालों की कमी नहीं है। ऐसे लोगों को अपराध कर चुकने के समय तक स्वतंत्र छोड़ना हितकर नहीं होता और फिर साधारण कानून द्वारा उनके साथ उचित कार्रवाई भी नहीं की जा सकती। अत, इन देश और समाज-विरोधी तत्त्वों का सामना करने के लिए इस प्रकार के प्रतिबन्ध आवश्यक हैं।

इसके अलावा सरकार को बिलकुल तानाशाही करने की आजादी भी नहीं दी गई है। अधिकारियों द्वारा निर्दोष व्यक्ति न कहीं इस कानून के पंजे में जकड़ लिये जायँ, इस हेतु की गई नागरिकों का सरक्षा का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। परामर्श-समिति की स्थापना द्वारा इस कानून के दुरुपयोग को बहुत दूर तक रोका गया है, क्योंकि यदि समिति की राय मे किसी व्यक्ति को नजरबन्द करने के कारण पर्याप्त नहीं हों, तो सरकार को उसे रिहा करना पड़ेगा। परामर्श-समिति के भी ऊपर न्यायालय हैं, जो बराबर ही नजरबन्दों को रिहा करने का आदेश सरकारों को दे सकते हैं और दे रहे है, यदि उनकी राय मे नजरबन्दी के कारण स्पष्ट नहीं है। और इन सभी उपायो के ऊपर जनमत का भय है। कोई भी प्रजातन्त्रात्मक सरकार जनमत की अवहेलना नहीं कर सकती है।

अत, सघ या राज्यों की सरकारों के लिए यह सुगम नहीं है, जैसा आलोचकों का दावा है, कि किसी व्यक्ति को बिना पर्याप्त कारण के नजरबन्द रख सकें और इस प्रकार नागरिकों की स्वतन्त्रता को हड़प लें।

३. शोषण के विरुद्ध अधिकार

(Right Against Exploitation)

सविधान की धारा २३ और २४ मे शोषण के विरुद्ध अधिकार का उल्लेख किया गया है, जिसके फलस्वरूप भारत का कोई भी नागरिक किसी दूसरे मनुष्य का शोषण नहीं कर सकता। इस प्रकार के मौलिक अधिकार की व्यवस्था भारत के सविधान मे इसलिए की गई कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय मे भी हमारे देश मे सदियों पुरानी सामाजिक कुरीतियाँ तथा प्रथाएँ प्रचलित थीं, जिनके द्वारा एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण होता था। जैसे मद्रास मे देवदासी-प्रथा तथा राजस्थान मे बाँदी-प्रथा। इन सामाजिक कुरीतियों तथा दासता की प्रथाओं का अन्त करने के लिए निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई है—

(क) धारा २३ के अनुसार भारत-क्षेत्र में मनुष्यों (स्त्री, पुरुष और बच्चे) का क्रय-विक्रय करना अपराध घोषित किया गया है और इस अपराध के लिए कानून द्वारा दंड देने की व्यवस्था की गई है। बेगारी और अन्य प्रकार से जबरदस्ती लिया हुआ काम या श्रम कानून के विरुद्ध ठहराया गया है। इसका उल्लंघन करना दण्डनीय माना गया है।

लेकिन, राज्य को यह अधिकार होगा कि सार्वजनिक प्रयोजन के लिए लोगों से अनिवार्य सेवा ले सके। जैसे युद्ध के समय या किसी अन्य राष्ट्रीय विपत्तियों के समय में सरकार नागरिकों को बाधित रूप में विविध प्रकार के कार्य करने के लिए विवश कर सकती है। युवकों को अनिवार्य रूप से सेना में भरती किया जा सकेगा या किसी भी व्यक्ति की सेवा सरकारी कार्यों के लिए प्राप्त की जा सकेगी। परन्तु, ऐसी अनिवार्य सेवा लेने में धर्म मूल, वंश, जाति, वर्ग आदि के आधार पर या इनमें से किसी एक के आधार पर नागरिकों के बीच भेद-भाव नहीं किया जायगा।

(ख) धारा २४ के अनुसार १४ वर्ष से अल्प आयुवाले किसी बालक या बालिका (Child) को किसी कारखाने, खान या अन्य किसी प्रकार के खतरनाक कार्यों की नौकरी में नहीं लगाया जायगा।

शोषण के विरुद्ध अधिकार द्वारा भारत के स्वतन्त्र नागरिकों को आर्थिक शोषण से बचाया गया है। एक 'लोकमंगलकारी राज्य' (Welfare State) की स्थापना के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता का होना आवश्यक था। कुछ आलोचकों का कहना है कि इस धारा में औरतों का जिक्र नहीं होने के कारण एक कमी रह गई, क्योंकि कम आयु के बालक या बालिकाओं के समान स्त्रियों को भी कम मजदूरी दी जाती है। यह सुझाव दिया गया है कि बच्चों की उम्र-सीमा १४ न होकर १६ होनी चाहिए थी और स्त्रियों से खानों और कारखानों में रात्रि के समय काम लिया जाना निषिद्ध होना चाहिए था।

(४) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
(Right to Freedom of Religion)

भारतीय गणतंत्र का संविधान हमारे देश में एक धर्म-निरपेक्ष-राज्य (Secular State) की स्थापना करता है। राज्य की दृष्टि में देश में प्रचलित सभी धर्म समान हैं। अतः चार धाराओं (२५ से २८) में नागरिकों को दिये गये धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकारों का उल्लेख किया गया है।

---

१. अँगरेजी शासन-काल में जमींदार तथा सरकारी अफसरों द्वारा देहात के गरीबों से समय-समय पर बिना मजदूरी दिये जबरदस्ती काम कराने की प्रथा।

धारा २५ में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को, सार्वजनिक सुव्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा राज्य के अन्य नियमों का पालन करते हुए, किसी भी धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने, बिना रोक-टोक उसका प्रचार करने तथा अंतःकरण की स्वतंत्रता (Freedom of Conscience) का समान अधिकार होगा। अपने-अपने धर्म का प्रचार करना, अन्य धर्मों के माननेवालों को अपने धर्म में दीक्षित (Convert) कर सकना और स्वयं दूसरे धर्म में दीक्षित हो सकना भी इस अधिकार के अन्दर आता है।

सिक्खों को कृपाण धारण करने की भी आज्ञा दी गई है। लेकिन, राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह धार्मिक आचरण से सम्बन्धित किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं को कानून द्वारा नियमित तथा प्रतिबन्धित कर सके। राज्य को समाज-कल्याण और सुधार के लिए हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म-संस्थाओं को कानून के द्वारा सभी वर्गों तथा विभागों के हिन्दुओं के लिए खोल सकने का अधिकार है। सिक्ख, जैन और बौद्ध लोग भी हिन्दुओं की कोटि में ही रखे गये हैं।

धारा २६ के अनुसार सभी धार्मिक सम्प्रदायों को सार्वजनिक सुव्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य-संबंधी नियमों के अधीन रहते हुए, धार्मिक कार्यों तथा धार्मिक दान-संबंधी संस्थाओं को स्थापित और पोषित करने का अधिकार होगा। उन्हें धार्मिक कार्य-सम्बन्धी विषयों के प्रबन्ध करने, चल और अचल सम्पत्ति पर (Movable and Immovable Property) के अर्जन तथा स्वामित्व और ऐसी सम्पत्ति पर कानून के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा।

धारा २७ के अनुसार किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर (Tax) देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, जिसकी आमदनी किसी धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय-विशेष की उन्नति या पोषण में खर्च होने के लिए विशेष रूप से विनियुक्त (Specially appropriated) कर दी गई हो। २८वीं धारा के अनुसार किसी शिक्षा-संस्था में, जिसका पूरा खर्च राज्य-निधि (State Funds) से मिलता हो, कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायगी। परन्तु यह बात ऐसी शिक्षा-संस्थाओं पर लागू न होगी, जिनका प्रशासन तो राज्य करता हो, किन्तु जो किसी ऐसे धार्मिक दान या ट्रस्ट (Religious Endowment or Trust) के अधिन स्थापित हुई हो, जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक हो। इसके अलावा राज्य द्वारा स्वीकृत अथवा राज्य से आर्थिक सहायता पानेवाली शिक्षण-संस्थाओं में पढ़नेवाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जानेवाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए अथवा उसमें या उससे लगे स्थान में की जानेवाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जायगा, जबतक कि वह व्यक्ति स्वयं, यदि वह बालिग है, अन्यथा उसका संरक्षक, इसके लिए अपनी मंजूरी न दे दे।

धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार-सम्बन्धी भारतीय संविधान की ४ धाराओं को सामूहिक रूप से 'धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार-पत्र (Charter of Religious Liberty) कहा जा सकता है। भारत ऐसे देश में, जहाँ भिन्न भिन्न धर्मों के माननेवाले बड़ी संख्या में रहते हैं और जहाँ के निवासी अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में धर्म को प्रधान स्थान देते हैं, धार्मिक स्वतन्त्रता के इन अधिकारों का अपना एक विशेष महत्त्व है। इन अधिकारों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इनके द्वारा एक ओर व्यक्तियों को दी गई अन्त करण तथा धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता तथा दूसरी ओर धार्मिक कुरीतियों, ढोंग और पाखण्डों को दूर करने तथा सामाजिक कल्याण और धार्मिक सुधार के कार्यों को करने के लिए राज्य को दिये गये कानून बनाने के अधिकारों का एक साथ ही बहुत सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। लोगों की धार्मिक भावनाओं का आदर किया गया है, क्योंकि उन्हें धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता दी गई है न कि सोवियत रूस की तरह धर्म-विरोधी प्रचार की। अतएव, नास्तिकता का राज्य द्वारा प्रोत्साहन नहीं किया जायगा, वरन् राज्य सभी धर्मों के प्रति तटस्थता की नीति अपनायगा। कहा जा चुका है कि धर्म-निरपेक्षता की दृष्टि से हमारा देश आधुनिक प्रगतिशील विचारधारा के सर्वथा अनुकूल तथा दुनिया के कुछ प्रगतिशील देशों से भी बढ़ा-चढ़ा है। यह अधिकार हमारे देशवासियों को केवल धार्मिक स्वतन्त्रता ही नहीं देता, बल्कि सहिष्णुता का भी पाठ पढ़ाता है।

५. सांस्कृतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार

(Cultural and Educational Rights)

भारत विभिन्नताओं और अनेकताओं का देश है। यहाँ नाना प्रकार के धर्म, बहुत-सी भाषाएँ और अनेक संस्कृतियाँ पाई जाती हैं। अत, भारतीय संविधान निर्माताओं ने यदि एक ओर राष्ट्र की एकता को सुदृढ करने तथा इन विविधताओं में एकरूपता लाने की कोशिश की, तो साथ-ही-साथ उन्होंने इन विविधताओं की रक्षा के भी उपाय किये।

संविधान की २६वीं तथा ३०वीं धाराओं में वर्णित संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकारों के द्वारा उन्होंने हमारे देश के विविध भागों के निवासियों की निजी प्रतिभाओं को विकसित होने का समुचित अवसर प्रदान किया।

सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार के अनुसार भारत के किसी भी भाग में बसनेवाले लोगों को अपनी संस्कृति, शिक्षा, भाषा, लिपि तथा साहित्य को बनाये रखने तथा उनकी उन्नति करने का अधिकार है। इस अधिकार का उद्देश्य वास्तव में अल्पसंख्यक जातियों को अपनी शिक्षा और संस्कृति-सम्बन्धी हितों की रक्षा एवं उन्नति करने का पूरा अवसर देना है। परन्तु राज्य द्वारा मान्यता-प्राप्त अथवा राज्य-कोष से सहायता पानेवाली

किसी शिक्षा-संस्था में किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर प्रवेश प्राप्त करने से वंचित नहीं किया जायगा।[१]

फिर, धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षण-संस्थाएँ खोलने और उनका प्रबन्ध करने का अधिकार दिया गया। शिक्षण-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य इस आधार पर विभेद नहीं कर सकता कि कोई संस्था धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।

इस अधिकार के उल्लेख का ध्येय यह है कि भारत में स्थापित संघात्मक राज्य की आधार-शिला, विविधता तथा एकता का सामंजस्य एवं सम्मिश्रण कायम रहे तथा अल्पसंख्यकों को यह विश्वास रहे कि उनका भविष्य बहुसंख्यकों के हाथों में सुरक्षित है।

कुछ विचारकों की दृष्टि में संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार भारत में एक राष्ट्रीयता के विकास में बाधा पहुँचाता है। कुछ दूर तक इस प्रकार की आलोचना सही है, लेकिन देश की जो वर्त्तमान स्थिति है, उसमें कठोर तथा अंधी एकता का जबरदस्ती लादा जाना उचित नहीं कहा जा सकता। राज्य-पुनर्गठन-आयोग ने तो यह सिफारिश की है कि विभिन्न भाषा-भाषी अल्पसंख्यकों के इस अधिकार को संविधान में मान्यता दी जाय कि यदि पर्याप्त संख्या में विद्यार्थी हों, तो उन्हें प्रारंभिक शिक्षा उनकी मातृभाषा में ही दी जाय और इस अधिकार को लागू करने के लिए केन्द्रीय सरकार को विशेष अधिकार दिये जायँ। स्मरण रहे कि भारत के संविधान में इस प्रकार के अधिकार का उल्लेख अभी नहीं है।

(६) सम्पत्ति का अधिकार

(Right to Property)

भारतीय संविधान के सबसे विवादास्पद पहलुओं में से एक सम्पत्ति का अधिकार भी है। संविधान भारत के नागरिकों को अपनी निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार स्वीकार करता है। सभी नागरिकों को सम्पत्ति अर्जन करने, उस पर स्वामित्व

---

१ इस संबंध में 'मद्रास-सरकार बनाम श्रीमती चम्पाकम दोरायजन और श्रीनिवासम्' के मुकदमे (१९५० ई०) में उच्च न्यायालय का निर्णय उल्लेखनीय है। मद्रास-सरकार द्वारा जारी किये गये आज्ञा-पत्र के अनुसार एक सरकारी कॉलेज में जाति के आधार पर विद्यार्थियों की भरती की जाती थी। इन दोनों विद्यार्थियों ने मद्रास-सरकार की इस नीति को विधान-विरोधी बताते हुए इसके विरुद्ध उच्च न्यायालय में प्रार्थना-पत्र दिया। उच्च न्यायालय की पूरी बेंच ने इस आदेश को गैरकानूनी ठहराते हुए कहा कि सरकारी विद्यालयों में धर्म, जाति अथवा मूल, वंश के आधार पर प्रवेश नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।

रखने तथा उसका क्रय-विक्रय करने के अधिकार दिये जाने के फलस्वरूप सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वत्व के अधिकार (Right of Private Property) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। धारा ३१ के अनुसार किसी भी व्यक्ति की संपत्ति राज्य द्वारा तबतक नहीं छीनी जायगी जबतक ऐसा करने के लिए विधि का प्राधिकार (Authority of Law) न प्राप्त कर लिया जाय और मुआवजा देने या क्षतिपूर्ति (Compensation) की व्यवस्था न कर दी जायगी।

व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति की रक्षा की जिम्मेवारी राज्य पर है। बिना कानून बनाये राज्य किसी की सम्पत्ति को मनमाने तौर से तो अपने अधिकार में नहीं कर सकेगा, लेकिन सार्वजनिक कार्य या उपयोग के लिए किसी व्यक्ति की चल या अचल सम्पत्ति[1] पर राज्य को अनिवार्य रूप से कब्जा करने का अधिकार दिया गया है। लेकिन इसके लिए बनाये गये कानून में मुआवजे की रकम तो निश्चित की ही जानी चाहिए, साथ-ही-साथ उन सिद्धान्तों का भी निरूपण होना चाहिए, जिनके आधार पर मुआवजा दिया जायगा। इस प्रकार का कानून तभी लागू हो सकेगा, जबकि राष्ट्रपति उसपर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दें। ऐसे कानूनों को राष्ट्रपति की सम्मति के लिए सुरक्षित रखे जाने की व्यवस्था इसलिए की गई है, ताकि इस सबंध में जितने भी कानून बनें, उन सबमें देश-भर में एकरूपता बनी रहे।

निम्नलिखित कानूनों पर क्षतिपूर्त्ति-सम्बन्धी उपबन्ध लागू नहीं होंगे—

(क) किसी कर या अर्थदण्ड लगानेवाले कानून पर,

(ख) सार्वजनिक स्वास्थ्य की सुरक्षा, या प्राण अथवा सम्पत्ति के सकट-निवारण के निमित्त बने कानून पर,

(ग) भारत डोमिनियन की अथवा भारत-सरकार और अन्य देश की सरकार के बीच किये गये करार के अनुसरण मे अथवा निष्क्रान्त (Evacuee property) घोषित की गई सम्पत्ति के लिए बनाये गये कानूनों पर।

सम्पत्ति के अधिकार-संबंधी संशोधन

भूमि-सुधार के कार्यों के प्रारभ करने के हेतु सविधान के लागू होने के पहले से ही बहुत-से राज्य जमींदारी-उन्मूलन इत्यादि कानून बना रहे थे। कुछ उच्च न्यायालयों ने ऐसे कानूनों को अवैध घोषित कर दिया। जैसे, 'कामेश्वर सिंह बनाम बिहार-राज्य' नामक मुकदमे में पटना-हाईकोर्ट ने बिहार-भूमि-सुधार ऐक्ट, १९५० को अवैध घोषित कर दिया। अन्य राज्यों में भी ऐसे मुकदमे चल रहे थे।

(क) प्रथम संशोधन (सन् १९५१ ई०)—

अतएव, सन् १९५१ ई० में संविधान में संशोधन कर दिया गया (प्रथम संशोधन), जिसके अनुसार जमींदारी-उन्मूलन और भूमि-सुधार-सम्बन्धी कानूनों को न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित किये जाने से बचाया गया; क्योंकि उन्हे संविधान द्वारा प्रतिपादित अधिकारों के विपरीत नहीं माना गया। इस संशोधन के द्वारा स्टेट (Estate), अर्थात् जमींदारी, जागीरदारी, मुआफी आदि तरह की सम्पत्ति को हस्तगत करनेवाला कोई भी कानून इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता है कि यह मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता है।

इस संशोधन के द्वारा संविधान में ९वीं अनुसूची (Ninth Schedule) जोड़ दी गई और यह घोषणा कर दी गई कि इस सूची के अन्तर्गत वर्णित अधिनियमों को मूल अधिकारों के उल्लंघन करने के आधार पर अवैध नहीं माना जायगा।

इस संशोधन के बावजूद मुआवजे की रकम को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती थी, इस आधार पर कि वह उचित और पर्याप्त (Just, Fair and Adequate) नहीं है। सन् १९५३ ई० में पश्चिम-बंगाल बनाम श्रीमती बेला बनर्जी आदि के मुकदमे में न्यायालय ने कहा कि मुआवजा "किसी की वंचित की हुई सम्पत्ति के मूल्य के बराबर होना चाहिए।"

भारत सरकार के लिए बाजार-दर (Market Rate) पर मुआविजा देना न तो संभव ही था और न उचित ही। इससे सरकार की, वृहत् सामाजिक कल्याण के ध्येय से निजी सम्पत्ति पर कब्जा करने की, नीति में बाधा आने लगी। अतएव, संविधान में फिर भी संशोधन किया गया।

(ख) चतुर्थ संशोधन (सन् १९५५ ई०)—इस संशोधन के अनुसार मुआवजा देने की रकम का प्रश्न पूर्णतः व्यवस्थापिका सभा की शक्तियों के अधीन कर दिया गया है। व्यवस्थापिका सभा द्वारा निश्चित रकम के विरुद्ध अब न्यायालय में मुकदमे नहीं किये जा सकते। राज्य किसी व्यवसाय को नियमित करने और उसमें सुव्यवस्था लाने के हेतु थोड़े समय के लिए बिना मुआवजा दिये भी उसे ले सकेगा।

इस प्रकार, सार्वजनिक प्रयोजन के उद्देश्य से ली गई सम्पत्ति[1] के मुआवजे की रकम या मात्रा न्यायोचित है या नहीं, इसका विचार न्यायालय नहीं कर सकते हैं। इस संबंध में विधान-मंडलों को ही अन्तिम अधिकार प्राप्त है फिर भी न्यायालय इस बात की जाँच

१ इस प्रकार की सम्पत्ति में जमीन, कम्पनी और कल-कारखाने आदि शामिल हैं।

अवश्य ही कर सकते हैं कि कहीं मुआवजा-सवधी उपबंध सविधान पर धोखा-मात्र (Fraud on the Constitution) तो नहीं है, अर्थात् जो मुआवजा दिया गया है, वह वास्तव में मुआवजा है या एकमात्र धोखा।

(ग) सत्रहवाँ सशोधन (सन् १९६४ ई०)— राष्ट्रीय विकास के हेतु एव समाजवादी ढाँचे के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना के उद्देश्य से भारत-सरकार 'स्टेट' (Estate) यानी 'भू-सम्पदा' शब्द के अर्थ को व्यापक बनाकर खुद खेती नहीं करनेवाले व्यक्तियों को जमींदारों की कोटि का मध्यवर्ती (Intermediary) मानना चाहती थी तथा ऐसी रैयतवारी जमीन को भी जमींदारी जमीन की तरह हस्तगत करनेवाला कानून बनाना चाहती थी। लेकिन ५ दिसम्बर, १९६१ ई० को सर्वोच्च न्यायालय ने रैयतवारी जमीन को 'स्टेट' (Estate) के अन्तर्गत नहीं माना। सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के फलस्वरूप रैयतवारी जमीन पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार था और इसे सरकार हस्तगत नहीं कर सकती थी। रैयतवारी जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार को सीमित करने के उद्देश्य से सविधान का सत्रहवाँ सशोधन किया गया। इस सशोधन का उद्देश्य था भूमि-सुधार के मार्ग की बाधाओं को दूर करना। इसके अनुसार रैयतवारी जमीन को भी सरकार सार्वजनिक प्रयोजन के हेतु मुआवजा देकर छीन सकती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि भारत के सविधान में उल्लिखित सम्पत्ति के अधिकार भी, अन्य अधिकारों की तरह, मर्यादित तथा नियन्त्रित कर दिये गये हैं। इन अधिकारों की आलोचना अनेक तथा परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों से की गई है। एक ओर तो उग्र समाजवादियों और साम्यवादियों ने इसकी आलोचना इस आधार पर की है कि मुआवजा देने की शर्त लगाकर हमारे सविधान ने जमींदारों और पूँजीपतियों के स्वार्थ और हितों की सरक्षा का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार इन अधिकारों के कारण देश की सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण शीघ्र और भलीभाँति नहीं हो सकेगा और देश की आर्थिक विषमता दूर नहीं होगी और भारत में 'समाजवाद के आवश्यक तत्त्वों-सहित लोकतंत्र' (Democracy with essentials of Socialism) की स्थापना कठिन हो जायगी। दूसरी ओर व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कट्टर विचार रखनेवाले लोगों का कहना है कि बाजारवाले मूल्य के बराबर या उससे अधिक मुआवजा दिये बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति पर राज्य द्वारा कब्जा कर लिया जाना एक नाममात्र का अधिकार है। उनका कहना है कि सार्वजनिक प्रयोजन के नाम पर किसी व्यक्ति की कोई भी सम्पत्ति मुआवजे की किसी भी रकम पर जब छीनी जा सकती है और जब मुआवजे की रकम न्यायोचित और पर्याप्त है या नहीं, इस सम्बन्ध में न्यायालय में कोई अपील भी नहीं की जा सकती है,

तब ऐसी दशा में संविधान में दिये गये सम्पत्ति के अधिकार का क्या मूल्य या महत्त्व रह जाता है ?

असल बात यह है कि हमारा संविधान इन दोनों तीव्र विचारधाराओं के बीच का माध्यम मार्ग अपनाता है। एक ओर व्यक्तिगत सम्पत्ति पर व्यक्तियों के अधिकार को सुरक्षित रखा गया है, तो दूसरी ओर सम्पत्ति पर समाज के अधिकार को भी मान्यता प्रदान की गई है। हमारा देश लोकतंत्र शासन को कायम रखते हुए शान्तिमय उपायों द्वारा समाजवाद की ओर शनैः-शनैः बढ़ना चाहता है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि व्यवहार में सम्पत्ति के अधिकार को राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों के अनुकूल बनाने की कोशिश होती रही है।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार

(Right to constitutional Remedies)

भारतीय संविधान में उन संवैधानिक उपचारों के अधिकारों की भी व्यवस्था की गई है, जिनके द्वारा उपर्युक्त छह मूल अधिकारों की अतिक्रमण न हो, वरन् वे सभी नागरिकों को यथेष्ट रूप में सुलभता से उपलब्ध हों। मूल अधिकारों को इस प्रकार की रक्षा का प्राविधान इसलिए किया गया है कि संविधान में उनका वर्णन कर देने मात्र से वे नागरिकों को मिल नहीं जाते।

भारतीय संविधान में नागरिकों को दिये गये मौलिक अधिकारों का केवल वर्णन ही नहीं किया गया है, वरन् धारा ३२ के अनुसार यह भी कहा गया है कि यदि राज्य या अन्य कोई व्यक्ति किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण या अपहरण करे, तो वह नागरिक अपने उन मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) की शरण ले सकता है। इस न्यायालय को नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करने के लिए समुचित निर्देश (Direction), आदेश (Orders), या लेख (Writs) जारी कर सकने का अधिकार दिया गया है। भारत की पार्लियामेन्ट को यह भी अधिकार है कि वह किसी अन्य न्यायालय को इस प्रकार के लेख जारी करने का आदेश दे सके। हम जानते हैं कि उच्च न्यायालयों (High Courts) को यह अधिकार प्राप्त है।[1]

संवैधानिक उपचार

(क) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण
(ख) परमादेश
(ग) प्रतिषेध
(घ) अधिकार पृच्छा
(ङ) उत्प्रेषण

---

१ संविधान की धारा २२६ के अनुसार।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी किये गये लेख (Writs), (१) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), (२) परमादेश (Mandamus), (३) प्रतिषेध (Prohibition), (४) अधिकार-पृच्छा (Quo-Warranto) और (५) उत्प्रेषण-लेख (Certiorari) के रूप में होंगे। इन लेखों के अलावा अन्य तरह के लेख भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी किये जा सकते हैं।

(क) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (**Habeas Corpus**)—इसका शाब्दिक अर्थ है—शरीर उपस्थित करना। यह लेटिन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है कि 'तुम अपना शरीर रख सकते हो।' इसे बन्दी व्यक्तियों को छुटकारा दिलाने के लिए जारी किया जाता है। इसके अनुसार न्यायालय किसी भी अधिकारी (मन्त्री, सचिव, शासक या पुलिस अधिकारी में से किसी) को आज्ञा दे सकता है कि बन्दी को कानून के विरुद्ध हवालात में न रखा जाय और उसको नजदीकी दण्डाधिकारी के सम्मुख पेश किया जाय।[1]

यह बन्दी के आवेदन पत्र पर जारी किया जाता है, जबकि उसको कानून के विरुद्ध गिरफ्तार कर लिया गया हो।

यदि न्यायालय इस बात से सहमत हो कि किसी व्यक्ति का बन्दीकरण कानून के अनुसार नहीं हुआ है, तो उस व्यक्ति को रिहा करने का हुक्म दे सकता है। यह लेख कार्यकारिणी से नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। संविधान के लागू होने के बाद से कई बार इसका प्रयोग भी हुआ है।

(ख) परमादेश (**Mandamus**)—इसका शाब्दिक अर्थ है 'हम आज्ञा देते हैं।' यह भी एक प्रकार का आदेश ही है, जिसके द्वारा सर्वोच्च न्यायालय किसी सार्वजनिक निकाय (Public Body), सार्वजनिक कर्मचारी, निगम (Corporation), संस्था या अपने अधीनस्थ न्यायालयों को अपने कर्तव्य का कानून के अनुसार पालन करने की आज्ञा देता है। इसे एक आज्ञा कहा गया है, जिसके द्वारा किसी अधिकारी को 'क्रिया' करने का आदेश दिया जाता है। इसका प्रयोग साधारणतः सार्वजनिक कामों के लिए होता है।

(ग) प्रतिषेध (**Prohibition**)—यह उस प्रकार का लेख है, जिसे उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ तथा नीचली अदालतों के लिए जारी करता है। यह नीचली अदालतों को अपने अधिकार-क्षेत्र (Jurisdiction) से बाहर जाने से रोकने के लिए जारी किया जाता है। स्मरण रहे कि यह लेख किसी कार्यपालिका या व्यक्तिगत संस्था पर जारी नहीं किया जा सकता।

(घ) अधिकार-पृच्छा (**Quo-Warranto**)—इसका अर्थ है 'किस अधिकार-

---

१. इस लेख का आरंभ सबसे पहले इंगलैंड में सन् १६६१ ई० में हुआ।

से है'? इस लेख के द्वारा न्यायालय किसी व्यक्ति को, जिसने गैरकानूनी तरीके से किसी पद या अधिकार आदि को प्राप्त किया हो, उसके उपयोग से रोक सकता है।

(ङ) उत्प्रेषण-लेख (**Certiorari**)—इसका अर्थ है कि 'पूरी तरह सूचित कीजिए।' यह लेख उच्च न्यायालयों के द्वारा नीचे के तथा छोटे न्यायालयों पर जारी किया जाता है। इसके द्वारा बड़ा न्यायालय छोटे न्यायालय से सभी प्रकार के रेकॉर्ड्स (Records) अपने पास मँगवा सकता है। यह प्रायः इस बात की छान-बीन करने के लिए जारी किया जाता है कि कोई निचला तथा छोटा न्यायालय अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर तो नहीं जा रहा है। नगरपालिकाओं, निगमों, जिला-बोर्डों आदि पर भी यह लेख जारी किया जा सकता है।

सवैधानिक उपचारों के इन अधिकारों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि इनके अभाव में अन्य मूल अधिकार निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि उनकी रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं रहती।

मूल अधिकारों का स्थगित और मर्यादित किया जाना

(Suspension and Restriction of Fundamental Rights)

यद्यपि भारतीय गणतन्त्र के संविधान में उपर्युक्त मूल अधिकारों का विशद वर्णन किया गया है और सभी नागरिकों को उन अधिकारों को यथेष्ट रूप में उपलब्ध कराने तथा उनके अतिक्रमण और अपहरण से रक्षा करने की व्यवस्था भी की गई है, फिर भी संविधान के प्रावधानों के अनुसार ही विशेष दशा में इन अधिकारों को सीमित या स्थगित भी किया जा सकता है।

ऊपर प्रत्येक मूल अधिकार का विश्लेषण करते समय, उनपर लगाई गई मर्यादाओं तथा उनके अपवादों की चर्चा की जा चुकी है। बताया जा चुका है कि भारत की तत्कालीन परिस्थितियों और समस्याओं को ध्यान में रखते हुए, हमारे संविधान-निर्माताओं ने भारत के नागरिकों को असीमित या अमर्यादित मूल अधिकार नहीं दिया। निरंकुश तथा असीमित व्यक्तिगत अधिकार नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास में सहायक न होकर बाधक हुआ करते हैं।

मूल अधिकारों को स्थगित या मर्यादित करने की व्यवस्थाएँ.

(१) युक्तिगत प्रतिबन्ध अर्थात् सगत सीमाओं (Reasonable Restrictions) द्वारा सीमित किया जा सकना;
(२) सैनिकों के विषय में;
(३) फौजी कानून लागू होनेवाले क्षेत्रों में,

(१) सेना या सुरक्षा तथा शान्ति रखनेवाली शक्तियों से सम्बन्धित मूल अधिकारों को सीमित या स्थगित करने का अधिकार भारत की पार्लियामेंट को बराबर है।

(४) संकटकालीन उद्घोषणा में ,
(५) संविधान में संशोधन द्वारा ।

(२) सार्वजनिक सुरक्षा और शान्ति के प्रयोजन से लागू किये गये फौजी कानून (Martial Law) के क्षेत्र में मूल अधिकार निलम्बित (Suspend) किये जा सकते हैं। पार्लियामेंट को अधिकार है कि फौजी शासकों द्वारा किये गये मूल अधिकारों के अतिक्रमण करनेवाले कार्यों को भी मान्य घोषित कर सके ।

(३) यदि राष्ट्रपति युद्ध, आन्तरिक विद्रोह आदि के कारण संकट-काल की घोषणा कर देता है, तो उक्त अवधि में राज्य ऐसे कानून भी बना सकता है और आदेश भी दे सकता है, जो संविधान की १६वीं धारा में वर्णित स्वतन्त्रता के अधिकारों का उल्लंघन तथा अपहरण करते हों । पर, इस प्रकार के कानून और आदेश उसी समय तक लागू रह सकेंगे जबतक कि संकट-काल रहे । संकट-काल के समाप्त होते ही वे स्वयमेव समाप्त हो जायेंगे और उनमें से सिर्फ वे ही कानून और आदेश जारी रहेंगे, जो मूल अधिकारों के विपरीत न हों । स्मरण रहे कि संकट-काल की अवधि दो महीने से अधिक समय के लिए नहीं रह सकेगी, बशर्ते कि इस अवधि के अन्त होने के पहले ही संसद् के दोनों सदनों से इसे जारी रखने की अनुमति न ले ली जाय ।

(४) संकट-काल की घोषणा लागू होने पर राष्ट्रपति यह आदेश दे सकता है कि अमुक मूल अधिकार की उपलब्धि के लिए कोई नागरिक न्यायालय की शरण नहीं ले सकता । लेकिन मूल अधिकारों के निलम्बन (Suspension) का इस प्रकार का आदेश यथाशीघ्र पार्लियामेंट के सामने विचारार्थ उपस्थित किया जायगा और संसद् उसमें संशोधन कर सकती है या उन्हें रद्द भी कर सकती है ।

(५) भारतीय संसद किसी भी मूल अधिकार को संविधान में संशोधन करके सीमित अथवा स्थगित कर सकती है । प्रथम तथा चतुर्थ संशोधनों द्वारा कुछ मूल अधिकार-सम्बन्धी धाराओं में अबतक संशोधन किया जा चुका है । स्मरण रहे कि मूल अधिकार-सम्बन्धी उपबन्धों में संशोधन करने का पूर्ण अधिकार संसद् को ही है, इसके लिए राज्य के विधान-मंडल की स्वीकृति जरूरी नहीं है ।

मूल अधिकारों पर लगाये गये इन नियन्त्रणों को लेकर भारतीय संविधान की कटु आलोचना की गई है । कहा गया है कि इन नियन्त्रणों और अपवादों (Exceptions) या मर्यादाओं (Limitations) के फलस्वरूप 'भारतीय संविधान एक हाथ से मूल अधिकारों को देता है और दूसरे हाथ से ले लेता है ।' इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भुलाना चाहिए कि मूल अधिकार साध्य नहीं, वरन् साधन होते हैं । उनका एकमात्र उद्देश्य 'नागरिकों को

अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ सुविधाओं को प्राप्त कराना ही होता है।' ऐसी अवस्था में, ताकि नागरिक उन्हें असीमित और अनियंत्रित बनाकर उनका दुरुपयोग नहीं करें और न राष्ट्र की सुरक्षा और सार्वजनिक हित-जैसे साध्यों पर कुठाराघात ही कर सकें, मूल अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्धों का लगाया जाना सर्वथा अनुचित नही माना जाना चाहिए।

उपसंहार—भारतीय गणतन्त्र के संविधान में परिगणित मूल अधिकारों की उपर्युक्त चर्चा के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक जनतन्त्रात्मक देश के स्वतंत्र नागरिकों को, अपने जीवन को सार्थक बनाने तथा अपने व्यक्तित्व का अबाध गति से विकास करने के लिए, जिन आधारभूत स्वतन्त्रताओं एवं अधिकारों की आवश्यकता है, वे सभी उन्हें प्रदत्त हैं। साथ-ही-साथ इन अधिकारों के उपयोग के सम्बन्ध में कतिपय अपवाद और मर्यादाएँ भी लगा दी गई हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा और राष्ट्र की सुरक्षा, शान्ति एवं दृढता इन दोनों सिद्धान्तों में सामंजस्य स्थापित कराने का प्रयास किया गया है। लेकिन जिस समय ये दोनों सिद्धान्त आपस में तीव्र विरोधी दशा में पाये जायेंगे, वैसी हालत में इन मूल अधिकारों की रक्षा की बजाय राष्ट्र की सुव्यवस्था, सुरक्षा, शान्ति एवं दृढता को ही प्रश्रय दिया जायगा।

प्रश्न

१ मूल अधिकारों से आप क्या समझते हैं? भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन दीजिए।

What do you understand by Fundamental Rights ? Discuss briefly the Fundamental Rights of the citizens of India.

२ भारतीय गणतन्त्र के नागरिकों को कौन-कौन-से मूल अधिकार मिले हैं? उन अधिकारों की रक्षा कैसे होती है?

What Fundamental Rights have been given to the citizens of the Indian Republic ? How are they protected ?

३. भारतीय संविधान में जो मूल अधिकार दिये गये हैं, उनकी समीक्षा कीजिए।

Critically evaluate the Fundamental Rights incorporated in the Indian Constitution

४ भारतीय नागरिकों को दिये गये मूल अधिकारों के नाम बताइए। कब और किस प्रकार से इन अधिकारों को स्थगित या सीमित किया जा सकता है?

Give the names of the Fundamental Rights of the Indian citizens. When and how these rights can be suspended or restricted ?

५. भारतीय नागरिकों की स्वतन्त्रता के अधिकारों की समीक्षा कीजिए ।

Critically evaluate the Right to Liberty of the Indian citizens

६. भारतीय नागरिकों के संवैधानिक उपचारों या धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकारों का वर्णन कीजिए ।

Discuss either the Right to Constitutional Remedies or the Right to Religious Freedom of the Indian citizens

७. समानता और स्वतंत्रता के अधिकारों को ध्यान में रखते हुए, भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों की उपयोगिता तथा महत्ता की चर्चा कीजिए ।

Discuss the importance and utility of the Fundamental Rights of the Indian citizen with special reference to 'Right to Equality' and 'Right to Freedom'

४ राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त
(Directive Principles of State Policy)

'राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त' भारतीय गणतन्त्र के संविधान की एक विवादास्पद लेकिन महत्त्वपूर्ण और अनोखी विशेषता है। वैसे तो इस तरह के सिद्धान्तो या तत्त्वों का थोड़ा-बहुत प्रतिपादन आयरलैंड, स्पेन तथा बर्मा[1] के संविधानों में भी पाया जाता है, लेकिन जितना विस्तारपूर्वक और स्पष्ट रूप में इनका परिगणन एवं प्रतिपादन हमारे देश के संविधान में किया गया है, वैसा संसार के अन्य किसी भी संविधान मे नहीं पाया जाता है। भारतीय संविधान के समूचे चौथे भाग की, ३६ से ५१, कुल मिलाकर १६ धाराओं मे सिर्फ इन्हा सिद्धान्तों उल्लेख है।

तात्पर्य—भारतीय संविधान मे परिगणित ये 'राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त' उन तत्त्वों का प्रतिपादन करते है, जिन्हें भारतीय संघ तथा राज्यों की सरकारों को अपनी वैदेशिक या आन्तरिक नीतियो के निर्धारण मे अपनाना चाहिए। संविधान में कहा गया है कि ये सिद्धान्त देश के शासन मे आधारभूत तत्त्व होंगे और राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि कानून-निर्माण में इन सिद्धान्तो का खयाल रखे तथा प्रयोग करे। संविधान की प्रस्थापना में भारतीय राज्य के उद्देश्यो एव आकांक्षाओं का वर्णन है। हमारे संविधान का वर्त्तमान लक्ष्य एव आदर्श, भारतीय नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्यायों की प्राप्त करानेवाला 'लोक-कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) की उपलब्धि कराना है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व वे साधन है, जिनके माध्यम से उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति होगी। ये निर्देशक तत्त्व उपर्युक्त उद्देश्यों एव आदर्शों की मंजिल के पथ-प्रदर्शक और विधायिका तथा कार्यपालिका के स्थायी दिशासूचक स्तम्भ (Sign posts) हैं।

संविधान मे इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस उद्देश्य से किया गया है कि भारत की मौजूदा एवं भावी संघीय तथा राज्य-सरकारें अपनी राजकीय नीति का निर्धारण मनचाहे ढंग से नहीं कर इन्हीं सिद्धान्तों के अनुकूल करें। इनमें राज्य-शासन के उद्देश्यों और

---

१ Ireland, Spain and Burma बर्मा के सन् १९४८ ई० के संविधान में तथा आयरलैंड और स्पेन के प्रथम महायुद्ध के बाद के संविधानो मे।

सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है और विधायिका तथा कार्यपालिका को आदेश दिया गया है कि इन्हीं तत्त्वों को मद्देनजर रखते हुए वे राजकीय नियम बनायें और लागू करें।

साराश में कहा जा सकता है कि 'राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व' उन मार्गों या साधनो का दिग्दर्शन कराते हैं, जिनका अनुसरण कर हमारे देश की विधायिका तथा कार्यपालिका भारतीय संविधान की आकांक्षाओं एव कल्पनाओं—एक जनतंत्रात्मक जनकल्याणकारी राज्य (Democratic Welfare State)—को मूर्त रूप दे सके। श्री एम० सी० सीतलवाद के शब्दों में इन तत्त्वों का सविधान मे उल्लेख करने का आशय यही था कि 'ये तत्त्व प्रज्वलित ज्योति के रूप मे राज्य के सभी प्राधिकारियों का राष्ट्र-निर्माण के प्रयासों में मार्ग-दर्शन करें और राष्ट्र शनै-शनै समृद्धिशाली तथा शक्तिशाली बने, जिससे वह विश्व के राष्ट्रों मे अपना योग्य स्थान प्राप्त कर सके।

मूल अधिकार और नीति-निर्देशक तत्त्वों में भेद

मुख्य भेद—निर्देशक तत्त्वों के उपर्युक्त उद्देश्यों पर ध्यान देने से पता चलता है कि भारतीय संविधान के तीसरे भाग मे नागरिकों को जो मूल अधिकार दिये गये है, उनके उद्देश्य भी लगभग समान ही हैं। तभी तो कुछ लेखकों ने इन निदेशक तत्त्वों को न्यायालयों द्वारा अरक्षित मौलिक अधिकार (Non-Justiciable Fundamental Rights) की संज्ञा दी है। सविधान के तीसरे भाग मे, मौलिक अधिकारों के अध्याय के अन्तर्गत, जो अधिकार भारतीय नागरिकों को प्रदान किये गये हैं, उन्हें न्यायालयों का सरक्षण प्राप्त है। सामान्य दशाओं[1] मे इन अधिकारों को क्रियान्वित करने के लिए या यदि उनका अतिक्रमण या अपहरण हो रहा हो, तो रक्षा करने के लिए भारतीय नागरिक न्यायालयों का सहारा ले सकते हैं और न्यायालयों को उचित कार्रवाई करने का उत्तरदायित्व तथा अधिकार सविधान द्वारा दिया गया है।

इस तरह की न्यायालयों की मान्यता, संरक्षण या बाध्यता राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों को प्राप्त नहीं हैं। नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए सघ तथा राज्यों की सरकारें बाध्य नहीं हैं। इन सरकारों के लिए ये निर्देशक तत्त्व केवल एक आदर्श के समान हैं। कानून की दृष्टि से, इन आदर्शों पर चलना इन सरकारों के लिए आवश्यक नहीं है। इतना ही नहीं, यदि ये सरकारें इन आदर्शों का अनुसरण नहीं करें, तो भी भारत के नागरिक इस कारणवश न्यायालयों मे इन सरकारों के विरुद्ध अपील या

१ सकट-काल की घोषणा होने पर इन अधिकारों को भी स्थगित या सीमित किया जा सकता है और नागरिकों को न्यायालयों की शरण में जाने से रोका जा सकता है।

फरियाद नहीं कर सकते हैं। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि मूल अधिकारों और निर्देशक तत्त्वों मे पहला और प्रधान अन्तर यह है कि मूल अधिकारों (Fundamental Rights) को कानूनी वैधता या न्यायालयों की मान्यता प्राप्त (Justiciable) है, लेकिन राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त (Directive Principles of State Policy) न्यायविरुद्ध या न्यायालयों द्वारा रक्षित नहीं (Non-justiciable) हैं।

इस प्रकार पहले का न्यायविरुद्ध (Justiciable) होना और दूसरे का न्यायालयों द्वारा समर्थनीय न होना (Non-justiciable) ही मूल अधिकारो और नीति-निर्देशक तत्त्वो में मूलभूत और मुख्य भेद है। लेकिन बात की खाल निकालनेवाले कुछ लेखकों ने इस प्रधान या मुख्य भेद के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ अन्य गौण (Secondary) भेदों का भी उल्लेख किया है।

गौण भेद—(१) मूल अधिकारों का स्रोत भारतीय सविधान है, लेकिन निर्देशक तत्त्वों को तो उस संविधान का ही आधार कहा जा सकता है। इन तत्त्वों में हम संविधान के उद्देश्यों और आकांक्षाओं का उल्लेख पाते हैं, जबकि उस संविधान की शक्ति पर ही मूल अधिकार अधारित हैं।

(२) मूल अधिकारों का विषय (Subject) व्यक्ति (Individual) है, जबकि निर्देशक तत्त्वों का विषय राज्य (State) है।

(३) मूल अधिकार मर्यादित और सीमित हैं। सकटकालीन तथा अन्य विशेष दशाओं में उनको स्थगित या निलम्बित (Suspend) भी किया जा सकता है। लेकिन राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व किसी भी प्रकार से मर्यादित, सीमित, स्थगित या निलम्बित नहीं किये जा सकते।

(४) मूल अधिकारों का दायरा केवल राष्ट्र तक ही सीमित है। इनके अन्तर्गत भारतीय नागरिकों तथा संघ और राज्यों की सरकारों के सम्बन्धों की चर्चा की गई है। भारत के बाहर, अर्थात् भारतीय सविधान की परिमिति के बाहर इन मूल अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं है। परन्तु निर्देशक तत्त्वो का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी है; क्योंकि उनमें राज्यों के सम्बन्ध तथा देश की अन्य राष्ट्रीय नीति का भी विवेचन है।

(५) मूल अधिकार यदि उत्तम जीवन का दर्शन-शास्त्र है, तो निर्देशक तत्त्व उस जीवन का व्यावहारिक स्वरूप है, क्योंकि ये तत्त्व इन अधिकारों को राज्य के नैतिक कर्त्तव्य का रूप देते हैं।[1]

---

१ "The Chapter on Fundamental Rights is an exposition of ends, the Chapter on Directives a study of means. If one is Philosophy of good life, the other is its practice"

(६) मूल अधिकारों के कार्यान्वयन के लिए संसद् के अधिनियमों की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि नीति-निदेशक तत्त्वों के कार्यान्वयन के लिए।

(७) मूल अधिकारों का स्वरूप अधिकारों का है, जबकि नीति-निदेशक तत्त्वों का स्वरूप अधिकारों, कर्त्तव्यों और आदर्शों का मिश्रण है

(८) मूल अधिकारों के क्रियान्वित होने के पीछे राज्य के कानूनों का बल है, जबकि नीति-निदेशक तत्त्वों के क्रियान्वित होने के पीछे जनमत का बल है।

(९) मूल अधिकार राज्य की शक्तियों के ऊपर एक प्रकार की मर्यादाएँ या सीमाएँ हैं, जबकि नीति-निदेशक तत्त्व राज्य के लिए अनुदेश या हिदायतें हैं।

मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्त्वों में सम्बन्ध—मूल अधिकारों तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों में जो अन्तर है, उनकी चर्चा ऊपर की गई है। कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि इन दोनों में से किसका महत्त्व अधिक है ? दूसरे शब्दों में यदि मूल अधिकारों तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों के बीच अन्तर्विरोध या द्वन्द्व (Conflict) हो जाय, तो प्राथमिकता (Preference) किसको दी जायगी ? ऐसे प्रश्न इसलिए उठाये जाते हैं कि हो सकता है, कोई मूल अधिकार राज्य की नीति में रुकावट डाले। निदेशक तत्त्वों के अनुकूल नीति-निर्धारण में कोई मूल अधिकार व्यवधान उपस्थित कर इस तरह की परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है।

हम जानते हैं कि कानूनी मान्यता या वाध्यता प्राप्त होने के कारण मूल अधिकारों की पीठ पर कानून का जैसा बल है, नीति-निदेशक तत्त्वों के पीछे नहीं है। श्री जी० एन० जोशी के शब्दों में 'ये तत्त्व न तो किसी प्रकार के कानूनी अधिकारों की रचना करते हैं और न किसी कानूनी उपचार की ही व्यवस्था करते हैं।' अत, कानून या न्यायालयों की दृष्टि में तो मूल अधिकारों का महत्त्व निदेशक तत्त्वों की अपेक्षा अधिक है। इन दोनों के बीच उत्पन्न अन्तर्विरोध की दशा में कानून को मूल अधिकारों को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। ऐसा ही सर्वोच्च न्यायालय ने 'मद्रास सरकार बनाम श्रीमती चम्पाकम **दोरायजन** सन् (१९५१)' के मुकदमे में किया। सर्वोच्च न्यायालय ने इस मुकदमे में बताया कि राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व मूल अधिकारों को अभिभूत (Override) नहीं कर सकते और यदि करें, तो वे अवैध हैं।[१]

---

१. "The chapter on Fundamental Rights is sacrosanct and not liable to be abridged by legislative or executive act or order except to the extent provided in the particular Article in part III The Directive principles of State policy have to conform to and run subsidiary to the chapter on Fundamental Rights" —*S R Das, Ex Chief Justice of India*

लेकिन संविधान के चतुर्थ संशोधन के सम्बन्ध में लोक-सभा में बोलते हुए १४ मार्च, १९५५ ई० को हमारे प्रधान मंत्री श्रीनेहरू ने कहा कि यदि मूल अधिकारों और राज्यो के नीति-निर्देशक तत्त्वों में अन्तर्विरोध हो तो नीति-निर्देशक तत्त्वों को ही प्राथमिकता दी जायगी। प्रधान मन्त्री नेहरू के इस विचार तथा सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त निर्णय में अन्तर्विरोध या विरोधाभास दीख पड़ता है। लेकिन असलियत मे दोनों मत सही हैं। जहाँ तक न्यायालयों का सम्बन्ध है, मूल अधिकारो का अतिक्रमण निर्देशक तत्त्व नहीं कर सकते, लेकिन संसद् की दृष्टि मे निदेशक तत्त्वों का मूल्य मूल अधिकारों से अधिक है।

अतएव, अगर कोई मूल अधिकार, निदेशक तत्त्वों के अनुकूल भारत में राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रजातंत्र की स्थापना की राह मे रोड़ा अटकाता हो, वैसी हालत में भारतीय संसद् को चाहिए कि वह उस अन्तर्विरोध या द्वन्द्व को दूर करने के लिए संविधान मे संशोधन कर व्यवधान उपस्थित करनेवाले उस मूल अधिकारों को नीति-निदेशक तत्त्व का सहायक या साधन बना दे।[१]

अत, मूल अधिकारो को कानूनी बाध्यता प्राप्त होने पर भी निदेशक तत्त्वों का महत्त्व इन अधिकारो से अधिक इसलिए है कि 'यह एक प्रकार का घोषणा-पत्र, आदेश-पत्र और सदाचार के नियमो का संग्रह-सा प्रतीत होता है। ये तत्त्व अधिकतया ऐसे नैतिक नियम (Moral Precepts) तथा सूत्र (Maxim) हैं, जिनके पीछे कोई कानूनी शक्ति नहीं रहने पर भी, इनके आशय के विरुद्ध कोई आक्षेप नहीं हो सकता।' कानूनी तौर पर मूल अधिकारों का महत्त्व निदेशक तत्त्वों से अधिक है, लेकिन राजनीतिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टिकोणों से निर्देशक तत्त्वों को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए और मूल अधिकारों को इन्हीं तत्त्वों के साँचे मे ढालना चाहिए। हमारे देश की शासन-व्यवस्था इसी मत के अनुसार अभी चल रही है। हमारे संविधान का चतुर्थ एव सत्रहवाँ संशोधन (सम्पत्ति के अधिकार का संशोधन) इन्हीं निदेशक तत्त्वों के आर्थिक उपबन्धो को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के प्रयोजन से ही हुआ। प्रथम तथा द्वितीय संशोधनो का भी यही उद्देश्य था।

नीति-निर्देशक तत्त्वों का विवरण—भारतीय गणतन्त्र के संविधान मे उल्लिखित एवं प्रतिपादित राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वो को निम्नलिखित वर्गों मे बाँटा गया है—

---

१ "It was up to the parliament to remove the contradiction and make Fundamental Rights subserve the Directive Principles" —*Sri J. Nehru.*

(क) आर्थिक नीति एवं व्यवस्था-सम्बन्धी तत्त्व,

(ख) सामाजिक और शिक्षा विषयक तत्त्व,

(ग) शासन-सम्बन्धी तत्त्व और

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा से सम्बद्ध तत्त्व।

कुछ लेखक धारा ४६ में वर्णित राष्ट्रीय महत्त्व के प्राचीन स्मारकों, स्थानों और चीजों के संरक्षण के हेतु नीति-निर्देशन को एक अलग वर्ग, पंचम वर्ग, में गिनते हैं। इस पुस्तक में धारा ४६ का 'ख' वर्ग ही सम्मिलित किया गया है।

(क) आर्थिक नीति एवं व्यवस्था-संबंधी तत्त्व—इन तत्त्वों में उस आदर्श आर्थिक व्यवस्था तथा संगठन का चित्रण किया गया है, जिस ओर हमारा देश भविष्य में आगे बढ़ेगा। इस वर्ग के तत्त्वों (धाराएँ ३६, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७ और ४८) का स्पष्ट सार है—भारत में आर्थिक प्रजातंत्र यानी एक समाजवादी जनतंत्रात्मक राज्य की स्थापना। स्मरण रहे कि 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया है। इन तत्त्वों के अनुसार राज्य ऐसी आर्थिक व्यवस्था तथा संगठन की स्थापना का प्रयास करेगा कि एक नागरिक का दूसरे नागरिक द्वारा आर्थिक शोषण न हो और सबकी आर्थिक जरूरतें पूरी हों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित मन्तव्य निर्धारित किये गये हैं—

(१) भारत के प्रत्येक नर और नारी को समान रूप से आजीविका कमाने के साधन प्राप्त हों। दूसरे शब्दों में राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह बेरोजगारी तथा भुखमरी को बन्द करने का प्रयत्न करे।

(२) देश में धन या आर्थिक उत्पादन के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियंत्रण कुछ थोड़े से आदमियों के हाथों में एकत्र या संचित नहीं होकर इस प्रकार का हो, जिससे सामूहिक हित में अधिक-से-अधिक वृद्धि हो और उनका सार्वजनिक हित की दृष्टि से समुचित रूप में प्रयोग हो सके।

(३) सब व्यक्तियों (स्त्री और पुरुष दोनों) को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले।

(४) मजदूरी करनेवाले पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बच्चों की सुकुमार आयु का किसी भी प्रकार से दुरुपयोग न हो।

(५) किसी नागरिक को आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर ऐसे रोजगारों में न लगना पड़े, जो उसकी आयु तथा सामर्थ्य के अनुकूल न हो।

(६) शैशव तथा किशोर अवस्था के नागरिकों की शोषण तथा नैतिक पतन से रक्षा की जाय।

(७) राज्य अपनी आर्थिक क्षमता और विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयत्न करे कि प्रत्येक नागरिक शिक्षा प्राप्त कर सके, अपनी योग्यतानुसार जीविका या काम पा सके, और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अपाहिज होने की दशा में राज्य की ओर से सहायता प्राप्त कर सके।

(८) राज्य ऐसी व्यवस्था करे, जिससे नागरिकों को मानवोचित अवस्थाओं में ही कार्य्य करना पड़े तथा स्त्रियों को प्रसूतावस्था में सहायता मिल सके।

(९) राज्य का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह कानून अथवा आर्थिक सगठन द्वारा इस बात का प्रयत्न करे कि कृषि, उद्योग तथा अन्य क्षेत्रों में लगे हुए समस्त मजदूरों को कार्य्य तथा निर्वाह-योग्य मजदूरी मिल सके। उन्हें अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने, अवकाश-काल का उचित उपयोग करने तथा सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का सुअवसर प्राप्त हो।

(१०) राज्य ऐसी व्यवस्था करे, जिससे लोगों को पुष्टिकर भोजन मिले, उनके स्वास्थ्य की उन्नति हो और उनका जीवन-स्तर ऊपर उठे।

(११) गाँवों में गृह या कुटीर-उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधारों पर प्रोत्साहित करने के कार्य्य पर विशेष ध्यान दिया जाय।

(१२) कृषि तथा पशुपालन के लिए आधुनिक वैज्ञानिक ढग को अपनाया जाय। गायों, बछड़ों तथा अन्य दूध देनेवाले और वाहक पशुओं की नस्ल की रक्षा तथा सुधार का और उनके वध को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाय।

(ख) सामाजिक और शिक्षा-विषयक निर्देशक तत्त्व—संविधान की ४५ से ४७, इन तीनों धाराओं में उन निर्देशक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका अनुसरण कर राज्य भारतवासियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक धरातल को ऊँचा उठाने में समर्थ हो सकता है। उदाहरणार्थ—

(१) राज्य संविधान के लागू होने के दस वर्ष के अन्दर १४ वर्ष तक की आयु के सभी बालकों और बालिकाओं के लिए नि-शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयत्न करे। इससे कुछ दिनों में भारत से निरक्षरता का सर्वथा अन्त हो जायगा।

(२) राज्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों तथा वर्गों, विशेष कर जनता के दुर्बलतर तथा पिछड़े वर्गों, जैसे—अछूतों, पिछड़ी जातियों, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों—के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करे और सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करे।

(३) राज्य देश-भर के नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता (A Common Civil Procedure Code) बनाने का प्रयत्न करे, जिससे समूचे देश में एक ही वैयक्तिक कानून (Personal Law) हो, जो धर्म पर आधारित न हो।

(४) जनता के स्वास्थ्य को उन्नत करने और उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए राज्य शराब तथा अन्य मादक पेयों और नशीली वस्तुओं के सेवन को रोके और ऐसा प्रबन्ध करे कि चिकित्सा के उद्देश्य से केवल दवा के रूप में उनका उपयोग हो।

(५) राज्य ऐतिहासिक अथवा कलात्मक महत्त्व की प्रत्येक वस्तुओं और स्मारकों को, जिन्हें संसद् राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करे, दूषित होने, नष्ट होने, स्थानान्तर किये जाने अथवा बाहर भेजे जाने से बचायें।

(ग) **शासन-सम्बन्धी तत्त्व**—इस वर्ग के नीचे लिखे दो निर्देशक तत्त्वों (धारा ४० और ५०) में उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका अनुसरण कर देश के शासन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए राज्य एक समुचित प्रशासकीय नीति निर्धारित करेगा—

(१) भारत के अधिक-से-अधिक ग्रामों में ग्राम-पंचायतों का संगठन किया जायगा, ताकि उनके द्वारा जनता को अपना शासन स्वयं करने का मौका मिले। इन ग्राम-पंचायतों को ऐसी शक्तियां तथा अधिकार प्रदान किये जायँ, जिनसे वे आर्थिक क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनकर स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करें, और इस प्रकार हमारे राष्ट्रपिता स्वर्गीय महात्मा गांधी के 'गाँव-गणराज्यों' (Village Republics) के स्वप्न को साकार बनायें।

(२) देश के न्याय-विभाग (Judiciary) को शासन-विभाग या कार्यपालिका (Executive) से अलग रखा जायगा, ताकि न्याय-विभाग स्वतंत्र रहकर निष्पक्ष न्याय कर सके।

(घ) **अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा से सम्बद्ध तत्त्व**—उपर्युक्त तीनों वर्गों के तत्त्वों में देश की आन्तरिक नीतियों से सम्बद्ध सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। इस चौथे वर्ग में, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की नीति के क्या सिद्धान्त होंगे, इसका वर्णन किया गया है। धारा ५१ के अनुसार ये सिद्धान्त निम्नलिखित होंगे—

(१) विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का समर्थन और प्रोत्साहन।

(२) विविध राष्ट्रों के बीच न्याय तथा सम्मानपूर्ण (Just and Honourable) सम्बन्ध बनाये रखने की चेष्टा करना।

(३) राष्ट्रों के बीच पारस्परिक व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संधि-बंधनों के प्रति आदर की भावना को बढ़ाना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का पंच-निर्णय (Arbitration) या मध्यस्थता द्वारा निबटारा करने को प्रोत्साहित करना।

राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों के उपर्युक्त विवरण पर ध्यान देने से साफ पता चलता है कि इन सिद्धान्तों के पीछे कई तरह की विचारधाराएँ हैं। डा० एम० पी० शर्मा[1] के शब्दों में 'हम इन सिद्धान्तों को समाजवादी (Socialist), गांधीवादी (Gandhian) और बौद्धिक उदारतावादी (Liberal Intellectualistic) आदि वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।' सर आइवर जेनिंग्स के मतानुसार संविधान का यह भाग 'फेबियन सोशलिज्म' (Fabian Socialism) की विचारधारा को अभिव्यक्त करता है। सिर्फ इसमें 'सोशलिज्म' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और राष्ट्रीय उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है।

भारतीय संविधान के ये नीति-निदेशक तत्त्व 'फेबियन सोशलिज्म' की विचारधारा से अनुप्राणित हुए हों या नहीं, लेकिन इसे इनकार नहीं किया जा सकता कि कतिपय समाजवादी, गांधीवादी और आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी (Internationalism) आदि विचारधाराओं की गहरी छाप इनपर है।

निदेशक तत्त्वों की आलोचना—भारतीय संविधान में उल्लिखित राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों पर एक विहंगम दृष्टिपात करने के फलस्वरूप हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि ये तत्त्व हमारे देश के शासकों के सम्मुख एक ऐसा कार्यक्रम उपस्थित करते हैं, जिसके क्रियान्वित होने पर भारत में एक आदर्श लोक-कल्याणकारी जनतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना होगी। ये तत्त्व सच्चे जनतंत्र के आधारभूत तत्त्वों एवं सार पर आधारित हैं और इनका अनुसरण कर हमारे देश के संविधान की अभिलाषाओं तथा आकांक्षाओं को मूर्त रूप दिया जा सकता है। अतएव, हम इन तत्त्वों को स्वतंत्र भारतीय गणतंत्र के पावन कर्त्तव्यों एवं पुनीत आदर्शों का घोषणा-पत्र कह सकते हैं।

फिर भी, इन निदेशक तत्त्वों की निन्दा तथा कटु आलोचना करनेवाले विचारकों और लेखकों की कमी नहीं रही है। उनके तर्क नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) इन तत्त्वों का संविधान में उल्लिखित किया जाना सर्वथा अर्थहीन (Meaningless) है, क्योंकि धारा ३७ के अनुसार इन तत्त्वों के पीछे कोई कानूनी शक्ति नहीं है। ये तत्त्व न तो किसी प्रकार के कानूनी अधिकारों की रचना करते हैं और न किसी

१. डा० एम० पी० शर्मा 'भारतीय गणतंत्र का संविधान', पृ० ५७।

कानूनी उपचार की ही व्यवस्था करते हैं। ये तत्त्व अधिक-से-अधिक "व्यर्थ लेकिन वैभवपूर्ण शब्दावली में जडी हुई उच्चतम कल्पनाओं एवं भावनाओं की पंक्ति" या "कभी मूर्त नहीं होनेवाली 'शुभ इच्छाएँ', 'नैतिक उपदेशों' तथा 'लक्ष्य और आकांक्षाओं की सूची मात्र हैं।" स्वर्गीय प्रोफेसर के० टी० साह के अनुसार यह एक बैंक की हुंडी है, जो जब योग्य होगी, तभी चुकाने योग्य (Payable when able) होगी। एक दूसरे लेखक का कहना है कि यह नये साल के प्रथम दिन में पास किये गये प्रस्ताव के समान है, जो जनवरी की दूसरी तारीख को ही तोड़ दिया जाता है।

(२) वैधानिकों के लिए इनका महत्त्व कुछ भी नहीं है, क्योंकि इन सिद्धान्तों का व्यावहारिक राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक कहा है कि भारत की जनता को ठगने या भुलावा देने या 'मूर्खों और श्रद्धालुओं को तुच्छ सन्तुष्टि प्रदान करने' के हेतु ये सिद्धान्त 'सिर्फ सत्ताधारी पार्टी की राजनीतिक चाल की गोटी है।'

(३) जबकि भारतीय संविधान के द्वारा हमारा देश एक 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया है, तब वैसी हालत में इन निदेशक तत्त्वों के माध्यम से सार्वभौम भारत-राज्य द्वारा अपने-आपको आदेशित तथा प्रतिबन्धित करना अप्राकृतिक तथा हास्यास्पद है।

(४) संविधान में इन निदेशक तत्त्वों को अलग से १६ धाराओं में उल्लिखित करना संविधान की विशालता तथा जटिलता को व्यर्थ में और भी अधिक बढ़ाने की मूर्खता के अलावा कुछ नहीं। ऐसा इसलिए कि जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन इन निदेशक तत्त्वों में किया गया है, उन्हें मूल रूप में संविधान की प्रस्तावना में पहले ही कहा जा चुका है और वे आधुनिक प्रजातंत्र-राज्य की नीति में स्वयमेव अन्तर्निहित होते हैं।

(५) इन तत्त्वों के संविधान में उल्लेख किये जाने के पक्ष में दी गई यह दलील, कि इन तत्त्वों के द्वारा संविधान में चिरन्तन और निश्चित सिद्धान्तों को घोषित तथा अंगीकृत करने का प्रयास किया गया है, भी सारहीन ही है, क्योंकि कोई भी सिद्धान्त अटल और अपरिवर्त्तनशील नहीं होता। भिन्न-भिन्न देशों की बदलती हुई परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप उन तथाकथित चिरन्तन नीतियों और निश्चित सिद्धान्तों में भी तब्दीलियाँ होती रहती हैं। अतएव, सदा के लिए एक ही बार ऐसे सिद्धान्तों को घोषित कर देना इतिहास की निरन्तर आगे बढ़नेवाली प्रगति को सदा के लिए एक ही बिन्दु पर बाँध सकने का व्यर्थ दुस्साहस है।

---

१. शनै-शनै (Gradually) शान्तिपूर्ण तथा शिक्षण एवं प्रचार कार्यों (Education and Propaganda) द्वारा समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करनेवाली विचारधारा।

(६) और, अन्त में, श्री एन० श्रीनिवासन् के शब्दों में, 'संविधान में उल्लिखित या उद्घोषित नीति-निर्देशक तत्त्व स्पष्ट नहीं हैं और एक ही बात को कई बार दुहराया गया है। उनका न तो उचित रूप से वर्गीकरण किया गया है और न वैज्ञानिक रूप से क्रमबद्ध ही। साधारण समस्याओं के साथ-साथ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को मिलाकर उलझन पैदा कर दिया दी गई है।'[१]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि इन तत्त्वों का संविधान में उल्लेख किया जाना बेकार तथा अर्थहीन है, क्योंकि ये तत्त्व कुछ 'विनीत आकांक्षाओं' तथा 'झूठे सपनों' के अलावा और कुछ भी नहीं हैं।

क्या ये तत्त्व सचमुच अर्थहीन हैं?—प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त तर्कों के आधार पर इन निर्देशक तत्त्वों को सर्वथा अर्थहीन कहना कहाँ तक सत्य है?

यह सच है कि न्यायाधीन (Justiciable) नहीं होने के कारण राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों की संवैधानिक उपयोगिता नहीं है। यद्यपि इन तत्त्वों को कार्यान्वित कराने के लिए राज्य के विरुद्ध भारतीय नागरिक न्यायालयों की शरण नहीं ले सकते हैं, फिर भी इन तत्त्वों का संविधान में उल्लिखित होना कतई व्यर्थ नहीं है। संविधान में इन तत्त्वों का अपना एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि इनकी राजनीतिक उपयोगिता है।

नीति-निर्देशक तत्त्वों की उपयोगिता—न्यायालय भले ही इन तत्त्वों को बाध्यता प्रदान नहीं करे, लेकिन इन तत्त्वों की पीठ पर जनमत की शक्ति काम करती है। गणतन्त्र में न्यायालयों की इच्छा से भी सर्वोपरि होती है जनता की इच्छा। जनता किसी भी कानून से अधिक बलशाली है। अत, भारतीय संविधान के ये निर्देशक तत्त्व महत्त्वहीन नहीं हैं। डा० अम्बेदकर के शब्दों में 'जब कभी शान्ति, सुव्यवस्था तथा सुशासन के लिए अधिकार प्रदान किये जाते हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि उन अधिकारों को संचालित करने के लिए अनुदेश भी दिये जायें।'

दूसरे, संविधान के प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ तथा सत्रहवें संशोधनों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये निर्देशक तत्त्व पूर्णत शक्तिविहीन नहीं हैं। इन अवसरों पर देखा गया कि इन तत्त्वों के पीछे जनमत का बल, अर्थात् राजनीतिक बल रहने के कारण मूल अधिकारों को इन तत्त्वों के अनुरूप संशोधित किया गया।

तीसरे, "वर्त्तमान युग में कोरा राजकीय लोकतन्त्र आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। सुसंस्कृत समाज-व्यवस्था के लिए सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र भी उतना ही आवश्यक है।" अत, हमारे संविधान में इन तत्त्वों का दर्ज होना उचित है; क्योंकि ये

---

१ *N Shrinivasan*: Democratic Government in India, 'P. 182'

तत्त्व हमारे सामने संसदीय एवं राजनीतिक लोकतन्त्र के अलावा आर्थिक लोकतन्त्र का आदर्श रखते हैं। बीसवीं शताब्दी पुलिस-राज्यों (Police-States) का युग नहीं है, जिसमें नागरिकों के कल्याण की अपेक्षा शासकों के कल्याण और हितों का ख्याल रखा जाता था। आज का युग तो कल्याणकारी राज्यों (Welfare States) का युग है, जिनका प्रधान उद्देश्य बाहरी सुरक्षा और भीतरी शान्ति बनाये रखने के अतिरिक्त नागरिकों का कल्याण-साधन हुआ करता है। इसी आधुनिक एवं प्रगतिशील राजनीतिक विचारधारा के अनुकूल ही भारतीय संविधान हमारे देश में एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना चाहता है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों में हम उन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्णन पाते हैं, जिनके द्वारा उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति होगी।

चौथे, डा० राघवाचार्य के मतानुसार, "इनको संविधान में रखने का यह औचित्य है कि कोई भी पार्टी राजनीतिक शक्ति प्राप्त करे, परन्तु उसे इन आदेशों का पालन करना ही पड़ेगा। इसे राज्य के लिए जनता की ओर से आदेश-पत्र (Instrument of In tructions) समझना चाहिए। कोई उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि चाहे उसे अदालतों में कानून-भंग के लिए जवाब न देना पड़े, परन्तु उसे अगले चुनाव में मतदाताओं के सामने अवश्य उत्तर देना पड़ेगा।" अत, कोई भी मन्त्रिमंडल, जो लोगों के प्रति उत्तरदायी हो, बहुत सुगमता से इन सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं कर सकता। चीफ जस्टिस केनिया के अनुसार, 'राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्त व्यवस्थापिका के बहुमत की केवल अस्थायी इच्छाएँ नहीं हैं, बल्कि राष्ट्र का सावधानी से किया हुआ वह निश्चय है, जो देश के सार्वभौम तथा स्थायी कानून को तय करते समय किया गया है।

इन तत्त्वों का एक और भी उद्देश्य है। भारतीय संविधान में परिगणित मूल अधिकारों की सूची पर ध्यान देने से और कुछ दूसरे प्रगतिशील देशों के संविधानों द्वारा वहाँ के नागरिकों को दिये गये मूल अधिकारों से तुलना करने पर, हमारे अपने मूल अधिकारों में कुछ कमी या अभाव खटकता है। जैसे भारत में आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना के हेतु पर्याप्त मूल अधिकार भारतीय संविधान द्वारा नहीं दिये गये हैं। देश में बेरोजगारी (Unemployment) की विकट समस्या के बावजूद सोवियत रूस के संविधान की तरह जीविकोपार्जन का अधिकार (Right of Work) भारत का संविधान नहीं देता है। इस प्रकार की कमी या अभाव को एक अर्थ में और कुछ दूर तक इन तत्त्वों के द्वारा दूर करने का प्रयास किया गया है।

सारांश—उपर्युक्त तर्क-वितर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि नीति-निर्देशक तत्त्वों का संविधान में उल्लिखित किया जाना व्यर्थ नहीं है। ये तत्त्व बिलकुल

शक्तिहीन कनई नही है। श्रीदुर्गादास वसु का तो कथन है कि इन तत्त्वों का उल्लंघन करते हुए अगर विधान-मंडल कोई विधेयक बनाये, तो राष्ट्रपति या राज्यपाल वैसे विधेयको पर अपनी स्वीकृति देने से इनकार कर सकते हैं। ये निदेशक तत्त्व वैसे मूल अधिकार हैं, जिन्हें हमारे संविधान निर्मातागण, देश की परिस्थिति और साधनो की कमी के कारण न्यायाविष्ट मूल अधिकारों में नही रख सके। एक प्रकार से यह उन कर्त्तव्यों की सूची है, जिन्हे राज्यो को नागरिको के लिए पूरा करना आवश्यक है। अत राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वो को हम मूल अधिकारों की प्रतीक्षा-सूची (Waiting List) कह सकते हैं। ये तत्त्व संविधान की कठोरता को कम करके उसे गतिशील बनाते हैं और प्रस्तावना के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निश्चित नीति निर्धारित करते हैं।

नीति-निदशक तत्त्वो को हम राज्य या सरकार का धर्म कह सकते हैं। हमारे देश की शासन-व्यवस्था के लिए यह कोई नई बात नहीं है। "प्राचीन काल के भारतीय धर्मशास्त्र राजा का धर्म निर्धारित करते थे। स्मृतियों में राजा के धर्म और कर्त्तव्यों का वर्णन पाया जाता है। वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को और भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को राजा का धर्म बतलाया था कि किन सिद्धान्तो के अनुसार राजा को राज्य करना चाहिए। हमारे संविधान के निदशक तत्त्व भी कई प्रकार से सरकार का धर्म बतलाते हैं कि शासन चलाने मे सरकार को इन कर्त्तव्यों का पालन करना होगा और इन उद्देश्यो की पूर्त्ति करनी होगी।"

इन सैद्धान्तिक दलीलों के अलावा पिछले दस वर्षों में भारत-संघ तथा राज्यो की सरकारों द्वारा इन तत्त्वो के अनुकूल किये गये कार्यो के आधार पर भी हम कह सकते हैं कि ये तत्त्व अर्थहीन नहीं हैं। 'फैक्टरी-ऐक्ट', 'शॉप-ऐक्ट', 'प्रेस-ऐक्ट', कतिपय उद्योगों तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, जमींदारी-उन्मूलन तथा भूमि-सुधार-संबंधी कानून, ग्राम-पंचायतो तथा सहकारी समितियों का संगठन, प्राचीन स्मारकों की रक्षा, निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा की योजना, कई राज्यों में मद्यनिषेध (Prohibition) आदि कार्य, जो इन पिछले दस वर्षों में भारत-संघ तथा राज्य-सरकारों द्वारा किये गये हैं, इस बात के प्रमाण हैं कि संविधान में उल्लिखित निदेशक तत्त्वों का पालन करने और अपनाने का प्रयास किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति के क्षेत्र मे भी, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों का समर्थन तथा 'पंचशील' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इन्हीं तत्त्वो के क्रियात्मक रूप कहे जा सकते हैं। अतएव, कुछ आलोचको का यह कहना कि "ये तत्त्व पालन की अपेक्षा अवहेलना द्वारा ही अधिकतर सम्मानित होंगे, सर्वथा अमान्य और अनुचित सिद्ध हुआ है। हमारे देश की सरकारों ने इन आदर्शों को क्रियान्वित भी किया है।

इस प्रकार, अन्त मे हम दावे के साथ कह सकते है कि राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वो को हमारे संविधान मे बहुत सोच-समझकर सम्मिलित किया गया है। ये तत्त्व उस प्रकाश-

स्तम्भ के समान हैं, जिसकी ज्योति में भारतीय संविधान की आत्मा तथा इस संविधान के निर्माताओं की सच्ची भावनाएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती हैं। ये राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व ध्रुवतारा (Pole Star) के समान हैं, जिनसे हमारे देश के वर्तमान तथा भावी शासकों को, संविधान के लक्ष्य तथा उद्देश्यों की मंजिल की उचित दिशा का सदैव भान होता रहेगा।

प्रश्न

(१) राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के तात्पर्य बताइए। इन सिद्धान्तों या तत्त्वों तथा मूल अधिकारों में क्या अन्तर है?
Mention the significance of the Directive Principles of State Policy How do they differ from the Fundamental Rights?

(२) भारतीय संविधान में उल्लिखित राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों की विवेचना कीजिए?
Discuss the Directive Principles of State Policy mentioned in the Indian Constitution

(३) राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। भारतीय संविधान में इनके उल्लिखित किये जाने के विपक्ष में दिये गये तर्कों की समीक्षा कीजिए।
Briefly discuss the Directive Principles of State Policy. Examine the arguments given against their incorporation in the Indian Constitution

संघ-सरकार
(The Union Government)

१ संघ-सरकार का परिचय

पिछले चार अध्यायों मे भारतीय गणतन्त्र के सविधान के सम्बन्ध में जो कुछ चर्चा की गई है, वह एक प्रकार से भारतीय शासन व्यवस्था की भूमिका थी। अब हम यह देखेंगे कि हमारे देश की शासन-प्रणाली किस प्रकार चलाई जा रही है।

भारत के सविधान के अनुसार हमारे देश मे सघात्मक शासन की व्यवस्था की गई है। सघात्मक राज्यों में एक केन्द्रीय सरकार और कई राज्य-सरकारें होती हैं। चूँकि, भारत का सविधान सघात्मक है, यहाँ भी दोहरी सरकार की स्थापना की गई है। यहाँ एक संघीय या केन्द्रीय सरकार (Union Government) और कई राज्य सरकारें (State Governments) हैं। भारत राज्य के सम्पूर्ण वैधानिक अधिकारों को तीन सूचियों—संघ-सूची (Union List), राज्य-सूची (State List) और समवर्त्ती सूची (Concurrent List) में बाँट दिया गया है। सघ-सूची के विषयों पर सिर्फ सघीय सरकार को कानून बनाने का अधिकार है और राज्य-सूची के विषयों पर सिर्फ राज्य सरकारों को तथा समवर्त्ती सूची के विषयों पर दोनों सरकारों को कानून बनाने का अधिकार है। सामान्यतः, कोई भी सरकार, संघीय या राज्य सरकार, एक-दूसरे के अधिकार को छीन नहीं सकती है।

इस प्रकार, सविधान के अनुसार वर्त्तमान भारतीय शासन दो भागों में बँटा है। एक संघ-शासन (Union Government) और दूसरा राज्यों का शासन। आगे आनेवाले अध्यायों मे सघ और राज्य-शासनों को दो पृथक् इकाइयाँ मानकर अध्ययन किया जायगा। पहले हम सघ-शासन का वर्णन करेंगे। हम जानते हैं कि प्रत्येक शासन-व्यवस्था की तीन शाखाएँ हुआ करती हैं—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका। अतः, अलग अलग अध्यायों में संघीय कार्यपालिका, संघीय व्यवस्थापिका और संघीय न्यायपालिका की रूप-रचना और अधिकारों को सविस्तर समझाया जायगा।

इस स्थल पर हमें इतना ही जान लेना चाहिए कि भारतीय सविधान के पाँचवें भाग (Part V) में, ५२ से १४७वीं धारा तक, सघ सरकार का वर्णन किया गया है। इस भाग के पहले अध्याय में, ५२ से ७८वीं धारा तक, संघीय

कार्यपालिका का; दूसरे अध्याय में, ७९ से १२२वीं धारा तक, संघीय व्यवस्थापिका का; तीसरे अध्याय की धारा १२३ में राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तियों का और चौथे अध्याय में, १२४ से १४७वीं धारा तक, संघीय न्यायपालिका का उल्लेख किया गया है।

अगले अध्याय में हम संघीय कार्यपालिका का वर्णन करेंगे। विद्यार्थियों को सम्पूर्ण संघ सरकार के सर्वांगीण स्वरूप की पूरी झलक एक साथ उपलब्ध कराने के प्रयोजन से हम एक तालिका नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

संघ-सरकार के स्वरूप की तालिका

भारतीय संघ-शासन (Union Government of India)

❀

२ संघ-कार्यपालिका : स्वरूप और क्षेत्र

(The Union Executive : Form and Scope)
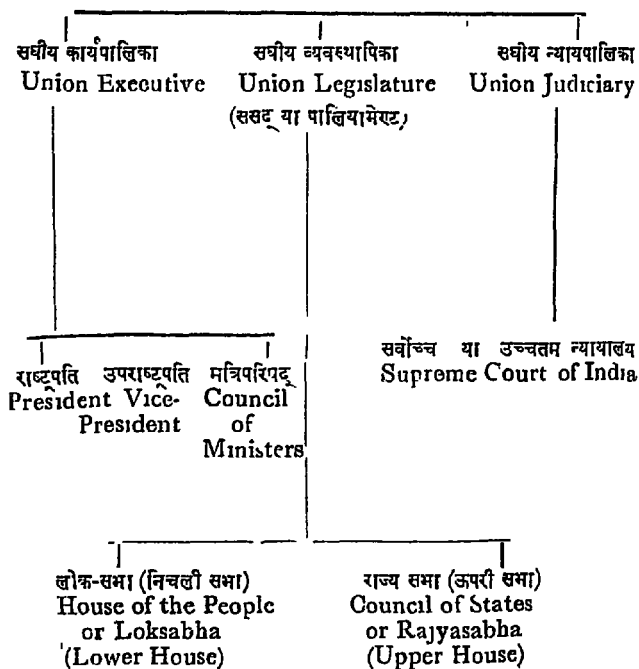
संघ-कार्यपालिका का स्वरूप (Form of Union Executive)—भारत में राष्ट्रपति (President) और संघीय मन्त्रिपरिषद् (Council of Ministers) को मिलाकर संघ-कार्यपालिका या संघ कार्यकारिणी (Union Executive) कहा जाता है। संविधान के अनुसार भारत का एक राष्ट्रपति होगा। भारत-संघ की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा।[1] भारत-सरकार के कार्यपालिका सम्बन्धी सारे कार्य राष्ट्रपति के नाम से ही सम्पादित होंगे।[2]

भारतीय संविधान द्वारा संघ सरकार की कार्यकारिणी के अध्यक्ष को 'राष्ट्रपति' की संज्ञा दिया जाना और राष्ट्रपति को भारतीय शासन के संवैधानिक प्रधान के साथ साथ कार्यकारिणी का अध्यक्ष घोषित किया जाना, कुछ विचारकों के मन में यह भ्रम पैदा कर सकता है कि हमारे देश में अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली (Presidential form of Government) की स्थापना की गई है। जैसे कि न्यायाधीश पी० बी० मुखर्जी का मत है कि "भारतीय संविधान में संसदात्मक प्रणाली तथा अध्यक्षात्मक प्रणाली दोनों के तत्व विद्यमान हैं।[3]"

संविधान की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करते समय यह कहा जा चुका है कि हमारे देश में संसदीय शासन-पद्धति (Parliamentary form of Government) की स्थापना की गई है। फिर भी, इस स्थल पर यह दुहरा देना अनावश्यक नहीं होगा कि यद्यपि भारत संघ की कार्यपालिका के अध्यक्ष, 'राष्ट्रपति', को औपचारिक ढंग से (Formally) हमारे देश की कार्यकारिणी के सारे अधिकार दिये गये हैं और कानूनी तौर पर (Legally) राष्ट्रपति स्वयं उन सभी अधिकारों का प्रयोग भी कर सकता है, फिर भी हमारे देश में अध्यक्षात्मक नहीं, वरन् संसदीय शासन-पद्धति की स्थापना की गई है।

१ धारा ५२ और ५३।

२. धारा ७७ (१)।

३ "The Indian Constitution combines the presidential system of government with responsible executive drawn from the parliament." —*P. B. Mukherjee*

हमारे देश में जिस शासन प्रणाली की स्थापना की गई है, उसका स्वरूप संसदीय या मन्त्रिमण्डलात्मक (Cabinet form) है, न कि अध्यक्षात्मक। केवल इसलिए कहा गया है कि भारतीय शासन प्रणाली में अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति के आधारभूत तथा आवश्यक गुणों या तत्वों का अभाव है।

अध्यक्षात्मक पद्धति के अन्तर्गत राष्ट्रपति राज्य या शासन का केवल वैधानिक प्रधान नहीं हुआ करता है और उसमें सम्पूर्ण राज्य की कार्यपालिका-शक्ति सिर्फ औपचारिक ढंग (formally) से ही निहित नहीं रहती है, वरन् वह राज्य और सरकार दोनों का अध्यक्ष हुआ करता है और देश के शासन-कार्य का वास्तविक सचालन उसी के हाथों होता है। अध्यक्षात्मक प्रणाली में राष्ट्रपति व्यवस्थापिका अथवा पार्लियामेंट का सदस्य नहीं होता और न उसके प्रति उत्तरदायी ही होता है। राष्ट्रपति का चुनाव भी व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होता है। व्यवस्थापन-विभाग के सदस्यों का बहुमत चाहे उसके पक्ष में हो या न हो, राष्ट्रपति अपने पद पर संविधान द्वारा निर्धारित अवधि तक कायम रहता है।

अध्यक्षात्मक पद्धति में भी शासन-कार्य के सचालन में सहायता तथा परामर्श पाने के प्रयोजन से राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रियों या सचिवों (Secretaries) की नियुक्ति की जाती है। वे मन्त्री-गण विविध विभागों के अध्यक्ष या प्रभारी (Incharge) होते हैं। लेकिन वे राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे न तो संसद् के सदस्य होते हैं और न संसद् के समर्थन पर अपने पदों पर उनका कायम रहना ही निर्भर करता है। राष्ट्रपति किसी भी समय मंत्रियों को पदच्युत (Dismiss) कर सकता है। राष्ट्रपति को परामर्श देना इनका कार्य है। इनकी मंत्रणा (Advice) राष्ट्रपति के लिए बाध्य या निर्णायक नहीं होती और उन्हें मानना या अस्वीकार कर देना राष्ट्रपति की स्वेच्छा पर सर्वथा निर्भर करता है।

अध्यक्षात्मक पद्धति 'शक्तियों के पृथक्करण' या 'अधिकार-विभाजन सिद्धान्त (Theory of Separation of powers) पर आधारित हुआ करती है। बेगहॉट (Bagehot) के शब्दों में 'व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी की एक-दूसरे से स्वतंत्रता अध्यक्षात्मक पद्धति का विशिष्ट लक्षण है'। इस पद्धति में व्यवस्थापिका राष्ट्रपति को अविश्वास-प्रस्ताव द्वारा नहीं हटा सकती।

अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति के उपर्युक्त सर्वमान्य आवश्यक तत्व भारतीय शासन-प्रणाली में नहीं पाये जाते। एक लेखक ने ठीक कहा है कि भारत के राष्ट्रपति का नाम हमारी जिह्वा पर आते ही हमें सहसा अमेरिका के राष्ट्रपति का स्मरण आता है, परन्तु दोनों में नाम की समानता के अतिरिक्त और कोई समानता नहीं है। न्यायाधीश

चन्द्रभानु गुप्त के शब्दों में 'भारतीय संविधान ने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली वाली सरकार अपनाई है। अमेरिका की राष्ट्रपतिवाली प्रणाली नहीं'।

हमने देखा कि भारत में अमेरिका जैसी अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति नहीं अपनाई गई है। अब हमें उन बातों का उल्लेख करना है, जिनके आधार पर यह दावा किया जाता है कि भारत के संविधान में ब्रिटेन की सासद् प्रणाली का अनुसरण किया गया है। यद्यपि भारतीय शासन-प्रणाली में ब्रिटेन की भाँति कोई वंशक्रमानुगत (Hereditary) सम्राट् नहीं होता, वरन् भारतीय राष्ट्रपति की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है, फिर भी भारत का राष्ट्रपति, ब्रिटिश सम्राट् की भाँति, राज्य का प्रमुख (Head of the State) होता है, न कि सरकार का अध्यक्ष। दोनों देशों में सरकार का अध्यक्ष प्रधान मंत्री होता है। यह सासद् प्रणाली का लक्षण है, क्योंकि सासद् प्रणाली में राज्य का संवैधानिक प्रधान राज्यशक्ति का प्रतीक अवश्य होता है, लेकिन वास्तविक शासक नहीं। डॉ० अम्बेदकर के अनुसार 'हमारा राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है। उसका शासन में यह स्थान है कि उसके नाम पर राष्ट्र के निर्णय घोषित किये जाते हैं।

संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका की यथार्थ शक्तियाँ मन्त्रिमण्डल के हाथ में रहती हैं। इस यथार्थ कार्यपालिका, अर्थात् मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और अपने पद तथा अवधि के लिए संसद् के बहुमत पर निर्भर करते हैं। मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप मे संसद् के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रणाली में संवैधानिक प्रधान अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा से बाध्य होता है, वह मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता और न कुछ कार्य ही उनके परामर्श के बिना कर सकता है।

भारतीय शासन-प्रणाली में ऐसा ही पाया जाता है। संविधान की ७४वीं धारा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'राष्ट्रपति को अपने कार्य-सचालन में सहायता और परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होगा।' भारतीय संसद् के निचले सदन (लोकसभा) मे जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को ही प्रधान मन्त्री के पद पर नियत किया जाता है और वही अपने दल के प्रमुख व्यक्तियों में से मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है। यह मन्त्रिमण्डल तबतक अपने पद पर कायम रहेगा, जबतक कि भारतीय संसद् के बहुमत का विश्वास और समर्थन उसे प्राप्त रहेगा।

भारत का राष्ट्रपति अपने मे निहित कार्यकारिणी सम्बन्धी शक्तियों और अधिकारों का प्रयोग भी प्रधान मन्त्री और मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही करेगा।

हमारे देश के प्रथम तथा भूतपूर्व राष्ट्रपति, डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में, 'यद्यपि संविधान में कोई ऐसी धारा नहीं है, जिसके अनुसार राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह को मानने के लिए बाध्य या विवश हो, परन्तु यह आशा की जाती है कि जिन रूढ़ियों के अनुसार इङ्गलैण्ड में सम्राट् सदैव अपने मन्त्रियों की सलाह को मानता है, उसी प्रकार भारत में भी ऐसी ही रूढ़ियाँ स्थापित हो जायेंगी और राष्ट्रपति सब विषयों में एक वैधानिक शासक बन जायगा।' भारत का राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों को तबतक पदच्युत नहीं कर सकता, जबतक कि उनके पीछे संसद् के बहुमत का समर्थन रहेगा।

भारत के राष्ट्रपति का चुनाव संसद् से सर्वथा स्वतन्त्र भी नहीं है और न यहाँ पर शक्तियों का पृथक्करण-सिद्धान्त ही लागू किया गया है। यहाँ पर व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी की एक-दूसरे से घनिष्ठता पाई जाती है। मन्त्रिपरिषद् के सदस्य संसद् के सदस्य होते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति मन्त्री नियुक्त हो जाता है, जो संसद् का सदस्य नहीं हो, तो उसे मन्त्री होने के छः महीने के अन्दर ही संसद् के किसी भी सदन का सदस्य बन जाना होगा, नहीं तो उसे मन्त्री पद से हट जाना होगा। मन्त्री संसद् की बैठकों में भाग लेते हैं, प्रश्नों का उत्तर देते हैं और अपने कार्यों के लिए संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संसद् उनको अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर हम दावे के साथ कह सकते हैं कि भारतीय गणतन्त्र के संविधान ने संसदात्मक कार्यपालिका की व्यवस्था की है, न कि अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की। डाक्टर अम्बेडकर के शब्दों में 'भारत में सामयिक उत्तरदायित्व (Periodic Responsibility) की अपेक्षा दैनिक उत्तरदायित्व (Daily Responsibility) पर अधिक जोर दिया गया है।' संघीय कार्यपालिका का प्रमुख, भारतीय राष्ट्रपति, न्यूनाधिक नाम मात्र का प्रधान है। कानूनी दृष्टि से संघ की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति में निहित है, किन्तु राजनीतिक (अथवा वास्तविक) दृष्टि से यह मंत्रि-परिषद् में निहित है। संविधान-सभा में इस विषय पर बोलते हुए स्वर्गीय श्री नेहरू ने कहा था: "एक चीज जो हमें शुरू में ही तय करनी है, वह यह है कि सरकारी ढाँचा किस प्रकार का होना चाहिए। क्या वह ऐसा हो जिसमें उत्तरदायी मन्त्रिमंडल होता है अथवा संयुक्तराज्य अमेरिका में प्रचलित राष्ट्रपति प्रणाली जैसा हो। .... हमने इस विषय पर गंभीरता से विचार किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हमें सरकार के मंत्रिमंडलीय स्वरूप पर अधिक बल देना चाहिए और शक्ति का निवास मन्त्रिमंडल और व्यवस्थापिका में है न कि राष्ट्रपति में।"

अतः, भारत-संघ की कार्यपालिका में राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल दोनों ही समाविष्ट होते हैं। वैसे तो राजकीय सेवक-वर्ग (Civil Service Class) को भी सत्रीय कार्यपालिका में सम्मिलित किया जाना चाहिए, क्योंकि राज्य का शासन तन्त्र चलाने में उनका भी काफी महत्व रहता है। फिर भी, उन्हे नीति-निर्धारण करने और निर्देशन देने का कानूनी या राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं रहने के कारण हम यह कह सकते हैं कि भारत में राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् को मिलाकर ही सत्र-कार्यपालिका कहा जाना चाहिए।

संसदीय शासन-प्रणाली क्यों अपनाई गई ?—प्रश्न उठता है कि हमारे संविधान-निर्माताओं ने संसदीय या मन्त्रिमण्डलात्मक शासन-पद्धति को क्यों अपनाया और अध्यक्षात्मक सरकार का अवलम्बन क्यों नहीं किया ? इसके कारण निम्न-लिखित हैं—

(१) बहुत दिनों (लगभग १५० वर्षों) तक ब्रिटेन से सम्बन्धित रहने के कारण अध्यक्षात्मक प्रणाली की सरकार की अपेक्षा संसदीय प्रणाली के उत्तरदायी शासन के संचालन से हमारा देश ज्यादा अच्छी तरह परिचित हो गया था। सन् १९३५ ई० के भारत सरकार-अधिनियम के अन्तर्गत हमारे प्रान्तों की सरकारें संसदीय पद्धति के अनुसार ही व्यवस्थित हो रही थीं। केन्द्रीय शासन में भी अन्तरिम सरकार की स्थापना के बाद यही पद्धति लागू थी। अतः, हमारे नेताओं और शासकों को इस पद्धति का समुचित व्यावहारिक अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त हो चुका था।

(२) इस अनुभव और ज्ञान ने उन्हें बता दिया था कि इस पद्धति के अधीन कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में निरन्तर सहयोग की अपेक्षा रहने के कारण शासन-कार्य बहुत सुगमता तथा सुन्दरता से चलता है। मन्त्री उस नीति को आसानी से कार्यान्वित कर सकते हैं, जिसके आधार पर वे संसद् में निर्वाचित होते हैं और व्यवस्थापिका द्वारा उन सभी कानूनों को भी आसानी से पास करा सकते हैं, जिन्हें वह शासन-कार्य चलाने के लिए जरूरी समझते हैं। भारत की तत्कालीन या मौजूदा परिस्थितियों के लिए संसदीय पद्धति ही अधिक उपयुक्त थी।

प्रारूप-समिति (Drafting Committee) के प्रमुख सदस्य श्री अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर ने संविधान सभा में कहा था—"एक नवजात शिशु-प्रजातन्त्र आधुनिक परिस्थितियों में विधान-मंडल और कार्यपालिका के बीच निरन्तर मनमुटाव, झगड़े और संघर्ष की आशंकाओं का खतरा (जो अध्यक्षात्मक प्रणाली में रहता है)

नहीं उठा सकता । वर्तमान संविधानीय सरचना का उद्देश्य विधानमडल और कार्यपालिका में सघर्ष को रोकना और शासन-प्रणाली के विभिन्न अंगों में अनुरूपता उत्पन्न करना है। ससदीय कार्यपालिकाओं के, जो ग्रेट-ब्रिटेन तथा उसके अधि-राज्यों मे और यूरोप के कुछ देशों में पाई जाती हैं, और अमेरिका में प्रचलित अध्यक्षात्मक प्रणाली के गुण दोषों पर अच्छी तरह विचार करने के बाद भारतीय संविधान ने संसदीय कार्यपालिका की पद्धति अपनाई है।"

(३) कार्यपालिका के उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से भी ससदीय पद्धति अध्यक्षात्मक पद्धति से श्रेयस्कर हुआ करती है। डा० अम्बेदकर के अनुसार 'अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति की अपेक्षा ससदीय पद्धति को अपनाकर भारत में सामयिक उत्तरदायित्व (Periodical Responsibility) की अपेक्षा दैनिक उत्तरदायित्व (Daily Responsibility) पर अधिक जोर दिया गया है।'

(४) अध्यक्षात्मक प्रणाली को अपनाने से इस बात का डर था कि तत्कालीन देशी राज्यों के निरकुश शासक और भी अधिक तानाशाह हो जाते और उस समय उन्हें बिलकुल ही समाप्त करने की नीति नहीं निश्चित की गई थी।

उपर्युक्त कारणों या लाभों को मद्देनजर रखते हुए हमारे संविधान के रचयिताओं ने ब्रिटेन के संविधान के प्रतिरूप को आदर्श मानकर भारत में ससदीय शासन-प्रणाली का ही अवलम्बन किया ।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि भारत में संसदीय शासन-प्रणाली की व्यवस्था होने के बावजूद भारत के राष्ट्रपति को संविधान के अनुसार बहुत-से ऐसे अधिकार दिये गये हैं, जो ससदीय प्रणाली वाले देशों मे साधारणतः सवैधानिक प्रधान (चाहे राजा या राष्ट्रपति) को प्राप्त नहीं होते । भारत का राष्ट्रपति विशेष परिस्थितियों मे आर्डिनेन्स जारी कर सकता है । वह सकटकाल की घोषणा कर सकता है और उस अवधि के लिए शासन-सम्बन्धी सभी अधिकारों को अपने हाथों में ले सकता है । यद्यपि राष्ट्रपति इन सभी अधिकारों का प्रयोग भी प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिमडल की राय के अनुकूल ही करेगा, फिर भी इन सब अधिकारों के कारण उसे 'मन्त्रिमण्डल के हाथों का कठपुतला' या 'रबर स्टाम्प' कहना सर्वथा अनुचित होगा। अतः, भारत मे ससदीय प्रणाली की स्थापना के बावजूद भारत के राष्ट्रपति की शक्ति ससदीय प्रणाली के अन्य देशों के सवैधानिक प्रधानों की अपेक्षा बहुत ही अधिक है ।

सघीय कार्यपालिका का क्षेत्र (Scope of the Union Executive Powers) —भारतीय संविधान की भिन्न भिन्न धाराओं के अनुसार, भारत-सघ की कार्यपालिका-शक्ति के क्षेत्र निम्नलिखित हैं—

(१) वे सारे मामले जिनके विषय में भारतीय संसद् को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है।

(२) संधियों या समझौतों के आधार पर भारत-सरकार को मिले हुए अधिकार या अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग-सम्बन्धी मामले।

(३) समवर्ती सूची में वर्णित ऐसे विषय, जो संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से संघ को दिये गये हों या वे कानून, जिनके विषय में संसद् ने ऐसी व्यवस्था की हो।

संघ की कार्यपालिका में हमें राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रि-परिषद् का अध्ययन करना है। अगले अध्याय में हम भारत-राज्य तथा भारत-संघ की कार्यपालिका के प्रधान, भारतीय राष्ट्रपति, का अध्ययन करेंगे।

प्रश्न

१. भारत संघ की कार्यपालिका के स्वरूप और क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

Discuss the form and scope of the Union Executive of India

२. 'भारत में जिस शासन प्रणाली की स्थापना की गई है, उसका स्वरूप संसदीय अर्थात् मन्त्रिमंडलात्मक है, न कि अध्यक्षात्मक।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

'The Indian Constitution establishes a Parliamentary form of Government rather than a Presidential one'. Examine this Statement.

३. 'भारतीय शासन प्रणाली अध्यक्षात्मक नहीं है।' इस कथन की पुष्टि में तर्क प्रस्तुत कीजिए और उन कारणों का उल्लेख कीजिए, जिनके कारण अध्यक्षात्मक की अपेक्षा संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापना भारत में की गई।

'The Indian Administrative system is not a Presidential one.' Give arguments in support of this view and mention the causes due to which Parliamentary System of Government, in preference to the Presidential form of Government, was established in India.

❀

३ संघ-कार्यपालिका : राष्ट्रपति

(The Union Executive President)

राष्ट्रपति भारतीय गणराज्य का प्रधान होता है। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। भारत में अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा ससदीय या मन्त्रिमडलात्मक सरकार की व्यवस्था किये जाने के कारण, यद्यपि भारत का राष्ट्रपति सघीय कार्य-पालिका का वास्तविक प्रधान शासक न होकर सिर्फ प्रतीकात्मक एव सवैधानिक प्रधान (Symbolic and Constitutional Head होता है, फिर भी ओहदों के क्रम में राष्ट्रपति का स्थान सर्वोच्च है। राष्ट्रपति का पद सरकारी अधिकारियों में उच्चतम तथा सर्वाधिक सम्मानित है। वह राष्ट्र की एकता और अखडता, दृढता और सगठन तथा उसके अस्तित्व की निरन्तरता का प्रतीक है। राष्ट्रपति स -कार्यपालिका का प्रधान होता है और सघीय कार्यपालिका की सारी शक्तियाँ औपचारिक ढग से उसमें ही निहित होती हैं।

राष्ट्रपति का निर्वाचन (Election of the President)—भारत के सविधान में हमारे देश को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य (Sovereign Democratic Republic) घोषित किया गया है। ऐसे राज्यों में शासन का प्रधान कोई मनोनीत या वशक्रमानुगत व्यक्ति (Nominated or Hereditary Person) नहीं होकर आम जनता का प्रतिनिधि होता है। अतः भारतीय गणराज्य के अध्यक्ष, राष्ट्रपति, की नियुक्ति की व्यवस्था भी चुनाव द्वारा ही की गई है। भारत का राष्ट्रपति जनता द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है लेकिन उसका निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप (Direct) से न होकर परोक्ष (Indirect) रूप से होता है।

भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन का परोक्ष तरीका (Indirect Method) इसलिए अपनाया गया कि भारतीय सविधान द्वारा हमारे देश में ससदीय शासन-प्रणाली की स्थापना की गई है। हम जानते हैं कि इस प्रणाली में राष्ट्र का अध्यक्ष नाम-मात्र का प्रधान होता है। राजशक्ति का वास्तविक प्रयोग मन्त्रिमडल और प्रधान मन्त्री के द्वारा होता है, जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसलिए, राष्ट्रपति का बालिग मताधिकार द्वारा प्रत्यक्ष प्रणाली से निर्वाचित होना अनावश्यक था।[1]

१. श्रीनेहरू ने सविधान-निर्मात्री सभा में कहा था —"If we had the President elected on adult franchise and did not give him any power, it might become a little anomalous"

यदि राष्ट्रपति जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से (Directly) चुना जाता, तो वह केवल नाम मात्र का प्रधान कतई नहीं रहता। वह संविधान द्वारा अपने में निहित शासन-शक्तियों का स्वयं प्रयोग करने का दावा समुचित रूप से कर सकता था। वैसी दशा में, समूचे देश की जनता द्वारा नहीं, वरन् किसी एक निर्वाचन क्षेत्र से चुने गये प्रधान मन्त्री और अन्य मन्त्रियों का महत्व, जनता की दृष्टि में उतना नहीं होता, जितना कि सारे देश के मतदाताओं की संख्या का बहुमत-प्राप्त राष्ट्रपति का होता। ठीक ही कहा गया है—"इस प्रकार मतदाताओं से चुना हुआ राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री का बड़ा प्रतिद्वन्द्वी हो जाता और दोनों में गतिरोध हो जाता।" ("A directly elected President would have become a serious rival of the Prime Minister and it could have led to deadlock")

देश की आम जनता द्वारा राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष निर्वाचन के विरोध में दिये गये इस उपर्युक्त प्रबल तथा महत्वपूर्ण तर्क के अलावा यह भी कहा गया है कि प्रत्यक्ष रूप से चुनाव करने में बहुत ही अधिक शक्ति, धन तथा समय की बर्बादी होती। अधिकांश मतदाताओं की निरक्षरता का भी उल्लेख किया गया है। इन युक्तियों में अधिक बल नहीं है, क्योंकि आम चुनाव के साथ ही राष्ट्रपति का भी चुनाव हो जाता। अतः, भारत के संविधान द्वारा शासन की संसदीय प्रणाली को अपनाये जाने के कारण ही राष्ट्रपति का परोक्ष रीति से चुना जाना उचित एवं संगत समझा गया।

निर्वाचन की योग्यताएँ— राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए कोई व्यक्ति तभी उम्मीदवार हो सकता है, जब उसमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों—

(१) भारत का नागरिक हो,

(२) ३५ वर्ष की उम्र हो,

(३) लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो,

(४) भारत-सरकार या किसी राज्य-सरकार या इन सरकारों से नियंत्रित किसी स्थानीय या अन्य अधिकारी के अधीन किसी लाभवाले पद (Post of Profit) पर न हो। लेकिन, इस धारा के सम्बन्ध में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल और केन्द्रीय अथवा राज्य के मन्त्रियों का पद लाभवाला पद नहीं समझा जायगा, अर्थात् जो इन पदों पर हैं वे राष्ट्रपति के लिए उम्मीदवार हो सकेंगे। निर्वाचित हो जाने के बाद राष्ट्रपति अन्य कोई लाभ का पद धारण न करेगा।

जो व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में पद ग्रहण कर रहा है अथवा कर चुका है, वह पुनः अगर उसमें उपर्युक्त योग्यताएँ वर्तमान हैं, राष्ट्रपति-पद के लिए उम्मीदवार हो

सकता है। कोई व्यक्ति कितनी बार राष्ट्रपति पद ग्रहण कर सकता है, इस सम्बन्ध में हमारा संविधान मौन है। इसका आशय यह है कि एक ही व्यक्ति लगातार बहुत बार राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित हो सकता है। स्वर्गीय डा० राजेन्द्र प्रसाद के तीसरी बार राष्ट्रपति नहीं होने से एक अभिसमय की स्थापना हुई है, जिसके अनुसार एक ही व्यक्ति लगातार दो बार से अधिक इस पद के लिए निर्वाचित नहीं होगा।

इस सम्बन्ध में साम्यवादी नेता श्रीभूपेश गुप्ता ने राज्य-सभा में १ अप्रैल १९६१ को संविधान में संशोधन लाने का प्रस्ताव रखा था। इस प्रस्ताव का आशय था कि कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए दो बार से अधिक खड़ा नहीं हो सकता था। यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका; क्योंकि सदन के बहुमत का विचार था कि इस सम्बन्ध में अभिसमय ही ठीक था, कानून नहीं।

राष्ट्रपति संसद् के किसी भी सदन का या राज्यों के विधान-मंडलों के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होगा। यदि संसद् या राज्यों के विधान मंडलों का कोई सदस्य राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित होता है, तो वह अपने पद का कार्यभार सँभालने के दिन से उस सदन का सदस्य नहीं समझा जायगा।

निर्वाचन की पद्धति—भारत के राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से होता है। अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति को निर्वाचित करने के लिए एक निर्वाचक-मंडल (lectoral C का निर्माण किया जाता है, जिसके सदस्य निम्नलिखित होते हैं—

(१) भारतीय संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य

और (२) सभी राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य।

अर्थात्, भारतीय संसद् तथा राज्यों की विधान सभाओं के मनोनीत (Nominated) सदस्यों को राष्ट्रपति के चुनाव के निमित्त बनाये गये निर्वाचक-मंडल का सदस्य नहीं माना जायगा। इसी प्रकार, राज्य की विधान परिषदों (Legislative Councils) के सदस्यों को भी वोट देने का अधिकार नहीं होगा। स्मरण रहे कि राज्यों की विधान सभाओं और संघीय संसद् में कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं, जो चुनाव द्वारा इन सदनों के सदस्य न बनकर राष्ट्रपति और राज्यपालों द्वारा मनोनीत किये जाते हैं।

राष्ट्रपति के चुनाव के निमित्त बनाये जानेवाले निर्वाचक मंडल के प्रत्येक सदस्य को एक एक वोट देने का अधिकार नहीं दिया जाकर उनके मतों का एक प्रकार से मान या वजन निकाले जाने के लिए एक सूत्र या फॉर्मूला (Formula) अपनाया गया है। इस सूत्र की व्याख्या करने के पहले यह बता देना आवश्यक है कि हमारे संविधान-निर्माताओं ने निर्वाचक-मंडल के प्रत्येक सदस्य को एक एक

वोट देने का अधिकार क्यों नहीं दिया और मतों की साधारण गणना द्वारा निर्वाचन के फल को निर्धारित करने की अपेक्षा एक नया फॉर्मूला क्यों अपनाया ?

भारत का राष्ट्रपति सम्पूर्ण राज्य का प्रधान होता है। साथ ही भारत एक संघात्मक राज्य है। राष्ट्रपति के चुनाव के निमित्त बनाये जानेवाले निर्वाचक-मंडल में दो प्रकार के सदस्य होंगे - एक प्रकार के वे, जो केन्द्रीय या संघीय संसद् के निर्वाचित सदस्य हैं और दूसरे प्रकार के वे जो विविध राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्य हैं। यह जानी हुई बात है कि संघीय संसद् के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की संख्या कई गुना ज्यादा होगी। इस दशा में निर्वाचक-मंडल के प्रत्येक सदस्य को एक एक वोट देने का अधिकार का मतलब यह होता है कि राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्य बहुमत में होने के कारण बराबर ही ऐसे व्यक्ति को भी राष्ट्रपति चुन सकते, जिसे संघीय संसद् के सदस्य नहीं चुनना चाहते। इस प्रकार के बहुमत से निर्वाचित राष्ट्रपति राज्यों का सच्चा प्रतिनिधि अवश्य होता, लेकिन संघीय दृष्टि से उसका सम्मान और महत्व कम हो जाता।

संघ और राज्यों के बीच इस प्रकार की असमानता (Disparity) उत्पन्न होने के अतिरिक्त निर्वाचक-मंडल के प्रत्येक सदस्य का एक एक वोट का अधिकार राज्यों के बीच भी विभिन्नता पैदा करता। हम जानते हैं कि भारत संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों की न जनसंख्या एक समान है, और न उनकी विधान सभाओं की सदस्य-संख्या ही एक बराबर है। सभी राज्यों में जन-संख्या और सदस्य-संख्या का अनुपात भी पूर्णतया एक समान नहीं है।

ऐसी हालत में निर्वाचक-मंडल के दूसरे प्रकार के सदस्यों, यानी विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों, में से प्रत्येक को एक एक वोट देने के अधिकार का अर्थ यह होता है कि कम तथा अधिक दोनों प्रकार की आबादीवाले राज्यों को राष्ट्रपति के चुनाव में लगभग बराबर का अधिकार प्राप्त होता। यह उचित नहीं होता; क्योंकि इसका नतीजा होता कि राष्ट्रपति देश की आम जनता का भी समान तथा उचित ढंग से प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता। या तो कम आबादीवाले राज्य एक साथ मिलकर अधिक आबादीवाले राज्यों को निर्णायक-भाग नहीं लेने देते या बड़े बड़े राज्य किसी को भी स्वेच्छा से राष्ट्रपति चुनते और छोटे राज्यों की तनिक परवाह नहीं करते।

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के निमित्त ही, जिससे भारत का राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र (भारत संघ) तथा विभिन्न राज्यों का समुचित रूप में प्रतिनिधित्व कर सके, हमारे

संविधान निर्माताओं ने निर्वाचक-मंडल के प्रत्येक सदस्य को एक एक वोट देने का अधिकार नहीं दिया। राष्ट्रपति के निर्वाचन में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व में एकरूपता (Uniformity in the Scale of Representation), और दूसरे, सघ तथा राज्यों के प्रतिनिधित्व के बीच समानता (Parity of Representation) स्थापित करने के लिए उन्होंने एक विशेष फॉर्मूला निकाला। इस फार्मूला या सूत्र का आशय यही है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों को, जहाँ तक संभव होगा, उनकी जनसख्या के आधार पर बराबर के मत देने का अधिकार दिया जायगा और समस्त राज्यों के प्रतिनिधियों को उतने ही मत दिये जायँगे, जितने संसद् के दोनों सदनों के सदस्यों को मिलाकर। ऐसा करने के लिए निर्वाचक मंडल के प्रत्येक सदस्य के मत का वजन, सख्या या मान इस निम्नलिखित रीति से निर्धारित किये जायँगे।

(१ राष्ट्रपति के निर्वाचन में देश के विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व में एकरूपता लाने तथा सभी राज्यों को एक समान महत्व प्राप्त कराने के लिए—

किसी राज्य विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मत का मूल्य=

$$\frac{\text{उस राज्य की कुल जन संख्या}}{\text{उस राज्य की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}} \div १०००$$

अर्थात्, भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन के निमित्त बनाये गये निर्वाचक-मडल के दूसरे प्रकार के सदस्य, अर्थात् प्रत्येक राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य, को कितने वोट देने का अधिकार होगा, यह जानने के लिए उस राज्य की कुल आबादी को वहाँ की विधान सभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग दिया जाता है। फिर उस भागफल (Quotient) को एक हजार से भाग दिया जाता है। अब जितना भागफल निकलेगा, उतने ही वोट उस राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य देंगे। यदि शेष, भाजक (१०००) से आधा या आधे से अधिक (५०० या ५०० से अधिक) बचता है, तो एक मत और जोड़ दिया जाता है और शेष यदि भाजक के आधे से कम ५०० से कम) बचता है, तो कुछ नहीं जोड़ा जाता।

इस सूत्र को एक उदाहरण द्वारा नीचे लिखे प्रकार से स्पष्ट किया जाता है। यह जानने के लिए कि बिहार राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को राष्ट्रपति के निर्वाचन में कितने वोट मिलेंगे हम पहले बिहार राज्य की जन-सख्या ३ ८८,[illegible],००० को बिहार-राज्य की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ३१८ से भाग देंगे—

अतः ३,८८,२७,००० ÷ ३१८ = $\frac{३,८८,२७,०००}{३१८}$ = १२२१३५ $\frac{७०}{३१८}$ = १२२१३५

चूँकि, शेष ७०, भाजक ३१८ के आधे (१५९) से कम है।

फिर १२२१३५ को १००० से भाग दिया—

१२२१३५ — १००० = $\frac{१२२१३५}{१०००}$ = १२२ $\frac{१३५}{१०००}$ = १२२

चूँकि शेष १३५ भाजक १००० के आधे (५००) से कम है।

इस प्रकार, हम जान गये कि बिहार-विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को राष्ट्रपति के निर्वाचन में १ वोट नहीं मिलकर १२२ वोट मिले।

इसी प्रकार, भारत-राज्य के अन्तर्गत सभी राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के मतदान की संख्या निकाल ली जायगी।

विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं के प्रत्येक सदस्य को कितने कितने वोट मिलेंगे, इसका निश्चय (ऊपर बताये गये फॉर्मूले के अनुसार) हो जाने के बाद अगला प्रश्न यह उठता है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन के निमित्त बनाये गये निर्वाचक-मंडल के प्रथम प्रकार के सदस्य अर्थात् संघीय संसद् के निर्वाचित सदस्यों को कितने-कितने वोट मिलेंगे।

(२) राष्ट्रपति के निर्वाचन में संघ तथा राज्यों के प्रतिनिधियों के बीच समानता स्थापित करने के लिए—

$$\text{संसद् के दोनों सदनों के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मत का मूल्य} = \frac{\text{सभी राज्यों की विधान-सभाओं के सभी निर्वाचित सदस्यों के मतों का योग}}{\text{संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}}$$

अर्थात्, राष्ट्रपति के निर्वाचन के निमित्त बनाये गये निर्वाचक मंडल के पहले प्रकार के सदस्य, यानी भारतीय संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों, को कितने वोट मिलेंगे, यह जानने के लिए सभी राज्यों की विधान सभाओं के सभी निर्वाचित सदस्यों की मत संख्या के योगफल में संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग दिया जायगा। जो भागफल निकलेगा, वही, संसद् के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत-संख्या होगी। यदि शेष, भाजक के आधे या आधे से अधिक है, तो भागफल में १ और जोड़ दिया जायगा, परन्तु आधे से कम रहने पर कुछ नहीं जोड़ा जायगा।

निम्नलिखित उदाहरण से यह फॉर्मूला भी स्पष्ट हो जायगा—

ऊपर हमने देखा कि बिहार-राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को राष्ट्रपति के चुनाव में १२२ वोट देने का अधिकार मिला था। बिहार-राज्य की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या ३१८ है। अतः, बिहार राज्य की विधान सभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की मतसंख्या = ३१८ × १२२ = ३८,७९६। इसी प्रकार अन्य राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की मत संख्या निकाल ली जायगी और सबको एक साथ जोड़ दिया जायगा। सन् १९५२ ई० के राष्ट्रपति पद के चुनाव में सभी राज्यों की विधान सभाओं के कुल निर्वाचित सदस्यों की मत संख्या का योगफल ३ ४५,२५१ हुआ था।

इस प्रकार, सभी राज्यों की विधान सभाओं के सभी निर्वाचित सदस्यों के मतों का योगफल निकालकर उस योगफल को भारतीय संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देंगे। सन् १९५२ ई० के राष्ट्रपति-पद के चुनाव के समय भारतीय संसद् के दोनों सदनों के सभी निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या ६९९ (लोक सभा ४९५ और राज्य-सभा २०४ थी। अतः ३,४५,२५१ को ६९९ से भाग दिया $= \frac{३४५२५१}{६९९} = ४९३ \frac{६४४}{६९९}$। चूँकि, शेष, ६४४ भाजक ६९९ के आधे से अधिक है, अतएव ४९३ में एक जोड़ दिया गया = ४९४। इस प्रकार, सन् १९५२ ई० में हुए राष्ट्रपति के चुनाव में, भारतीय संसद् के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को कुल मिलाकर ४९४ वोट देने का अधिकार दिया गया।

इस प्रकार, संसद् के सभी सदस्यों के मतों का योगफल ६९९ × ४९४ = ३,४५ ३०६ आया। इस मत संख्या को सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के मतों के योगफल ३,४५,२५१ में जोड़ देने से, राष्ट्रपति के चुनाव के निमित्त बनाये गये निर्वाचक मंडल के दोनों प्रकार के सदस्यों के कुल मतों का योगफल हुआ ३,४५,३०६ + ३,४५,२५१ = ६ ९०,५५७।

सन् १९५२ ई० में हुए राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मंडल के कुछ सदस्यों ने भाग नहीं लिया, अतएव इस चुनाव में ६,९०,५५७ में सिर्फ ६ ०५,३८६ मत दिये गये।

उपर्युक्त दोनों फॉर्मूला या सूत्रों के अलावा राष्ट्रपति का निर्वाचन गुप्त शलाका (Secret Ballot) द्वारा, अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation) के अनुसार एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable Vote System) के द्वारा किया जायगा, जिससे कोई ऐसा व्यक्ति राष्ट्रपति नहीं निर्वाचित हो सके जिसमे मतदाताओं की बहुसंख्या का विश्वास और समर्थन प्राप्त न हो। राष्ट्रपति के निर्वाचन की यह पद्धति कठिन है, इसलिए एक

उदाहरण द्वारा इसे समझ लेना ठीक होगा। मान लीजिए कि हमारे राष्ट्रपति के चुनाव में तीन उम्मीदवार खड़े हैं और मतदाताओं की संख्या १०० है। एकल संक्रमणीय मत-पद्धति के आधार पर प्रत्येक मतदाता को अपनी पहली, दूसरी और तीसरी पसन्द लिखने का अधिकार होता है। चुनाव समाप्त होने पर यदि किसी एक उम्मीदवार को कुल मतसंख्या के आधे से १ अधिक (यानी १०० ÷ २ = ५० + १ = ५१, वोट मिल गया तो वह निर्वाचित घोषित कर दिया जायगा। परन्तु यदि किसी उम्मीदवार को कुल मतसंख्या के आधे से १ अधिक वोट अर्थात् ५१ वोट नहीं आया तो वैसी अवस्था में जिस उम्मीदवार को सबसे कम वोट आया रहेगा, उसे रद्द कर दिया जायगा और उसकी पहली पसन्द (First preference) के वोट को दूसरी पसन्द के अनुसार शेष उम्मीदवारों में बाँट दिया जायगा

मान लीजिए कि चुनाव के बाद पाया गया कि तीनों उम्मीदवारों को पहली पसन्द के मत इस प्रकार मिले—

क — ४३
ख — ४२
ग — १५
———
१००

ऊपर बताये गये नियम के अनुसार उम्मीदवार 'ग' को रद्द कर दिया गया और देखा गया कि उसको जिन १५ मतदाताओं ने पहली पसन्द के वोट दिये, उन लोगों ने अपनी अपनी दूसरी पसन्द के वोट किसको दिये थे। इस जाँच में यह निकला कि उम्मीदवार 'क' को कुल ५ दूसरी पसन्द मिले तथा 'ख' को १०। इस बाँट का परिणाम हुआ—

क ४३ + ५ = ४८
ख ४२ + १० = ५२

उम्मीदवार 'ख' निर्वाचित घोषित किया जायगा, क्योंकि उसे ५१ से अधिक वोट मिल गये।

उदाहरणार्थ, १९५२ के चुनाव में जबतक किसी उम्मीदवार को ३,०२,६६४ वोट नहीं प्राप्त होता, वह निर्वाचित नहीं हो सकता था। इस प्रणाली को नहीं अपनाकर यदि राष्ट्रपति के निर्वाचन का फल मतों की साधारण गणना या साधारण बहुमत (Ordinary or Simple Majority) से निर्धारित होता, तो कोई उम्मीदवार, जिसे सबसे अधिक मत प्राप्त होता, निर्वाचित हो जाता। ऐसी दशा में निर्वाचित होने के लिए कुल मतों का बहुमत, यानी कम-से कम ३,०२,६६४ वोट पाना जरूरी नहीं होता।

भारत के राष्ट्रपति के गत तीनों चुनावों (१९५२, १९५७ तथा १९६२ ई०) में इस प्रणाली में कोई पेचीदगी उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि प्रथम दोनों बार हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद को तथा तीसरी बार हमारे वर्त्तमान राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन् को इस प्रणाली द्वारा माने गये न्यूनतम कोटा (Minimum quota से बहुत अधिक मत प्राप्त हुए थे।

यदि राष्ट्रपति के चुनाव के सम्बन्ध में कोई विवाद हो, तो उसका निर्णय सुप्रीम-कोर्ट द्वारा किया जायगा।

इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति बहुत ही जटिल और पेचीदी है।

राष्ट्रपति-पद की अवधि—भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का कार्य-काल पाँच वर्ष रखा गया है। जिस दिन वह पद ग्रहण करेगा, उसके ठीक पाँच साल बाद तक वह राष्ट्रपति के पद पर कायम रहेगा। लेकिन पद-ग्रहण की तिथि से पाँच वर्ष तक की अवधि पूरी होने तक यदि नये राष्ट्रपति का चुनाव न हो जाय, तो वह उस समय तक अपने पद पर रह सकेगा, जबतक कि उसका नवीन उत्तराधिकारी पद-ग्रहण नहीं कर ले। सामान्यतः नये राष्ट्रपति का निर्वाचन पहले राष्ट्रपति की पदा-वधि की समाप्ति के पूर्व ही होगा।

राष्ट्रपति पाँच साल से पहले भी अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है। वह अपना त्याग-पत्र उप-राष्ट्रपति को सम्बोधित कर और उसपर अपना हस्ताक्षर करके देगा। उप राष्ट्रपति इसकी सूचना तुरन्त लोकसभा के अध्यक्ष को देगा।

पदत्याग के अतिरिक्त राष्ट्रपति का पद अकाल मृत्यु (Sudden Death) से भी खाली हो सकता है तथा संविधान के अतिक्रमण (Violation of the Constitution) के कारण महाभियोग (Impeachment) की प्रक्रिया द्वारा भी राष्ट्रपति को अपने पद से हटाया जा सकता है।

राष्ट्रपति के पद की रिक्तता की पूर्ति—यदि कोई राष्ट्रपति त्याग-पत्र दे दे, या उसकी मृत्यु हो जाय अथवा महाभियोग के सिद्ध होने के कारण पद से हटा दिया जाय, तो नये राष्ट्रपति के पद सभालने तक उप राष्ट्रपति (Vice-President) राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। नये राष्ट्रपति का निर्वाचन, जल्द-से जल्द पद के रिक्त होने के ६ महीनों के भीतर ही होगा। इस प्रकार से निर्वाचित नया राष्ट्रपति, पुराने राष्ट्रपति की पदावधि के सिर्फ बाकी समय के लिए ही निर्वाचित नहीं होगा, वरन् वह भी अपने पद ग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष तक राष्ट्रपति के पद पर कायम रहेगा। यदि राष्ट्रपति अनुपस्थित हो या बीमारी के कारण अपने कार्यों के सम्पादन में असमर्थ हो, तो उन्हें उप राष्ट्रपति पूरा करेगा।

महाभियोग (Impeachment)— पद ग्रहण की तिथि से पाँच वर्ष के कार्य-काल के अन्दर भी महाभियोग के द्वारा राष्ट्रपति को पदच्युत किया जा सकता है। संविधान की धारा ५६ के अनुसार, यदि राष्ट्रपति संविधान के विरुद्ध आचरण करे, अर्थात् संविधान का अतिक्रमण करे, तो महाभियोग द्वारा उसे हटाया जा सकता है। धारा ६१ के अनुसार महाभियोग की प्रक्रिया निम्नलिखित होगी—

भारतीय संसद् के दोनों सदनों में से किसी भी सदन में राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव उपस्थित किया जा सकता है। महाभियोग के प्रस्ताव पर, उपस्थित किये जानेवाले सदन के कम से-कम एक चौथाई सदस्यों का हस्ताक्षर होना चाहिए।

जिस दिन संसद् के जिस सदन में महाभियोग का प्रस्ताव विचारार्थ उपस्थित करना हो उसकी लिखित सूचना कम-से-कम चौदह दिन पूर्व मिलनी चाहिए।

इस प्रकार से उपस्थित किया गया महाभियोग का प्रस्ताव यदि संसद् के उस सदन की कुल संख्या कम से कम दो-तिहाई सदस्यों के द्वारा पास कर दिया जाय, तो वह प्रस्ताव संसद् के दूसरे सदन में जाँच पड़ताल के लिए भेजा जायगा।

दूसरा सदन इस आरोप की जाँच पड़ताल स्वयं करेगा या करवायगा। आरोप के अनुसंधान या जाँच पड़ताल के समय राष्ट्रपति को अपनी रक्षा के लिए स्वयं उपस्थित होने या किसी प्रतिनिधि को भेजने का अधिकार प्राप्त है। इस जाँच-पड़ताल के फलस्वरूप यदि दूसरे सदन की कुल संख्या के कम से कम दो तिहाई सदस्य महाभियोग को स्वीकार कर लेंगे, अर्थात् आरोप को सही मान लें, तो महाभियोग के प्रस्ताव को सही तथा स्वीकृत माना जायगा और उसी तिथि से राष्ट्रपति अपने पद से अपदस्थ हो जायगा। स्मरण रहे कि महाभियोग सम्बन्धी संसद् के निर्णय की अपील किसी न्यायालय में नहीं होगी। अर्थात् इस संबंध में संसद् को सर्वोच्चता प्राप्त है।

यदि संसद् का एक सदन महाभियोग के प्रस्ताव को पास कर दे, लेकिन दूसरा सदन नहीं माने, वैसी दशा में क्या होगा? इसपर संविधान मौन है। संविधान विधायकों का दावा है कि ऐसी दशा में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक होगी, जिसका सभापतित्व लोकसभा का अध्यक्ष करेगा और उस बैठक की बहुमत संख्या का जो मत होगा, वही माना जायगा। अर्थात् एक साधारण विधेयक (Ordinary Bill) पर संसद् के दोनों सदनों के बीच पैदा होनेवाले गतिरोध (Deadlock) को जिस तरीके से दूर करने की व्यवस्था संविधान में की गई है, उसी प्रक्रिया से राष्ट्रपति के विरुद्ध लाये गये महाभियोग के प्रस्ताव के सम्बन्ध में संसद् के दोनों सदनों के बीच उत्पन्न गतिरोध को भी दूर किया जायगा।

राष्ट्रपति का वेतन, भत्ता आदि - संविधान के अनुसार भारत के राष्ट्रपति का वेतन १० (दस) हजार रुपये प्रति माह नियत किया गया है।[1] इसके अलावा उनको निवास के लिए बिना किराये का एक भवन भी दिया जायगा। दिल्ली के उस भवन को, जिसमें राष्ट्रपति रहते हैं, 'राष्ट्रपति भवन' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को अनेक भत्ते भी मिलते हैं, जो अँगरेजी राज्य के दिनों में गवर्नर जेनरल को मिला करते थे। सघीय संसद् को राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते आदि को घटाने बढाने का अधिकार है, लेकिन एक राष्ट्रपति के कार्य-काल की अवधि में पहले की दर में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकेगी। अवकाश प्राप्त राष्ट्रपति को १५,००० रु० सालाना पेंशन तथा १२००० रु० सालाना सचिवालय के खर्च के लिए मिलेगा। साथ ही उसके लिए मुफ्त चिकित्सा की भी व्यवस्था है। ये सारी सुविधाएँ अवकाश प्राप्त प्रथम भारतीय गवर्नर जेनरल श्रीराजगोपालाचारी को भी प्राप्त हैं।

राष्ट्रपति द्वारा शपथ—प्रत्येक राष्ट्रपति या राष्ट्रपति के रूप में काम करनेवाला व्यक्ति भारत के सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के मुख्य न्यायाधीश (Chief justice) के सामने शपथ ग्रहण करेगा तथा एक प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करेगा।

इस शपथ की शर्तों में संविधान और कानून की रक्षा के अतिरिक्त भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहना भी शामिल रहता है। लेकिन, ये उसके नैतिक कर्त्तव्य हैं। इनके फलस्वरूप न तो राष्ट्रपति को कोई कानूनी अधिकार प्राप्त होता है और न उसपर किसी प्रकार की कानूनी जिम्मेवारी ही आती है।

राष्ट्रपति के अधिकार और कार्य- भारतीय शासन-व्यवस्था में राष्ट्रपति का अपना एक विशिष्ट स्थान है। भारतीय गणराज्य का प्रधान होने के नाते वह देश का सर्वश्रेष्ठ सम्मान-प्राप्त एवं सर्वोपरि नागरिक होता है। सविधान के

---

१. - भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने स्वेच्छा से इस रकम में कमी कर, १ अगस्त १९६० से, सिर्फ २५००) रुपये मासिक लेना स्वीकार किया था। उन्होंने सन् १९५२ ई० से ही ४०००, रुपये कम, अर्थात् केवल ६०००), लेना शुरू किया था और १९५५ ई० में १०००) रुपये और कम कर दिया था। अर्थात् १९५५ से जुलाई १९६० तक वे सिर्फ ५०००) रुपये मासिक लेते थे।

वर्त्तमान राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन् ने भी २५००) रुपए मासिक ही लेना स्वीकार किया है।

अनुसार वह संघीय कार्यपालिका का भी प्रधान होता है और राज्य की समस्त कार्यकारिणी शक्तियाँ उसी में निहित हैं, जिनका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा। संविधान द्वारा राष्ट्रपति को विभिन्न प्रकार के कार्यों के सम्पादन का उत्तरदायित्व दिया गया है और इन कृत्यों के सफल सम्पादन के हेतु राष्ट्रपति को अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण और व्यापक अधिकार भी प्रदान किये गये हैं।

राष्ट्रपति अपने अधिकार तथा कार्य के लिए किसी न्यायालय के सामने उत्तरदायी नहीं है। राष्ट्रपति के विरुद्ध न फौजदारी मामला चलाया जा सकता है और न उसे गिरफ्तार किया जा सकता है। व्यक्तिगत कार्य के लिए उसके विरुद्ध दीवानी मुकदमा चलाया जा सकता है किन्तु इसके लिए उसे कम से कम दो महीनों की लिखित सूचना देनी होगी।

अध्ययन की सुविधा के लिए हम राष्ट्रपति के विभिन्न अधिकारों और कार्यों को पहले दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं—

(१) साधारणकालीन अधिकार (Normal Powers),

(२) संकटकालीन अधिकार (Emergency Powers)।

राष्ट्रपति के साधारणकालीन अधिकार

(Normal Powers of the President)

भारतीय राष्ट्रपति के साधारणकालीन अधिकार वे हैं, जिनका प्रयोग वह देश की सामान्य परिस्थितियों में अपने प्रतिदिन के प्रशासनिक (Administrative) कार्यों एवं समस्याओं के निदान में करता है। इस श्रेणी के अधीनस्थ अधिकारों को हम पुनः चार वर्गों में बाँट सकते हैं—(क) कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार (Executive powers), (ख) व्यवस्थापिका-सम्बन्धी अधिकार (Legislative Powers), (ग) न्याय सम्बन्धी अधिकार (Judicial Powers), और (घ) वित्तीय अधिकार (Financial Powers)। इन अधिकारों का हम क्रमशः अध्ययन करेंगे।

(क) कार्यपालिका-सम्बन्धी अधिकार (Executive Powers)—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति भारतीय संघ-शासन का प्रधान कार्यपालक है। संघ सरकार की समस्त कार्यपालिका-शक्ति (Executive Powers) उसी को प्रदान की गई है। इस नाते राष्ट्रपति के अधिकार और कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत वे सभी विषय आ जाते हैं, जिनपर भारतीय संसद् को कानून बनाने का अधिकार है।

किसी सन्धि या समझौते के फलस्वरूप भारत सरकार को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे भी उसके अधिकार और कार्य के क्षेत्र में सम्मिलित हैं। भारत-सरकार के सभी कार्यकारिणी कृत्य (Executive functions) राष्ट्रपति के नाम से ही किये जायेंगे तथा सरकार के निमित्त बनाये गये सभी करार और सम्पत्ति-आश्वासन उसके नाम पर ही बनाये जाने चाहिए। संघ के सभी अधिकारी उसके अधीनस्थ होंगे और संघीय शासन से सम्बन्धित सभी मामलों के विषय में सूचना और जानकारी पाते रहने का उसे अधिकार है।

राष्ट्रपति भारतीय जल, स्थल और वायु प्रतिरक्षा-सेना (Defence Forces) का प्रधान है। सेना के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति उसी के द्वारा होती है। इस प्रकार देश की सैनिक शक्ति का सर्वोच्च नायक (Supreme Commander) होने के नाते वह युद्ध की घोषणा कर सकता है, युद्ध स्थगित कर सकता है और सन्धि कर सकता है। इसी अधिकार के आधार पर राष्ट्रपति ने, जनवरी, १९५० में, जर्मनी और भारत के बीच युद्ध की अवस्था (जो द्वितीय विश्व युद्ध के कारण हुई थी) के खत्म होने की घोषणा की थी।

अन्तरराष्ट्रीय जगत् तथा वैदेशिक कार्यों में राष्ट्र का प्रतिनिधित्व भी राष्ट्रपति ही करता है। विदेशी राज्यों में भेजे जानेवाले भारतीय राजदूतों, वाणिज्य दूतों (Consuls), राजनयिक प्रतिनिधियों (Diplomatic Representatives) इत्यादि की बहाली उसी के द्वारा होती है। विदेश जानेवाले भारतीय नागरिकों को पासपोर्ट (Passport) उसी के नाम दिये जाते हैं। भारत के लिए विदेशी राज्यों द्वारा नियुक्त राजदूत राष्ट्रपति को अपना प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करेंगे और हमारे देश में आने पर उनका स्वागत भी राष्ट्रपति ही करेंगे।

संविधान के अनुसार 'राष्ट्रपति को अपने कार्यों में सहायता और परामर्श देने के लिए, एक मन्त्रिपरिषद् (Council of Ministers) होगी, जिसका मुखिया प्रधान मन्त्री होगा।' राष्ट्रपति पहले प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करता है और फिर प्रधान मन्त्री के परामर्श से मन्त्रिपरिषद् के अन्य मन्त्रियों की। मन्त्रियों का कार्यकाल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है। देश का शासन सुचारु रूप से चलाने के लिए राष्ट्रपति संघीय सरकार की कार्य-विधि (Business) के बारे में नियम बनायेगा। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के बीच कार्य का बँटवारा भी वही करता है कि कौन मन्त्री कौन सा कार्य करेगा।

संघीय शासन के सम्बन्ध में बनाये जानेवाले कानूनों तथा लिये गये सभी निर्णयों के विवरण प्रधान मन्त्री द्वारा राष्ट्रपति को भेजे जायेंगे। राष्ट्रपति को मन्त्रि-

परिषद् से सूचना प्राप्त करने का अधिकार है और प्रधान मन्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् के सभी निर्णयों और प्रशासन-सम्बन्धी उन सभी मामलों के विषय मे सूचना दे, जिनके बारे में राष्ट्रपति ऐसी सूचना मांगे। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री से किसी खास मन्त्री द्वारा लिये गये अपने विभाग सम्बन्धी किसी निर्णय की, सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् के सामने विचार के लिए, अपेक्षा कर सकता है।

प्रधान मंत्री और मन्त्रिपरिषद् के दूसरे सदस्यों के अलावा राज्य के बहुत से प्रमुख और उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति और पदच्युति (Appointment and Dismissal) राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है। राज्यपालों (Governors), भारत के महान्यायवादी (Attorney-General of India), महानियंत्रक और महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India), सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधिपति और न्यायाधीशों (Chief Justice and other Judges of Supreme Court and the High Courts), संघीय लोकसेवा आयोग (Union Public Service Commission) के अध्यक्ष और सदस्यों, चुनाव-कमीशन के अध्यक्ष और सदस्यों, केन्द्रीय प्रशासित इलाकों और संघीय क्षेत्रों (Centrally administered areas or Union Territories) के लिए चीफ कमिश्नरों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों की उन्नति के लिए स्पेशल ऑफिसर आदि महत्वपूर्ण राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति उसी के द्वारा की जाती है। उपर्युक्त उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त वित्त आयोग (Finance Commission), भाषा-आयोग, पिछड़े हुए वर्गों के लिए आयोग और आवश्यकता पड़ने पर अन्तरराज्य परिषद् आदि की नियुक्ति के अधिकार भी राष्ट्रपति को ही दिये गये हैं। संविधान सप्तम संशोधन के अनुसार अल्प भाषा भाषियों के विशेष अधिकारी की नियुक्ति करने का अधिकार भी उसी को दिया गया है।

इस प्रकार से नियुक्त अधिकारियों में से सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, निर्वाचन-आयोग के सदस्यों और भारत के नियन्त्रक एवं महालेखा-परीक्षक को छोड़कर अन्य अधिकारी अपने पदों पर राष्ट्रपति के प्रसाद-काल (During the Pleasure) तक ही कायम रह सकते हैं। मंत्रियों को भी राष्ट्रपति अपनी इच्छा से नहीं, वरन् प्रधान मन्त्री के परामर्श से ही पदच्युत करेगा; क्योंकि उनकी नियुक्ति भी प्रधान मन्त्री की सलाह से ही की जाती है।

सघीय सरकार के अलावा राज्य सरकारों के सम्बन्ध में निर्देशन, नियन्त्रण और समन्वय के अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त हैं।

भारत का राष्ट्रपति अपनी उपर्युक्त कार्यकारिणी शक्तियों का प्रयोग स्वेच्छा-पूर्वक करेगा या मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के ही अनुसार, अर्थात् मन्त्रिपरिषद् के परामर्श को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य या विवश है या नहीं, इसकी थोड़ी चर्चा पहले की जा चुकी है और आगे चलकर अधिक की जायगी। यहाँ पर यह दुहरा देना अनावश्यक नहीं होगा कि भारत का राष्ट्रपति शासन का वास्तविक प्रधान न होकर सवैधानिक प्रधान मात्र है। कार्यपालिका के सारे कार्य सिर्फ औपचारिक रूप में ही उसके नाम से किये जाते हैं। यथार्थतः, उन सभी शक्तियों का वास्तविक प्रयोग वस्तुतः मन्त्रिपरिषद् ही करती है।

(ख) व्यवस्थापिका-सम्बन्धी अधिकार **(Legislative Powers)**—भारत के राष्ट्रपति को बहुत सी विधायिनी (Legislative) शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। यद्यपि राष्ट्रपति भारतीय ससद् के किसी भी सदन का न तो सदस्य हो सकता है और न उसकी कार्यवाही में भाग ही ले सकता है, फिर भी वह ससद् का एक आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग होता है। संविधान की ७९वीं धारा के अनुसार सघीय ससद् के निर्माण में दो सदनों, लोक-सभा और राज्य सभा, के अलावा राष्ट्रपति भी सम्मिलित होता है। इन तीनों के सहयोग से ही कोई विधेयक कानून का रूप ग्रहण करता है।

ससद् के दोनों सदनों के सगठन में भी राष्ट्रपति का हाथ रहता है। राज्य सभा के १२ सदस्य उसके द्वारा (ऐसे व्यक्तियों में से जिन्होंने साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा में पारंगामिता या विशेष प्रसिद्धि प्राप्त कर ली है) मनोनीत किये जाते हैं। यदि ऐंग्लो इण्डियन समुदाय को निर्वाचन में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त न हुआ हो, तो राष्ट्रपति दो ऐंग्लो-इण्डियनों को लोक-सभा का सदस्य मनोनीत कर सकता है। लोक-सभा में अण्डमन-निकोबार और लक्कादीव, मिनिकोय अमीनदीवी के सघ-क्षेत्रों के लिए और आसाम की जनजाति के लिए प्रतिनिधियों का मनोनयन (Nomination) उसी के द्वारा होता है। संसद् की सभाओं के अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) का पद यदि खाली हो जाय तो राष्ट्रपति उन रिक्त पदों पर नियुक्ति करता है।

ससद् की दोनों सभाओं को वह एक साल में कम से कम दो बार अधिवेशन करने का आदेश देता है। उनकी बैठकों का समय और स्थान वही निश्चित करता है। वह संसद् की दोनों सभाओं को स्थगित (Prorogue) कर सकता है

और लोक सभा[१] को विघटित, अर्थात् भंग कर सकता है। उसे संसद् के किसी एक सदन या दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में अभिभाषण देने का अधिकार है। प्रत्येक आम चुनाव के बाद तथा प्रत्येक वर्ष संसद् के सत्रारम्भ (Beginning of the Session) में राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में अभिभाषण देता है, जिसमें सरकार की नीतियों का उल्लेख रहता है। अन्य अवसरों पर दोनों या किसी भी सदन को संदेश (Messages) भेज सकने के अलावा वह उनकी बैठकों में भी भाषण दे सकता है। राष्ट्रपति द्वारा भेजे गये संदेशों पर संसद् के सदनों को शीघ्रता से विचार करना होगा।

संसद् के दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ उसके सम्मुख रखा जाता है और कोई भी बिल बिना उसकी स्वीकृति या अनुमति (Assent) के कानून नहीं बन सकता है। उसको अधिकार है कि संसद् द्वारा पारित किसी भी बिल पर, धन-विधेयकों (Money Bills) को छोड़कर, अपनी स्वीकृति देने से अस्वीकार कर दे और उसे अपनी सिफारिशों यानी संशोधन के प्रस्ताव के साथ संसद् के पास फिर से विचार करने के लिए लौटा दे। परन्तु ऐसा बिल या विधेयक यदि संसद् के दोनों सदनों द्वारा, संशोधित होकर या बिना संशोधित हुए, पुनः पारित होकर राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाय, तो उसे इस बार अपनी स्वीकृति देनी ही होगी। इस प्रकार उसको 'पूर्ण निषेधाधिकार' (Absolute Veto Power) नहीं है, वह तो केवल किसी विधेयक के पास होने में सिर्फ देर कर सकता है। इसे हम राष्ट्रपति का 'निलम्बन निषेधाधिकार' (Suspensive Veto Power) कह सकते हैं।

कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों—जैसे, सभी प्रकार के धन-विधेयक तथा अर्थ-विधेयक या राज्यों की सीमा या नाम-परिवर्त्तन सम्बन्धी विधेयक—को बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के संसद् में पेश नहीं किया जा सकता है। कुछ प्रकार के बिल ऐसे हैं, जिन्हें राष्ट्रपति की पूर्व-अनुमति के बिना संसद् में पेश तो किया जा सकता है, पर उन्हें संसद् तभी स्वीकार करेगा, जबकि राष्ट्रपति उनके लिए सिफारिश कर दे। जैसे यदि किसी बिल के स्वीकृत हो जाने से भारत के संचित फंड (Consolidated Fund) से धनराशि के खर्च करने की आवश्यकता हो, तो उसकी स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश अनिवार्य होगी। किसी विधेयक पर दोनों सदनों

---

१. स्मरण रहे कि संसद् की ऊपरी सभा यानी राज्य-सभा एक स्थायी सभा होती है और उसे राष्ट्रपति कभी (संकट काल की घोषणा होने पर भी) भंग नहीं कर सकता है।

के बीच मतभेद या गतिरोध उत्पन्न होने की दशा मे राष्ट्रपति उनकी संयुक्त बैठक भी बुला सकता है।

संसद् के विराम-काल (Recess) में राष्ट्रपति को अध्यादेश (Ordinances) जारी कर सकने का अधिकार है। इस तरह के आर्डिनेन्सों का वही स्थिति होगी, जो कि भारतीय संसद् द्वारा स्वीकृत कानूनों की होती है। साथ ही, ये आर्डिनेन्स उन सब विषयों के सम्बन्ध मे हो सकते हैं, जिनपर संसद को कानून बनाने का अधिकार है। इन आर्डिनेन्सों को वापस ले सकने का भी अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अण्डमन और निकोबार-द्वीपसमूहों के प्रशासन के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को विनियम (Regulation) जारी करने की शक्ति भी प्राप्त है। ये विनियम भी संसद् द्वारा पास किये गये कानूनों के ही समान लागू होंगे।

भारत संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों को विधि निर्माण सम्बन्धी जो शक्तियाँ प्राप्त हैं, उनके सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को अनेक विधि-अधिकार दिये गये हैं। कुछ प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति को पूर्व-स्वीकृति के पश्चात् ही राज्यों के विधान-मंडलों में पेश किये जा सकते हैं। जैसे, कोई भी ऐसा विधेयक, जिसका उद्देश्य व्यापार-वाणिज्य अथवा अन्तर-राज्य सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लगाना हो। इसके अलावा, राज्यों के विधान मंडलों द्वारा पास किये गये कुछ प्रकार के विधेयकों को राज्यपाल राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर सकता है और वैसे विधेयकों को राष्ट्रपति स्वीकार कर सकता है, अस्वीकार कर सकता है या राज्यपाल के जरिये विधान-मंडल के पास पुन विचारार्थ वापस कर सकता है। राज्यों के विधान-मंडलों द्वारा पारित ऐसे विधेयक, जिनका सम्बन्ध राज्यों द्वारा नागरिकों की सम्पत्ति को बाध्य रूप से अर्जित या अधिकृत करना हो या समवर्त्ती सूची में वर्णित विषयों से हो, लेकिन किसी संघीय कानून के विरुद्ध हो, बिना राष्ट्रपति की स्वीकृति के वैध नहीं हो सकते। संकट की घोषणा होने पर तो वह राज्य के विधान-मंडलों के अधिकार अपने हाथों में लेकर संसद् को सौंप सकता है।

कुछ विशेष प्रकार की रिपोर्ट तथा विवरण, जैसे संघीय लोक सेवा आयोग की रिपोर्ट, नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक Comptroller and Auditor General) की रिपोर्ट, वित्त-आयोग (Finance Commission) की सिफारिशें इत्यादि, राष्ट्रपति संसद् में विचारार्थ रखवा सकता है।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि राष्ट्रपति को बहुत-सी विधायिनी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं।

(ग) न्याय-सम्बन्धी अधिकार (Judicial Powers)—भारत के राष्ट्रपति को कुछ महत्वपूर्ण न्याय सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। सुप्रीम कोर्ट और राज्यों के हाईकोर्टों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ही की जाती है।

राज्यों के हाईकोर्टों के न्यायधीशों की संख्या निर्धारित करने तथा सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की बदली करने का अधिकार राष्ट्रपति को है। संसद् के दोनों सदनों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को पदच्युत करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। सुप्रीम कोर्ट अपने कार्य के लिए जिन नियमों और प्रक्रियाओं का निर्धारण करे, उनका राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत होना भी आवश्यक है।

संविधान की ७२वीं धारा के अनुसार राष्ट्रपति को राज्य के प्रमुख के रूप में यह अधिकार है कि वह किसी दण्डित व्यक्ति को क्षमा प्रदान करे।" निम्नलिखित बातों में राष्ट्रपति दण्डित व्यक्ति को क्षमा (Pardon) कर सकता है, दण्ड को रोक (Reprieve) सकता है, हल्का (Respite) कर सकता है, कम (Remit) कर सकता है, या दूसरे दण्ड में परिणत (Commute) कर सकता है—

(क) जबकि कोर्ट मार्शल (सैनिक न्यायालय) द्वारा किसी व्यक्ति को दण्ड दिया गया हो,

(ख) जबकि किसी ऐसे कानून के अधीन अपराध के लिए दण्ड दिया गया हो, जिसके लिए कानून बनाने की शक्ति भारतीय संसद् को है, या जिसका सम्बन्ध भारत-संघ के कार्यपालिका-विभाग के क्षेत्र से है;

(ग) जबकि किसी व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड दिया गया हो।

(घ) वित्तीय अधिकार (Financial Powers)—राष्ट्रपति को वित्तीय क्षेत्र में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त है। कोई भी धन विधेयक बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के संसद् में पेश नहीं किया जा सकता। प्रत्येक वित्तीय वर्ष (Financial year) के आरम्भ होने के पूर्व, अर्थात् पहली अप्रैल से पूर्व, वित्त-मन्त्री द्वारा उस वर्ष के अनुमानित आय-व्यय का विवरण (Budget or Financial Statement) राष्ट्रपति ही संसद् के सम्मुख रखवाता है। समय-समय पर राज्यों और संघ के वित्तीय सम्बन्धों को निश्चित करने के लिए वह वित्तायोग (Finance Commission) की नियुक्ति भी कर सकता है। संसद् में किसी भी मद के धन की माँग (Demands for Grants) राष्ट्रपति की सिफारिश पर ही की जा सकती है।

भारत की आकस्मिक निधि (Contingency Fund) पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है और वह संसद् की स्वीकृति के बिना इसमें से अचानक आ

चूँकि हमारा संविधान विश्व के अन्य प्रमुख संघीय संविधानों से भिन्न है और किसी से पूरा-पूरा नहीं मिलता है, इसलिए यह एक संघात्मक संविधान नहीं है—इस दलील का कोई महत्व नहीं है।

निष्कर्षः—भारतीय संघ एक स्वयंभू संघ (Suigeneris Federation) है, जिसकी पूरी तथा ठीक-ठीक तुलना दुनिया में साधारणतः पाये जानेवाले अन्य किसी भी सामान्य संघात्मक संविधान से नहीं हो सकती है। इस संबंध में, अधिक-से-अधिक, श्रीदुर्गादास बसु के इस मत को स्वीकार किया जा सकता है कि "भारतीय संविधान न तो पूर्णतः संघात्मक है न पूर्णतः एकात्मक। दोनों तत्वों के सम्बन्ध से यह एक नये प्रकार का संघ या मिश्रित राज्य बन गया है।"[१] श्री एस० एन० मुखर्जी ने भी ठीक ही कहा है कि "भारतीय संविधान एक लचीले संघ (Flexible Federation) का निर्माण करता है।"

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि साधारण समय एवं सामान्य परिस्थितियों में भारतीय संघ अन्य संघ-राज्यों की तरह ही संचालित होगा। युद्ध तथा अन्य संकटकालीन परिस्थितियों में यह एक एकात्मक रूप ले सकता है।[2] अतएव, हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान अपने स्वरूप और भावना में संघात्मक है; क्योंकि इसमें संघात्मक संविधान की सभी आवश्यक विशेषताएँ विद्यमान हैं।[3] यह एक Typical संघ नहीं, वरन् एक Sui generis संघात्मक राज्य है।

भारतीय संघ संविधान के निर्माण-काल की विशेष परिस्थितियों और समस्याओं द्वारा दी गई चुनौती का समुचित उत्तर देनेवाला एक अनूठा संघ है।

---

१. "In fine, it may be said, that the constitution of India is neither purely federal nor unitary but is a combination of both, it is a Federation or Composite state of a novel type."

—*D. D. Basu* : 'The Constitution of India'

२. "The Constitution of India is designed to work as a federal system in normal times and as a unitary system in war and other emergencies". —*Krishnamachari*

३. "True, the sphere of Central Government is made exceptionally wide, but it only means that India has a federal form of Government with an exceptionally strong centre, particularly in times of emergencies and crises". —*Palande*

किये गये थे। इसी विचारधारा या परम्परा के अनुसार हमारे संविधान के १८वें भाग में राष्ट्रपति को संकटकाल में उत्पन्न कठिनाइयों का सामना करने के लिए अत्यन्त ही व्यापक एव महत्वपूर्ण संकटकालीन अधिकार प्रदान किये गये हैं।

हमारे संविधान-निर्माताओं ने निम्नलिखित तीन प्रकार के संकटों की कल्पना की थी—

(क) युद्ध, बाहरी आक्रमण आन्तरिक अशान्ति या इसकी सम्भावना से उत्पन्न संकट (Emergency due to war, external aggression or internal disturbance or the threat thereof);

(ख) राज्यों के संवैधानिक शासन तन्त्र के विफल हो जाने से उत्पन्न संकट (Emergencies arising from the failure of Constitutional machinery in States), और

(ग) वित्तीय संकट (Financial Emergency)।

इन तीनों की चर्चा हम अलग अलग करेंगे—

(क) युद्ध, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक अशान्ति या इसकी सभावना से उत्पन्न संकट (Emergeney due to war, external aggression or internal disturbance or the threat thereof)—इस प्रकार के संकट या आपात (Emergency) की उद्घोषणा राष्ट्रपति द्वारा तब की जा सकती है, जब उसे इस बात का संतोषण (Satisfaction) हो जाय कि युद्ध, बाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा या निश्शंकता (Safety) संकट में है। यह आवश्यक नहीं कि उपर्युक्त घटनाएँ वास्तविक रूप से शुरू हो जाने पर ही इस प्रकार की घोषणा की जाय। इस आशय की घोषणा राष्ट्रपति उस दशा में भी कर सकता है जब उसे केवल इसकी आशंका हो जाय कि ऐसा संकट उपर्युक्त कारणों से निकट भविष्य में पैदा हो सकता है। अर्थात् केवल सभावना के संतोषण से भी इस प्रकार के संकट की घोषणा राष्ट्रपति के द्वारा की जा सकती है।

आपात की ऐसी उद्घोषणा को राष्ट्रपति, बाद में की गई दूसरी उद्घोषणा द्वारा, रद्द कर सकेगा।

ऐसी उद्घोषणा को संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाना चाहिए। संसद् के समर्थन के बिना इस घोषणा की अवधि केवल दो मास तक ही रह सकती है। यदि इस बीच, अर्थात् घोषणा लागू होने से दो महीनों तक, संसद् के दोनों

सदन प्रस्तावों द्वारा उसपर अपनी स्वीकृति दे दें, तो वह घोषणा दो महीने के बाद भी लागू रहेगी।

इस सम्बन्ध में ऐसा भी हो सकता है कि जिस समय यह उद्घोषणा जारी की जाय, उसके पहले ही लोक-सभा भंग या विघटित हो चुकी हो या दो महीने के अन्दर उसका विघटन हो जाय। ऐसी अवस्था में उस उद्घोषणा पर राज्य सभा की स्वीकृति प्राप्त की जायगी और नई लोक सभा के बनने पर उसकी प्रथम बैठक के ३० दिनों के अन्दर इसकी स्वीकृति ले ली जायगी, अन्यथा तीस दिनों की समाप्ति के बाद इस उद्घोषणा की भी समाप्ति हो जायगी। यदि नई लोक सभा ने स्वीकृति दे दी, तो उसकी पहली बैठक के ३० दिनों के बाद भी यह घोषणा लागू रहेगी।

उपर्युक्त उद्घोषणा के परिणाम ये होंगे—(१) सारे देश का शासन-सूत्र राष्ट्रपति के हाथ में आ जायगा। संघीय कार्यपालिका को यह शक्ति मिल जायगी कि वह राज्यों को यह निर्देश दे सके कि उसकी कार्यपालिका-शक्ति का किस तरह प्रयोग किया जाय। अर्थात्, राज्यों की कार्यपालिका भंग तो नहीं होगी, परन्तु वह पूर्णतः संघीय कार्यपालिका के नियन्त्रण में रहेगी। राज्य-कार्यपालिकाओं का भौतिक अस्तित्व तो रहेगा, लेकिन उनकी स्वायत्तता (Autonomy) और स्वतन्त्रता समाप्त हो जायगी और उनका स्वरूप एकात्म व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय अधिकारियों की भाँति हो जायगा।

(२) इस आपात-उद्घोषणा का दूसरा प्रभाव यह होगा कि संसद् को सम्पूर्ण भारत का अथवा उसके किसी भी क्षेत्र के लिए सभी विषयों, अर्थात् राज्य-सूची में वर्णित विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त होगा। यदि किसी राज्य द्वारा बनाया गया कोई कानून संसद् के विरूद्ध हो, तो उसे गैर-कानूनी घोषित किया जायगा।

इस प्रकार की उद्घोषणा जबतक लागू रहेगी, राष्ट्रपति संसद् की अवधि (जो ५ वर्ष की होती है) बढ़ा सकता है। यद्यपि संविधान ने एक बार में सिर्फ १ वर्ष की अवधि बढ़ाने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया है, फिर भी राष्ट्रपति संसद् की अवधि को इस प्रकार कितनी बार बढ़ा सकता है, इस सम्बन्ध में, उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। लेकिन किसी भी हालत में उद्घोषणा-काल की समाप्ति के बाद ६ महीने से अधिक संसद् की यह बढ़ी हुई अवधि नहीं रह सकती।

(३) इस आपात-उद्घोषणा का तीसरा प्रभाव यह होगा कि इस अवधि में संघ तथा राज्यों के बीच सरकारी आमदनी को विभाजित करने के सम्बन्ध में जो व्यवस्थाएँ हैं, उन्हे स्थगित या परिवर्त्तित कर सकने का अधिकार भी राष्ट्रपति को

होगा। लेकिन जिस वित्तीय वर्ष में उद्घोषणा-काल समाप्त होगा, उसी वर्ष राष्ट्रपति का यह आदेश भी समाप्त हो जायगा। राष्ट्रपति के ऐसे आदेश पर संसद् की स्वीकृति आवश्यक होगी।

(४) चौथा प्रभाव, संविधान की १९वीं धारा द्वारा भारत के नागरिकों को दिये गये, स्वतन्त्रता के मूल अधिकारों से सम्बन्ध रखता है। धारा ३५८ के अनुसार आपात उद्घोषणा के समय नागरिकों के निम्नलिखित मूल अधिकारों को राष्ट्रपति स्थगित कर सकता है —(क) भाषण और विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, (ख) शान्तिपूर्वक सभाएँ कर सकने और एकत्र होने की स्वतन्त्रता (ग) समुदाय बनाने की स्वतंत्रता, (घ) भारत के राज्य क्षेत्र में कहीं भी रह सकने या बस सकने की स्वतन्त्रता, (ङ) भारत के राज्य क्षेत्र में स्वेच्छापूर्वक आ जा सकने की स्वतंत्रता, (च) सम्पत्ति को अधिगत कर सकने, रख सकने और हस्तान्तरित कर सकने की स्वतंत्रता और (छ) किसी भी पेशे, धन्धे, कारोबार, व्यापार और कार्य को कर सकने की स्वतंत्रता।

इन मूल अधिकारों को स्थगित कर देने का प्रभाव यह होगा कि राज्य इन अधिकारों की उपेक्षा करनेवाला या इनके विरुद्ध जानेवाला कानून बना सकेगा।

इतना ही नहीं, संविधान की धारा ३५९ के अनुसार, नागरिकों के संवैधानिक उपचारों के मूल अधिकारों को भी राष्ट्रपति स्थगित कर सकता है। अर्थात्, राष्ट्रपति यह आज्ञा दे सकता है कि कोई भी नागरिक इस अवधि में अपने मूल अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च या उच्च-न्यायालयों की शरण नहीं ले सकता।

(५) राष्ट्रपति को संघ तथा राज्यों के बीच राजस्व-विभाजन (Revenue distribution), अर्थात् सरकारी आय के विभाजन-सम्बन्धी उपबन्धों या व्यवस्थाओं को स्थगित करने या उनमें इच्छानुसार परिवर्त्तन का अधिकार होगा।

इस प्रकार हम पाते हैं कि युद्ध, बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति की दशा में या उनकी आशंका के कारण की गई आपात उद्घोषणा का परिणाम यह होगा कि राष्ट्रपति को बहुत-से व्यापक और निरंकुश अधिकार तो प्राप्त हो ही जायँगे, साथ ही भारत का शासन संघात्मक न रहकर एकात्मक हो जायगा। राज्य-सरकारों के ऊपर संघ सरकार का कार्यपालिका, विधायिनी और वित्तीय मामलों में पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जायगा। आगे चलकर इसकी और भी अधिक चर्चा की जायगी।

(ख) राज्यों के संवैधानिक शासन-तंत्र के विफल हो जाने से उत्पन्न संकट Emergencies arising from the failure of Constitutional machinery in States)-- अगर किसी राज्य के गवर्नर, अर्थात् राज्यपाल द्वारा भेजी गई रिपोर्ट के आधार पर या अन्य स्रोत से राष्ट्रपति को यह संतोषप्रद Satisfaction) हो जाय कि वहाँ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें उस राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चल रहा हो या नहीं चलाया जा सकता हो, तो राष्ट्रपति दूसरे प्रकार के संकट की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की आपात-उद्घोषणा के प्रभावों की विवेचना के पूर्व यह स्पष्ट कर देना अनावश्यक नहीं होगा कि ऐसी घोषणा करने के लिए यह जरूरी नहीं है कि राष्ट्रपति को राज्य के प्रधान से सूचना मिले ही। वह अपने आप भी ऐसी घोषणा कर सकता है। संविधान ने राष्ट्रपति को राज्यों को कुछ आदेश देने का अधिकार दिया है। अगर किसी राज्य में राष्ट्रपति द्वारा दिये गये आदेश का पालन न हो, तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि उस राज्य में संविधान-तन्त्र विफल हो गया है और वह संकट की घोषणा कर सकता है।

इस प्रकार की आपात उद्घोषणा के निम्नलिखित प्रभाव होंगे—

(अ) राष्ट्रपति उस राज्य की कार्यपालिका-शक्ति को अपने हाथ में ले सकता है। राज्यपाल या अन्य किसी अधिकारी के सभी या कोई भी अधिकार या उस राज्य के समस्त और कतिपय कार्यों को स्वयं धारण कर सकता है।

(आ) उस राज्य के विधान-मंडल की शक्तियों के प्रयोग का अधिकार संसद् को दे सकता है। ऐसी दशा में संसद् को यह अधिकार होगा कि वह उन विधायिनी शक्तियों को चाहे तो राष्ट्रपति को हस्तान्तरित (Delegate) कर दे या उसे यह भी अधिकार दे दे कि वह उन्हें किसी भी अन्य प्राधिकारी (Authority) को, जिसे वह उपयुक्त समझे, दे दे। इन्हीं अधिकारों का प्रयोग करते हुए लोकसभा ने ३० अप्रैल, १९५३ को Patiala and East Punjab States Union Legislature (Delegation of Powers) Bill पास किया था, जिसके अनुसार उस प्रदेश की विधायिनी शक्ति राष्ट्रपति को दे दी गई थी।

(इ) उच्च न्यायालय की शक्तियों को राष्ट्रपति नहीं छीन सकेगा, वे ज्यों-की-त्यों रहेंगी। इसे छोड़कर राष्ट्रपति कोई भी ऐसी कार्रवाई कर सकता है, या प्रासंगिक और आनुषंगिक उपबन्ध (Incidental and Consequential Provision) बना सकता है, जो इस प्रकार की घोषणा के लागू करने के उद्देश्य से आवश्यक या वांछनीय हो।

(३) इस दशा में यदि लोक सभा अधिवेशन में न हो, तो राष्ट्रपति शासन का कार्य चलाने के लिए उस राज्य की संचित निधि (Consolidated Fund) में से आवश्यक व्यय करने की आज्ञा भी दे सकता है। इस प्रकार के किये गये व्ययों की स्वीकृति संसद् द्वारा मिल जानी आवश्यक है।

दूसरे प्रकार की यह आपात-उद्घोषणा दो महीने तक लागू रह सकेगी। इसे भी संसद् के दोनों सदनों के सामने रखा जायगा। यदि संसद् की स्वीकृति इसे नहीं मिली, तो लागू होने की तिथि से दो महीने से अधिक समय के लिए यह लागू नहीं रह सकती। यदि संसद् की स्वीकृति मिल गई, तो यह दो महीनों के पश्चात् भी स्वीकृति की तिथि से ६ महीने तक लागू रहेगी। संसद् इस घोषणा को एक समय में केवल छः मास तक ही लागू रहने की स्वीकृति दे सकता है। यदि इस आपात-उद्घोषणा को और अधिक समय तक लागू रखने की आवश्यकता हो तो वैसी हालत में छः महीने की समाप्ति के पहले ही अगले छः महीनों में भी लागू रहने की स्वीकृति संसद् के दोनों सदनों से प्राप्त कर ली जानी चाहिए। इस प्रकार छः-छः मास करके इस उद्घोषणा की अवधि को बार-बार बढ़ाया या दुहराया जा सकता है, लेकिन इस तरह से भी इसकी अवधि अधिक-से अधिक तीन साल तक के लिए ही बढ़ाई जा सकती है। यदि यह उद्घोषणा उस समय की जाय, जब लोक सभा विघटित हो या दो महीने की समाप्ति के पहले घोषणा के बिना स्वीकृत हुए लोक-सभा भंग कर दी गई हो तो उस दशा में वे ही व्यवस्थाएँ हैं, जो कि युद्ध, बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति के कारण की गई संकट काल की घोषणा के सम्बन्ध में हैं। दूसरी उद्घोषणा द्वारा इस प्रकार की घोषणा का अन्त अथवा उसमें कोई भी परिवर्त्तन किया जा सकता है।

वित्तीय संकट (Financial Emergency)—यदि राष्ट्रपति को इस बात का संतोषण हो जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है, जिससे भारत या उसके किसी भाग की वित्तीय स्थायित्व (Financial Stability) या साख (Credit) खतरे मे हो, तो वह वित्तीय आपात या संकट घोषित कर सकता है।

तीसरे प्रकार की इस वित्तीय आपात की घोषणा का प्रभाव यह होगा कि संघ की कार्यपालिका के अधिकार विस्तृत हो जायेंगे और इसे राज्यों के आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल जायगा। इस घोषणा के फलस्वरूप संघ की कार्यकारिणी को इस बात का अधिकार प्राप्त हो जायगा कि वह संघ के अन्तर्गत किसी राज्य के वित्त-सम्बन्धी मामलों में कतिपय निर्धारित सिद्धान्तों का अनुसरण करने के लिए आदेश दे सके। ये आदेश निम्नलिखित होंगे—

(क) किसी भी वर्ग के सरकारी कर्मचारियों के वेतन और भत्ते में कमी करने का आदेश;

(ख) राज्य के विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत सभी प्रकार के धन विधेयक (Money Bills) और वित्त-विधेयक (Finance Bills) राष्ट्रपति के पास विचारार्थ भेजे जाने का निर्देश।

वित्तीय सकट की घोषणाकी-दशा में राष्ट्रपति को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह संघ-सरकार के किन्हीं भी प्रकार के कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि में कमी कर सके। सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट के न्यायाधीशों को भी इस सम्बन्ध में अपवाद नहीं रखा गया है, अर्थात् इनके वेतन, भत्ते आदि में भी कमी की जा सकती है।

तीसरे प्रकार की इस आपात उद्घोषणा के लागू होने तथा अवधि आदि के सम्बन्ध में वही व्यवस्थाएँ हैं, जो कि पहले प्रकार के सकट के लिए है।

वित्तीय सकट-सम्बन्धी उपबन्धों पर अमेरिका के राष्ट्रीय पुनरुत्थान-अधिनियम, १९४९ (National Recovery Act) का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। दोनों में अन्तर सिर्फ इतना है कि अमेरिका में इसकी व्यवस्था कानून के द्वारा की गई है और भारत में उसे सविधान में ही लिख दिया गया है।

राष्ट्रपति के सकटकालीन अधिकारों की आलोचना— सविधान की ३५२ से ३६० धाराओं में वर्णित उपर्युक्त सकटकालीन उपबन्धोंवाले अठारहवें भाग (PART XVIII) की जितनी कड़ी आलोचना की गई है, उतनी किसी और भाग की नहीं। सविधान सभा में इन उपबन्धों पर बहस के समय मे बहुत ही उत्तेजनापूर्ण दृश्य देखने में आये। प्रोफेसर के० टी० शाह ने कहा, 'ये आपात उपबन्ध सविधान में सर्वाधिक-प्रतिगामी अध्याय का शानदार उपसहार और सर्वोच्च गौरव हैं।'[१] श्री हरि कामथ ने कहा, 'लोकतन्त्र के भवन पर यह निरकुश प्रतिगामिता की मेहराब चढी हुई है।'[२] इस प्रकार, राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों को अत्यन्त ही उग्र, व्यापक, विस्तृत और निरकुश बताया गया है।

---

१. "These emergency provisions constitute the grand finale and the crowning glory of the most reactionary chapter of the Constitution"

२. "The arch of autocratic reaction surmounts the edifiice of democracy."

राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों के सम्बन्ध में की गई आलोचनाओं को हम निम्नलिखित मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत बाँट सकते हैं—

(१) इन अधिकारों के माध्यम से राष्ट्रपति तानाशाह या अधिनायक (Dictator) बन जा सकता है।

(२) ऐसे अधिकार तो केवल निरंकुश (Totalitarian) राज्यों में ही दिये जाते हैं, प्रजातन्त्रात्मक (Democratic) राज्यों में नहीं। इनके फलस्वरूप भारतीय शासन-व्यवस्था की जनतंत्रीय आधार-शिलाएँ नष्ट हो जायेंगी।

(३) संकट-काल में संविधान का संघात्मक स्वरूप समूल रूप में नष्ट हो जायगा। ऐसे अधिकार एकात्मक संविधानों से सामञ्जस्य रखते हैं और 'संघत्व गुणों' के सर्वथा विपरीत हैं।

(४) संकट काल की दशा में संघीय कार्यपालिका एक नया 'फ्रैंकनस्टीन'[१] बन जाती है।

(५) राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार इतने 'उग्र, व्यापक और निरंकुश' हैं कि नागरिकों के मूल अधिकारों को भी निरर्थक बना सकते हैं।

इन मुख्य और महत्त्वपूर्ण आलोचनाओं की हम बारी बारी से परीक्षा करेंगे।

(१) क्या राष्ट्रपति संकट-काल अथवा आपात में डिक्टेटर बन सकता है?—आलोचकों का मत है कि संकटकालीन अधिकारों का सहारा लेकर कोई भी प्रभुता-प्रेमी और महत्वाकांक्षी (Power-loving and Ambitious) राष्ट्रपति एक अधिनायक बन सकता है। इस मत के समर्थन में सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि राष्ट्रपति केवल वास्तविक संकट आने पर ही आपातकालीन उद्घोषणा नहीं करेगा, वरन् संकट की आशंका-मात्र पर भी। इतना ही नहीं, ऐसी उद्घोषणा के लिए राष्ट्रपति का सन्तोषण-मात्र (Satisfaction) पर्याप्त है।

इस मत के समर्थकों का यह कहना है कि मन्त्रिपरिषद् या संसद् राष्ट्रपति की इस योजना को सर्वथा निरर्थक बना सकती; क्योंकि वह मन्त्रियों को पदच्युत कर देगा और लोक-सभा को विघटित कर देगा और इस प्रकार कम-से कम ६ या ८ महीनों तक तो मनमाना शासन कर ही सकेगा।

इस अवधि में राष्ट्रपति ३५८ और ३५९ धाराओं का दुरुपयोग कर नागरिकों के मूल अधिकारों को हड़प सकता है और उन्हें न्यायालयों की शरण में जाने से रोक सकता है।

इस प्रकार, संकटकाल में राष्ट्रपति समस्त कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका-सम्बन्धी अधिकारों को अपने हाथों में ले सकता है। सेना का सर्वोच्च

---

१. Frankenstein.

होने के नाते वह अपने विरुद्ध आवाज या सिर उठानेवालों को भी अपने मार्ग से हटा सकता है।

इस मत के समर्थकों का कहना है कि उनके उपर्युक्त विचार केवल काल्पनिक नहीं हैं; क्योंकि हिटलर ने तानाशाह बनने के लिए जर्मनी के वाइमर संविधान (१९१९) का उल्लंघन नहीं किया था, वरन् उसी संविधान की ४८वीं धारा (इस धारा के अनुसार जर्मनी के नागरिकों के मूल अधिकार संकट-काल में स्थगित किये जा सकते थे) का प्रयोग या दुरुपयोग किया था। आलोचकों के मतानुसार हिटलर की तरह भारत का राष्ट्रपति भी, चाहने पर, संकटकालीन अधिकारों की आड़ में सर्वोच्च शक्ति की स्थापना कर एक तानाशाह या अधिनायक बन सकता है।

ऊपर से देखने पर समालोचकों की उपर्युक्त बातें भले ही ठीक जँचें, लेकिन उनकी गहराई में जाने पर यह साफ पता चलता है कि इनमें अधिक तत्त्व नहीं है। इन आलोचकों द्वारा संविधान के अक्षरों पर अनावश्यक बल दिया गया है और संविधान की आत्मा तथा व्यावहारिकता का तिरस्कार किया गया है।

यह सच है कि सङ्कटकालीन अधिकार राष्ट्रपति को अत्यन्त ही बलशाली बना देते हैं। इस दशा में एक संसदीय शासन प्रणाली का सवैधानिक अध्यक्ष होते हुए भी वह अमेरिका सदृश अध्यक्षात्मक सरकारों के राष्ट्रपति से भी अधिक शक्तिमान् हो जाता है।

फिर भी, भारतीय राष्ट्रपति, स्वयं जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित नहीं होने के कारण, प्रधान मन्त्री और मन्त्रिपरिषद् के परामर्श की सर्वथा अवहेलना करने का दुस्साहस नहीं करेगा। संविधान में ऐसी धाराएँ हैं, जिनके अनुसार संवैधानिक आपात के समय या बाहरी आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति के समय राज्यपाल राज्य-मन्त्रिमण्डलों की मन्त्रणा की अवहेलना कर सकेगा लेकिन राष्ट्रपति द्वारा संघीय मन्त्रिमण्डल के विषय में ऐसी धाराएँ नहीं पाई जाती हैं।

इस तर्क के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि प्रधान मंत्री और मन्त्रिमंडल राष्ट्रपति के षड्यन्त्र में शामिल हो जायँ, तब तो राष्ट्रपति स्वेच्छाचारिता से काम कर सकता है। ऐसा भी संभव नहीं है, क्योंकि बिना संसद् के अनुमोदन के अधिक दिनों तक प्रशासन चलाना राष्ट्रपति के लिए, मंत्रिमंडल सहित या उसके बिना संभव नहीं है; क्योंकि संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो राष्ट्रपति को बिना संसद् की स्वीकृति के धन के विनियोग का अधिकार देता हो, इसलिए राष्ट्रपति स्वेच्छाचारितापूर्ण शासन अधिक से-अधिक वित्तीय वर्ष के

अन्त तक चला सकता है, उससे आगे प्रशासन चलाने के लिए उसे संसद् के समर्थन की आवश्यकता पड़ेगी।'

लेकिन, ऐसा भी सोचा जा सकता है कि राष्ट्रपति और मन्त्रिमंडल स्थायी रूप से आपात कायम रखें और लोक-सभा को, जब भी वह अस्तित्व में आये, हर बार भंग कर दें और इस प्रकार स्वेच्छाचारितापूर्ण शासन चलावें। डा० पायली के शब्दों में ऐसा सोचना लोकतन्त्रीय सरकारों के कार्य-संचालन को समझने की अपेक्षा लोकतन्त्र की शक्ति में बुनियादी अविश्वास से उत्पन्न काल्पनिक भय को प्रकट करता है। जिन व्यक्तियों के ऊपर संविधान को कार्यान्वित करने का दायित्व हो, यदि वे जान बूझकर उसे भंग करने का प्रयास करें, तो कोई भी संविधान ऐसी स्थिति से नहीं बच सकता। किसी भी शासन प्रणाली में उसका कोई चारा नहीं, संवैधानिक उपबंध चाहे जो हो।'

इसके अतिरिक्त हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य-सभा (भारतीय संसद् का उच्च सदन (Upper House), एक स्थायी सभा है। वह राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमंडल के सलाह से भी, विघटित नहीं की जा सकती। आपात-उद्घोषणा को दो महीने के भीतर राज्य-सभा के सामने रखना होगा और यदि राज्य-सभा उसे स्वीकार न करे, तो वह उद्घोषणा अवैध हो जायगी।

अपने संकटकालीन अधिकारों के माध्यम से दो महीनों तक बिना मन्त्रिमंडल की सहायता के भी और ६ या ८ महीनों तक मन्त्रिमंडल की सहायता से भारतीय राष्ट्रपति स्वेच्छाचारितापूर्वक शासन अवश्य कर सकता है, लेकिन इससे अधिक कदापि नहीं। इस अवधि में भी ऐसा करने का दुस्साहस वह तभी कर सकता है, जब कि भारत की जनता सर्वथा भीरु, कायर और कापुरुष हो जाय। जनमत की उपेक्षा के अतिरिक्त राष्ट्रपति को अपने विरुद्ध महाभियोग के प्रस्ताव लाये जाने का भी भय रहेगा।[१]

अतः, दावे के साथ यह कहा जा सकता है कि संकटकालीन अधिकारों का प्रयोग कर भारत का राष्ट्रपति, सदा के लिए या अधिक दिनों के लिए ही, अधिनायक या तानाशाह नहीं बन सकता है। भारत का राष्ट्रपति तानाशाह तभी

---

१ The ambition of any President is bound to be cooled on account of the sword of Damocles always hanging over his head in the shape of impeachment." —*Sethi & Mahajan.*

बन सकता है, यदि भारतीय जनता ऐसा चाहती हो। भारतीय जनता के नहीं चाहने पर राष्ट्रपति के सीजर (Caesar). जार (Tsar) या फ्यूरर (Fuhrer) बन सकने की गुंजाइश बिलकुल नहीं के बराबर है।

(२) दूसरी आलोचना यह की गई है कि संघीय कार्यपालिका को, विशेष कर राष्ट्रपति को, इस प्रकार का निरंकुश अधिकार देना देश की शासन-व्यवस्था की जनतंत्रीय आधार-शिला को नष्ट करना है। यह आशंका सर्वथा सारहीन नहीं है। फिर भी, संकट-काल का सामना करने के लिए केन्द्रीय या संघीय कार्य-पालिका को विशेष तथा असामान्य अधिकार दिये जाने की प्रथा इंगलैंड और अमेरिका सदृश प्रजातंत्रात्मक देशों में भी पाई जाती है। देश की सार्वभौमिकता सर्वोपरि है, यदि वही नष्ट हो गई तो उसके साथ प्रजातंत्रात्मक सरकार भी नष्ट हो जायगी।

(३ इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संकट-काल की उद्घोषणा होने पर हमारे संविधान का स्वरूप संघात्मक से बदलकर एकात्मक हो जायगा। इसके दौरान राज्य-सरकारों की सारी शक्तियाँ सिमटकर केन्द्रीय सरकार के हाथों में आ जाती हैं यहाँ तक कि केन्द्रीय कार्यपालिका राज्य-सरकारों को आदेश भी दे सकती है।

इस तरह की व्यवस्था संवैधानिक इतिहास में पहली बार भारतीय संविधान में ही नहीं की गई है, वरन् कमो-बेश सभी संघों के विषय में पाई जाती है। अमेरिका, अस्ट्रेलिया तथा स्विट्जरलैंड की संघीय सरकारों को संविधान की धाराओं के अनु-सार, राज्यों में आन्तरिक अशान्ति को दबाने के लिए दखल देने का अधिकार है। अमेरिका और अस्ट्रेलिया में इस तरह की दखल राज्य-सरकार की प्रार्थना पर दी जायगी, लेकिन स्विट्जरलैंड में केन्द्रीय सरकार की इच्छा से, यदि उस अशान्ति से राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा होता हो। अमेरिका में सन् १८६४ ई० में, राष्ट्रपति क्लीवलैंड ने इल्लीनोइस (Illinois) नामक राज्य में वहाँ के अधिकारियों के विरोध करने पर भी अशान्ति को दबाने के लिए सेना भेज दी थी। कनाडा में यद्यपि संवि-धान में ऐसी कोई धारा नहीं है, तथापि केन्द्रीय सरकार अवशिष्ट शक्तियों (Resi-duary Powers) के अधीन ऐसा कर सकती है।

हमारे देश के अत्यन्त ही लम्बे तथा पुराने इतिहास में यह पहला अवसर है, जबकि भारत की ३५ करोड़ जनता तथा उसके १,२००,००० वर्गमील के समस्त एवं विस्तृत क्षेत्र, एक ही संविधान के अधीन प्रजातंत्रीय शासन-प्रणाली द्वारा शासित

हों रहे हों। सदियों की अनेकानेक विविध कुर्बानियों के बाद प्राप्त किये गये इस अवसर को संघात्मकता के नाम पर फिर से खो देना कहाँ की बुद्धिमानी होती ? ठीक ही कहा गया है कि 'भारत के बुरे दिन तब आये, जब केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हो गई और सकट आने पर पूरे देश की शक्ति का एकत्रित संगठन नहीं हो सका।' अब भी हमारा राष्ट्रीय जीवन सगठित और शक्तिशाली नहीं है। अतएव भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों को देखते हुए, इस प्रकार की व्यवस्था उचित ही नहीं, आवश्यक भी थी।

डा० अम्बेदकर ने उचित ही कहा था—"इसमें कोई सन्देह नहीं कि जनता के विशाल बहुमत की राय में आपात में नागरिक की अवशिष्ट राजभक्ति केन्द्र में होनी चाहिए, न कि संघटक राज्यों में। केन्द्र ही एक सामान्य ध्येय के लिए, सारे देश के सार्वजनिक हित के लिए कार्य कर सकता है। किसी आपात में केन्द्र को कतिपय सर्वोपरि शक्तियाँ देने का यही औचित्य है।"

(४) यह भी सच ही है कि भारत की केन्द्रीय सरकार सकटकालीन उद्घोषणा के फलस्वरूप अत्यन्त ही बलशाली बन जाती है। इस दशा में उसकी 'एक नये फ्रैंकनस्टीन' से तुलना कोई अतिशयोक्ति नहीं। संविधान निर्माताओं ने देश की तत्कालीन अन्तरराष्ट्रीय तथा आन्तरिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, राष्ट्र की अखंड एकता तथा एकरूपता की सरक्षा एवं दृढ़ता के हेतु, इन अधिकारों का दिया जाना उचित समझा। इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संकटकालीन उद्घोषणा की स्वीकृति दो महीने के भीतर ससद् द्वारा आवश्यक है। साथ ही आपात की कालावधि में कार्यपालिका का असामान्य रूप में शक्तिशाली होना, भारत की ही विशेषता नहीं है, बल्कि युद्धों के दौरान अमेरिका-सदृश दुर्बल सघ तथा 'शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त' को अपनानेवाले राज्य के राष्ट्रपति की शक्तियाँ भी अपरिमित हो जाती हैं।

(५) पाँचवीं आलोचना का सम्बन्ध उन उपबन्धों से है, जिनके अनुसार आपात-काल की उद्घोषणा होने पर नागरिकों के मूल अधिकारों को स्थगित किया जा सकता है तथा न्यायालयों को उन अधिकारों को प्रवर्त्तित करने से रोका जा सकता है। इसमें कोई सदेह नहीं कि सविधान का यह सबसे अधिक अशुभ उपबन्ध है। जब सविधान की यह धारा संविधान-सभा द्वारा स्वीकृत की जा रही थी, तब उसके एक सदस्य ने खेदपूर्वक कहा था—'आज का दिन हमारे लिए शोक और लज्जा का दिन है। भगवान् भारतीय जनता की सहायता करे।'

यद्यपि यह सत्य है कि नागरिकों के मूल अधिकार अत्यन्त ही मूल्यवान् हैं, तथापि राज्य की सुरक्षा का उससे कम महत्त्व नहीं है। इसे कतई अस्वीकार नहीं

किया जा सकता कि चन्द नागरिकों की स्वतन्त्रता की अपेक्षा राज्य की सुरक्षा और उसका अस्तित्व श्रेयस्कर है। नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा अन्त में कौन करता है? राज्य ही न! इसलिए, जब राज्य ही नष्ट हो जायगा, तब नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा कहाँ से होगी? उन अधिकारों का क्या मूल्य रह जायगा?

प्रत्येक राज्य में संकटकालीन परिस्थितियों में कुछ देशद्रोहियों और पंचमांगियों की कमी नहीं रही है। अतएव, दुनिया के अन्य देशों के संविधानों में भी इस प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है। इंगलैंड में पार्लियामेण्ट को अधिकार है कि वह संकट-काल में नागरिकों के मूलभूत अधिकारों को स्थगित कर सके। इस अधिकार के फल-स्वरूप वहाँ की पार्लियामेण्ट ने प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध में बन्दी-प्रत्यक्षीकरण के लेख (Writ of Habeas Corpus) को स्थगित करने की शक्ति वहाँ की कार्य-पालिका को दी थी। इसी प्रकार, अमेरिका के संविधान के सेक्शन ६, अनुच्छेद १ में लिखा है कि हमले या विद्रोह के समय सार्वजनिक सुरक्षा के लिए बन्दी-प्रत्यक्षी-करण का लेख स्थगित किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में आलोचकों द्वारा यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि इंगलैंड और अमेरिका में मूल अधिकारों के स्थगित किये जाने का अधिकार पार्लियामेण्ट या काँगरेस यानी व्यवस्थापिका को दिया गया है, न कि कार्यकारिणी को, जैसा कि भारत में राष्ट्रपति को। इन लोगों का कहना है कि जर्मनी के वाइमर-संविधान ने कार्यकारिणी को ऐसे अधिकार दिये थे, जिनका दुरुपयोग कर हिटलर अपने को तानाशाह बना सका।

इसके अलावा यह भी कहा गया है कि इंगलैंड में ऐसी उद्घोषणा को, उसके जारी होने के ५ दिनों के भीतर, संसद् के सामने पेश करना होता है और यदि संसद् उसका अनुमोदन न करे, तो ७ दिन बाद वह रद्द समझी जाती है। अमेरिका में सुप्रीम कोर्ट, यदि वह ऐसा उचित समझे तो, ऐसी उद्घोषणा को अवैध घोषित कर सकता है। भारत में ऐसी व्यवस्था नहीं है। यहाँ नागरिकों के स्वातंत्र्य-अधिकार के स्थगन के लिए संसद् के विशेष अनुमोदन की आवश्यकता नहीं है। आपात-उद्घोषणा-मात्र से ही वे स्थगित किये जा सकेंगे। संवैधानिक उपचारों के अधिकार के स्थगन की घोषणा को संसद् के सामने शीघ्रातिशीघ्र रखा जाना आवश्यक माना गया है, लेकिन कितने दिनों में उसे अवश्य पेश किया जाय, इसकी तिथि या अवधि निश्चित नहीं की गई है।

संविधान के ये उपबन्ध अवश्य ही अनिश्चित तथा अस्पष्ट हैं। राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति के नाम पर इन अधिकारों का राष्ट्रपति को दिया जाना यद्यपि

उचित भी है, फिर भी इनका सतर्कता तथा सावधानी से उपयोग किया जाना लाजिम है।

निष्कर्ष—राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों की आलोचनाओं के पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्कों की उपर्युक्त चर्चा के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन अधिकारों का क्षेत्र निस्सदेह अत्यन्त ही व्यापक तथा विस्तृत है। यदि कोई प्रभुता लोलुप प्रभावशाली व्यक्ति राष्ट्रपति बन जाय और इन अधिकारों का दुरुपयोग कर अपनी सर्वोच्च सत्ता कायम करना चाहे, तो वह कुछ समय के लिए, कम से-कम दो मास और अधिक-से-अधिक आठ महीनों तक, नागरिकों की स्वतन्त्रता का नाश कर संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न कर सकता है।

केन्द्रीय सरकार की सत्तारूढ पार्टी के शासन के विरुद्ध समूचे देश के किसी भाग में किये जानेवाले आन्दोलनों को इन अधिकारों के माध्यम से अवश्य ही दबा दिया जा सकेगा।

अभी हाल में केरल राज्य के मामले में संविधान की धारा ३५६ का जैसा व्यवहार किया गया, उससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि अगर किसी राज्य में केन्द्रीय सत्ताधारी पार्टी के अलावा किसी दूसरी पार्टी या अन्य सम्मिलित पार्टियों का बहुमत हो जाय और वह सरकार केन्द्र में सत्ताधारी पार्टी की नीति के अनुसार शासन नहीं करे, तो उस सरकार को पदच्युत कराने के लिए संकटकालीन अधिकारों का प्रयोग केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जा सकेगा।

फिर भी, वर्त्तमान अन्तरराष्ट्रीय स्थितियों और देश में मौजूद प्रतिक्रियावादी तथा विध्वंसकारी शक्तियों को मद्देनजर रखते हुए इन अधिकारों का दिया जाना सर्वथा अनुचित भी नहीं कहा जा सकता है। पंजाब, पेप्सू, आन्ध्र तथा त्रावणकोर-कोचीन राज्यों के मामले में आपात की उद्घोषणा द्वारा उन राज्यों में शासन यन्त्र की कमजोरियों और अस्थायित्व को दूर किया गया। इन उद्घोषणाओं के परिणाम अच्छे ही हुए। केरल के सम्बन्ध में और जो कुछ भी कहा जाय, कम-से-कम इतना तो मानना ही होगा कि आपात-उद्घोषणा द्वारा उस राज्य में होनेवाली खून-खराबी को रोका गया और उत्तेजनापूर्ण स्थिति का अन्त किया गया।

संविधान लागू होने के बाद से पहले प्रकार के संकटकाल की घोषणा सर्व-प्रथम अक्टूबर, १९६२ ई० में की गई जबकि चीन ने हमारे देश पर आक्रमण

किया। अभी भी यह घोषणा लागू ही है। इस प्रकार, राष्ट्रपति के सकटकालीन अधिकारों के माध्यम से देश की शासन-व्यवस्था की रक्षा भी की गई है। इन अधिकारों के प्रयोग ने देश के प्रशासन की शक्ति एव स्थायित्व को बढाया भी है।

सन् १९३५ ई० के भारत सरकार अधिनियम की १०२ या ९३वीं धाराओं से इन आपात उपबन्धों की तुलना ठीक नहीं जॅचती, क्योंकि भारतीय राष्ट्रपति और ब्रिटिश शासनकालीन भारत के गवर्नर जेनर, दोनों एक कोटि में नहीं रखे जा सकते।

इस सम्बन्ध मे (इस पुस्तक का) लेखक श्रीअमर नन्दी के इस कथन से सर्वथा सहमत है कि 'केन्द्रीय कार्यपालिका के सकटकालीन अधिकार एक भरी हुई बन्दूक की तरह हैं, जिनका उपयोग नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा तथा नाश दोनों के लिए हो सकता है।' १

सविधान में राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

भारतीय राष्ट्रपति के साधारणकालीन तथा सकटकालीन अधिकारों एव कृत्यों पर दृष्टिपात करने के फलस्वरूप हम पाते हैं कि राष्ट्रपति को बहुत-से व्यापक, विस्तृत तथा महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये हैं। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या राष्ट्रपति इन अधिकारों का इच्छापूर्वक वास्तविक प्रयोग कर सकता है? अर्थात्, सविधान में राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति क्या है? क्या वह वास्तविक रूप में शक्तिशाली है या एक सवैधानिक प्रधानमात्र?

इस सम्बन्ध में आलोचक एकमत नहीं हैं। एक ओर तो डा० अम्बेदकर के कथनानुसार 'भारतीय सविधान में राष्ट्रपति का वही स्थान है, जो इगलैंड में सम्राट् का है। वह राज्य का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है लेकिन राष्ट्र का प्रशासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन मे उसका स्थान मुहर पर एक शोभायमान चित्रकारी की तरह है, जिससे

---

१. 'It is clear, however, that the powers conferred on the central executive to meet national emergencies are, so to say, a loaded gun which can be used both to protect and destroy the liberty of the citizens."
—*Amar Nandi : 'Constitution of India'; P. 110.*

राष्ट्र का निर्णय ज्ञात होता है।[१] वह (भारत का राष्ट्रपति) इतना शक्तिहीन होगा कि वह न तो अपने मंत्रियों के परामर्श के प्रतिकूल कुछ कर सकेगा और न मंत्रियों के परामर्श के बिना ही।[२] श्री के० के० वसु पालंडे, सन्थानम्, चितलेय और राव आदि लेखक भी डा० अम्बेदकर के इस मत का समर्थन करते हैं।

दूसरी ओर डा० बी० एम० शर्मा का कथन है कि 'राष्ट्रपति संघ का केवल नामधारी प्रधान नहीं है, प्रत्युत वह चाहे तो वास्तविक शासक बन सकता है।[३] डा० डी० एन० बनर्जी के शब्दों में राष्ट्रपति के लिए मंत्रियों के परामर्श को स्वीकार करना अवश्यक नहीं है।

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति का वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में उपरिकथित दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए इन दोनों पक्षों के तर्कों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

संवैधानिक प्रधान होने के पक्ष में—भारत का राष्ट्रपति संसदीय शासन-प्रणाली का अध्यक्ष है, न कि अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था का प्रधान। यद्यपि प्रशासन के सारे कार्य उसके नाम से ही होंगे तथापि इन कार्यों का सम्पादन मंत्रियों की राय से ही होगा। संविधान में कहीं भी ऐसा नहीं लिखा रहने पर भी कि

---

१ "The President occupies the same position as the king under the English Constitution. He is the head of the nation but not of the executive. He represents the nation, but does not rule the nation. His place in the administration is that of a ceremonial device on a seal by which the nation's decisions are made known."

—*Dr. B R Ambedkar*

२ "The President of the Indian Union will be generally bound by the advice of his Ministers. He can do nothing contrary to their advice, nor can he do anything without their advice."

—*Dr. B. R. Ambedkar*

३. "This (article 53) leaves a clear scope to the President, if he chooses, to become a real ruler and not a mere nominal executive of the Union".

—*Dr. B. M. Sharma*

राष्ट्रपति मंत्रियों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होंगे, राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की मन्त्रणाओं की अवहेलना कदापि नहीं कर सकता।[१] धारा ७४ में व्यवहृत अँगरेजी भाषा के 'विल' (will) शब्द की अपेक्षा 'शैल' (shall) शब्द के प्रयोग के कारण और धारा ७८ में यह कहे जाने के कारण कि प्रधान मन्त्री मंत्रिपरिषद् के सभी निर्णयों (Decision) की सूचना राष्ट्रपति को देगा, यह दावा किया जाता है कि मंत्रिपरिषद् अवश्य होगी और वह केवल परामर्शदात्री संस्था नहीं होगी। इस सम्बन्ध में संविधान सभा में बोलते हुए श्री नेहरू ने कहा था कि "शक्ति वस्तुतः मन्त्रिमंडल तथा व्यवस्थापिका को प्राप्त हो, न कि राष्ट्रपति को।"

जहाँ पर संविधान को यह उद्देश्य था कि राज्य का प्रधान मन्त्रिपरिषद् की अवहेलना कर स्वेच्छा (Discretion) से भी कार्य कर सके, वहाँ स्पष्ट शब्दों में वैसी व्यवस्था कर दी गई है।

जैसे, धारा १६३ में साफ शब्दों में कह दिया गया है कि राज्यों की मन्त्रिपरिषदों का काम राज्यपाल के कार्य में सहायता और परामर्श देना होगा, लेकिन उन परिस्थितियों को छोड़कर, जिनमें राज्यपाल को स्वेच्छा (Discretion) से कार्य करने का अधिकार है। इस मत के लेखकों का कहना है कि अगर संविधान की मंशा राष्ट्रपति को इस तरह की स्वेच्छा से कार्य करने का अधिकार देना होता, तो धारा १६३ के शब्दों के सदृश धारा ७४ में भी वैसे शब्द जोड़ दिये जाते।

राष्ट्रपति को लोक-सभा के बहुमत-दल के नेता को ही प्रधान मन्त्री नियुक्त करना होगा और प्रधान मन्त्री के विश्वासपात्र व्यक्तियों को ही मंत्रिपरिषद् के अन्य मंत्रियों के पदों पर नियुक्त करना होगा। जबतक इस मन्त्रिपरिषद् को लोक-सभा का विश्वास तथा बहुमत प्राप्त रहेगा, राष्ट्रपति उसकी मंत्रणा की न तो अवहेलना कर सकेगा और न उसे विघटित करके कोई फायदा उठा पायगा।

वित्त के बिना शासन-कार्य अधिक दिनों तक चल नहीं सकता और वित्त पर लोक-सभा का पूर्णतः नियन्त्रण रहने के कारण भी राष्ट्रपति लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी मंत्रिमंडल के परामर्श को मानने को बाध्य होगी ही।

इन सभी बातों को ध्यान से हटाकर राष्ट्रपति यदि स्वेच्छा से कार्य करने का दुस्साहस करेगा, तो उसके विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाही कर सकने का अधिकार भारतीय संसद् को है ही।

---

१. "The Precident shall be legally bound to accept the advice of his Ministers." *Chitley and Rao.*

इन तर्कों के आधार पर यह दावा किया जाता है कि भारत का राष्ट्रपति सर्वधानिक प्रधान होगा तथा सरकार की वास्तविक शक्तिया मन्त्रिपरिषद् के हाथो मे रहेगी।

वास्तविक शासक होने के पक्ष मे—राष्ट्रपति कार्यकारिणी का प्रधान है। सविधान की ५३वी धारा के अनुसार देश की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति मे ही निहित है, जिसका प्रयोग वह स्वय या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियो द्वारा करायगा। मन्त्रिमडल की नियुक्ति उसी के हाथो मे है और मन्त्री अपने पदो पर राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही कायम रहेगे। सविधान मे कही भी यह नही लिखा हुआ है कि मन्त्रिमडल के परामर्श को राष्ट्रपति को मानना ही पडेगा।

भारत के राष्ट्रपति को इगलैड के सम्राट् तथा फ्रास के राष्ट्रपति (Fourth Republic) के समान सर्वथा शक्तिहीन मानना ठीक नही, क्योकि उन देशो के सर्वधानिक प्रधानो के प्रत्येक आदेश पर किसी मन्त्री का प्रतिहस्ताक्षर (Counter signature) होना आवश्यक माना गया है। इस प्रकार के बन्धन आयरलैड, जापान और बर्मा के सविधानो मे भी है, परन्तु भारत के सविधान मे ऐसी कोई बात नही है। इसके अतिरिक्त भारत का राष्ट्रपति वश-क्रमानुगत या मनोनीत व्यक्ति न होकर एक निर्वाचित (अप्रत्यक्ष ढग से ही सही) व्यक्ति होता है। अतएव, उसे अपनी शक्ति का एहसास रहता है।

'सविधान की रक्षा', 'भारतीय जनता की सेवा' और 'लोक-कल्याण मे निरत रहने' की शपथो की पूर्ति मे मन्त्रिमडल को बाधा डालते हुए पाकर राष्ट्रपति मन्त्रिमडल के परामर्श की अवहेलना सवैधानिक रूप मे कर सकता है। राष्ट्रपति को ससद् के पास सदेश भेजने का अधिकार तो है ही, उसे यह भी शक्ति प्राप्त है कि वह ससद् द्वारा पास किये गये विधेयको को (धन-विधेयको को छोडकर) अपने सशोधनो या सदेशो के साथ ससद् को पुनर्विचार के लिए लौटा दे अथवा उस पर अपनी अनुमति न दे। इन दोनो व्यवधानो का व्यावहारिक अर्थ यही है कि वह मन्त्रिमडल मे भिन्न मत रखता है।

जहा तक महाभियोग के भय की बात है, यह कहा गया है कि वह विशेष परिस्थितियो मे ही लाया जा सकता है और उसपर भी उसकी प्रक्रिया (Process) इतनी जटिल है कि ससद् के दोनो सदनो द्वारा आसानी से उसके अनुमोदन की कोई गारण्टी नही।

कुछ विशेष राजनीतिक परिस्थितियो मे, जैसे, लोक-सभा मे किसी पार्टी का स्पष्ट बहुमत नही रहने पर प्रधान मन्त्री की नियुक्ति मे, या आगे चलकर हमारे देश मे बहुदल-प्रथा के विकास होने पर प्रधान मन्त्री तथा मंत्रिमडल के अन्य

सदस्यों की नियुक्ति में, भारत का राष्ट्रपति स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छा से अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकेगा।

राष्ट्रपति को अत्यन्त ही विस्तृत तथा व्यापक संकटकालीन अधिकार प्राप्त हैं, जिनका दुरुपयोग कर वह कुछ समय के लिए तो निस्सन्देह अधिनायक बन जा सकता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त तर्क-वितर्कों के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारत का राष्ट्रपति नाममात्र का उत्सव-मूर्ति एवं दिखाऊ (Figurehead) संवैधानिक प्रधान ही नहीं है। संविधान की आत्मा के अनुसार उसे मन्त्रिमंडल के परामर्श के अनुसार ही चलना है, फिर भी उसे बिलकुल शक्ति-शून्य तथा आभूषण या रबर-स्टाम्प-मात्र कहना उचित नहीं होगा। उसे संविधान द्वारा कुछ ऐसी शक्तियां प्राप्त हैं, जो कठोर तथा कट्टर संसदात्मक पद्धति (Rigid and Orthodox Parliamentary System) वाले देशों के अध्यक्ष को साधारणतः नहीं दी जाती हैं। बेगहॉट (Bagehot) के अनुसार ब्रिटिश सम्राट् की भांति, भारत के राष्ट्रपति को भी तीन अधिकार प्राप्त हैं—मन्त्रिमंडल उससे परामर्श ले, वह मन्त्रिमंडल को उत्साहित करे तथा मन्त्रिमंडल को चेतावनी दे।

भारत का राष्ट्रपति देश के प्रशासन पर प्रभाव डाल सकता है, लेकिन यह उसके व्यक्तित्व, उसकी बुद्धिमत्ता तथा प्रशासकीय क्षमता और कार्यकुशलता पर निर्भर करेगा, साथ ही प्रधान मंत्री के इन्हीं गुणों पर भी राष्ट्रपति का प्रभाव निर्भर करेगा।

ठीक है कि संविधान लागू होने के बाद से जो अभिसमय (Conventions) बनते जा रहे हैं, उनके अनुसार राष्ट्रपति स्वेच्छा से काम नहीं कर मन्त्रिमंडल के परामर्श के अनुसार ही शासन करेगा। फिर भी, यदि श्रीजवाहरलाल नेहरू राष्ट्रपति के पद पर हुए होते और कोई दूसरा व्यक्ति प्रधान मंत्री हुआ होता, तो कहना मुश्किल था कि इस तरह के अभिसमय बन पाते कि नहीं, वैसी दशा में, इस लेखक की राय में, आज राष्ट्रपति के पद की कुछ दूसरी ही स्थिति होती।

डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी प्रथम हिन्दू-कोड-बिल के सम्बन्ध में अपना व्यक्तिगत विरोध प्रकट कर आम चुनाव के पहले उस बिल का अस्थायी संसद् द्वारा पारित होना स्थगित करवा ही दिया। इसी प्रकार, जुलाई, १९५५ ई० में बिना मन्त्रिमंडल की राय लिये ही श्री नेहरू को राष्ट्रपति ने 'भारतरत्न' की उपाधि से अभिभूषित किया।

अत, असाधारण परिस्थितियों तथा असाधारण व्यक्तित्व को छोड़कर भारत के राष्ट्रपति का पद सम्मान और गौरव का अधिक है, वास्तविक शक्ति का कम।

'बाहर से देखने पर उसके बड़े ही ठाट-बाट है, रहने के लिए विशाल महल, सवारी के लिए शाही गाड़ियाँ, रक्षा के लिए सेना और अंग-रक्षक, तोपों की सलामी, सुनहरी पेटियोवाले चपरासी और प्यादे, दावतें और स्वागत-समारोह और सभी कुछ, परन्तु वास्तव में उसके हाथों में शासन की वास्तविक शक्ति नहीं।"

लेकिन, इसका मतव्य यह नहीं है कि राष्ट्रपति का संविधान में कोई महत्त्व-पूर्ण स्थान है ही नहीं। संसदीय शासन-प्रणालीवाले राज्यों में एक वैधानिक प्रधान का होना आवश्यक माना गया है। चूंकि, हमारे देश में भी संसदात्मक पद्धति की सरकार की स्थापना की गई है, अतएव हमारी शासन-व्यवस्था में भी एक वैधानिक प्रधान का होना आवश्यक था। भारत का राष्ट्रपति उसी आवश्यकता की पूर्ति करता है और इसलिए उसका स्थान निरर्थक (Superfluous) न होकर कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

उपराष्ट्रपति (Vice-President)

भारत के संविधान में, राष्ट्रपति के अतिरिक्त एक उपराष्ट्रपति की भी व्यवस्था की गई है। राष्ट्रपति के बाद उपराष्ट्रपति ही राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी है। उपराष्ट्रपति के पद का प्रावधान इसलिए किया गया है कि बीमारी या अन्य किसी कारण से जब राष्ट्रपति काम करने में असमर्थ हो, या मृत्यु, पदत्याग, या महाभियोग द्वारा हटाये जाने से उसका स्थान खाली हो, तब उसका काम उपराष्ट्रपति सँभालेगा। या तो जबतक राष्ट्रपति अपना काम सँभाल लेगा, या जबतक राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण कर लेगा, तबतक उपराष्ट्रपति उसकी जगह पर कार्य करेगा। इस अवधि में, यानी जबतक उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा या उसका काम सँभालेगा, उपराष्ट्रपति को राष्ट्रपति-पद का ही वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएं प्राप्त होंगी और उसे समस्त अधिकार एवं उन्मुक्तियां प्राप्त होती रहेंगी।

अवधि—उपराष्ट्रपति अपने पद पर ५ वर्ष तक रहता है, किन्तु वह त्याग-पत्र द्वारा अपना पद इस अवधि से पूर्व भी छोड़ सकता है। उपराष्ट्रपति को, संसद् के उच्च सदन, राज्य-सभा के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा स्वीकृत किये गये प्रस्ताव से, जिसे लोक-सभा भी स्वीकार कर ले, पदच्युत भी किया जा सकता है। ऐसे प्रस्ताव की सूचना कम-से-कम १४ दिन पहले दिया जाना आवश्यक है। संविधान में यह बात स्पष्ट नहीं है कि लोक-सभा में इस प्रस्ताव के पक्ष में केवल उपस्थित और मतदान करनेवाले सदस्यों का अथवा कुल सदस्यों का बहुमत होना चाहिए। पहली तो प्रक्रिया का व्यवहार सम्भव होगा। उपराष्ट्रपति के लिए महाभियोग की व्यवस्था नहीं है।

नये उपराष्ट्रपति का चुनाव पहले उपराष्ट्रपति के कार्य-काल की समाप्ति के पूर्व ही कर लिया जायगा। उपराष्ट्रपति अपने उत्तराधिकारी के पद-ग्रहण तक अपनी जगह पर कायम रहेगा। पद-ग्रहण के पहले उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के सामने या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किसी अधिकारी के सामने पद की शपथ ग्रहण करेगा।

भारत का उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के पद पर अधिक-से-अधिक ६ महीनों तक रह सकता है। इस अवधि में नव राष्ट्रपति का चुनाव हो जायगा। इस दृष्टि से वह अमेरिका के राष्ट्रपति से भिन्न है, क्योंकि अमेरिकी राष्ट्रपति की जगह खाली होने पर बाकी समूची अवधि तक उपराष्ट्रपति उस पद पर कायम रहता है।

निर्वाचन—उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद् के दोनों सदनों के सदस्यों से निर्मित एक निर्वाचक-मण्डल द्वारा अनुपाती प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत-पद्धति से होगा। सन् १९६१ ई० में हुए ११वें संशोधन के पहले उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद् के दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक में हुआ करता था। मतदान गोपनीय होगा। इन उपबन्धों के अन्दर चुनाव-सम्बन्धी नियम संसद् द्वारा बनाये जा सकेंगे। उपराष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धित झगड़ों का फैसला सर्वोच्च न्यायालय करेगा। इस न्यायालय का फैसला अन्तिम होगा।

योग्यता—उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए वही व्यक्ति उम्मीदवार हो सकता है, जो—

(१) भारत का नागरिक हो,
(२) ३५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
(३) राज्य-सभा की सदस्यता की योग्यता रखता हो, और
(४) संघ अथवा राज्य-सरकार के अधीन किसी लाभवाले पद पर न हो।

इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल, संघ या राज्य-सरकार के मन्त्री के पद लाभवाले पद नहीं माने जायेंगे।

उपराष्ट्रपति न तो संसद् के किसी भवन और न राज्यों के विधान-मंडल का सदस्य होगा। यदि निर्वाचन के पहले वह रहा हो, तो निर्वाचित होने की तिथि से उसकी सदस्यता समाप्त हो जायगी।

उपराष्ट्रपति के अधिकार और कार्य—अमेरिका की भांति भारत का उपराष्ट्रपति भी संसद् के उच्च सदन, अर्थात् राज्य-सभा (Council of States) का पदेन (Ex officio) सभापति होगा। राष्ट्रपति के स्थानापन्न रूप में जबतक उपराष्ट्रपति कार्य करेगा, तबतक के लिए वह राज्य-सभा का सभापति नहीं होगा। उस सभा के सभी साधारण अधिकार उसे प्राप्त होंगे। यद्यपि वह उस सभा के आम सदस्यों की तरह मतदान नहीं कर सकता, तथापि किसी विधेयक या प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में समान मत आने पर उसे निर्णायक मतदान का अधिकार है।

भारत के वर्तमान उपराष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन हैं। सन् १९६२ ई० के तीसरे आम चुनाव के बाद इनका निर्वाचन हुआ। सन् १९५२ तथा १९५७ ई० के दोनो आम चुनावो के बाद डॉ० एस० राधाकृष्णन् उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुए थे।

प्रश्न

१ भारत का राष्ट्रपति किस प्रकार निर्वाचित होता है ? उसपर किस प्रकार महाभियोग चलाया जा सकता है ?

How is the President of India elected ? How can he be impeached ?

२. भारतीय गणतन्त्र के राष्ट्रपति के अधिकारो तथा कृत्यो की विवेचना कीजिए ।

Discuss the Powers and Functions of the President of the Indian Republic.

३ भारतीय शासन मे राष्ट्रपति की क्या स्थिति है ? उसके विधायक अधिकारो की चर्चा कीजिए।

What is the position of the President in the Indian Administration ? Mention his Legislative powers

४ भारत के राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारो का वर्णन कीजिए। क्या इन अधिकारो के माध्यम से वह अधिनायक बन सकता है ?

Describe the Emergency powers of the Indian President Can he become a dictator by means of these powers ?

५ 'भारत का राष्ट्रपति केवल संवैधानिक प्रधान है'—समीक्षा कीजिए।

'The Indian President is merely a constitutional head.' Analyse

६ निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखें—

(क) भारत का उपराष्ट्रपति

The Vice-President of India

(ख) राष्ट्रपति के कार्यपालिका-सम्बन्धी अधिकार

Executive powers of the Indian President

(ग) राष्ट्रपति के न्याय-सम्बन्धी अधिकार

Judicial powers of the Indian President

❀

८

संघ-कार्यपालिका : मन्त्रिपरिषद्

(The Union Executive : Council of Ministers)

भारत की वर्तमान शासन-व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् का स्थान सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। भारतीय संविधान हमारे देश में संसदीय शासन-पद्धति (Parliamentary form of Government.) की स्थापना करता है, न कि अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति (Presidential form of Government) की। अतएव, भारतीय संघ की कार्य-पालिका-शक्ति वास्तविक रूप में मन्त्रिपरिषद् में ही निहित है। मन्त्रिपरिषद् ही भारतीय संघ की यथार्थ कार्यपालिका है। भारत का राष्ट्रपति, जो संघ-कार्यपालिका का अध्यक्ष होता है और जिसमें समस्त कार्यपालिका-शक्ति औपचारिक रूप से निहित होती है, एक संवैधानिक प्रधान होता। इन शक्तियों का असल प्रयोग वस्तुतः मन्त्रिपरिषद् ही करती है। ठीक ही कहा गया है कि राज्य का समस्त शासन-यंत्र मन्त्रिपरिषद् पर ही आधारित है, जो राज्य-रूपी नौका का चालक है। मन्त्रिपरिषद्-सम्बन्धी उपबन्धों का उल्लेख संविधान की ७४वीं और ७५वीं धाराओं में किया गया है।

मन्त्रिपरिषद् की बनावट (Formation of the Council of Ministers) :—संविधान की धारा ७४ के अनुसार 'राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता तथा मन्त्रणा (Aid and Advice) देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होगी, जिसका प्रमुख प्रधान मंत्री होगा।' इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मंत्रिपरिषद् का निर्माण अनिवार्य है; क्योंकि संविधान की धारा ७४ (१) में अंगरेजी भाषा के 'विल' (Will) शब्द के बजाय 'शैल बी' (Shall be) शब्दों का प्रयोग किया गया है। अर्थात्, मन्त्रिपरिषद् का निर्माण राष्ट्रपति के लिए आदेशात्मक (Mandatory) है और राष्ट्रपति बिना मन्त्रिपरिषद् के कार्य नहीं कर सकता है।

संविधान की ७५वीं धारा के अनुसार प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधान मन्त्री की मंत्रणा से, राष्ट्रपति के द्वारा ही की जायगी। मन्त्री, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त (During the pleasure) अपने पदों पर आसीन रहेंगे, अर्थात् राष्ट्रपति जब चाहे, उन्हें अपदस्थ कर सकता है। मन्त्रिपरिषद् लोक-सभा (संसद् की निचली सभा) के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। पद-ग्रहण करते समय राष्ट्रपति मन्त्रियों से पद की शपथ

तथा नीति और कार्यवाही गुप्त रखने की शपथ लेगा। यदि कोई मंत्री लगातार ६ महीने तक संसद् के किसी सदन का सदस्य न रहे, तो ६ महीने की अवधि पूर्ण होने के दिन से वह मंत्री नहीं रहेगा।

उपर्युक्त वर्णन से ऐसा आभास मिलता है कि राष्ट्रपति अपनी रुचि या स्वेच्छानुसार जिसको चाहे, प्रधान मंत्री बना दे, अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति में भी उसका काफी हाथ होगा तथा जब वह चाहे इन मन्त्रियों को उनके पदों से हटा दे।

सिद्धान्तत (Theoretically) और विधि की दृष्टि से ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है, लेकिन वास्तविक स्थिति इससे पूर्णतया भिन्न ही नहीं, वरन् बिलकुल विपरीत है।

संसदीय या मन्त्रिमंडलात्मक सरकार के प्रधानावश्यक गुण के अनुरूप, मन्त्रि-परिषद् को, हमारे संविधान-निर्माताओं ने, लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी ठहराया है, न कि व्यक्तिगत रूप से भारत के राष्ट्रपति के प्रति[1]। अतएव, साधारण अवस्था में मन्त्रिपरिषद् की रचना में राष्ट्रपति अपनी रुचि या इच्छा के अनुसार आचरण करने में सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। इस विषय में उसके अधिकार अत्यधिक सीमित हैं। वस्तुत, लोक-सभा के बहुमत-प्राप्त दल के नेता को प्रधान मंत्री नियुक्त करना राष्ट्रपति के लिए आवश्यक है। यदि किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत लोक-सभा में नहीं रहा, तो राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को प्रधान मंत्री का पद ग्रहण करने को आमंत्रित करेगा, जो अन्य दलों से मिलकर (Coalition) अपनी मन्त्रिपरिषद् के लिए लोक-सभा के बहुसंख्यक सदस्यों का समर्थन प्राप्त कर सके।

इस प्रकार, संविधान में कहीं भी ऐसा नहीं लिखे रहने पर भी, संसद् की व्यवस्था-विधि तथा परम्पराओं और अभिसमयों के आधार पर राष्ट्रपति लोक-सभा के बहुमतवाले दल के नेता को ही प्रधान मंत्री बनने तथा मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करने के लिए आमंत्रित करेगा। राष्ट्रपति के लिए इसके अलावा कोई दूसरा चारा ही नहीं है, क्योंकि लोक-सभा के बहुमत का विश्वास तथा समर्थन प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति शासन-कार्य चला नहीं पायेगा। लोक-सभा उस व्यक्ति द्वारा रचित मन्त्रिपरिषद् को कभी कार्य करने नहीं देगी और एक संवैधानिक गतिरोध (Deadlock) उत्पन्न हो जायगा।

---

१ जैसा अमेरिका के सदृश अध्यक्षात्मक शासन-प्रणालीवाले देशों में पाया जाता है।—ले०

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रधान मंत्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति मनमानी नहीं कर सकेगा। लेकिन निम्नलिखित परिस्थितियों में प्रधान मंत्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति कुछ अंश में स्वेच्छा (Discretion) से काम ले सकता है—

(१) यदि लोक-सभा में किसी भी एक दल का बहुमत स्पष्ट नहीं हो या संदिग्ध हो, तो ऐसी दशा में वह किसी अल्पमत (Minority) दल के नेता को भी संयुक्त मंत्रिमंडल (Coalition Cabinet) बना सकने का मौका दे सकता है।

(२) यदि लोक-सभा के बहुमतवाले दल का नेता, जो प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ है, त्याग-पत्र दे देता है और उस दल में कोई निश्चित नेता हो ही नहीं या दो समान रूप से प्रभावशाली नेता प्रधान मंत्री-पद के लिए आपस में ही झगड़ रहे हों।

(३) जब लोक-सभा में अनेक दलों या ग्रूपों (Groups) की न्यूनाधिक समान शक्ति हो और बहुत-से स्वतंत्र सदस्य भी हों और यह तय पाना संदिग्ध हो कि इस स्थिति में कौन-सा व्यक्ति लोक-सभा के बहुमत का समर्थन और विश्वास प्राप्त कर सकेगा।

उपर्युक्त परिस्थितियों में प्रधान मन्त्री-पद को ग्रहण करने के लिए किसी व्यक्ति को आमंत्रित करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के स्वविवेक का महत्व बहुत अधिक अंशों तक बढ़ जायगा। राष्ट्रपति किसी दल के नेता को या किसी स्वतंत्र व्यक्ति को भी प्रधान मंत्री नियत करके उसे अन्य दलों, ग्रूपों और स्वतंत्र सदस्यों का सहयोग प्राप्त करने का अवसर दे सकता है।

जहां तक अन्य मंत्रियों की नियुक्ति का प्रश्न है, संविधान ही स्पष्ट शब्दों में कहता है कि राष्ट्रपति प्रधान मंत्री के परामर्श से उन्हें नियुक्त करेगा। अतः, इस विषय में भी प्रधान मंत्री का परामर्श ही निर्णायक मापदण्ड होगा, न कि राष्ट्रपति की अभिरुचि। संभव है कि राष्ट्रपति प्रधान मंत्री द्वारा तैयार की गई मंत्रियों की सूची में उल्लिखित किसी नाम को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हो। इस हालत में वह अमुक व्यक्ति मंत्री नियुक्त होगा कि नहीं, यह प्रधान मंत्री की स्थिति और दृढ़ता पर निर्भर करेगा। यदि प्रधान मंत्री को लोक-सभा का स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो और वह इस बात पर अड़ जाय कि बिना उस व्यक्ति की नियुक्ति के वह मन्त्रिपरिषद् बनायगा ही नहीं, तो राष्ट्रपति को अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी, उस व्यक्ति को नियुक्त करना ही पड़ेगा। अतः, अन्य मंत्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति प्रधान मंत्री को सिर्फ अपनी राय दे सकता है, लेकिन वह प्रधान मंत्री को बाध्य नहीं कर सकता कि वह अमुक या किसी विशेष व्यक्ति को मन्त्रिपरिषद् में रखे ही या नहीं ही रखे। राष्ट्रपति इस सम्बन्ध में प्रधान मंत्री की मन्त्रणा को स्वीकार करने के लिए विवश इसलिए हो जायगा कि लोक-

सभा का स्पष्ट बहुमत प्राप्त रहने के कारण उसके सिवा कोई दूसरा व्यक्ति मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कर ही नहीं सकता और बिना मंत्रिपरिषद् के राष्ट्रपति अपने कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता है । स्मरण रहे कि संविधान की ७४वीं धारा (१) के अनुसार मन्त्रिपरिषद् का निर्माण अनिवार्य है ।

अब प्रश्न उठता है कि क्या प्रधान मन्त्री मन्त्रिपरिषद् के अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति मे मनमानी कर सकता है ? क्या प्रधान मन्त्री अपनी इच्छानुसार जिस किसी को वह चाहेगा, मन्त्रिपरिषद् मे सम्मिलित करेगा और जिसे नहीं चाहेगा, सम्मिलित नहीं करेगा ? सिद्धान्तत , प्रधान मंत्री ऐसा कर सकता है । प्रधान मंत्री अगर चाहे, तो वह अपने दल के बाहर के व्यक्तियो को भी मन्त्रिपरिषद् मे शामिल कर सकता है । लेकिन ऐसा कम किया जाता है । भारत के प्रधान मन्त्री श्रीजवाहरलाल नेहरू ने ऐसा किया भी है । उन्होंने कांग्रेस-विरोधी दल, हिन्दू महासभा के नेता, डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी को मन्त्रिमंडल मे रखा था । इसी प्रकार वित्त-मन्त्री के पद से डॉ० जॉन मथाई के त्याग-पत्र दे देने पर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य डा० सी० डी० देशमुख को वित्त-मन्त्री नियुक्त किया गया । स्मरण रहे कि प्रजातन्त्र राज्यो मे सामान्यत सरकारी कर्मचारियो को मन्त्री-पद पर नियुक्त नहीं किया जाता है ।

व्यवहार मे, अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति मे प्रधान मंत्री की स्वतन्त्रता भी कुछ अंशो मे सीमित है । मन्त्रिपरिषद् का निर्माण एक कठिन कार्य है। अतएव, अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति के लिए राष्ट्रपति को परामर्श देने मे प्रधान मन्त्री को बहुत ही सावधानी से काम लेना पड़ता है और निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखना पड़ता है—

(१) अपने दल (कई दलो की सम्मिलित सरकार की दशा मे प्रत्येक दल) के खास-खास नेताओ यानी महत्त्वपूर्ण ओर प्रभावशाली व्यक्तियों को मन्त्रिपरिषद् मे सम्मिलित करना आवश्यक-सा हो जाता है । ऐसा नहीं करने पर वह अपने समर्थको के बीच असन्तोष की विषैली भावना को फैलायेगा ।

(२) भारत-जैसे विशाल संघ-राज्य मे, जिसमे छोटे-बड़े अनेक राज्य सम्मिलित हैं और जहा अनेक धर्मों के अनुयायी और अनेक भाषाभाषियो का निवास है, प्रधान मन्त्री को अपनी मन्त्रिपरिषद् मे देश के विभिन्न भौगोलिक भागो तथा विविध धर्मों, जातियो तथा समुदायो को समुचित प्रतिनिधित्व देना ही होगा ।

(३) उपर्युक्त दलबन्दी तथा राजनीतिक आवश्यकताओ के अतिरिक्त उसे यह भी ध्यान मे रखना होगा कि मन्त्री वस्तुत योग्य शासक हों और उनमे नेतृत्व के गुणो के अलावा सुचारु रूप मे शासन चला सकने की भी क्षमता हो ।

(४) वृद्ध एवं अनुभवी व्यक्तियों के अलावा उसे मन्त्रिपरिषद् में कुछ कर्मठ, उत्साही तथा होनहार नवयुवकों को भी सम्मिलित करना ही पड़ता है, ताकि आगे आनेवाले दिनों में देश को योग्य, प्रशिक्षित तथा अनुभवी शासकों की उपलब्धि होती रहे।

साधारणतया मन्त्रियों की नियुक्ति संसद् के दोनों सदनों के सदस्यों में से ही की जाती है। किन्तु, विशेष दशा में किसी ऐसे व्यक्ति को भी मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है, जो संसद् के किसी सदन का सदस्य न हो। हमारे देश के संघीय मन्त्रिमंडल में अनेक मन्त्रियों की नियुक्ति इसी प्रकार से की गई है। उदाहरणार्थ, डॉक्टर काटजू, डॉक्टर देशमुख, सरदार स्वर्णसिंह, लालबहादुर शास्त्री, पंडित पंत इत्यादि को पहले मन्त्रिमंडल का सदस्य नामजद कर दिया गया, और उसके बाद उन्हें संसद् का सदस्य बनाया गया। लेकिन ऐसे मन्त्रियों के लिए यह आवश्यक है कि मन्त्रिपद ग्रहण करने के ६ महीने के भीतर वे संसद् के किसी सदन के सदस्य बन जायँ। क्योंकि, संविधान की धारा ७५(५) के अनुसार 'कोई मन्त्री, जो निरन्तर छह महीनों की अवधि तक संसद् के किसी सदन का सदस्य न रहे, उस अवधि के पश्चात् मन्त्री नहीं रहेगा।'

ऐसे मन्त्री, अपने पद-ग्रहण के बाद की ६ मास की अवधि में, संसद् के किसी सदस्य का स्थान मृत्यु आदि कारणों से रिक्त होने पर, उपचुनाव में खड़े होकर संसद् की सदस्यता प्राप्त कर सकते हैं। यदि ६ मास की अवधि में कोई स्थान रिक्त न हो, तो प्रधान मन्त्री अपने दल के किसी सदस्य से त्यागपत्र दिलाकर जगह खाली करा देगा। यदि ऐसा मन्त्री निर्वाचन के झंझट में नहीं पड़ना चाहता हो या निर्वाचन में नहीं जीत सका हो, तो प्रधान मन्त्री उसे राष्ट्रपति द्वारा संसद् का सदस्य मनोनीत करा देगा। संसद् की ऊपरी सभा यानी राज्य-सभा का सदस्य चुनवाना अधिक सुगम होता है, इस कारण ऐसे मन्त्रियों को प्रायः राज्य-सभा का ही सदस्य चुनवा दिया जाता है।

कुछ लेखकों के अनुसार इस तरह अप्रिय तथा जनविरोधी व्यक्ति भी मन्त्रि-परिषद् का सदस्य हो सकता है। परन्तु ऐसी आशा कम है, क्योंकि प्रधान मन्त्री साधारणतः अपने मन्त्रिमंडल में ऐसे व्यक्ति को लेकर देश में अपनी लोकप्रियता कम नहीं करना चाहेगा। इसके अतिरिक्त वह लोक-सभा को भी इस प्रकार का काम कर अप्रसन्न नहीं करना चाहेगा। यदि कोई प्रधान मन्त्री ऐसा दुस्साहस करेगा भी, तो लोक-सभा उस मन्त्रिपरिषद् को ही समाप्त कर सकती है। लोक-सभा यदि उस मन्त्री विशेष से अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे, तो सारी मन्त्रिपरिषद् को पद-त्याग करना ही पड़ेगा, क्योंकि संविधान की

धारा ७५, उपधारा ३ में सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से उल्लिखित है।

अन्य जनतन्त्रात्मक देशों की भांति भारत में भी मंत्री नियुक्त होने के लिए किसी विशेष प्रकार की योग्यता, जैसे विश्वविद्यालयों की उपाधियां या अपने विभागीय विषयों की जानकारी या पारंगमिता आदि कतई अनिवार्य नहीं है। किंवदन्ती है कि इंगलैंड के एक वित्त-मन्त्री को यह नहीं मालूम था कि दशमलव-बिन्दु (Decimal Points) क्या होता है। जब सेक्रेटरी ने उसके सामने बजट रखा, तब उसने पूछा कि ये बिन्दु क्या हैं (What are these bloody dots ?) ? भारतीय मन्त्रियों के बारे में भी ऐसी कितनी ही किंवदन्तियां सुनी जाती हैं।

मन्त्रियों की संख्या कितनी हो, इस सम्बन्ध में भी संविधान द्वारा कोई सीमा या रोक नहीं लगाई गई है। उनकी संख्या प्रधान मंत्री निश्चित करता है और वह जब भी चाहे, उनकी संख्या को घटा-बढ़ा भी सकता है।

मंत्रियों की पदावधि—इस विषय के संवैधानिक उपबन्धों में कुछ विरोधाभास-सा दीख पड़ता है। संविधान की धारा ७५(२) के अनुसार मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदों पर आसीन रहेंगे, अर्थात् राष्ट्रपति जब कभी चाहे, जिस किसी भी मंत्री को अपदस्थ कर सकता है। साथ ही, संविधान की धारा ७५(३) में यह भी कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।

प्रश्न उठता है कि क्या लोक-सभा के विश्वास और बहुमत-समर्थन-प्राप्त मन्त्री को राष्ट्रपति अपनी मनमानी इच्छा से हटा सकेगा ?

साधारणतः, राष्ट्रपति ऐसा नहीं कर सकेगा और जबतक किसी भी मंत्री को लोक-सभा का विश्वास तथा समर्थन प्राप्त है और प्रधान मंत्री उसे पदस्थित रखना चाहे, तबतक राष्ट्रपति उसे अपदस्थ नहीं कर सकता। उपर्युक्त दशाओं के बावजूद यदि राष्ट्रपति किसी मंत्री को अपदस्थ कर दे, तो प्रधान मंत्री त्याग-पत्र देकर राष्ट्रपति को एक गंभीर संवैधानिक संकट में डाल देगा। कोई भी समझदार राष्ट्रपति अपने लिए इस प्रकार की कठिनाई नहीं पैदा करेगा।

इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्रपति मन्त्रियों को व्यक्तिगत रूप से ही हटा सकेगा। पूरी मन्त्रिपरिषद् को सामूहिक रूप से पदच्युत (Dismiss) करने का अधिकार राष्ट्रपति को नहीं है। हां, अगर राष्ट्रपति यह समझे कि मन्त्रिपरिषद् देश में तो अप्रिय हो गई है, परन्तु लोक-सभा में उसका बहुमत बना है और अगर नया चुनाव करा दिया जाय, तो वह दल फिर बहुमत में नहीं आ सकेगा, तो फिर वह देश के हित में लोक-स

को भंग कर नये चुनाव का आदेश दे सकता है। ऐसी दशा में राष्ट्रपति परोक्ष ढंग से पूरी मंत्रिपरिषद् को सामूहिक रूप में एक साथ ही बर्खास्त कर सकता है। फिर अगर लोक-सभा में पराजित मन्त्रिपरिषद् का प्रधान मंत्री राष्ट्रपति को उस लोक-सभा को विघटित करने की राय दे, तो राष्ट्रपति इस राय को अस्वीकार कर सकता है और इस प्रकार प्रधान मंत्री को पूरी मंत्रिपरिषद् के साथ इस्तीफा देने के लिए बाध्य कर सकता है।

यदि प्रधान मंत्री किसी मंत्री को हटाने के पक्ष में हो, तो वह या तो उस मंत्री को त्याग-पत्र देने के लिए विवश कर सकता है या राष्ट्रपति को उसे अपदस्थ करने का विचार दे सकता है। ऐसी हालत में लोक-सभा का विश्वास-भाजन बने रहने पर भी किसी मंत्री को राष्ट्रपति के द्वारा अपदस्थ किया जा सकेगा।

संविधान में मंत्रियों की पदावधि निश्चित नहीं की गई है; क्योंकि मंत्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है और मंत्री राष्ट्रपति के इच्छा-पर्यन्त ही अपने पदों पर रह सकते हैं। चूँकि, लोक-सभा की अवधि ५ वर्ष की है, इसलिए मंत्री अधिक-से-अधिक पांच वर्ष तक पदस्थित रह सकते हैं। इसके लिए भी उन्हें लोक-सभा का विश्वास और समर्थन प्राप्त रहना चाहिए और प्रधान मंत्री को उनके पदस्थित रहने के पक्ष में होना चाहिए। यदि आपात के उद्घोषणा-काल में संसद् की अवधि बढ़ा दी जाय, तो मंत्रियों की पदावधि भी बढ़ जायगी।

मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमंडल में भेद (Difference between Council of Ministers and Cabinet)—भारतीय संविधान में सिर्फ 'मन्त्रिपरिषद्' (Council of Ministers) शब्द का प्रयोग किया गया है, 'मंत्रिमंडल' (Cabinet) शब्द का नहीं। अतः इस स्थल पर हमें यह जान लेना चाहिए कि मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमंडल में क्या भेद है।

मंत्रिपरिषद् एक बड़ा समूह है, जिसमें कई प्रकार (Kinds) या स्तरों (Ranks) के मंत्री होते हैं। मंत्रिमंडल इस बड़े समूह का एक भाग (सबसे महत्वपूर्ण भाग) होता है, जिसमें मंत्रिपरिषद् के सदस्यों में सबसे ऊँची स्थिति (Highest position) वाले मंत्री हुआ करते हैं। मंत्रिमंडल मंत्रिपरिषद् के अन्तर्गत एक छोटा-सा समूह होता है। अतः, प्रधान मंत्री द्वारा चुने गये प्रथम श्रेणी के मंत्रियों के उस छोटे वर्ग या छोटी उपसमिति को मंत्रिमंडल कहा जाता है, जो एक निकाय के रूप में काम करती है और जिसके द्वारा राजकीय नीति का निर्धारण किया जाता है।

मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमंडल के बीच के अन्तर को सर्वथा ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि मन्त्रिमंडल (Cabinet) के सभी सदस्य या मन्त्री मन्त्रिपरिषद् (Council of Ministers) के सदस्य होते हैं, लेकिन मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्य मन्त्रिमंडल के सदस्य नहीं होते। मन्त्रिमंडल की बैठकों में केवल मन्त्रिमंडल के सदस्य ही भाग लेते हैं, न कि मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्य। कुछ ऐसे भी मंत्री होते हैं, जिन्हें 'मन्त्रिमंडल-स्तर' (Cabinet Rank) का मन्त्री कहा जा सकता है, लेकिन वे भी मन्त्रिमंडल की बैठकों में साधारणत हिस्सा नहीं लेते। मन्त्रिपरिषद् के अन्य मन्त्री मन्त्रिमंडल की बैठकों में विशेष रूप से आमन्त्रित होने पर ही सम्मिलित होते हैं। मन्त्रिमंडल यदि त्याग-पत्र दे दे, तो समूची मन्त्रिपरिषद् त्याग-पत्र दे देती है और विघटित हो जाती है।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि मन्त्रिपरिषद् एक सम्पूर्ण (Whole) चीज होती है, जिसका मन्त्रिमंडल एक आवश्यक और महत्वपूर्ण भाग (Necessary and vital part) होता है। सरकार की असली कार्यकारिणी मन्त्रिमंडल ही है, क्योंकि शासन-सम्बन्धी नीतियों, योजनाओं और उद्देश्यों का अन्तिम फैसला मन्त्रिमंडल के द्वारा ही होता है।

हमें यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि मन्त्रिपरिषद् की बैठकें कभी नहीं होतीं। बैठकें मन्त्रिमंडल की होती हैं और उसी में मन्त्रिपरिषद् के उन सदस्यों को बुला लिया जाता है, जिनकी उपस्थिति विचार-विमर्श के लिए आवश्यक समझी जाती है। अत हम कह सकते हैं कि मन्त्रिमंडल वह धुरी है, जिसपर मन्त्रिपरिषद् घूमती है। मन्त्रिमंडल मन्त्रिपरिषद् का नेतृत्व करता है। मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्य मन्त्रिमंडल द्वारा निर्णय लेने में सहायता प्रदान करते हैं तथा निर्णय हो जाने पर उसे कार्यान्वित करते हैं। इस प्रकार, एक तरह से मन्त्रिमंडल को मन्त्रिपरिषद् की अतरंग कार्यकारिणी सभा (Inner Executive Body) भी कहा जा सकता है।

मन्त्रियों की श्रेणियाँ—मन्त्रिपरिषद् एक बड़ी जमात होती है, जिसमें कई स्तरों के मन्त्री होते हैं। भारत की वर्तमान मन्त्रिपरिषद् में निम्नलिखित प्रकार[1] के मन्त्री पाये जाते हैं

---

१ संविधान में विभिन्न स्तर के मन्त्रियों का उल्लेख नहीं है। उसमें तो सिर्फ 'मन्त्रिपरिषद्' और 'मन्त्री' शब्दों का ही उल्लेख है। फिर भी, इन विभिन्न श्रेणियों के मन्त्रियों को, मन्त्रियों के वेतन (संशोधन) कानून, १९५० के फलस्वरूप कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई है।

(१) मन्त्रिमंडल या कैबिनेट-मन्त्री (Cabinet Ministers),

(२) राज्य-मन्त्री (Ministers of State) या मन्त्रिमंडल-स्तर के मन्त्री (Ministers of Cabinet rank), जो मन्त्रिमंडल के सदस्य नहीं होते, और

(३) उप-मन्त्री (Deputy Ministers)।

प्रथम मन्त्रिमंडल में सरदार पटेल को उप-प्रधान मन्त्री कहा जाता था। उनकी मृत्यु के बाद से यह पद नहीं रहा है।

राज्य-मन्त्रियों (Ministers of State) या मन्त्रिमंडल-स्तर के मन्त्री (Ministers of Cabinet rank but not the members of the Cabinet) तथा उपमन्त्रियों (Deputy Ministers) के बीच प्रधान अन्तर यह होता है कि पहले प्रकार के मन्त्रियों को शासन का कोई स्वतन्त्र या पृथक् विभाग भी दिया जा सकता है[1], जबकि उपमन्त्रियों को कोई स्वतन्त्र विभाग नहीं दिया जाता। उपमन्त्रियों को राज्य-मन्त्रियों या मन्त्रिमंडल-स्तर के मन्त्रियों की भी[2] सहायता के लिए नियुक्त किया जाता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के मन्त्रियों के अलावा कुछ संसदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) भी होते हैं। ये सचिव मन्त्रिपरिषद् के सदस्य नहीं माने जाते, और न इनकी नियुक्ति ही राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इन्हें प्रधान मन्त्री ही नियुक्त करता है। शासन-सम्बन्धी कार्यों पर इनका कोई नियन्त्रण नहीं होता और न मन्त्रिपरिषद् को नीति आदि में विशेष परिचय ही होता है। इन्हें मन्त्रिमंडल के वैसे मन्त्रियों (Cabinet Ministers) के साथ सम्बद्ध (Attach) कर दिया जाता है, जो अत्यधिक कार्य-भार से लदे रहते हैं और संसद् के सदस्यों को अपने विभागीय प्रश्नों का उत्तर देने के लिए संसद् में सदैव उपस्थित नहीं रह सकते। संसदीय सचिवों का कार्य अपने विभागीय मन्त्रियों के संसदीय कार्यों में सहायता प्रदान करना होता है।

भारत की वर्तमान[3] संघीय मन्त्रिपरिषद् में १८ कैबिनेट-मन्त्री, १२ राज्य-मन्त्री और लगभग २१ उप-मन्त्री हैं। प्रत्येक कैबिनेट-मन्त्री को ३०००) रु० मासिक वेतन और ५००) रु० मासिक भत्ता मिलेगा। उन्हें निवास के लिए बिना किराया

---

१ उदाहरणार्थ, मौलाना आजाद (शिक्षा-मन्त्री) की मृत्यु के बाद श्री के० एल० श्रीमाली को शिक्षा-विभाग दिया गया था। कैबिनेट का कोई सदस्य उस समय शिक्षा-मन्त्री नहीं था।

२ जैसे श्री एम्० एम्० दास, उप-शिक्षा-मन्त्री।

३ सन् १९६२ में।

के मकान तथा सवारी के लिए मोटर-गाडी भी दी जाती है। ऐसा प्रावधान अन्य श्रेणी के मन्त्रियो के लिए नहीं है। राज्य-मन्त्री को सिर्फ ३००० रु० मासिक वेतन और उप-मन्त्री को सिर्फ २००० रु० मासिक वेतन मिलता है।

पद-ग्रहण करने के पूर्व मन्त्रियों को राष्ट्रपति के सामने दो शपथें (Oaths) भी लेनी होती हैं—एक शपथ पद की और दूसरी राजकार्यो को गुप्त रखने की।

मन्त्रिमडल के अन्तर्गत एक और छोटा-सा वर्ग होता है, जिसे अन्तरग मडल (Inner Cabinet) कहते हैं। यह मन्त्रिमडल की एक बहुत छोटी उप-समिति होती है, जो प्रधान मन्त्री और दो-तीन अन्य ज्येष्ठ (Senior) तथा अनुभवी मन्त्रियो से बनती है। इसे 'मण्डल के अन्दर मण्डल' यानी Cabinet within Cabinet भी कहा गया है।

मन्त्रिमडल का एक सचिवालय होता है, जो दिल्ली मे स्थित है। इसका काम मन्त्रिमडल की कार्यवाही का प्रबन्ध करना और रेकॉर्ड रखना होता है। फिर भी, मन्त्रिमडल की बैठको की कार्यवाही गुप्त रखी जाती है।

मन्त्रिपरिषद् के कार्य (Functions of the Council of Ministers)—सविधान की धारा ७४ के अनुसार मन्त्रिपरिषद् का कार्य राष्ट्रपति के कार्य-सम्पादन मे 'सहायता और परामर्श देना' है।[१] इसका मतलब यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि मन्त्रिपरिषद् सिर्फ एक परामर्श-दात्री सभा (Advisory body) है। कहा जा चुका है कि यद्यपि सविधान मे यह कहीं भी लिखा हुआ नही है कि राष्ट्रपति के लिए मन्त्रिपरिषद् के परामर्श को स्वीकार करना अनिवार्य है, तथापि व्यवहार मे राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् के परामर्श की अवहेलना नहीं कर सकता। वस्तुत सविधान द्वारा राष्ट्रपति या सघीय कार्यपालिका को प्रदत्त समस्त अधिकारो का प्रयोग मन्त्रिपरिषद् (प्रधान मन्त्री-सहित) ही करती है। श्री के० सन्थानम् ने ठीक ही कहा था कि मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति को परामर्श नही देती, बल्कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् को परामर्श देता है और प्रधान मन्त्री मन्त्रिपरिषद् के साथ राज्य मे शासन करता है। "साधारणतया मन्त्री राष्ट्रपति को सलाह नहीं देते, वे (मन्त्री) निर्णय लेते हैं और उन निर्णयो को कार्यान्वित करते हैं।"[२]

---

१ 'सहायता और परामर्श देने के लिए' (To aid and advise) शब्द कनाडा (Canada) के सविधान से लिए गये हैं।

२ 'Normally no advice is tendered by the Ministers to the President at all They simply pass orders They come to decisions and they execute the decisions" —*K. Santhanam*

संविधान की ७५वीं धारा के अनुसार मन्त्रिपरिषद् को प्रशासन-सम्बन्धी मामलों और विधान-विषयक योजनाओं के सम्बन्ध में अन्तिम फैसला लेने का स्पष्ट अधिकार है। राष्ट्रपति को तो इन निर्णयों की सूचना पाते रहने का ही अधिकार है।

अत, यथार्थ कार्यपालिका-शक्ति तो मन्त्रिपरिषद् में ही निहित है।

भारतीय मन्त्रिमंडल की स्थिति—जिस प्रकार राष्ट्रपति के औपचारिक ढंग से कार्यकारिणी के सभी अधिकारों का वास्तविक प्रयोग मन्त्रिपरिषद् द्वारा होता है, उसी प्रकार मन्त्रिपरिषद् के अधिकारों और कृत्यों का वास्तविक सम्पादन या सचालन भी मन्त्रिपरिषद् की उस छोटी अन्तरग समिति के द्वारा होता है, जिसे हमने ऊपर मन्त्रिमडल (Cabinet) नाम दिया है।

यदि मन्त्रिपरिषद् देश की वास्तविक कार्यकारिणी है, तो मन्त्रिमडल इस कार्यकारिणी की भी कार्यकारिणी है। इस प्रसंग में यह याद रखना चाहिए कि मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से राष्ट्रपति को कोई परामर्श नहीं देती, क्योंकि उसकी कोई बैठक होती ही नहीं। बैठक तो सिर्फ मन्त्रिमडल की होती है। अत, मन्त्रिमंडल के परामर्श को ही मन्त्रिपरिषद् का परामर्श माना जाता है।

अत, भारतीय मन्त्रिमडल (Indian Cabinet) ही भारतीय शासन-व्यवस्था का कार्यपालक अंग है। ब्रिटिश मन्त्रिमडल के सम्बन्ध में श्री रैमजे म्यूर की यह उक्ति कि 'मन्त्रिपरिषद् की आत्मा और हमारी सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली का केन्द्र-विन्दु मन्त्रिमडल है, यह सर्वोच्च शासन-सत्ताधारी है और जबतक लोक-सभा में इसे बहुमत का समर्थन प्राप्त होता रहेगा, तबतक यह अनुत्तरदायी अधिकार के साथ राष्ट्र की नीति का निर्देशन करता रहेगा।' हमारे देश की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी अक्षरश सत्य है।

मन्त्रिपरिषद की बैठकें और कार्यविधि—हम जानते हैं कि सामूहिक रूप से मन्त्रिपरिषद् (Council of Ministers) की कोई बैठक नहीं होती। बैठकें तो केवल मन्त्रिमडल (Cabinet) की होती हैं।

साधारणत, मन्त्रिमडल की प्रति सप्ताह एक बैठक होती है। अगर कोई विशेष बात हो जाय, तो एक से अधिक बैठकें भी हो सकती हैं। मन्त्रिमडल की बैठकों के बुलाने का अधिकार प्रधान मन्त्री को है। वह आवश्यकतानुसार जब चाहे मन्त्रिमडल की बैठक बुला सकता है।

मन्त्रिमडल की बैठकों में प्रधान मन्त्री सभापति का आसन ग्रहण करता है। उसकी अनुपस्थिति में वही मन्त्री सभापतित्व करेगा, जिसे प्रधान मन्त्री ऐसा निर्देशित कर जायगा। सरदार पटेल के जीवित रहने तक एक उपप्रधान मन्त्री का भी पद था, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद में वह पद नहीं रहा।

बैठक मे सब मन्त्रियो की उपस्थिति आवश्यक नही मानी गई है और न कोई संख्या (Quorum) ही निश्चित की गई है कि इतने मन्त्रियो को अवश्य उपस्थित रहना चाहिए। प्रधान मंत्री के अलावा दो-चार महत्त्वपूर्ण मंत्री रहते हैं और वे मंत्री रहते हैं, जिनके विभागो के सम्बन्ध मे उस बैठक मे विचार-विमर्श होनेवाला रहता है। अकेला प्रधान मंत्री भी महत्त्वपूर्ण निश्चय करने मे स्वतंत्र तथा समर्थ है। बजट-सम्बन्धी बाते तो प्रधान मंत्री और वित्त-मंत्री के अलावा अन्य मंत्रियो को भी नहीं बताई जाती है।

मन्त्रिमंडल की बैठको मे दिन-प्रतिदिन के कामो (Routine of daily business) या छोटे-छोटे मामलो (Minor matters) पर विचार नहीं किया जाता है। उसमे तो सरकार की कुछ मूल सैद्धान्तिक नीति निर्धारित होती है तथा महत्त्वपूर्ण मामलो पर निर्णय लिया जाता है।

मन्त्रिमंडल की बैठको मे साधारणत सभी विषयो पर मत नही लिये जाते हैं और जहाँ तक सम्भव होता है, सर्वसम्मति से ही निर्णय लिये जाते है। कभी-कभी तीव्र मतभेद की दशा मे ऐसा सम्भव होने पर बहुमत से भी निर्णय लिये जा सकते है। स्मरण रहे कि ऐसी दशा मे लिया गया अंतिम निर्णय भी मन्त्रिमंडल का संयुक्त या सामूहिक निर्णय माना जायगा।

मंत्रिमंडल की बैठको की सभी बातें तथा विवाद गोपनीय रखे जाते है। कोई भी मंत्री उसके निर्णयो का भेद प्रकट नहीं कर सकता। जन-साधारण को सिर्फ अन्तिम निर्णय ही मालूम हो सकता है। स्मरण रहे कि पद-ग्रहण करते समय प्रत्येक मंत्री को मंत्रिमंडल की वार्त्ताओ को गुप्त रखने की शपथ लेनी पड़ती है। इस शपथ को तोड़नेवाला मंत्री अपदस्थ किया जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण विषयो पर विचार-विमर्श के हेतु या अपने कार्यों को अधिक अच्छे ढग से संचालित करने के हेतु, मन्त्रिमंडल अपने सदस्यो की समितियां भी बना देता है। भारतीय मन्त्रिमंडल की आर्थिक, विदेश-सम्बन्ध, प्रतिरक्षा, वृहत् उद्योग, वैज्ञानिक विषय, मानव-शक्ति आदि नामक कितनी ही समितियां कायम हैं। ये समितियां अपने क्षेत्र मे आनेवाले सभी महत्त्वपूर्ण मामलो पर विचार करती हैं, किन्तु उन पर अन्तिम निर्णय मन्त्रिमंडल द्वारा ही लिया जाता है।

मन्त्रिमंडल की बैठकों को सुचारु रूप से चलाने तथा इसे सफल बनाने के लिए और उसके वाद-विवादो तथा निर्णयो की गोपनीयता बनाये रखने के लिए मन्त्रिमंडल का अपना एक पृथक् सचिवालय होता है।

भारतीय मन्त्रिमंडल के कृत्य (Functions of the Indian Cabinet)— ब्रिटिश संसदीय समिति (British Parliamentary Committee) के मतानुसार आधुनिक मन्त्रिमंडल के प्रधानत तीन निम्नलिखित कार्य होते है—

(१) व्यवस्थापिका के सम्मुख उपस्थित करने के लिए नीति निर्धारित करना,

(२) व्यवस्थापिका द्वारा विहित नीति के अनुसार राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियंत्रण रखना और

(३) विभिन्न विभागो के कार्यों की सीमा निर्धारित करना और उनके कृत्यो को सूत्र मे बाधना।

उपर्युक्त सिद्धान्तो के आधार पर भारतीय मन्त्रिमडल के कार्यों का निम्नलिखित विवरण दिया जाता है —

(१) राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करना, मन्त्रिमडल का सबसे प्रधान कार्य है। आन्तरिक तथा वैदेशिक मामलो मे राज्य की क्या नीति हो, इसका निश्चय भी मन्त्रिमडल द्वारा ही किया जाता है। स्मरण रहे कि इन नीतियो की अन्तिम स्वीकृति ससद् से लेनी होती है, लेकिन उन्हे क्रियात्मक रूप देना मन्त्रिमंडल का ही कार्य होता है।

(२) सम्पूर्ण शासन-यन्त्र के सचालन का उत्तरदायित्व भी मंत्रिमडल पर ही रहता है। देश की यथार्थ कार्यपालिका-शक्ति इसी मे निहित होने के कारण, मन्त्रिमडल ही प्रशासकीय कार्यों का सचालन करता है। इन कार्यों के सफल तथा सुलभ रूप मे सम्पादन के हेतु इनका भिन्न-भिन्न विभागो मे बाटा जाना, इन विभिन्न विभागो के बीच सहयोग तथा सम्पर्क स्थापित करना और इनके कार्यों का निरीक्षण तथा नियत्रण करते रहना आदि समस्त कार्यों की जवाबदेही मन्त्रिमडल की ही होती है। ससद् मे शासन-सम्बन्धी प्रश्नो तथा अनुपूरक प्रश्नो (Questions and supplementary questions) का उत्तर देना विभागीय मन्त्रियो का काम होता है।

इस सम्बन्ध मे सदैव यह ध्यान मे रखना चाहिए कि राजकीय कर्मचारियो (Civil Servants) द्वारा किये गये किसी या सभी प्रशासकीय कार्यों का उत्तरदायित्व उस विभाग के मन्त्री पर रहता है। प्रत्येक मन्त्री द्वारा किये गये कार्यो के लिए समूचा मन्त्रिमडल सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है।

(३) मंत्रिमडल विधायक कार्यों (Legislative activities) के लिए भी उत्तरदायी है। ससद् के सामने उपस्थित किये जानेवाले सभी महत्वपूर्ण सरकारी विधेयको का प्रारूप (Draft) मन्त्रिमडल द्वारा ही तैयार किया जाता है। यदि मन्त्रिमडल नही चाहे, तो कोई भी गैर-सरकारी बिल ससद् द्वारा पास नही हो सकता। किस विधेयक पर कितनी बहस हो, इसका निश्चय भी मन्त्रिमडल ही करता है। प्रत्येक सत्र (Session) मे कौन-कौन-से विधेयक ससद् के सामने

उपस्थित हो, इसका निर्णय भी मन्त्रिमडल ही करता है। स्मरण रहे कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण सरकारी विधेयक संसद् द्वारा अस्वीकृत हो जाता है, तो मन्त्रिमडल अपना त्यागपत्र दे देता है।

(४) ससद् का नेतृत्व मन्त्रिमडल ही करता है। ससदीय कार्यों का सूत्रधार मन्त्रिमडल ही होता है। ससद् की बैठक कब हो, कितने दिनो की हो, किस विधेयक पर कितने दिन बहस हो, आदि सभी कार्यक्रम, मन्त्रिमंडल द्वारा ही निश्चित किये जाते हैं।

(५) सघ की वित्तीय तथा आर्थिक (Financial and Economic) नीति का निर्धारण भी मन्त्रिमडल द्वारा ही होता है। वार्षिक आय-व्यय-विवरण (Annual Budget) इसी के द्वारा बनाया जाता है और ससद् मे वित्त-मन्त्री (Finance Minister) द्वारा पेश किया जाता है। राष्ट्रीय आमदनी के कौन-कौन-से जरिये (Sources) होगे और किन-किन मदो (Items) पर कितना-कितना खर्च होगा, इन सभी बातो का निर्णय मन्त्रिमडल ही करता है।

कोई भी धन-विधेयक (Money Bill) निजी सदस्य (Private Member) द्वारा पेश नहीं किया जा सकता। बजट ही नही, अनुपूरक मागे (Supplementary Demands) भी वित्त-मन्त्री द्वारा ही पेश की जायेंगी। इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि ससद् के सदस्यों को इन मागो को घटाने या अस्वीकार करने का अधिकार है, लेकिन बढाने का नहीं। इस प्रकार, राज्य के वित्त के ऊपर मन्त्रिमडल का ही पूरा अधिकार और नियन्त्रण है।

(६) राज्यपालो, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो, राजदूतो, विभिन्न आयोगों (Commissions) के सदस्यों आदि महत्त्वपूर्ण अधिकारियो की नियुक्ति, मन्त्रिमडल की ही राय से, राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

(७) मन्त्रिमडल के परामर्श पर ही राष्ट्रपति सकट-काल की उद्घोषणा करेगा और अपने सकटकालीन अधिकारो का प्रयोग भी मन्त्रिमडल की राय से ही करेगा। ऐसी दशा मे सघीय मन्त्रिमडल के हाथो मे सम्पूर्ण सघ या किसी भी राज्य का पूरा शासन आ जायगा।

(८) इन कार्यों के अतिरिक्त, अन्य देशो के साथ व्यापारिक या राजनीतिक सधियाँ करना और सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करना भी मन्त्रिमडल का ही काम है, यद्यपि ये कार्य औपचारिक रूप से राष्ट्रपति के नाम पर किये जाते है।

(९) दूसरे देशों के विरुद्ध युद्ध घोषित करने या युद्ध के उपरान्त शान्ति स्थापित करने के बारे मे भी मन्त्रिमडल का ही मुख्य उत्तरदायित्व है।

(१०) संविधान में संशोधन करना, राज्यों का पुनर्गठन (Reorganisation of States) इत्यादि महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद विषयों पर मन्त्रिमंडल का ही निर्णय सर्वोच्च और अन्तिम होता है ।

मन्त्रिमंडल के कार्यों की यह सूची पूर्ण तथा अन्तिम नहीं है । ठीक ही कहा गया है कि मन्त्रिमंडल के कार्य इतने व्यापक हैं कि उन्हें सूची-बद्ध करना असंभव है । भारतीय शासन-रूपी नाटक का असल सूत्रधार मन्त्रिमंडल ही है । ब्रिटिश मन्त्रिमंडल के सम्बन्ध में श्री मेरियट (Marriot) का यह कथन, कि 'मन्त्रिमंडल उस धुरी के समान है, जिसके चारों ओर सम्पूर्ण राजनीतिक यंत्र घूमता रहता है', भारतीय मन्त्रिमंडल के सम्बन्ध में भी अक्षरशः सत्य है । देश की कार्यपालिका तथा विधायिनी दोनों शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमंडल ही करता है ।

सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)—सामूहिक उत्तरदायित्व को संसदीय शासन का अन्तरंग और आत्मा कहा गया है । धारा ७५ (३) के अनुसार भारत के संविधान में स्पष्ट रूप से मंत्रिपरिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व का उल्लेख है । सामूहिक अथवा संयुक्त (Collective or Joint) उत्तरदायित्व का अर्थ सरल शब्दों में यही है कि मंत्रिपरिषद् एक निकाय (Body) या एक इकाई (Unit) या एक टीम (Team) के रूप में कार्य करती है और मंत्रिपरिषद् के निर्णयों के लिए उस परिषद् के सभी सदस्य, यानी मंत्री उत्तरदायी होते हैं । अर्थात्, मंत्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य (प्रत्येक मंत्री) सिर्फ अपने कार्यों के लिए केवल निजी या व्यक्तिगत रूप में ही उत्तरदायी नहीं होगा, वरन् अपने तथा सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद् के अन्य सहयोगी मंत्रियों के कार्यों के लिए भी संयुक्त एवं सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगा । अतएव, सभी मंत्री 'सब एक के लिए और एक सबके लिए' (All for one and one for all) वाले सिद्धान्त पर कार्य करते हैं ।

हम जानते हैं कि भारत में उत्तरदायी सरकार (Responsible Government) की प्रणाली अपनाये जाने के कारण मंत्रिपरिषद् को अपने सभी कार्यों के लिए लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया है । अतः, सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुसार लोक-सभा में यदि एक मंत्री के भी विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव (No confidence motion) या निन्दा का प्रस्ताव (Censure motion) पास हो जाय, तो प्रधानमंत्री-सहित समूची मन्त्रिपरिषद् अपना त्याग-पत्र दे देगी । प्रधान मंत्री (जो मन्त्रिपरिषद् का प्रधान होता है) के त्याग-पत्र देने पर भी यही परिणाम होगा । अतः, सारा मन्त्रिमंडल लोक-सभा के विरोध का मिलकर सामना करता है, क्योंकि सभी मन्त्री 'एक साथ तैरते हैं और एक

साथ डूबते है (Swim and sink together), या 'एक साथ ही खडे होते हैं और एक साथ ही गिरते है।'

सामूहिक उत्तरदायित्व का यह भी अभिप्राय होता है कि मन्त्रिमडल (Cabinet) की बैठको मे जो भी निर्णय लिये जायेंगे, उन निर्णयो का, ससद् मे तथा बाहर, सभी मन्त्रियो द्वारा समर्थन किया जाना आवश्यक होता है। मन्त्रिमडल की बैठक मे किसी मत्री ने यदि किसी निर्णय-विशेष का विरोध भी किया हो या कोई निर्णय-विशेष मन्त्रिमडल मे तीव्र विभाजन के फलस्वरूप सकीर्ण बहुमत से ही क्यो न पास हुआ हो, एक बार जब वैसा निर्णय मन्त्रिमडल द्वारा कर लिया गया, तो सभी मन्त्रियो को उस अन्तिम निर्णय का समर्थन करना ही होगा। कोई भी मत्री, यदि वह मन्त्रिपरिषद् का सदस्य बना रहना चाहता है, मन्त्रिमडल के निर्णयो के विरुद्ध, ससद् मे तथा बाहर, नही बोल सकता है। अर्थात्, मन्त्रिमडल द्वारा निश्चित एव निर्धारित नीति से विरोध होने की दशा मे असहमत और विरोधी मत्री को त्याग-पत्र देकर मन्त्रिपरिषद् से हट जाना पडेगा। यदि प्रधान मत्री तथा अन्य मत्री मे भेद-भाव उत्पन्न हो जाय, तो वैसी दशा मे भी उस मंत्री-विशेष को अपना त्याग-पत्र देना पडेगा।

इस प्रकार शासन-कार्यो का विभिन्न विभागो मे बँटा होना तथा प्रत्येक विभाग का एक मत्री के जिम्मे सौंपा जाना, सिर्फ शासन की सुविधा के उद्देश्यो से होता है। "ससद् और देश के लोगो की दृष्टि मे तो मन्त्रिमडल एक-अविभाज्य इकाई के रूप मे कार्य करता है और विभिन्न विभागो मे उठाये गये कदमो या निश्चित की गई नीतियो के लिए एक इकाई के रूप मे सयुक्त या समष्टि-रूप मे उत्तरदायी होता है।" अत, कोई भी मत्री मन्त्रिमडल के निर्णय के विरोध या विपक्ष मे, ससद् मे या बाहर, बोलने या मत देने के लिए इस तर्क का सहारा नही ले सकेगा कि वह मन्त्रिमडल की उस अमुक बैठक मे उपस्थित नही था, या जान-बूझकर सम्मिलित नही हुआ था या उसने बैठक की कार्यवाही मे उस निर्णय के विरुद्ध विचार या मत प्रकट किया था।

इस सम्बन्ध मे भारतीय मन्त्रिमडल के कतिपय मन्त्रियो द्वारा दिये गये त्याग-पत्र उल्लेखनीय है। सन् १९५० ई० मे पूर्वी बगाल के शरणार्थियो की समस्या पर किये गये भारत-पाकिस्तान समझौते के प्रश्न पर डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी तथा श्री के० सी० नियोगी, मंत्रिमडल के निर्णय मे सहमत नही होने के कारण, त्याग-पत्र देकर मंत्रिपरिषद मे अलग हो गये। इसी प्रकार, सन् १९५५ ई० मे राज्य-पुनस्सगठन के सम्बन्ध मे मन्त्रिमडल का निर्णय मान्य नही होने के कारण, वित्त-मत्री श्री सी० डी० देशमुख को भी त्याग-पत्र देकर मन्त्रिपरिषद् मे अलग हो

जाना पड़ा। श्री वी० वी० गिरि ने भी ऐसा ही किया था। अभी हाल में ही (अगस्त १९५९ ई० में) खाद्य-पदार्थ तथा कृषि-मंत्री (Minister for Food and Agriculture) श्रीअजितप्रसाद जैन ने मन्त्रिपरिषद से इस्तीफा इसलिए दे दिया कि वे मन्त्रिमण्डल की 'राजकीय खाद्य-व्यवसाय' (State Trading in Food) की नीति से सहमत नहीं थे।

"पर सामूहिक उत्तरदायित्व का यह अभिप्राय नहीं कि यदि कोई मंत्री शासन-कार्य में किसी ढंग से प्रमाद करे, कोई भूल करे, या कोई भ्रष्टाचरण करे, तो उसके ऐसे कार्यों के लिए सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद को उत्तरदायी ठहराया जाय।" यदि कोई मंत्री, मन्त्रिमण्डल से परामर्श किये बिना या मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति लिये बिना कोई ऐसा विचार प्रकट कर दे या वक्तव्य प्रकाशित कर दे, जिससे सरकार किसी विशिष्ट नीति और कार्य के लिए वचनबद्ध हो जाय, और इन विषयों को लेकर सरकार की बदनामी हो जाय या लोक-सभा उस मंत्री-विशेष में अविश्वास प्रकट कर दे और मन्त्रिमंडल उसके लिए केवल उसी मंत्री को उत्तरदायी समझे, तो कोई जरूरी नहीं कि समूची मन्त्रिपरिषद् को आवश्यक रूप से त्याग-पत्र देना ही पड़े। इन दशाओं में वह मंत्री व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी माना जायगा और अकेले उसी को त्याग-पत्र देना पड़ेगा।

इसी प्रकार, मंत्री अपने विभाग के उच्च पदाधिकारियों (स्थायी सरकारी कर्मचारी) के सुझावों, फैसलों और कृत्यों के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। यदि किसी मंत्री-विशेष के विभाग के सम्बन्ध में कुशासन, दुराचरण या अविवेकपूर्ण कार्यों की खबर देश को या लोक-सभा को मिले, जो समर्थनीय (Justifiable) नहीं हो और संसद् तथा देश में उसका घोर विरोध या तीव्र आलोचना हो, तो वैसी दशा में भी वह मंत्री-विशेष व्यक्तिगत रूप से ही उत्तरदायी ठहराया जायगा। जैसे, यदि संसद् में बजट पेश करने से पहले उसकी कोई भी बात मालूम हो जाय, तो वित्त-मंत्री को त्याग-पत्र देने के लिए कहा जाता है। अभी हाल में ही 'जीवन-बीमा-कारपोरेशन' के हिस्सों (Shares) को लेकर जो 'मुंधड़ा-कांड' (Mundhra Affairs) हुआ, उसके फलस्वरूप उस विभाग के मंत्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी को ही त्याग-पत्र देना पड़ा।

मंत्रिमंडल, संसद या देश में कोई विरोध न होते हुए भी यदि कोई मंत्री-विशेष, अपने विभाग-सम्बन्धी किसी घटना के कारण, उस विभाग के अध्यक्ष के नाते, खेद या पश्चात्ताप का अनुभव करे, तो वह भी त्याग-पत्र देकर मन्त्रिपरिषद् से अलग हो जा सकता है। अरियालुर की भीषण रेल-दुर्घटना के परिणाम-स्वरूप श्रीलालबहादुर शास्त्री ने, उस विभाग के नाते स्वयं को उत्तरदायी ठहराते हुए,

प्रधानमन्त्री, मन्त्रिपरिषद् और संसद् द्वारा ऐसा नहीं चाहने पर भी, रेल-मंत्री के पद से त्याग-पत्र दे दिया।

इस प्रकार, सामूहिक उत्तरदायित्व के साथ-साथ व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है।

मन्त्रिपरिषद् और संसद्—मन्त्रिपरिषद् के कृत्यों की चर्चा करते समय कहा गया है कि वह देश की कार्यपालिका तथा विधायिनी दोनों शक्तियों का प्रयोग करती है। इसी दृष्टिकोण से बेगहॉट (Begehot) ने इंगलैंड के मन्त्रिमंडल के बारे में कहा था कि मन्त्रिमंडल वह हाइफन या बकलस है, जो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को जोड़ता है।[1] अत मन्त्रिपरिषद् और संसद् के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा आवश्यक हो जाती है।

मन्त्रिपरिषद् और संसद् के बीच के सम्बन्धों की चर्चा के शुरू में ही हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मन्त्रिपरिषद् और संसद् का पारस्परिक सम्बन्ध मुख्यत मंत्रिपरिषद् और लोक-सभा के बीच का ही सम्बन्ध है। संसद् की ऊपरी सभा, यानी राज्य-सभा (The Council of States) के साथ मन्त्रिपरिषद् का कोई बहुत गहरा सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए बहुत-से लेखक सिर्फ लोक-सभा और मन्त्रिपरिषद् के ही सम्बन्धों की चर्चा करते हैं।

फिर भी, हमें यह न भूलना चाहिए कि मन्त्रिपरिषद का राज्य-सभा से भी सम्बन्ध रहता है।

राज्य-सभा के सदस्य भी मन्त्री हो सकते हैं और होते हैं, क्योंकि मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए सिर्फ लोक-सभा की ही नहीं, वरन् संसद् के किसी सदन की सदस्यता अनिवार्य है। जब ऐसे लोगों को मन्त्री बनाया जाता है, जो संसद् के किसी सदन के सदस्य नहीं हैं, तो अधिकतर उन्हें राज्य-सभा का ही सदस्य बनाकर रखा जाता है।

मन्त्री राज्य-सभा की बैठकों में भी भाग ले सकते हैं और अपने विभागीय विषयों पर बहस के दौरान भाग ले सकते हैं।

देश में संकटकालीन घोषणा के पूर्व ही यदि लोक-सभा विघटित हो गई हो या घोषणा के बाद उसे भंग कर दिया गया हो, तो आपातकालीन उद्घोषणा राज्य-सभा के सामने ही स्वीकृति के लिए पेश की जायगी। उस दशा में यदि

---

[1] "It (Cabinet) is the hyphen that joins a buckle that fastens the executive part of the state to the legislative part of the State" —*Bagehot*

राज्य-सभा उस उद्घोषणा को अस्वीकृत कर दे, तो वह अवैध या रद्द हो जायगी।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि मन्त्रिपरिषद् और राज्य-सभा में भी कुछ सम्बन्ध हैं, लेकिन मन्त्रिपरिषद् और संसद् का सम्बन्ध असल में मन्त्रिपरिषद् और लोक-सभा का ही पारस्परिक सम्बन्ध है।

मन्त्रिपरिषद् और लोक-सभा—संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह हुआ कि मन्त्रिपरिषद् तभी तक अपने पद पर बनी रहेगी, जबतक लोक-सभा में उसका बहुमत बना हुआ है और उसे लोक-सभा का विश्वास प्राप्त है। जिस दिन मन्त्रिपरिषद् लोक-सभा का समर्थन और विश्वास खो देगी, उसी दिन वह अपदस्थ हो जायगी।

सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्तों की चर्चा करते समय[1] हम कह आये हैं कि मन्त्रिमण्डल के एक भी सदस्य में अविश्वास का प्रस्ताव पास कर लोक-सभा समूची मन्त्रिपरिषद् को अस्तित्वहीन बना देगी।

चूँकि हमारे देश में अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली की अपेक्षा संसदीय प्रणाली अपनाई गई है, इसलिए मन्त्रिपरिषद् को अपने सभी कार्यों की अन्तिम स्वीकृति लोक-सभा से ही लेनी पड़ती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि संसद् की ही कृति (Creation) होने के कारण मन्त्रिपरिषद् संसद् का ही एक अंग है। निम्नलिखित उपायों द्वारा संसद् मन्त्रिपरिषद् पर नियन्त्रण रखती है—

(१) अपनी बैठकों में मन्त्रिपरिषद् द्वारा निर्धारित नीतियों तथा महत्वपूर्ण विषयों पर लिये गए फैसलों की आलोचना करके,

(२) अपनी बैठकों में प्रशासकीय कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न (Questions), अनुपूरक प्रश्न (Supplementary questions) या कम सूचना पर प्रश्न (Short notice questions) पूछ करके या 'काम रोको' प्रस्ताव (Adjournment motion) उपस्थित करके,

(३) सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् या किसी एक मन्त्री-विशेष के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव (Vote of no confidence) स्वीकृत करके,

(४) मन्त्रिपरिषद् द्वारा पेश किये गये बजट को अस्वीकार करके,

(५) बजट पर राय लिये जाने के समय किसी विभाग की माँग में कटौती करके (Cut motion) या उसे अस्वीकार करके,

---

[1] पृष्ठ-संख्या १३० से १३२।

(६) बजट पर बहस के समय किसी एक मंत्री या समस्त मन्त्रिमंडल के वेतन में कटौती करके या उसे अस्वीकार करके,

(७) गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा पेश किये गये किसी ऐसे बिल को पास करके, जिसका मन्त्रिपरिषद विरोध करे और उसे विश्वास का प्रश्न बना दे और

(८) मन्त्रिपरिषद् द्वारा पेश किये गये किसी महत्त्वपूर्ण बिल को पास नहीं करके या मन्त्रिपरिषद् की इच्छा के प्रतिकूल उसे संशोधित करके।

उपर्युक्त उपायों से लोक-सभा मन्त्रिपरिषद पर एक व्यापक और विस्तीर्ण नियंत्रण रख सकती है। मन्त्रिपरिषद् को लोक-सभा के इशारों पर ही चलना होगा। कहा गया है कि 'लोक-सभा स्वामिनी है तथा मन्त्रिपरिषद उसकी सेविका, और स्वामिनी, जब चाहे, तब सेविका को उसके पद से हटा सकती है।'

परन्तु, वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। कार्यरूप, यानी व्यवहार में संसद् द्वारा मन्त्रिपरिषद् का नियंत्रण नहीं होता है, वरन् मन्त्रिपरिषद् ही संसद् का नेतृत्व और नियंत्रण करती है। इंगलैंड के मन्त्रिमंडल के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह लोक-सभा की स्वामिनी है और लोक-सभा उसकी परख आज्ञा का पालन करती है।[1]

मन्त्रिपरिषद् का संसद् पर आधिपत्य—प्रश्न यह उठता है कि किन कारणों से सिद्धान्त और व्यवहार में इतना अन्तर आ गया है कि मन्त्रिपरिषद प्रायः सभी संसदीय पद्धतिवाले देशों में सेविका के स्थान पर स्वामिनी हो गई है? इसका उत्तर यह है—

(१) दलबन्दी की प्रथा—अपने दल के बहुमत में रहने के कारण मन्त्रिमण्डल संसद् पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। राजनीतिक दलों के कठोर अनुशासन के कारण प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने दल के नेताओं का ही समर्थन करे। 'गलत' या सही' जो भी उसका नेता करेगा, उन्हें समर्थन करना ही होगा। अतएव, मन्त्रिमण्डल को संसद् के बहुमत का समर्थन और विश्वास खो बैठने का डर जाता रहा है। विरोधी दल उसकी नीति में अधिक परिवर्तन नहीं ला पाते।

(२) संसद् के सदस्यों को मन्त्रिमंडल का भय—संसद् के सदस्यों को भी मन्त्रिमण्डल का भय रहता है। यह भय दो प्रकार के होते हैं—

(क) यदि मन्त्रिमण्डल के दल का कोई व्यक्ति संसद् में मन्त्रियों की नीति

1 "It is one of the agreeable fictions of British Government that the Commons controls the Cabinet, but an assertion that the Cabinet controls the Commons, would come closer to actualities" —*Munro 'Govt of Europe'*

की आलोचना करता है, तो उसके विरुद्ध पार्टी मे अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती । दूसरे, मन्त्रिमण्डल के सदस्य पार्टी के भी प्रभावशाली नेता होते हैं और अगर इन लोगों ने उस आलोचक सदस्य को अगले चुनाव मे अपने दल का टिकट नहीं मिलने दिया, तो उसका भविष्य अन्धकारमय हो जायगा । वर्तमान चुनावो मे स्वतन्त्र उम्मीदवारो के लिए चुनाव लड़ना या जीतना अत्यन्त ही कठिन कार्य होता है । इस प्रकार, संसद मे सरकारी दल के सदस्य अपने मन्त्रियो के पक्ष मे आंख मूंदकर हाथ उठाते हैं । संख्या कम रहने के कारण विरोधी दल की आलोचनाओं का उतना अधिक महत्त्व नहीं होता है ।

(ख) किसी प्रस्ताव पर लोक-सभा में मन्त्रिपरिषद की हार हो जाने पर भी वह लोक-सभा को विघटित करवा दे सकती है और नया निर्वाचन करवा सकती है । लोक-सभा के सदस्य नये निर्वाचन से बहुत ही घबराते हैं, क्योंकि उसमें धन और समय का व्यय, परेशानी और हारने का भय बना रहता है ।

इन्हीं कारणों से मन्त्रिपरिषद् जो चाहती है, लोक-सभा से करवा लेती है । कुछ लोगों ने तो यहां तक कहा है कि लोक-सभा तो मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों और कार्यों पर सिर्फ हामी भरनेवाली संस्था बन गई है । एक लेखक ने तो लोक-सभा को सिर्फ रबर-स्टाम्प (Rubber stamp) कहा है ।

मन्त्रिपरिषद् और राष्ट्रपति—राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । यदि दोनों को एक-दूसरे का पूरक कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । संघीय कार्यपालिका-शक्ति औपचारिक रूप से ही राष्ट्रपति में निहित है, उसका वास्तविक प्रयोग तो मंत्रिपरिषद ही करती है । देश के सारे प्रशासकीय कार्य राष्ट्रपति के नाम से ही किये जाते हैं, लेकिन राजकीय नीतियों का निर्धारण और शासन का वास्तविक संचालन तो मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही किया जाता है । इस प्रकार हम पाते हैं कि राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् दोनों को एक संग मिला देने पर ही शासन-व्यवस्था की वस्तुस्थिति दीख पड़ती है । हम कह सकते हैं कि राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं । हम राष्ट्रपति को भारतीय शासन-व्यवस्था का वैधानिक प्रधान (De Jure Sovereign) और मन्त्रिपरिषद् को तथ्यगत प्रधान (De facto Sovereign) कह सकते हैं ।

इस प्रयोजन से संविधान में राष्ट्रपति को शासन-प्रबन्ध से निकट सम्पर्क बनाये रखने का प्रावधान किया गया है । यही कारण है कि संविधान ने निश्चित किया है कि प्रधान मंत्री को मन्त्रिपरिषद के निर्णयों तथा शासन-सम्बन्धी समस्त विषयों की सूचना राष्ट्रपति के पास पहुंचाते रहना चाहिए । राष्ट्रपति को शासन-

प्रबन्ध मे संगत किसी भी सूचना को पास करने का अधिकार भी तो इसी उद्देश्य से दिया गया है।

इस अध्याय के आरम्भिक अंशो[1] मे मन्त्रियो की नियुक्ति और पदावधि के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति के कानूनी और वास्तविक अधिकारो की चर्चा की जा चुकी है। इसी प्रकार हम ऊपर कह आये[2] हैं कि मन्त्रिपरिषद् द्वारा राष्ट्रपति को सहायता एवं परामर्श दिये जाने के सम्बन्ध मे वस्तुस्थिति क्या है। सक्षेप मे, यहा सिर्फ इतना ही दुहरा देना पर्याप्त होगा कि एक ससदीय शासन-प्रणाली के सवैधानिक प्रधान की तरह भारत का राष्ट्रपति सामान्य परिस्थितियो मे मन्त्रिपरिषद् से पृथक् होकर या मन्त्रि-परिषद् की इच्छाओ और मन कामनाओ के विरुद्ध या विपक्ष मे रहकर कोई भी कार्य नही कर[3] सकता।

फिर भी, कुछ लेखको ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य राष्ट्रपति के 'अधीनस्थ अधिकारी' की कोटि में आते हैं और चूंकि राष्ट्रपति के आदेशो पर मन्त्रियो के हस्ताक्षर की आवश्यकता नही होती (जैसा इगलैड, फ्रास आदि देशो में होता है), इसलिए राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् के इंगित या इशारो पर ही चलना आवश्यक नही है। इन लोगो का यह भी कहना है कि राष्ट्रपति ही मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के बीच शासन-कार्यों का वितरण करेगा (धारा ७७, उपधारा ३) न कि प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति अपने अधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध मे किसी कार्य के लिए न्यायालय मे जवाबदेह नहीं होगा। इन लेखको के अनुसार राष्ट्रपति मन्त्रियो को 'मेरे मन्त्री' कह सकता है और व्यक्तिगत मन्त्रियो के निर्णय को पूरी मन्त्रिपरिषद् मे विचारार्थ उपस्थित करवा सकता है।

इस सम्बन्ध मे, साराश के रूप मे, यह कहा जा सकता है कि सविधान की धाराओ (Letters of the Constitution) के अनुसार यह सिद्ध नही किया जा सकता कि शासन के समस्त कार्यों के लिए मंत्रियो के ऊपर ही कानूनी उत्तर दायित्व (Legal responsibility) है। मन्त्रिपरिषद ने राष्ट्रपति को क्या मंत्रणा दी, इसकी भी जाँच न्यायालय द्वारा नही की जा सकती है। फिर भी, संविधान की आत्मा (Spirit of the Constitution) के अनुसार मन्त्रिपरिषद् ही वास्तविक कार्यपालिका है, न कि राष्ट्रपति। विशेषकर जबतक लोक-सभा मे एक

---

१ देखिए, पृष्ठ-सख्या—११६ से ११८।

२ देखिए, पृष्ठ-सख्या—१२५।

३ देखिए, पृष्ठ-सख्या—११७।

दल का स्पष्ट बहुमत रहेगा, तबतक राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् का अनुयायी बनकर चलना ही होगा।

पिछले १० वर्षों में राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् के बीच जो सम्बन्ध रहा है, वह भी इसी मत की पुष्टि करता है कि लोक-सभा में किसी एक दल के स्पष्ट बहुमत रहने तक मन्त्रिपरिषद् का जादू राष्ट्रपति के सिर पर चढ़कर बोलेगा।

उपर्युक्त मत का यह अभिप्राय नहीं है कि मन्त्रिपरिषद् के ऊपर राष्ट्रपति का कोई प्रभाव या असर पड़ेगा ही नहीं। जैसा कि ब्रिटिश सम्राट् के बारे में कहा गया है, भारत के राष्ट्रपति को भी अपने मंत्रियों को परामर्श, प्रोत्साहन और चेतावनी देने का (The right to advise, to encourage, and to warn) अधिकार सर्वदा प्राप्त रहेगा। राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् के बीच का सम्बन्ध राष्ट्रपति के व्यक्तित्व, अनुभव, ज्ञान और कूटनीति या राजनीति (Diplomacy or Politics) में पारंगामिता पर ही निर्भर करेगा। राष्ट्रपति के इन व्यक्तिगत गुणों (Subjective qualities) के अतिरिक्त देश की राजनीतिक परिस्थिति और लोक-सभा में दलीय स्थिति (Party Position) के सदृश बाहरी दशाओं (Objective conditions) पर भी मन्त्रिपरिषद् और राष्ट्रपति का सम्बन्ध निर्भर करेगा।

निष्कर्ष—भारतीय मन्त्रिपरिषद् की रचना, उसके कृत्य तथा अधिकार, संसद् और राष्ट्रपति से सम्बन्ध आदि विषयों की उपर्युक्त चर्चा के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे देश का वास्तविक शासक मन्त्रिपरिषद् ही है। कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका दोनों ही मन्त्रिपरिषद् की अनुवर्तिनी बनकर तो रहती ही हैं, कुछ अंशों में न्यायपालिका भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।[1]

ब्रिटिश मंत्रिमंडल के सम्बन्ध में श्री ग्लैडस्टोन (Gladstone) का यह मत कि 'मन्त्रिमंडल सौरमण्डल-रूपी ऐसा चक्र है, जिसके चारों ओर अन्य नक्षत्र विचरते हैं'[2] या श्रीरैमजे म्यूर की यह उक्ति कि 'मन्त्रिमंडल राज्य-रूपी जहाज का निर्देशन-चक्र है', भारत की मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में भी बिलकुल सही है।

---

१. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या मन्त्रिमंडल की राय से ही राष्ट्रपति निश्चित करता है।

२. "The Cabinet is the solar orbit round which the other bodies revolve."

भारतीय शासन-व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् के उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण स्थान को दृष्टि में रखकर कुछ लेखक यह कह बैठे हैं कि मन्त्रिमंडल एक निरंकुश शासक का स्थान ले चुका है। भारतीय संविधान मन्त्रिपरिषद की निरंकुशता की व्यवस्था नहीं करता है। संवैधानिक सीमाओं (Constitutional Limitations) के अतिरिक्त मन्त्रिपरिषद् पर सबसे बड़ा नियन्त्रण है जनमत का भय। प्रति पाँच वर्षों के बाद पुनर्निर्वाचन के लिए, जनता के सामने वोट की भिक्षा-थैली लेकर उपस्थित होने की व्यवस्था के फलस्वरूप मन्त्रिपरिषद् की निरंकुशता बहुत दूर तक अपने-आप ही नियंत्रित हो जाती है।

प्रश्न

१. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद के निर्माण, कार्यों तथा अधिकारों का वर्णन कीजिए।

Discuss the composition, functions and powers of the Union Council of Ministers

२. भारतीय मन्त्रिपरिषद् के संगठन का विवरण दीजिए। राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् में क्या सम्बन्ध है ?

Describe the composition of the Council of Ministers of India. Discuss the relations between the President and the Council of Ministers.

३. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद के विभिन्न स्तरों के मन्त्रियों की चर्चा कीजिए। मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल में क्या अन्तर है ?

Enumerate the different categories of Ministers of the Union Government In what ways the Cabinet differs from the Council of Ministers ?

४. मन्त्रिपरिषद् का सम्बन्ध बताइए—(क) राष्ट्रपति के साथ, (ख) संसद के साथ।

Examine the relationship between the Council of Ministers in India and (a) The President and (b) The Parliament

५. भारतीय शासन में मन्त्रिमण्डल का क्या स्थान है ? मन्त्रियों का लोक-सभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व से आप क्या समझते हैं ?

What is the place of the Cabinet in the Indian Administration? What do you understand by the collective responsibility of the Ministers to the House of the people (Loksabha)

६ संघ-कार्यपालिका : प्रधान मंत्री

(The Union Executive : Prime Minister)

संसदीय शासन-व्यवस्था में प्रधान मंत्री का पद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। प्रधान मंत्री ही देश का वास्तविक राजनीतिक शासक होता है । कुछ लेखकों ने तो यहां तक कहा है कि जबतक लोक-सभा में प्रधान मंत्री को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है, तबतक उसके अधिकार और शक्तियों की ऊंचाई को अध्यक्षात्मक (Presidential) शासन-व्यवस्था के प्रधान भी नहीं छू सकते । पुराने जमाने में राजा को जो विशेषाधिकार (Prerogatives) प्राप्त थे, वे आज प्रधान मंत्री के ही हिस्से में आ गये हैं ।

आपातकाल (Emergency) में तो वह देश का प्रायः तानाशाह (Dictator) बन जाता है । प्रधान मंत्री की उपमा मंत्रिपरिषद्-रूपी मेहराब (Arch) के बीच की ईंट या पत्थर से दी गई है ।[1]

चूंकि, भारत में संसदीय शासन-प्रणाली अपनाई गई है, अतएव भारतीय शासन में प्रधान मंत्री की स्थिति सर्वाधिक महत्त्व की है । वस्तुतः, देश का राजनीतिक शासक होने के नाते वही शासन का आधार-स्तम्भ है । प्रधान मंत्री मंत्रिपरिषद् का प्रधान तो होता ही है, साथ-ही-साथ लोक-सभा में बहुमत-प्राप्त दल का मुख्य नेता होने की हैसियत से वह लोक-सभा तथा सम्पूर्ण देश का भी सर्वोपरि एवं अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति होता है । ब्रिटिश प्रधान मंत्री के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'मंत्रिमंडल राज्य-रूपी जहाज का निर्देशन-चक्र है और प्रधान मंत्री उसका चालक ।'[2] यह कथन भारत के प्रधान मंत्री के सम्बन्ध में भी पूर्णतः सत्य है ।

प्रधान मंत्री की नियुक्ति एवं पदावधि—भारतीय संविधान की निजी या खास विशेषताओं (Specific features) में से एक यह भी है कि इसमें प्रधान मंत्री के पद का प्रावधान स्पष्टतः लिखित रूप में किया गया है । ७४वीं धारा में लिखा हुआ है कि राष्ट्रपति के कार्य-सम्पादन में सहायता तथा परामर्श देने के

१ "The Prime Minister is the Keystone of the Cabinet arch"

२ "The Cabinet is the steering wheel of the ship of the State and the steerman is the Prime Minister"

लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका मुखिया प्रधान मंत्री होगा। इगलैड मे प्रधान मंत्री-पद का प्रारम्भ अभिसमय (Convention) के फलस्वरूप हुआ, न कि कानूनी उल्लेख के कारण। वहा की शासन-व्यवस्था मे, सन् १८६७ ई० से पहले, प्रधान मन्त्री का कही भी वर्णन नही मिलता था।

पिछले अध्याय मे मन्त्रिपरिषद् की रचना का विश्लेषण करते समय, यह बताया जा चुका है[1] कि यद्यपि सिद्धान्तत (Theoretically) प्रधान मंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति के हाथो मे है, किन्तु व्यवहार (Practice) मे राष्ट्रपति को लोकसभा मे बहुमत-प्राप्त दल के नेता को प्रधान मंत्री नियुक्त करना ही होगा। लोक-सभा मे किसी बहुमत दल के नेता न होने की दशा मे अनेक दलों, ग्रुपो और स्वतन्त्र सदस्यो के समर्थन को प्राप्त कर एक मिले-जुले बहुमत (Coalition majority) को अपने पक्ष मे कर सकनेवाला व्यक्ति ही राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मंत्री नियुक्त होगा। हम जानते है कि भारत मे, ससदात्मक सरकार होने के कारण, मन्त्रिपरिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप मे उत्तरदायी है, न कि व्यक्तिगत रूप मे राष्ट्रपति के प्रति। अतएव, सामान्य दशाओ मे प्रधान मंत्री की नियुक्ति मे राष्ट्रपति को कोई विशेष अधिकार नही होता। विशेष परिस्थितियो, जैसे लोक-सभा मे किसी भी दल के स्पष्ट बहुमत या बहुमत दल मे सर्वमान्य नेता की अनुपस्थिति या सदिग्धता आदि, मे राष्ट्रपति को प्रधान मंत्री की नियुक्ति मे स्वेच्छा तथा स्वविवेक से काम लेने का अवसर मिल सकेगा। लेकिन ऐसी अवस्थाओ मे भी राष्ट्रपति मनमानी नहीं कर सकेगा। उसे बहुत ही विवेक, धैर्य तथा राजनीतिक कुशलता से काम लेना पडेगा। उसे वैसे ही व्यक्ति को प्रधान मंत्री चुनना पडेगा, जो उसकी सम्मति मे देश की जनता की राय का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करता हो।

हम यह भी देख चुके है[2] कि मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यो की नियुक्ति मे भी प्रधान मंत्री की राय ही निर्णायक होगी।

इसके पूर्व कि हम प्रधान मन्त्री के कार्यों और अधिकारो की चर्चा करें, हमे प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध मे उठाये गये एक विवाद (Controversy) की परीक्षा कर ही लेनी चाहिए। विवाद यह है कि क्या लोक-सभा का ही कोई सदस्य प्रधान मन्त्री होगा? अर्थात् ससद् की ऊपरी सभा (Upper House), यानी राज्य-सभा (The Council of States) का कोई भी सदस्य प्रधान मन्त्री-पद पर नियुक्त हो सकेगा या नही?

---

१. देखिए, पृष्ठ-सख्या—११६।

२. देखिए, पृष्ठ-सख्या—११८।

कुछ लेखकों की सम्मति में—"मन्त्रिपरिषद् को लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी बनाकर संविधान ने परोक्ष रूप से राज्य-परिषद् (The Council of States) के किसी भी सदस्य को प्रधान मन्त्री नियुक्त होने की संभावना का अन्त कर दिया है।" इन लेखकों का उपर्युक्त दावा इस तर्क पर आधारित है कि संविधान ने मन्त्रिपरिषद् को समूची संसद्, यानी संसद् के दोनों सदनों के प्रति उत्तरदायी न ठहराकर सिर्फ लोक-सभा के प्रति ही उत्तरदायी ठहराया है।

इस लेखक की राय में इस प्रकार का मत सर्वथा गलत तथा निराधार (Totally wrong and baseless) है।[1] भारत का संविधान कहीं भी यह अनिवार्य नहीं मानता है कि प्रधान मंत्री के पद पर सिर्फ लोक-सभा के सदस्यों को ही नियुक्त किया जाय। संविधान के अनुसार मंत्रियों को संसद् के किसी भी सदन का सदस्य अवश्य होना चाहिए[1]। इस व्यवस्था के कारण राष्ट्रपति राज्य-सभा के किसी सदस्य को भी प्रधान मंत्री पद पर नियुक्त कर सकता है। इतना ही नहीं, राष्ट्रपति किसी *ऐसे व्यक्ति को भी प्रधान मंत्री नियुक्त कर सकता है, जो नियुक्ति के समय संसद* के किसी भी सदन का सदस्य न हो। हाँ, वैसे व्यक्ति को ६ महीने की अवधि के अन्दर संसद् के किसी सदन (फिर कोई जरूरी नहीं कि लोक-सभा का ही) का सदस्य हो जाना चाहिए।[2]

तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि इस लेखक का यह मत संविधान की शब्दावली (Letters of the Constitution) पर आधारित है, न कि व्यावहारिकता (Practicability) पर। कहा जा सकता है कि प्रधान मंत्री बिना लोक-सभा का सदस्य हुए कैसे काम चला सकता है? इसके उत्तर में लेखक का यह कहना है कि प्रधान मंत्री को, लोक-सभा का सदस्य नहीं रहने पर भी, उस सभा में उपस्थित होने तथा भाषण देने का अधिकार प्राप्त रहेगा। हाँ, वैसी दशा में लोक-सभा में वोट देने का अधिकार उसे नहीं होगा। लेकिन यदि ऐसे प्रधान मन्त्री को लोक-सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है, तो उसके प्रधान मंत्री बने रहने में कोई संवैधानिक कठिनाई या असमर्थता नहीं होगी।

इस सम्बन्ध में लेखक एक-दो उदाहरण भी दे सकता है। जिस प्रकार संघ-सरकार में प्रधान मंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाने की व्यवस्था की गई है, उसी प्रकार राज्य-सरकारों में राज्यपाल (Governor) द्वारा मुख्य मंत्रियों (Chief Ministers) की नियुक्ति की जाती है। दो राज्यों

१ संविधान की धारा ७५ (५)।

२ संविधान की धारा ७५ (५)।

मे आम चुनावो के पश्चात् मुख्य मत्री के चुनाव मे झझट हुआ। बम्बई मे बड़ा के भावी मुख्य मत्री श्रीमुरारजी देसाई निर्वाचन मे पराजित हो गये। फिर भी, उन्हें विधान-परिषद् का सदस्य मनोनीत किया गया और मुख्य मंत्री बनाया गया। इसी प्रकार, मद्रास राज्य मे किसी दल को विधान-सभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। अतएव, मुख्य मत्री के चुनाव मे कठिनाई हुई। इस कठिनाई को दूर करने के लिए श्री राजगोपालाचारी को कांगरेस-दल का नेता बनाकर मुख्य मत्री बनाये जाने का निर्णय किया गया। राजाजी मद्रास विधान-सभा के सदस्य नहीं थे, अत, उन्हें विधान-परिषद (Legislative Council) का सदस्य मनोनीत किया गया और उन्हें मुख्य मत्री बनाया गया।

पिछले दोनो आम चुनावो के बाद लोक-सभा मे कांगरेस-पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और इसलिए प्रधान मत्री की नियुक्ति मे कोई कठिनाई उपस्थित नहीं हुई। लेकिन, भविष्य मे यदि प्रधान मंत्री की नियुक्ति मे वैसी ही कठिनाई आ पडे, जैसी कि मद्रास और ट्रावणकोर-कोचीन (सन् १९५३ ई०) मे या सन् १९५७ ई० के चुनाव के बाद उडीसा मे, मुख्य मत्रियो के चुनाव के सम्बन्ध मे आ पडी थी, या लोक-सभा के बहुमत दल के नेता को जान-बूझकर आम चुनाव मे पराजित कर दिया जाय (जैसा कि श्रीमुरारजी देसाई के साथ हुआ था), तो राज्य-सभा के सदस्यो मे से भी किसी को प्रधान मंत्री नियुक्त किया जा सकता है। जहा तक वैसे व्यक्ति को लोक-सभा के बहुमत का समर्थन और विश्वास प्राप्त रखने का प्रश्न है, वह तो किसी भी दशा मे जरूरी है, चाहे वह लोक-सभा का सदस्य हो या राज्य-सभा का।

योग्यताएँ—प्रश्न उठता है कि प्रधान मंत्री नियुक्त होने के लिए कौन-कौन-सी योग्यताए होनी चाहिए ? सविधान के अनुसार प्रधान मंत्री के लिए 'ससद् के किसी भी सदन की सदस्यता' और 'लोक-सभा के बहुमत का विश्वास और समर्थन' को छोडकर अन्य किसी विशेष योग्यता का उल्लेख नही पाया जाता है। नियुक्त होते समय और पद-ग्रहण की तिथि से ६ महीने की अवधि तक तो ससद् के किसी सदन की सदस्यता भी अनिवार्य नहीं है।

फिर भी, भारत-जैसे महान् और विस्तृत देश का प्रधान मत्री कोई भी व्यक्ति नही हो सकता। भारत के प्रधान मंत्री-पद के लिए भी लगभग उसी प्रकार की योग्यताओ की आवश्यकता पडेगी, जैसी ब्रिटिश प्रधान मंत्री के सम्बन्ध मे कही गई है। प्रसिद्ध लेखक मुनरो (Munro) के अनुसार प्रधान मंत्री को कुलीन, सुशिक्षित एवं धनवान् (Well born, well educated and well to-do) होना चाहिए। भारत के भूतपूर्व प्रधान मंत्री, श्रीनेहरू मे ये तीनो ही गुण

पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान थे। छोटे पिट (Pitt the Younger) के शब्दो मे 'प्रधान मत्री मे प्रथम वक्तृत्व-शक्ति, दूसरे ज्ञान, तीसरे परिश्रम और अन्त मे धैर्य (Eloquence first, then knowledge, thirdly toil & lastly patience) होना चाहिए। भारत के प्रधान मत्री के सम्बन्ध मे भी ये योग्यताएँ निर्धारित की जा सकती हैं। ठीक ही कहा गया है कि 'उसे लोकमत के अध्ययन का विद्यार्थी, प्रचार-कला का पडित, भाषणो का आविष्कारक तथा कुशल वक्ता होना चाहिए। उसमे सिनेमा के अभिनेताओ की तरह जनता के मन को आकृष्ट करने की क्षमता होनी चाहिए।' भारत के वर्त्तमान प्रधान मत्री मे ये सभी गुण मौजूद हैं। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त ही आकर्षक तथा श्रद्धा योग्य है।

प्रधान मंत्री के कार्य और अधिकार (Functions and Powers of the Prime Minister)—प्रधान मत्री का पद अद्भुत शक्ति, अधिकार तथा सम्मान का होता है। ठीक ही कहा गया है कि भारतीय शासन-व्यवस्था मे मूर्धन्य स्थान (Pivotal Position) मन्त्रिपरिषद् का है, और मन्त्रिपरिषद् मे मूर्धन्य स्थान प्रधान मत्री का है। प्रधान मत्री ही वास्तविक राजनीतिक शासक होता है। उसके कार्यो एव अधिकारो को निम्नलिखित ढग से सूचीबद्ध किया जा सकता है—

(१) मत्रिपरिषद् के अन्य सदस्यो के साथ, प्रधान मत्री, राष्ट्रपति को उसके कार्य-सम्पादन मे सहायता तथा परामर्श देता है।

(२) वह मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करता है। मन्त्रिपरिषद् के अन्य मत्रियो की सूची तैयार कर राष्ट्रपति से उनकी नियुक्ति कराना प्रधान मंत्री का ही कार्य है। यदि उसके दल को लोक-सभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त है, तो राष्ट्रपति को उसकी सूची को स्वीकार करना ही पडेगा। राष्ट्रपति यदि उस सूची मे सम्मिलित (Included) किसी नाम के विरुद्ध भी हो, लेकिन प्रधान मत्री उस व्यक्ति के नाम पर अड जाय, तो राष्ट्रपति को स्वेच्छा के विरुद्ध भी उस व्यक्ति को मत्री बनाना ही पडेगा।

मत्रिपरिषद् मे कौन व्यक्ति किस स्तर (Rank) का मत्री होगा, इसका भी निश्चय प्रधान मत्री ही करता है।

इस प्रकार, अन्य मत्रियो की नियुक्ति मे प्रधान मत्री की इच्छा ही सर्वोपरि होती है। फिर भी, उसे अपने दल के वृद्ध (कुछ नवयुवको को भी), अनुभवी और प्रभावशाली व्यक्तियो को मन्त्री बनाना पडता है। मिली-जुली या सयुक्त सरकार (Coalition Government) की दशा मे दूसरे समर्थक दलो के नेताओ को भी उसे मन्त्री बनाना पडता है। कई बार ऐसा भी होता है कि देश की तत्कालीन विशेष परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर, अपने दल का स्पष्ट

बहुमत लोक-पक्ष मे रहते हुए भी, प्रधान मंत्री दूसरे दलो के कुछ नेताओ को भी अपने मन्त्रिमंडल मे शामिल कर लेता है।

भारत मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पहला मन्त्रिमडल इसी प्रकार का बनाया गया था। यद्यपि कांगरेस को संसद् मे बहुमत प्राप्त था और श्रीनेहरू अपने दल के सदस्यो मे से ही एक स्थिर (Stable) मन्त्रिमडल बना सकते थे, तथापि देश की विशेष परिस्थितियो को मद्देनजर रखते हुए कुछ विपक्षी दलो के नेताओ को, जो कांगरेस के कटु आलोचक तथा घोर निन्दक थे, जैसे श्री श्यामा प्रसाद मुखर्जी, डाक्टर अम्बेदकर आदि, को भी मन्त्रिमडल मे सम्मिलित कर लिया गया था।

आवश्यकतानुसार मन्त्रियो की संख्या को घटा-बढा सकना भी प्रधान मंत्री का अधिकार है।

(३) प्रधान मंत्री के इच्छा-पर्यन्त ही मन्त्रिपरिषद् कायम रह सकती है। वह जब चाहे, किसी एक मन्त्री को या समूची मन्त्रिपरिषद् को अपदस्थ (Dismiss) करवा दे। यदि कोई मंत्री प्रधान मंत्री की इच्छानुसार कार्य न करे या प्रधान मंत्री की नीतियो के विरुद्ध हो, तो प्रधान मंत्री उसे त्याग-पत्र देने को कह सकता है। यदि वह मंत्री ऐसा करने को तैयार न हो, तो प्रधान मंत्री राष्ट्रपति को कहकर उसे पदच्युत करा सकता है, या नहीं, तो स्वयं अपना त्याग-पत्र देकर समूची मन्त्रिपरिषद् को भंग करा दे सकता है। जब उसे पुन नई मंत्रिपरिषद् बनाने को कहा जायगा तब वह उस मन्त्री-विशेष को अपनी सूची मे सम्मिलित नहीं करेगा।

(४) प्रधान मंत्री मन्त्रिपरिषद् का मुखिया होता है। मन्त्रिपरिषदो की बैठको को बुलाना तथा उन बैठकों का सभापतित्व करना, प्रधान मंत्री का ही कार्य है। मन्त्रिपरिषद् की कार्यवाहियों, निर्णयो और नीति-निर्धारणों आदि मे वही सर्वेसर्वा होता है। वह प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय पर, शास्त्री-सरकार अपनी मन्त्रिपरिषद् की सलाह अवश्य लेता है और साधारणत उसके निर्णयो की अपेक्षा नही करता, लेकिन यदि वह चाहे, तो अकेले ही (Individually) कोई निर्णय ले सकता है। इसलिए तो देश की सरकार उसी के नाम पर पुकारी जाती है—जैसे,—नेहरू-सरकार, शास्त्री सरकार।

(५) यद्यपि संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद् के सदस्यो के बीच विभागो का बँटवारा करना राष्ट्रपति का कार्य है, परन्तु वस्तुत प्रधान मन्त्री ही अपने सहयोगियो के बीच कामो का बँटवारा करता है। किस मन्त्री को कौन-सा विभाग सुपुर्द किया जाय, इसका निश्चय भी वही करता है। शासन के सभी विभागो पर निगरानी रखना, मन्त्रालय के विविध विभागो के पारस्परिक

मतभेदो को दूर करना तथा उनके बीच सामजस्य स्थापित रखना, प्रधान मंत्री का ही कार्य है।

(६) सरकार की आन्तरिक तथा वैदेशिक Home and Foreign) नीतियो को प्रधान मत्री ही निर्धारित करता है। प्रधान मन्त्री की नीतियो से असहमत रहनेवाले मन्त्रियो के लिए सिर्फ एक ही चारा है—त्याग-पत्र देकर मन्त्रि-परिषद् से अलग हो जाना। उदाहरण—डॉ० श्यामप्रसाद मुखर्जी, एच० सी० भाभा, सी० डी० देशमुख इत्यादि।

(७) संविधान की ७८वीं धारा के अनुसार, प्रधान मन्त्री को मन्त्रिपरिषद् के सघीय प्रशासन तथा विधान-सम्बन्धी सभी निर्णयो की सूचना राष्ट्रपति को देनी होगी। इस सम्बन्ध मे राष्ट्रपति द्वारा मागी गई सभी सूचनाएँ भी प्रधान मत्री ही देगा। इस प्रकार, प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् को मिलानेवाली कडी का काम करता है।

(८) राज्यो के प्रमुख उच्च पदाधिकारियो, जैसे राज्यपालो, न्यायाधीशो, प्रमुख सेनापति आदि की नियुक्ति प्रधान मन्त्री की ही राय से राष्ट्रपति करेगा।

(९) ससद् के भीतर या बाहर प्रधान मन्त्री ही सरकार का मुख्य प्रवक्ता (Chief Spokesman) माना जाता है। संसद् के भीतर या बाहर राजकीय नीतियो का उद्घोषण, विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण प्रधान मन्त्री के द्वारा ही होता है। इस प्रकार वह संसद् का भी नेतृत्व करता है।

(१०) प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति को लोक-सभा को विघटित (Dissolve) करने का परामर्श दे सकता है।

(११) संकटकाल की उद्घोषणा होने पर राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारो का वास्तविक प्रयोग प्रधान मन्त्री ही करता है।

(१२) प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति के सम्मुख मन्त्रिपरिषद् का प्रतिनिधित्व करता है। राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् मे पत्र-व्यवहार के लिए मुख्य-प्रणालिका (Chief Channel of Communication) भी वही होता है।

(१३) राज्य-सभा (संसद् की ऊपरी सभा) के लिए, जो बारह सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते है, यथार्थत. उन नामो का निश्चय भी प्रधान मन्त्री के ही द्वारा होता है।

(१४) सभी महत्त्वपूर्ण विषयो पर अन्य मन्त्री प्रधान मन्त्री की राय लेते है और उसी के परामर्श के अनुसार कार्य करते है। किसी भी मन्त्री को राष्ट्रपति से, प्रधान मन्त्री की आज्ञा के बिना या उसके विरुद्ध, बातचीत करने का अधिकार नहीं है। कोई मन्त्री प्रधान मन्त्री के माध्यम से ही राष्ट्रपति से बातचीत या पत्र-व्यवहार कर सकता है।

(१५) भारत-रत्न, पद्म-विभूषण आदि उपाधियो के वितरण के लिए राष्ट्रपति को प्रधान मत्री ही परामर्श देता है। राष्ट्रपति के विदेश-भ्रमण एव देश के विभिन्न भागो के दौरे का कार्यक्रम भी प्रधान मत्री ही निश्चित करता है।

प्रधान मत्री के उपर्युक्त कार्यो एव अधिकारो पर दृष्टिपात करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय शासन-यत्र का केन्द्र-विन्दु वही है। भारतीय शासन का आधार-स्तम्भ प्रधान मत्री ही है।

प्रधान मंत्री और उसके अन्य सहयोगी—प्रधान मंत्री के अधिकारो एव कृत्यो के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि प्रधान मत्री और उसके अन्य सहयोगियो (मत्रिमडल के अन्य सदस्यो) के बीच कैसा सम्बन्ध रहता है ? इस विषय पर भी लेखको मे मतभेद है। प्रधान मत्री के अधिकारो की चर्चा करते समय कहा गया है कि प्रधान मत्री मत्रिपरिषद् का जनक, पालक और सहारकर्त्ता होता है। तभी तो प्रसिद्ध अंगरेज राजनीतिज्ञ लार्ड मार्ले ने प्रधान मत्री को 'मत्रिमडल-रूपी मेहराब की आधार-शिला' कहा है।

लेकिन कुछ लेखको और आलोचको की राय मे प्रधान मत्री मत्रिपरिषद् का अधिपति न होकर 'अपने सहयोगियो मे प्रथम' (Primus inter-pares) होता है। उसे 'समान व्यक्तियो मे सर्वप्रथम' (First among the Equals) और 'लघु सितारो के बीच चाद' (Moon among the smaller stars) भी कहा गया है। अर्थात्, इन लेखको के अनुसार प्रधान मत्री और मत्रिमडल के बीच अधिपति और अध अनुयायी (Blind supporter) या सेवक का सम्बन्ध न होकर मित्र, सहकर्मी और सहयोगी का सम्बन्ध होता है।

प्रधान मत्री निस्सदेह मत्रिमडल का सर्वोपरि व्यक्ति होता है। उसे 'समान व्यक्तियो मे प्रथम' या 'लघु सितारो मे चाद' कहना ठीक नही है। अन्य मत्रियो मे और प्रधान मंत्री मे बहुत अन्तर है। श्री बी० एस० कार्टर ने ठीक ही कहा है कि 'जब कोई मत्रिमडल-मत्री प्रधान मंत्री हो जाता है, तब सिर्फ स्थान मे ही परिवर्त्तन नही होता, वरन् उसकी शक्तियो की व्यापकता मे परिवर्त्तन हो जाता है।'[1]

हम देख चुके हैं कि अन्य मत्रियो के चुनाव, अपने पदो पर उनके कायम रहने तथा उनके अपदस्थ किये जाने आदि के सम्बन्ध मे प्रधान मत्री की इच्छा

---

1 "The change from the status of a Cabinet Minister to the position of Prime Minister is not merely a change of place but a change of dimensions."—*B S Carter 'The Office of the Prime Minister'*

ही अन्तिम निर्णय होगी। इसके अतिरिक्त हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि प्रधान मंत्री देश-भर का नेता होता है। देश की जनता प्रधान मंत्री के अन्य सहयोगियों और उसके दल को अपना वोट नही देती। वह तो प्रधान मंत्री के व्यक्तित्व तथा उसकी नीति को अपना वोट देती है। ठीक ही कहा गया है कि कोई भी आम चुनाव प्रधानत प्रधान मंत्री का चुनाव होता है। अपने देश मे सन् १९५२ ई० और १९५७ ई० मे जो दो आम चुनाव हुए, उनमे भारत के मतदाताओ ने श्रीजवाहरलाल नेहरू को अपना वोट दिया न कि उनके दल के अन्य नेताओ, यानी उनके मन्त्रिमडल के अन्य मन्त्रियो को।

अत, प्रधान मंत्री का स्थान मंत्रिपरिषद् मे सर्वोच्च होता है। ठीक ही कहा गया है कि वह एक सूर्य के समान है, जिसके चारो ओर सभी नक्षत्र घूमते हैं।

लेखक के उपर्युक्त निष्कर्ष का यह मतलब नही है कि प्रधान मंत्री जो चाहेगा, करेगा। वह अपने अन्य मन्त्रियो के कार्यों मे जब भी चाहेगा और जैसे भी चाहेगा, हस्तक्षेप करेगा तथा अपने सहयोगियो के विचारो की सर्वथा अवहेलना कर सकेगा। अपने सभी सहयोगियो को पदच्युत करा देना या उनसे त्याग-पत्र माग लेना भी, उसके लिए सर्वदा आसान नही होगा। ठीक ही कहा गया है कि श्रीनेहरू जैसे महान् प्रधान मन्त्री के लिए भी सरदार पटेल को मंत्रिमडल मे सम्मिलित नही करना या उनसे त्याग-पत्र मागना मुश्किल था।

लेकिन इस तरह के उदाहरण अधिकतर अपवाद (Exceptions) होते हैं, न कि साधारण नियम (General Rule)। यह सही है कि अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली (Presidential Form of Government) के प्रधान की तरह, जैसे अमेरिका का राष्ट्रपति, शासन का प्रधान मन्त्री अपनी मन्त्रिपरिषद् का स्वामी (Boss) नहीं होता है, फिर भी उसके मन्त्रिपरिषद् के निर्माण, जीवन तथा मृत्यु के केन्द्र-विन्दु होने मे किसी प्रकार का संदेह नही होना चाहिए। उसकी मन्त्रिपरिषद् के अन्य सब सदस्य प्रधान मन्त्री के सम्मुख अवश्य ही फीके और निर्बल हुआ करते हैं।

प्रधान मंत्री और राष्ट्रपति—गत अध्याय के आरंभिक अशो मे प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति की सापेक्षिक स्थिति (Relative Position) पर प्रकाश डाला जा चुका है। फिर भी, हम यहा इस प्रश्न की परीक्षा करेंगे कि प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति मे क्या सम्बन्ध होगा ? कभी-कभी यह प्रश्न भी किया जाता है कि दोनो मे अधिक महान् कौन है ?

इस सम्बन्ध मे यहा इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली की अपेक्षा संसदात्मक या मन्त्रिमडलात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाकर

भारतीय संविधान ने निस्सन्देह राष्ट्रपति की अपेक्षा प्रधान मन्त्री को अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

संवैधानिक प्रधान होने के नाते, ओहदों के क्रम में राष्ट्रपति का ही स्थान सर्वोच्च है। इसके द्वारा नियुक्त किये जाने के कारण प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति का 'अधीनस्थ' होता है। प्रधान मन्त्री के लिए लाजिम है कि वह मन्त्रिपरिषद् के निर्णयो की सूचना राष्ट्रपति को देता रहे। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह किसी भी प्रकार की शासन-सम्बन्धी सूचना प्रधान मन्त्री से माग सकेगा और प्रधान मन्त्री को वैसी सूचना देनी होगी। इसी प्रकार राष्ट्रपति किसी एक मत्री के निर्णय को प्रधान मन्त्री द्वारा समूची मन्त्रिपरिषद् के विचार के लिए प्रेषित करवा सकता है। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री को 'मेरे प्रधान मन्त्री' (My Prime Minister) कहकर सम्बोधित कर सकता है, लेकिन प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति को 'मेरे राष्ट्रपति' (My President) नही कह सकता।

उपर्युक्त बातो के बावजूद भारतीय राष्ट्रपति केवल एक कानूनी और सिद्धान्तत सप्रभु (Legal and De Jure Sovereign) ही होगा। देश का राजनीतिक और तथ्यगत-सप्रभु (Political and De Facto Sovereign) तो प्रधान मन्त्री ही होगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति के चुनाव मे प्रधान मन्त्री का बहुत बडा हाथ होगा। संसद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यो तथा राज्यो को विधान-सभाओ के निर्वाचित सदस्यो द्वारा निर्वाचित होने की व्यवस्था के कारण कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति-पद के लिए प्रधान मन्त्री की इच्छा के विरुद्ध, कतई निर्वाचित नहीं हो सकता। इसी प्रकार, ससद् के बहुमत का समर्थन और विश्वास प्राप्त होने के कारण प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति के विरुद्ध की गई महाभियोग की कार्यवाही मे भी निर्णायक पार्ट अदा कर सकेगा।

अत, हम पाते हैं कि जिस प्रकार प्रधान मन्त्री (अपनी मन्त्रिपरिषद्-सहित) राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श नही देगा, वरन् राष्ट्रपति ही प्रधान मन्त्री को प्रोत्साहित करेगा, परामर्श देगा और अधिक-से-अधिक चेतावनी दे सकेगा, उसी प्रकार प्रधान मन्त्री की नियुक्ति और पदावधि राष्ट्रपति के हाथो नही होगी, वरन् राष्ट्रपति की ही नियुक्ति और पदावधि प्रधान मन्त्री की स्वेच्छा और स्वविवेक पर ही निर्भर करेगी।

राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री मे कौन अधिक महान् है, इस तरह का प्रश्न कुछ बेतुका-सा लगता है। हमारे देश की शासन-व्यवस्था मे, आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहने पर भी, दोनो का अपना-अपना एक विशिष्ट और विलग (Specific and separate) स्थान है। फिर भी, यदि कोई इस प्रश्न का उत्तर देने को

व्याख्या करें तो यही कहा जाना चाहिए कि भारतीय शासन का पहिया राष्ट्रपति की धुरी (Axis) पर नहीं, वरन् प्रधान मन्त्री की धुरी पर घूमता है। भारतीय राज्य-रूपी जहाज का चालक राष्ट्रपति नहीं, वरन् प्रधान मन्त्री है। अर्थात्, भारतीय शासन का मेरुदण्ड प्रधान मन्त्री है, न कि राष्ट्रपति।

प्रधान मन्त्री और संसद—प्रधान मन्त्री और ससद के बीच घनिष्ठ ही नहीं वरन् अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। ये दोनो ही ससदीय शासन-प्रणाली के अविभाज्य अग माने गये हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व ही नहीं होता।

प्रधान मन्त्री ससद् के प्रति उत्तरदायी होता है। ससद् के बहुमत का विश्वास तथा समर्थन प्राप्त रहने के कारण प्रधान मन्त्री ही ससद् का नेतृत्व करता है। प्रधान मन्त्री द्वारा निर्धारित सभी नीतियो तथा सभी महत्वपूर्ण निर्णयों की अन्तिम स्वीकृति संसद् से ही लेनी पडती है। प्रतिदिन के प्रशासकीय कार्यों (Day-to day administrative matters) पर भी प्रश्न और सहायक प्रश्न पूछकर तथा 'काम-रोको' या निन्दा और अविश्वास के प्रस्तावो द्वारा, ससद प्रधान मन्त्री को अपने नियत्रण मे रखती है। प्रधान मन्त्री के कार्यों की जाच के लिए ससद जाच-समिति भी नियुक्त कर सकती है। प्रधान मन्त्री को समस्त राजकीय कृत्यो के लिए खर्च की मजूरी भी ससद् से ही लेनी पडती है।

सिद्धान्तत, प्रधान मत्री को ससद्-रूपी अधिपति का क्रीतदास होना चाहिए। लेकिन, वस्तुत स्थिति ठीक इसके विपरीत है। इन दिनो प्रधान मत्री ससद् का दास न होकर स्वामी बन गया है। सिद्धान्त और व्यवहार मे इतना फर्क क्यो आ गया है इसकी चर्चा मत्रिपरिषद् और ससद् के सम्बन्ध के सिलसिले मे की जा चुकी है।[1]

प्रधान मन्त्री की स्थिति—प्रधान मत्री की उपर्युक्त शक्तियो तथा ससद्, राष्ट्रपति और मत्रिपरिषद् के साथ उसके सम्बन्धो की चर्चा के पश्चात् अत मे हम प्रधान मत्री की वास्तविक स्थिति पर दो शब्द कहना चाहेंगे।

इस लेखक के उपर्युक्त मतों का कुछ लोग यह अर्थ लगा सकते हैं कि प्रधान मन्त्री एक निरकुश अधिनायक (Absolute dictator) की भाति कार्य करेगा। अन्य ससदीय देशो के प्रधान मन्त्रियो के सम्बन्ध मे बहुत-से आलोचकों द्वारा ऐसा भी कहा गया है। इस लेखक की सम्मति मे अन्य प्रधान मन्त्रियो की भाति भारत का प्रधान मन्त्री भी अपनी इन विस्तीर्ण एवं व्यापक शक्तियो का प्रयोग देश और जनता के हितो को ध्यान मे रखकर ही करेगा। जनमत की

---

१ देखिए, पृष्ठ-सख्या—१३५।

अवहेलना या जनमत के विरुद्ध वह कोई भी मनमानी नहीं कर सकेगा। पिछले दिनो हमने देखा कि भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री नेहरू को बम्बई के प्रश्न पर अपने विचारों को बदलना ही पडा और बम्बई राज्य के विभाजन को अन्ततोगत्वा मानना ही पडा।

इसी प्रकार, राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध मे भी श्रीनेहरू को अँगरेजी-भाषा को अनियत काल के लिए Additional National Language घोषित करना ही पडा।

प्रधान मंत्री को निस्सदेह भारतीय शासन-व्यवस्था का मुकुटमणि कहा जा सकता है। फिर भी प्रधान मंत्री की वास्तविक स्थिति बहुत दूर तक उनके व्यक्तित्व और देश की परिस्थितियो पर निर्भर करेगी। यदि भारत का प्रधान मंत्री श्रीनेहरू की तरह अद्वितीय व्यक्तित्व तथा प्रखर प्रतिभावाला व्यक्ति हो और देशवासियो के बहुत बडे भाग का हृदय-सम्राट और जननायक हो, तो प्रधान मंत्री पद का महत्व बहुत ही अधिक होगा।

राष्ट्रपति के सकटकालीन अधिकारो की आलोचना करते समय इस लेखक ने कहा था कि राष्ट्रपति के अधिनायक बनने के षड्यंत्र मे यदि प्रधान मंत्री भी शामिल हो जाय, तो भी कुछ दिनो से अधिक समय तक राष्ट्रपति तानाशाह नही बना रह सकता। प्रधान मंत्री के सम्बन्ध मे इस लेखक की राय यह है कि किसी प्रभुता-प्रेमी और महत्वाकाक्षी प्रधान मंत्री के अधिनायक बनने के षड्यंत्र मे यदि राष्ट्रपति शामिल हो जाय, तो भारत का प्रधान मंत्री सकटकालीन अधिकारो के माध्यम से बहुत दिनो तक तानाशाह बना रह सकता है।

प्रश्न

१ भारत के प्रधान मंत्री की नियुक्ति कैसे होती है? उसके अधिकारो तथा कृत्यो का उल्लेख कीजिए।

How is the Prime Minister of India appointed? Discuss his Powers and Functions

२ भारत के प्रधान मंत्री के क्या अधिकार हैं? प्रधान मंत्री और उसके अन्य सहयोगियो के बीच क्या सम्बन्ध रहता है?

What are the Powers of the Prime Minister of India? What are his relations with the other members of the Council of Ministers?

३ भारतीय शासन मे प्रधान मंत्री का क्या स्थान है? आपकी सम्मति मे राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री मे कौन अधिक महान् है?

What is the place of the Prime Minister in Indian Administration? Which one of the two, the President or the Prime Minister, is greater, in your opinion?

४ यह कथन भारत के प्रधान मंत्री के सम्बन्ध मे कहा तक सच है ?—'प्रधान मंत्री मन्त्रिमडल-रूपी मेहराब का मध्य-प्रस्तर है।'

या

'भारत का प्रधान मन्त्री सघ-मन्त्रिमडल-रूपी मेहराव के वीच की ईंट या पत्थर है।'

How far is this statement true in the case of the Indian Prime Minister ?

"The Prime Minister is the Keystone of the Cabinet Arch"

Or

"The Prime Minister of India is the Keystone of the Union Cabinet Arch" Discuss

५ 'भारतीय शासन-यन्त्र का सचालक-पहिया राष्ट्रपति की धुरी पर नही, वरन् प्रधान मन्त्री की धुरी पर घूमता है।'

अथवा

'भारतीय शासन का मेरुदड प्रधान मन्त्री है, न कि राष्ट्रपति'। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

Examine the statement.

"Not the Indian President but the Indian Prime Minister is the axis around which the steering-wheel of the Indian Administrative machinery revolves"

Or

"The Prime Minister and not the President is the backbone of the Indian Administration."

१० संघ-कार्यपालिका : महान्यायवादी तथा नियंत्रक-महालेखा-परीक्षक
(The Union Executive Attorney General and Comptroller and Auditor General)

संघ-कार्यपालिका मे राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त कतिपय अन्य अधिकारियों का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये महत्त्वपूर्ण शासनाधिकारी मन्त्रिपरिषद् के सदस्य नही होते, पर सरकार के कार्यकारिणी विभाग से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस कारण, यह लेखक इनकी चर्चा संघ-कार्यपालिका के अन्तर्गत ही कर रहा है।

महान्यायवादी (Attornery-General)

संविधान की ७६वी धारा के अनुसार एक महान्यायवादी के पद का प्रावधान किया गया है। सन् १९३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियम के अनुसार देश मे एक महाधिवक्ता (Advocate General) की व्यवस्था थी। नये संविधान मे इस पदाधिकारी का नाम महान्यायवादी Attorney General) कर दिया गया।

महान्यायवादी के पद पर नियुक्त होनेवाला व्यक्ति एक प्रख्यात कानून-विशेषज्ञ होता है। इस पदाधिकारी का काम ही है सरकार के विभिन्न विधेयकों के प्रारूप तैयार करने तथा अन्य सभी मामलो के बारे मे कानूनी परामर्श देना। महान्यायवादी साधारणतया कार्यशील राजनीतिज्ञ नहीं होता। फिर भी इस पद को मन्त्री-पद के समान राजनीतिक पद समझा जाता है।

नियुक्ति—संविधान के अनुसार महान्यायवादी की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होनी चाहिए, लेकिन वास्तव मे उसका निर्वाचन (Selection) प्रधान मन्त्री अथवा मन्त्रिमडल ही करता है। वह राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पद पर आसीन रहता है। इस पद पर नियुक्त होनेवाले व्यक्ति मे वे सभी योग्यताएँ आवश्यक हैं, जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के लिए निर्धारित हैं। महान्यायवादी को राष्ट्रपति द्वारा नियत काल मे ४००० रु० मासिक वेतन और ३५० रु० मासिक भत्ता मिलता है।

अधिकार और कृत्य—भारत का महान्यायवादी भारत-सरकार को ऐसे सभी कानूनी मामलो मे परामर्श देता है, जिनपर कि उसका परामर्श मांगा जाय।

वह राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित सभी कानूनी कार्य भी करता है। संविधान या अन्य कानूनो द्वारा जो कार्य उसे सौंपे गये है, वह उन्हें पूरा कर सकता है।

भारत के सभी न्यायालयो मे उसके सुने जाने का अधिकार (Right to audience) है। उच्चतम न्यायालय मे भारत-सरकार की ओर से सभी मामलो मे वह उपस्थित होकर पैरवी कर सकता है। उसे संसद् के किसी भी सदन मे या दोदो सदनो के संयुक्त अधिवेशन मे और उनके द्वारा नियुक्त समितियो की कार्यवाहियो मे भाग लेने तथा भाषण देने का अधिकार प्राप्त है, पर उसे इनमे वोट देने का अधिकार प्राप्त नही है।

नियन्त्रक-महालेखा-परीक्षक
(Comptroller and Auditor-General)

संविधान मे भारत के नियन्त्रक तथा महालेखा-परीक्षक के पद का प्रावधान है। इसकी नियुक्ति मन्त्रिमडल के परामर्शानुसार राष्ट्रपति द्वारा होती है। नियन्त्रक-महालेखा-परीक्षक के वेतन, भत्ते और नौकरी की अन्य शर्तें संसद् द्वारा कानून बनाकर निर्धारित की जायेंगी। इसे ४००० रु० वेतन प्रति मास वेतन मिलता है। इसका कार्यकाल ६ वर्ष है और अवकाश ग्रहण करने पर इसे १००० रु० प्रति माह की दर से पेंशन मिलेगा।

कर्त्तव्य—नियन्त्रक-महालेखा-परीक्षक का प्रधान कार्य यह देखना है कि भारत-सरकार और राज्यो की सरकारो के आय-व्यय के हिसाव का लेखा ठीक ढग से और सही-सही रखा जाय और उसकी निष्पक्ष रूप से जाच (Audit) होती रहे। सरकारी विभाग उतना ही खर्च करें, और उन्ही कार्यों पर खर्च करें जितना कि जिस कार्य के लिए संसद् ने स्वीकृति दी हो।

राजकीय आय-व्यय पर भारतीय संसद् को अपना नियन्त्रण रखने का अवसर नियन्त्रक-महालेखा-परीक्षक के माध्यम से ही मिलता है। वह सभी सरकारी विभागो के आय-व्यय के हिसाव की जॉच कर अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति के पास भेजता है। और राष्ट्रपति उस रिपोर्ट को संसद् के पास भेज देता है। इस प्रकार संसद् को सरकारी हिसाबो के लेखे की अनियमितताएँ (Irregularities) और दोषो का पता चल जाता है और वह उन पर उचित कार्रवाई कर सकती है।

इस महत्त्वपूर्ण अधिकारी को कार्यकारिणी के हस्तक्षेप और राजनीतिक दवाव से मुक्त रखने के लिए, ताकि वह अपना कार्य ईमानदारी और स्वतन्त्र रूप से कर सके, संविधान मे निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं—

(क) उसके वेतन, भत्ते आदि संचित निधि से दिये जायँ और उन पर संसद् को वोट देने का अधिकार नही हो।

(ख) जब किसी व्यक्ति को उस पद पर नियुक्त कर दिया जाय, तब उसके कार्यकाल मे उसके वेतन, पेंशन, अवकाश के नियम आदि के सम्बन्ध मे ऐसे परिवर्त्तन नही किये जा सकते, जो उसके हितो के विपरीत हो।

(ग) अपने कार्य से अवकाश पा चुकने के पश्चात् वह भारत-सरकार या किसी राज्य-सरकार के अधीन किसी सरकारी पद को प्राप्त नही कर सकता।

(घ) इस पद पर नियुक्त हो जाने के बाद उसे उन्ही कारणो से या उसी विधि से अपदस्थ किया जा सकेगा, जो कारण या विधि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो को अपदस्थ करने के लिए विहित हैं। अर्थात्, संघीय ससद् के दोनो सदन यदि कुल सदस्यो की बहुसख्या द्वारा और उपस्थित सदस्यो के बहुमत से उसे उसके पद से हटाने की प्रार्थना का प्रस्ताव स्वीकृत कर दें, तभी राष्ट्रपति उसे अपदस्थ कर सकता है।

इन व्यवस्थाओ के फलस्वरूप भारतीय शासन का यह महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी कार्यकारिणी के प्रसाद या रोष (Pleasure or anger) की परवाह किये बिना निष्पक्ष रूप से अपने कार्यों के सम्पादन मे सक्षम एव समर्थ होता है।

प्रश्न

१ निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखें—
Write Notes on the following :-

(क) भारत का महान्यायवादी
The Attorney-General of India

(ख) भारत का नियन्त्रक-महालेखा-परीक्षक
The Comptroller and Auditor General of India.

११ संघ-व्यवस्थापिका अथवा भारतीय संसद्
(The Union Legislature or The Indian Parliament)

भारतीय संविधान के अन्तर्गत एक संघीय व्यवस्थापिका का प्रावधान किया गया है। इसे पार्लियामेंट अर्थात् संसद् की संज्ञा दी गई है। धारा ७९ में कहा गया है कि 'संघ के लिए एक संसद् होगी, जो राष्ट्रपति और दो सदनों (Houses) को मिलकर बनेगी, जिनके नाम[1] क्रमशः राज्य-सभा और लोक-सभा होंगे।' इस प्रकार, हमारे देश की संघीय व्यवस्थापिका, अर्थात् भारतीय संसद् के तीन अंग हुए—(१) राष्ट्रपति (President), (२) राज्य-सभा (Council of States), और (३) लोक-सभा (House of the People)।

इस सम्बन्ध में विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात यह है कि संघीय कार्यपालिका का प्रधान, भारत का राष्ट्रपति भारतीय संसद् का भी एक अभिन्न अंग है। इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि राष्ट्रपति संसद् के दोनों सदनों या किसी एक सदन का सदस्य होगा। भारत का राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता। चूँकि, हमारे देश में संसदीय शासन-प्रणाली अपनाई गई है, अतएव देश के संवैधानिक प्रधान को संसद् का भी अंग बनाना आवश्यक था। इसी प्रकार, भारतीय संसद् को द्विसदनात्मक (Bicameral) भी होना ही था, क्योंकि ऐसी व्यवस्था संघ-राज्यों के लिए नितान्त आवश्यक मानी गई है और भारत एक 'राज्यों का संघ' (Union of States) है ही।

इसके पहले कि भारतीय संसद् के दोनों सदनों के संगठन, अधिकारों और कृत्यों की चर्चा की जाय, इस बात का उल्लेख कर दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है कि संसदीय शासन-प्रणाली अपनाने के बावजूद भारतीय संसद्, ब्रिटिश संसद् की भाँति, एक सम्पूर्ण सम्प्रभु-संस्था (Fully Sovereign Body) नहीं है। हमारे देश में संप्रभुता संविधान में निहित है। अतएव, भारतीय संसद् कोई ऐसा कानून नहीं बना सकती, जो संविधान की किसी व्यवस्था के प्रतिकूल हो।

---

१. संविधान में इन सदनों के नाम हैं 'काउंसिल ऑफ् स्टेट्स' (Council of States) और 'हाउस ऑफ् दि पीपुल' (House of the People)। अब इनके नाम हिन्दी में ही राज्य-सभा और लोक-सभा स्वीकृत हो गये हैं। कुछ लेखकों ने (Council of States) को राज्य-परिषद् की भी संज्ञा दी है।

ऐसा होने पर भारत के सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) को वैसे कानूनो को अवैध (Unconstitutional) घोषित कर सकने का अधिकार प्राप्त है ।

इस प्रकार, यद्यपि भारतीय संविधान ने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली का अनुकरण कर ब्रिटिश सम्राट् की तरह भारतीय राष्ट्रपति को भी व्यवस्थापिका का अंग बनाया है, तथापि हमारे देश की पार्लियामेंट (संसद्) ब्रिटिश पार्लियामेंट की भांति एक पूर्ण सप्रभु-संस्था (Fully sovereign body) नही है ।

भारत के राष्ट्रपति को, व्यवस्थापिका का एक अंग होने की हैसियत से, जो अधिकार संविधान द्वारा दिये गये हैं, उनका वर्णन अध्याय ७ मे किया जा चुका है । उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही । अत , इस स्थल पर हम भारतीय संसद् के अधिकारो और कृत्यो का ही वर्णन करेंगे ।

संसद् के अधिकार और कार्य—यह तो जानी हुई बात है कि जनतत्रात्मक देशो मे व्यवस्थापिका का बहुत ही अधिक महत्त्व होता है । जनतत्रात्मक शासन मे कार्यकारिणी को 'व्यवस्थापिका की तुच्छ सेविका-मात्र' कहा गया है ।

भारत मे संसदीय सरकार की स्थापना के कारण संसद् के अधिकार और कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण और असीम हो जाते हैं । यो तो, संसद् का मुख्य कार्य कानून बनाना ही होता है, फिर भी कार्यकारिणी का निर्माण तथा उनपर नियत्रण रखना यह महत्त्वपूर्ण कार्य भी संसद् ही करती है ।

सुविधा के लिए हम भारतीय संसद् के अधिकारो एव कार्यो का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे—(१) विधायिका-सम्बन्धी (Legislative), (२) कार्यपालिका सम्बन्धी (Executive), (३) वित्त-सम्बन्धी (Financial), (४) न्याय-सम्बन्धी (Judicial), (५) संविधान मे संशोधन-सम्बन्धी (With regard to the Amendment of the Constitution), (६) संकट-कालीन उद्घोषणाओ के समय-सम्बन्धी (During Emergencies) और (७) अन्यान्य अधिकार और कार्य (Miscellaneous Powers and functions).

(१) **विधायिका-सम्बन्धी**—कानून बनाना संसद् का सर्वप्रधान कार्य है । संसद् भारत की सुव्यवस्था तथा भारतीय जनता के हितो के लिए कानूनो का निर्माण करती है । भारतीय संसद् को संविधान के सातवें अनुच्छेद (Seventh schedule) मे संघ-सूची (Union List) और समवर्ती सूची (Concurrent List) के अन्तर्गत सभी विषयो पर कानून बनाने का अधिकार है ।

जो विषय किसी भी सूची मे नही दिये गये हैं, अर्थात् अवशिष्ट शक्तियां (Residuary powers), उनपर भी, संसद् को कानून बनाने का अधिकार है ।

राज्य-सूची में वर्णित विषयों पर सामान्य दशाओं में संसद् कानून नहीं बनायेगी, लेकिन विशेष परिस्थितियों में वह इन विषयों पर भी कानून बना सकती है। जैसे—

(क) यदि राज्य-सभा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई सदस्यों की संख्या, से यह निश्चित कर दे कि राष्ट्रीय हित में संसद् को राज्य-सूची के किसी विषय पर कानून बनाना आवश्यक है, तो संसद् उस विषय पर कानून बना सकती है।

(ख) सकटकाल की उद्घोषणा होने पर।

(ग) यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमंडल यह निश्चय करें कि राज्य-सूची के किसी विषय पर संसद् के लिए कानून बनाना आवश्यक है, तो उन विषयों पर संसद् को कानून बनाने का अधिकार है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय संधि या मामलों से सम्बन्धित विषयों पर भी संसद् कानून बना सकती है।

स्मरण रहे कि बिना संसद् के दोनों सदनों की स्वीकृति के कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता है। जब संसद् का अधिवेशन नहीं हो रहा हो, तब राष्ट्रपति अध्यादेश (Ordinance) जारी कर सकता है, लेकिन उसे यथाशीघ्र संसद् के सामने रखना अनिवार्य है। हस्तान्तरित कानून (Delegated Legislations) को भी संसद् के टेबुल पर रखना जरूरी है।

(२) कार्यपालिका-सम्बन्धी—विधि-निर्माण के अतिरिक्त कार्यकारिणी का निर्माण तथा नियन्त्रण करना भी संसद् का प्रमुख कार्य है।

भारत-संघ की कार्यपालिका के अध्यक्ष—भारत का राष्ट्रपति—का निर्वाचन भी संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा ही होता है। भारत का उपराष्ट्रपति भी संसद् के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक द्वारा ही निर्वाचित होता है। दोनों को अपदस्थ करना भी संसद् के ही हाथों में है।

मन्त्रिपरिषद्, जो देश का वास्तविक शासक है, लोक-सभा के ही प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। मन्त्रियों द्वारा निर्धारित वैदेशिक तथा गृह-नीति की अन्तिम स्वीकृति संसद् ही देती है। मन्त्रियों को किसी-न-किसी सदन का सदस्य रहना जरूरी है। जब भी लोक-सभा चाहे, मन्त्रियों को अपदस्थ कर सकती है।

इसी प्रकार, अविश्वास के प्रस्ताव और 'काम रोको' प्रस्ताव द्वारा प्रश्न पूछकर तथा सरकारी कार्यों और नीतियों की आलोचना कर, संसद् कार्यपालिका पर अपना नियंत्रण रखती है। ठीक ही कहा गया है कि हमारे देश में संसद् स्वामिनी और कार्यकारिणी दासी है।

(३) वित्त-सम्बन्धी—सघ-सरकार के वित्तीय मामलो में तो लोक-सभा ही सर्वेसर्वा है। सरकार का वार्षिक बजट तथा सरकार की कर-नीति (Taxation policy) ससद् द्वारा ही पास होती है। सरकार की आमदनी के कौन-कौन जरिये होंगे, कौन-कौन नये कर लगाये जायँ, विभिन्न विभागो पर कितना खर्च किया जाय, इन सभी बातो का निश्चय ससद् मे ही किया जाता है। भारत का नियत्रक-महालेखा-परीक्षक भी जाँच के समय यही देखता है कि ससद् के द्वारा बनाये गये कानून के अनुसार ही खर्च किया गया है या अन्य प्रकार से।

(४) न्याय-सम्बन्धी—ससद् को कुछ न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं। उच्चतम और उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों के दुराचरण अथवा अक्षमता साबित होने पर प्रत्येक सदन के दो-तिहाई बहुमत से ससद् उन्हे अपदस्थ कर सकती है।

सविधान की १३८ और २३० धाराओ के अनुसार ससद, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयो के अधिकारो को बढा सकती है और सघ-सूची के विषयो से सम्बन्धित ट्रिब्युनल, मध्यस्थता-न्यायालय आदि स्थापित कर सकती है।

इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ससद् की राय में यदि देश के न्यायालय, सविधान की धाराओ और उपबन्धो के आधार पर, देश के शासकीय कार्यो में गतिरोध उत्पन्न कर रहे हो, तो ससद् को अधिकार है कि वह सविधान का सशोधन कर न्यायालयो का अधिकार सीमित कर दे।

स्मरण रहे कि सविधान की धारा ३१ का सशोधन इसी परिस्थिति में हुआ था।

(५) सविधान में सशोधन का अधिकार—यद्यपि भारतीय ससद् पूर्णरूपेण सार्वभौम नही है, तथापि सविधान मे सशोधन कर सकने का अधिकार इसे प्राप्त है।

सविधान मे सशोधन करनेवाला विधेयक ससद् के ही किसी सदन मे उपस्थित किया जायगा। सविधान के कुछ अशों का सशोधन तो ससद् अपने साधारण बहुमत से ही कर सकती है। कुछ सशोधनो के लिए दोनो सदनो के बहुमत एवं उपस्थित सदस्यो के दो-तिहाई मत की और कुछ अन्य सशोधनो के लिए इसके अतिरिक्त कम-से-कम आधे राज्यो के विधान-मडलों की स्वीकृति आवश्यक होती है।

सविधान मे सशोधन की जो प्रक्रिया है, उसका सशोधन ससद् ही कर सकती है।

(६) सकटकालीन उद्घोषणाओ के समय—राष्ट्रपति द्वारा सकटकालीन-उद्घोषणा होने पर तो ससद् का अधिकार और भी बढ जाता है। वैसी परिस्थिति मे इकाइयो की कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका प्राय. ससद् के पूर्ण नियन्त्रण मे आ जाती है।

इसके अतिरिक्त इन उद्घोषणाओं का संसद् द्वारा स्वीकृत किया जाना आवश्यक है। यदि संसद् इन्हें अस्वीकृत कर दे, तो ये उद्घोषणाएं दो महीनों से अधिक समय तक लागू नहीं रह सकती।

(७) अन्य अधिकार एवं कार्य— ससद् को इन दिनो जनता की मांगों की पूर्ति के लिए सवैधानिक तरीको से सघर्ष करने का एक उपयोगी साधन माना जाता है। संसद् द्वारा बनाये गये कानून लोकमत के दर्पण (Mirror of the Public opinion) कहे जाते है।

अतएव, देश-भर में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखना, देश की क्षेत्रीय अखडता (Territorial Integrity) और राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Independence) को कायम रखना ससद् का ही कर्त्तव्य है।

कार्यपालिका तानाशाह न बन जाय, नौकरशाही (Bureaucracy) गैर-जिम्मेवारी से कार्य न करे, इन सब बातो पर खयाल रखना और प्रभावक नियत्रण (Effective control) रखना ससद् का ही कार्य है।

ससद् मे हुए वाद-विवादो से किसी भी प्रश्न पर लोकमत बनता है। 'उदासीन, अक्षम, निरकुश, अतिरेकपूर्ण अथवा दमनकारी प्रशासन' से जनता का सरक्षण करना ससद् का ही कार्य है।

सविधान द्वारा दिये गये मूल अधिकारो की उपलब्धि जनता को हो रही है या नही, कार्यपालिका सवैधानिक कानून के अनुसार कार्य कर रही है या नही, इन सभी बातो की जांच-पडताल ससद् ही करती है।

यदि कोई मूल अधिकार किसी नीति-निर्देशक तत्त्व की राह मे रोडा अटका रहा हो, तो सविधान को सशोधित करना, ससद् का ही कार्य है।

मन्त्रिमडल पर नियंत्रण—ससद् मन्त्रिमडल पर किन उपायो द्वारा नियन्त्रण रखती है, इसकी चर्चा मन्त्रिपरिषद् और ससद् के सम्बन्धो की चर्चा के समय ही की जा चुकी है।

भारतीय ससद् की सप्रभुता (Sovereignty of the Indian Parliament)—यद्यपि भारत मे ससदीय शासन-प्रणाली अपनाई गई है, तथापि भारतीय ससद् पूर्णरूपेण सप्रभु नही है। ससद् कोई भी कानून बना सकती है, बनाये हुए कानून को बदल तथा रद्द कर सकती है। इगलैण्ड मे ससद् द्वारा बनाये गये कानून को दूसरी कोई सस्था, न्यायालय भी, अवैध घोषित नही कर सकती।

भारतीय ससद्, इंगलैण्ड की ससद् की तरह पूर्णरूपेण सप्रभु-सस्था (Fully Sovereign body) नही है। वह सविधान के विरुद्ध कानून नही बना सकती। ससद् यदि ऐसा करेगी भी, तो वैसे कानूनो को अवैध घोषित करने का अधिकार न्यायपालिका को है।

उसी प्रकार भारतीय ससद् सवैधानिक कानूनो (Constituent Laws) को साधारण कानूनो (Ordinary laws) की भांति सशोधित नही कर सकती है।

इस प्रकार भारतीय संसद् पूर्णरूपेण सप्रभु-सस्था नही है, क्योंकि हमारे देश मे सप्रभुता तो सविधान मे निहित है।

फिर भी ऐसा नही कहा जाना चाहिए कि ससद् की सर्वोच्चता हमारे देश मे है ही नही। ससद् को सविधान मे सशोधन करने का अधिकार है और इसी अधिकार का उपयोग कर वह सविधान मे सशोधन कर न्यायालयो के अधिकारो को सीमित कर अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर सकती है।

बीते दिनो मे ऐसा किया भी गया है, जैसे कि धारा ३१ का सशोधन कर, सरकार द्वारा ली जानेवाली सम्पत्ति का कितना उचित मुआवजा (Just Compensation) होगा, यह ससद् निश्चित करेगी, न कि न्यायालय।

अत, यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सिद्धान्तत भारतीय ससद् एक सप्रभु-सस्था नही है, फिर भी सविधान में सशोधन कर सकने के अधिकार के फलस्वरूप यह अपनी सर्वोच्चता तथा सप्रभुता स्थापित कर सकती है।

प्रश्न

१ भारतीय ससद् के अधिकारों और कृत्यों का वर्णन कीजिए।

Describe & discuss the functions & powers of the Indian parliament.

२. भारतीय ससद् के सगठन का सक्षिप्त वर्णन कीजिए। यह मन्त्रिपरिषद् पर किन उपायों द्वारा नियंत्रण रखती है ?

Discuss in brief the composition of the Indian Parliament. How does it control the Council of Ministers ?

१२ संघ-व्यवस्थापिका : राज्य-सभा
(The Union Legislature : Council of States)

राज्य-सभा भारतीय ससद् का उच्च (Upper) अथवा द्वितीय (Second) सदन (Chamber or House) है। राज्य-सभा के नाम से ही यह पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि यह भारत-सघ की इकाइयो, यानी विविध राज्यों और सघ-क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करती है।

रचना—सविधान की धारा ८० के अनुसार, राज्य-सभा मे अधिक-से-अधिक २५० सदस्य होगे। इन २५० सदस्यो मे से २३८ सदस्य भारत-संघ के अन्तर्गत विविध राज्यो और सघ-क्षेत्रो (Union Territories) का प्रतिनिधित्व करेंगे। शेप १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत (Nominate) किये जायँगे। सविधान के अनुसार ये १२ मनोनीत सदस्य ऐसे व्यक्ति होगे, जिनको साहित्य, विज्ञान, कला अथवा सामाजिक सेवा का विशेप ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव होगा।[1]

राज्य-सभा एक स्थायी सदन होगी। अर्थात्, यह न तो कभी भग या विघटित होगी और न कभी बिलकुल नये सिरे से इसकी रचना ही होगी। राज्य-सभा के सदस्य ६ वर्षों के लिए चुने जायँगे, किन्तु उनमे से एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक दो वर्ष के पश्चात् सेवा-निवृत्त (Retire) कर दिये जायेंगे। इन रिक्त स्थानो की पूर्त्ति नये सदस्यो द्वारा की जायगी। इसी तरह से यह सभा सदैव कायम रहेगी।

वर्त्तमान राज्य-सभा का गठन—राज्य-सभा की वर्त्तमान सदस्य-सख्या २३६ है। इनमे से २२४ राज्यो तथा सघ-क्षेत्रो के प्रतिनिधि हैं (२१५ राज्यो के और ९ सघ-क्षेत्रो के) और १२ राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हैं।

इस सम्बन्ध मे हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि राज्य-सभा का गठन १९५१-५२ ई० के आम चुनावो के बाद ही हुआ। २६ जनवरी, १९५० ई० से (जबकि भारत का नया सविधान लागू हुआ) १९५१-५२ ई० के सार्वजनिक निर्वाचनो के फलस्वरूप भारतीय संसद् के प्रथम सगठन तक, भारतीय

---

१. आयरलैंड (Ireland) के सविधान मे भी इस प्रकार का उपबन्ध है।

संसद[1] में केवल एक ही सदन था। प्रथम गठन के समय इसकी सदस्य-संख्या भी कम ही थी (कुल २१६)।

राज्य-सभा के प्रथम गठन के समय शुरू मे ही लॉटरी (Lottery) द्वारा यह तय कर लिया गया था कि उन सदस्यो मे से कौन-कौन-से एक तिहाई सदस्य दो वर्ष बाद और कौन-कौन-से दूसरे-तिहाई सदस्य चार वर्ष बाद अपनी जगह खाली करने को थे। उसके बाद से सभी खाली स्थानों के लिए सदस्यो का चुनाव ६ वर्ष की अवधि के लिए होता रहा है और राज्य-सभा निरन्तर कायम रही है।

भारत-सघ के अन्तर्गत विविध राज्यो (States) और सघ-क्षेत्रों (Union Territories) को राज्य-सभा मे निम्नलिखित प्रकार से प्रतिनिधित्व दिया गया है—

राज्य		राज्य	
१. आन्ध्र	१८	९. महाराष्ट्र	१८
२. आसाम	७	१० उडीसा	१०
३ बिहार	२२	११. पजाब	११
४. गुजरात	११	१२ राजस्थान	१०
५. केरल	९	१३. उत्तर-प्रदेश	३४
६. मध्य प्रदेश	१६	१४ पश्चिम-बगाल	१६
७. मद्रास	१७	१५. जम्म-कश्मीर	४
८ मैसूर	१२	१६ नागालैंड	१
		योग—२१५	

सघ-क्षेत्र		सघ-क्षेत्र	
१ दिल्ली	३	४. मणिपुर	१
२. हिमाचल-प्रदेश	२	५. त्रिपुरा	१
३. गोआ, डामन, ड्यू	१	६. पांडिचेरी	१
		योग—९	
		कुल योग	२२४

विविध राज्यों एव संघ-क्षेत्रो को राज्य-सभा में दिये गये प्रतिनिधित्व की उपर्युक्त सख्याओ पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि सभी राज्यो

१. २६ जनवरी, १९५० ई०, को जब नया सविधान लागू हुआ, तब पहले की सविधान-सभा (Constituent Assembly), जिसने इस सविधान को बनाया था, ही ससद् के रूप मे परिवर्तित कर दी गई थी और उसीको वे सब अधिकार दे दिये गये थे, जो सविधान द्वारा ससद् को दिये गये है। अतः भारतीय ससद् का एक ही सदन हुआ था।

और संघ-क्षेत्रो को राज्य-सभा मे समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है।[1] हमारे सविधान-निर्माताओ ने राज्य-सभा मे प्रतिनिधित्व का आधार जन-सख्या को माना है।

इस विषय मे यह फार्मूला निर्धारित किया गया है कि पचास लाख तक की आबादीवाले राज्यो या सघ-क्षेत्रो को प्रति दस लाख जन-सख्या पर एक प्रतिनिधि और पचास लाख से अधिक आबादीवाले राज्यो या सघ-क्षेत्रों को प्रति बीस लाख जन-सख्या पर एक प्रतिनिधि दिया जाय। इस हिसाब को देखने से पता चलता है कि आँख मूँदकर जन-सख्या को भी एकमात्र आधार नही माना गया है। जन-सख्या के अतिरिक्त क्षेत्र और सामान्य महत्त्व को भी ध्यान मे रखा गया है। तभी तो ६.३२ करोड की आबादीवाले उत्तर-प्रदेश राज्य को ३४ सीटें दी गई है और १.४६ करोड की जन-सख्यावाले उडीसा-राज्य को १० सीटें। उडीसा के हिसाब से उत्तर-प्रदेश को कम-से-कम ४५ सीटें दी जानी चाहिए थी।

विविध राज्यों और सघ-क्षेत्रो को दिया गया उपर्युक्त प्रतिनिधित्व सविधान (सप्तम सशोधन-कानून, १९५६) के अनुसार १९५१ ई० की मर्दुमशुमारी (Census) पर आधारित है।

सदस्यों का निर्वाचन—राज्य-सभा के सदस्यो का चुनाव अप्रत्यक्ष[2] (Indirect) ढग से होता है। विविध राज्यो के प्रतिनिधि-सदस्यो का चुनाव उन राज्यो की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यो द्वारा ही होता है।

जम्मू और कश्मीर राज्य के प्रतिनिधि-सदस्य पिछले दिनो राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हो होते रहे हैं। भारत-सघ के अन्तर्गत राज्यो के व्यवस्थापन-विभागों मे से कुछ द्विसदनात्मक हैं और कुछ एकसदनात्मक। जिन राज्यो मे दो सदन हैं, जैसे बिहार-राज्य, उनमे निचले सदन (Lower House), यानी विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य ही राज्य-सभा के लिए उस राज्य के प्रतिनिधि-सदस्यो के निर्वाचन मे भाग ले सकते हैं। अर्थात्, विविध राज्यो के, राज्य-सभा के प्रतिनिधि-सदस्यों के निर्वाचन मे न तो विधान-परिषदों (Legislative Councils), यानी राज्य-विधान-मडलो के उच्च सदन, के ही सदस्य भाग ले सकते हैं और न विधान-सभाओ (Legislative Assemblies), यानी राज्य-विधानमडलो के निम्न सदन के

---

१. अमेरिकी सघ के प्रत्येक राज्य को वहाँ की संघीय व्यवस्थापिका के ऊपरी सदन, यानी सिनेट मे समान प्रतिनिधित्व (प्रत्येक राज्य छोटा या बडा, दो सदस्य) दिया गया है।

२. अमेरिकी सिनेट के सदस्यो का चुनाव प्रत्यक्ष ढग से होता है।

मनोनीत सदस्य होंगे। अंततः विविध राज्यों के राज्य-सभा के प्रतिनिधि-सदस्य उन राज्यों की विधान-सभाओ के निर्वाचित सदस्यो द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (Proportional Representation System) तथा एकल संक्रमणीय मत-पद्धति (Single Transferable Vote System) के अनुसार निर्वाचित होंगे।

अब प्रश्न बचता है सघ-क्षेत्रो से राज्य-सभा के प्रतिनिधियो के निर्वाचन का। सविधान के अनुसार, ऐसे सदस्य कैसे निर्वाचित होंगे, इसका निश्चय ससद् द्वारा बनाये गये कानूनो के मुताबिक होगा।

ससद् ने इस सम्बन्ध मे जो व्यवस्था की है, उसके अनुसार हिमाचल-प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा के सघ-क्षेत्रो से राज्य-सभा के प्रतिनिधियो का चुनाव इन क्षेत्रों की क्षेत्रीय कौंसिलो (Territorial councils) के निर्वाचित सदस्यो द्वारा होता है। दिल्ली से राज्य-सभा के सदस्यो का चुनाव दिल्ली कॉरपोरेशन की जनता द्वारा निर्वाचित ८० सदस्यो और नई दिल्ली-नगरपालिका या दिल्ली कैंटोनमेंट बोर्ड के १० प्रतिनिधियो के सम्मिलित निर्वाचक-मडल (Electoral college) द्वारा होगा।[1]

यह चुनाव भी समानुपाती प्रतिनिधित्व के अनुसार ही होगा।

कहा जा चुका है कि १२ सदस्यो को राष्ट्रपति मनोनीत करेगा।

इस प्रकार राज्य-सभा की रचना प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के समन्वय से ही होगी।

सदस्यो के लिए योग्यता (Qualifications for Membership)—राज्य-सभा का सदस्य होने के लिए किसी व्यक्ति मे निम्नलिखित योग्यताएँ अपेक्षित हैं —

(१) वह भारत का नागरिक हो,

(२) उसकी आयु ३० वर्ष से कम न हो, और

(३) उसमें वे अन्य योग्यताएँ भी हो, जिन्हें ससद् विधि द्वारा निश्चित करे।

इस प्रावधान के अन्तर्गत, सन् १९५१ ई० के 'जनता का प्रतिनिधित्व अधिनियम' (People's Representation Act of 1951) के अनुसार ससद् ने यह निश्चित किया है कि कोई व्यक्ति किसी राज्य या सघ-क्षेत्र से राज्य-सभा का तबतक सदस्य नही चुना जा सकेगा, जबतक वह वहाँ के किसी ससदीय निर्वाचन-क्षेत्र (Parliamentary constituency) का निर्वाचक (voter) नही हो।

---

१. बीते दिनो मे दिल्ली से राज्य-सभा के सदस्यो का निर्वाचन दिल्ली की विधान-सभा के सदस्यो द्वारा ही किया गया था।

(४) वह व्यक्ति निम्नलिखित अयोग्यताओं (Disqualifications) से मुक्त (Free) हो :

(क) भारत की सघ-सरकार या किसी राज्य या सघ-क्षेत्र की सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर कार्य न कर रहा हो। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यो तथा ससदीय कानून द्वारा अपवाद रूप मे (Exceptions) घोषित किये गये पदो के विषय मे यह लागू नही होगा।

(ख) जिसे किसी न्यायालय द्वारा पागल नही करार दिया गया हो।

(ग) न्यायालय द्वारा अनुन्मुक्त दिवालिया न हो।

(घ) जिसने किसी दूसरे देश की नागरिकता स्वीकार न कर ली हो और न किसी अन्य देश के प्रति निष्ठा या भक्ति (Allegiance) रखता हो।

(ङ) ससद की किसी भी विधि द्वारा अयोग्य न ठहराया गया हो।

स्मरण रहे कि एक बार राज्य-सभा का सदस्य निर्वाचित हो जाने के बाद भी किसी व्यक्ति मे इनमें से कोई अयोग्यता आ जाय, तो उसका स्थान रिक्त समझा जायगा। कोई सदस्य इन अयोग्यताओं के कारण राज्य-सभा का सदस्य रहेगा या नही, इस प्रश्न का निर्णय निर्वाचन-आयोग (Election Commission) की सम्मति के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा किया जायगा।

राज्य-सभा के पदाधिकारी—भारत का उपराष्ट्रपति (Vice-President) राज्य-सभा का पदेन (Ex-officio) सभापति (Chairman होता है। उसका कार्यकाल ५ वर्ष होगा। वह अपने पद से इस्तीफा दे सकता है या राज्य-सभा द्वारा अपदस्थ भी किया जा सकता है।

राज्य-सभा का एक उपसभापति होगा। राज्य-सभा अपने सदस्यो में से किसी एक को इस पद के लिए निर्वाचित करेगी। उपसभापति को, यदि किसी कारण-वश वह राज्य-सभा का सदस्य न रहे तो, अपना पद छोडना पडेगा। वह अपने पद से इस्तीफा देकर भी हट जा सकता है। राज्य-सभा के समस्त तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से वह अपने पद से अपदस्थ भी किया जा सकता है, लेकिन ऐसे प्रस्ताव को पेश करने के १४ दिन पहले इस प्रकार की सूचना दी जानी चाहिए।

राज्य-सभा का उपसभापति, सभापति (अर्थात् भारत के उपराष्ट्रपति) की अनुपस्थिति में राज्य-सभा का सभापतित्व करेगा। यदि राज्य-सभा की किसी बैठक मे सभापति और उपसभापति दोनों अनुपस्थित हों, तो वह व्यक्ति सभापतित्व करेगा, जिसे राज्य-सभा नियुक्त करेगी।

जिस समय राज्य-सभा के सभापति या उपसभापति को अपदस्थ करने का प्रस्ताव विचाराधीन हो, तो उस समय जिसके विरुद्ध वह प्रस्ताव रखा गया है, वह

राज्य-सभा मे उपस्थित तो रह सकेगा, लेकिन सभापति के आसन पर न रहेगा और न वह इस अवसर पर अपना मत ही दे सकेगा ।

इसी प्रकार, जिस समय भारत का उपराष्ट्रपति स्थानापन्न (Acting) राष्ट्रपति का कार्य करेगा, उस अवधि मे वह राज्य-सभा का सभापतित्व नही कर सकेगा ।

यदि ऐसा हो जाय कि राज्य-सभा के सभापति और उपसभापति दोनो का पद रिक्त हो जाय, तो वैसी दशा मे वह व्यक्ति सभापति का कार्य करेगा, जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करता है ।

चूंकि राज्य-सभा का सभापति (भारत का उपराष्ट्रपति) वस्तुत राज्य-सभा का सदस्य नही रहता है, इसलिए साधारण अवस्था मे सभा की कार्यवाही मे उसे मतदान का अधिकार नही है । वह केवल किसी प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष दोनो मे समान मत आने पर ही अपना निर्णायक मत (Casting vote) दे सकेगा ।

राज्य-सभा के सभापति को वेतन और कुछ भत्ते मिलेंगे । संसद् के अधिकारियों के वेतन और भत्ते अधिनियम, १९५३ ई० के अनुसार राज्य-सभा के सभापति को प्रति माह २२५० रु० वेतन और ५०० रु० भत्ते के रूप मे मिलते हैं और उपसभापति को २००० रु० प्रति माह वेतन मिलता है ।

राज्य-सभा के अधिकार और कार्य—राज्य-सभा के अधिकारो को नीचे लिखे पाँच वर्गों मे बाँटा गया है—(१) कार्यपालिका-सम्बन्धी अधिकार, (२) कानून-निर्माण सम्बन्धी अधिकार, (३) वित्त-सम्बन्धी अधिकार, (४) संविधान मे संशोधन का अधिकार, और (५) अन्य अधिकार ।

(१) कार्यपालिका-सम्बन्धी अधिकार—राज्य-सभा के कार्यपालिका-सम्बन्धी अधिकार प्राय नही के बराबर हैं । इसका मुख्य कारण यह है कि संविधान की धारा ७५ (३) के अनुसार मन्त्रिपरिषद् लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है न कि राज्य-सभा के प्रति । राज्य-सभा को यह अधिकार प्राप्त नही है कि किसी एक मन्त्री या पूरी मन्त्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास या निन्दा का प्रस्ताव पास कर उन्हें अपदस्थ कर सके । राष्ट्रपति द्वारा की गई उच्च पदाधिकारियो की नियुक्तियों को अनुमोदित करने या युद्ध या शान्ति-सम्बन्धी मामलो को नियन्त्रित करने का भी अधिकार राज्य-सभा को प्राप्त नही है ।

फिर भी, ऐसी बात नही है कि कार्यपालिका-सम्बन्धी मामलो से राज्य-सभा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है । राज्य-सभा के सदस्यो मे से भी मन्त्रियो, यहाँ तक कि, प्रधान मन्त्री की नियुक्ति हो सकती है । प्रशासकीय बातो पर राज्य-सभा मे भी प्रश्न पूछे जा सकते हैं ।

(२) कानून-निर्माण-सम्बन्धी अधिकार—ऊपर से देखने पर तो राज्य-सभा को कानून-निर्माण-सम्बन्धी अधिकार भी कम नहीं है, क्योंकि कोई भी विधेयक तब-तक संसद् द्वारा पारित नहीं समझा जायगा, जबतक कि वह लोक-सभा और राज्य-सभा दोनों में स्वीकृत न हो जाय। इस तरह से ऐसा लगता है जैसे कि संसद् के दोनों सदनों को समान विधायिनी अधिकार हो।

परन्तु बात ऐसी नहीं है। धन-विधेयक तो पहले राज्य-सभा में उपस्थित भी नहीं किये जा सकते और राज्य-सभा धन-विधेयकों को सिर्फ १४ दिनों तक रोक सकती है। राज्य-सभा द्वारा प्रस्तावित धन-विधेयकों में संशोधनों के मानने या न मानने का पूर्ण अधिकार लोक-सभा को है। साधारण विधेयक पहले राज्य-सभा में भी उपस्थित अवश्य किया जा सकता है, लेकिन इस सम्बन्ध में भी यदि लोक-सभा और राज्य-सभा के बीच गतिरोध उत्पन्न हो जाय, तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलायगा और उनमें बहुमत से जो भी निर्णय होगा, वही अन्तिम निर्णय होगा। चूँकि लोक-सभा के सदस्यों की संख्या राज्य-सभा के सदस्यों की संख्या से दूनी है, इसलिए इस मामले में भी लोक-सभा जो चाहेगी, वही होगा।

इस प्रकार हम पाते हैं कि राज्य-सभा को कोई खास कानून निर्माण-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त नहीं है। वह धन-विधेयक और साधारण विधेयक को अधिक-से-अधिक क्रमशः १४ दिनों और छह महीनों तक पारित होने से रोक सकती है। लोक-सभा द्वारा पारित विधेयकों के विधि बनने की राह में राज्य-सभा स्थायी अवरोध पैदा नहीं कर सकती।

(३) वित्त-सम्बन्धी अधिकार—इस सम्बन्ध में तो राज्य-सभा सर्वथा शक्ति-शून्य है। हमने अभी देखा है कि धन-विधेयक राज्य-सभा में सर्वप्रथम उपस्थित भी नहीं किये जा सकते और राज्य-सभा धन-विधेयकों के मामले में सिर्फ १४ दिनों का विलम्ब कर सकती है।

(४) संविधान में संशोधन का अधिकार—इस सम्बन्ध में राज्य-सभा को लोक-सभा के बराबर ही अधिकार है। संशोधन-विधेयक पहले राज्य-सभा में भी उपस्थित किया जा सकता है। कोई भी संशोधन-विधेयक तभी पारित समझा जायगा जबकि वह प्रत्येक सदन की सदस्य-संख्या के बहुमत और मतदान में भाग लेनेवाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृत हो।

यद्यपि संविधान इस प्रश्न पर मौन है कि दोनों सदनों में किसी संशोधन विधेयक पर मतान्तर की दशा में क्या होगा, तथापि इस दशा में भी वही होगा, जो साधारण विधेयक पर दोनों सदनों में मतान्तर की दशा में होगा। इससे राज्य-सभा की स्थिति इस सम्बन्ध में भी निर्बल ही हो जाती है।

(५) अन्य अधिकार—उपर्युक्त चार प्रकार के अधिकारों के अलावा राज्य-सभा को कुछ और भी अधिकार प्राप्त हैं, जो या तो लोक-सभा के अधिकारों के बराबर है या उससे अधिक।

राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाने के अधिकार के सम्बन्ध मे राज्य-सभा और लोक-सभा दोनो की स्थिति समान ही है। यदि इस विषय पर दोनो सदनो मे मतान्तर हो, तो क्या होगा ? सविधान इस प्रश्न पर मौन है। लेखक की राय मे इसे भी विधायिका प्रक्रिया ही माना जाना चाहिए और राष्ट्रपति द्वारा आयोजित सयुक्त बैठक के द्वारा ही इस प्रश्न को भी हल किया जाना चाहिए।

उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को हटाने का अधिकार लोक-सभा के साथ राज्य-सभा को भी है। आपात-काल की उद्घोषणाओं की स्वीकृति दोनो सदनो से ली जायगी। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों के निर्वाचन मे भी दोनो सदनो को समान अधिकार प्राप्त हैं।

उपराष्ट्रपति को अपदस्थ करने के प्रस्ताव को प्रारम्भ करने का अधिकार राज्य-सभा को ही है। इसी प्रकार, धारा २४९ के अनुसार राष्ट्रीय हित मे राज्य-सूची के विषयो को समवर्त्ती सूची मे हस्तान्तरित करने का अधिकार सिर्फ राज्य-सभा को ही है। फिर, सकटकालीन अवस्था की घोषणा होने पर, दो महीने के भीतर, अगर लोक-सभा उस घोषणा को स्वीकृत करने के पहले ही भग हो जाय, तो उस घोषणा को अनुमोदित करने का भी अधिकार सिर्फ राज्य-सभा को ही है।

राज्य-सभा की स्थिति—राज्य-सभा के अधिकारों के उपर्युक्त विवरण के फलस्वरूप हम पाते है कि लगभग सभी क्षेत्रो मे इसे गौण (Secondary) अधिकार प्राप्त हैं। इसे ससार का कदाचित् निर्बलतम उच्च सदन (Weakest Second chamber) कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कुछ लेखको ने इसे 'भारतीय सविधान का अलकार-मात्र' (Mere ornamental piece of the constitution) कहा है। डॉ० एम० पी० शर्मा के अनुसार भारतीय राज्य-सभा द्विसदनात्मक ससद् के आधुनिक फैशन की पूर्ति-मात्र है।

क्या राज्य सभा को उठा देना चाहिए ?—प्रश्न उठता है कि जब राज्य-सभा को केवल एक परामर्शदाता की भूमिका का ही सम्पादन करना था और जल्दीबाजी मे बनाये गये कानूनों पर यदा-कदा रोक-थाम लगाना या उनमे सिर्फ सुधार करना ही था, तो आखिर सविधान-निर्माताओ ने इस सदन की व्यवस्था ही क्यो की ? साथ-ही-साथ अगर भूल से या अन्य कारणवश इस सभा का निर्माण हो भी गया, तो इसे अब भी क्यों न उठा दिया जाय ?

हमारे सविधान-निर्माताओ ने राज्य-सभा की स्थापना इसलिए की थी कि इसमे भारत-सघ की इकाइयो का समुचित प्रतिनिधित्व हो। इस मतव्य के अलावा उनका उद्देश्य यह भी था कि देश के कुछ विद्वान्, अनुभवी तथा गण्य-मान्य व्यक्ति, जो कि सक्रिय राजनीति से दूर भागते हो, कानून-निर्माण-कार्य में सहयोग दे सकें।

इन दोनो उद्देश्यो के अतिरिक्त राज्य-सभा के निर्माण के पक्ष मे वे सभी तर्क उपस्थित किये जाते हैं, जो कि द्विसदनात्मक ससद् के पक्ष मे दिये जाते हैं।

आलोचको द्वारा उपर्युक्त सभी उद्देश्यो के आधार पर राज्य-सभा को दोषपूर्ण बताया गया है। इन लोगों का कहना है कि भारत-सघ की सभी इकाइयो को समान प्रतिनिधित्व नही दिये जाने के कारण सघीय सिद्धान्त का उल्लघन हुआ है। राज्य-सभा की रचना मे जनसख्या को जो आधार माना गया है, उसकी आलोचना की जाती है और कहा जाता है कि जनसख्या के आधार पर तो लोक-सभा का सगठन होता ही है। इसके अलावा राज्य-सभा के सदस्यो की निर्वाचन-प्रणाली की भी आलोचना की गई है। कहा गया है कि राज्यो की विधान-सभाओ द्वारा निर्वाचित होने के कारण राज्य-सभा के सदस्य भारत-सघ की इकाइयो का पूर्ण प्रतिनिधित्व नही कर उन विधान-सभाओ की विभिन्न पार्टियो का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तर्कों के आधार पर इन आलोचकों द्वारा यह दावा किया जाता है कि भारतीय राज्य-सभा एक सघ-शासन के सिद्धान्तो के अनुरूप सगठित नही है।

जहाँ तक सक्रिय राजनीति से दूर भागनेवाले विद्वानो और विभिन्न क्षेत्रो मे ख्यातिप्राप्त विशिष्ट व्यक्तियो के कानून-निर्माण-सम्बन्धी कार्यों मे सहयोग का प्रश्न है, आलोचकों का कहना है कि ऐसे लोगो की सख्या बहुत ही कम है। ऐसे सिर्फ १२ सदस्यों का मनोनयन राष्ट्रपति द्वारा होता है। २५० सदस्यो के सदन मे १२ सदस्यो की स्थिति 'ऊंट के मुँह मे जीरे का फोरन' वाली कहावत को चरितार्थ करती है। जहाँ तक ऐसे लोगो का शेष २३८ सदस्यो मे निर्वाचित हो सकने का प्रश्न है, वह भी असभव है, क्योकि विभिन्न पार्टियाँ अपने दलीय लोगों को, जिन्हें लोक-सभा या राज्यों की विधान-सभाओ और परिषदो मे जगह नहीं मिल सकी, राज्य-सभा मे भेजती है। इसका नतीजा यह होता है कि अवकाश-प्राप्त कूटनीतिज्ञ, अनुभवी राजनीतिज्ञ तथा कानूनवेत्ता लोग राज्य-सभा के सदस्य नही हो सकते हैं।

भारतीय राज्य-सभा के विरुद्ध इन विशेष आलोचनाओ के अतिरिक्त वे सभी साधारण या सामान्य तर्क उपस्थित किये जाते हैं, जो किसी भी ऊपरी सदन (Upper Chamber) की स्थापना के विरुद्ध किये जाते हैं। जैसे कि, 'यदि

ऊपरी सभा निचली सभा के साथ सहमत है, तो राज्य-सभा निरर्थक है, और यदि वह विरुद्ध है तो केवल शैतानी कर सकती है।'

यह भी कहा गया है कि उच्च सदनो के सदस्य अप्रत्यक्ष प्रणाली से निर्वाचित होने के कारण अधिकाशत प्रतिक्रियावादी एव रूढ़िवादी होते हैं और शासन-सुधार के कार्यों मे बाधा डालते हैं। फिर, उच्च सदन की अनावश्यकता इस आधार पर अनुमोदित की गई है कि निम्न सदन के शीघ्र अविवेकपूर्ण कार्यों और विधेयको पर रोक-थाम करने या उनमे सुधार करवाने के लिए पार्टी, प्रेस, सभाएँ, सस्थाएँ, आन्दोलन तथा न्यायालय तो हैं ही।

आलोचको का यह भी कहना है कि वर्त्तमान समय मे राज्य-सभा कानून-निर्माण-सम्बन्धी कार्यो मे और देश के प्रशासन में रुकावट नही डाल रही है, उसकी वजह है कि लोक-सभा और राज्य-सभा दोनो मे एक ही पार्टी, यानी काँगरेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है। इन लोगो का कहना है कि जब ससद् मे एक पार्टी का बहुमत नही होगा और लोक-सभा किसी विषय पर आपस मे ही तीव्र रूप से विभाजित रहेगी, तब वैसी दशा मे राज्य-सभा गतिरोध पैदा कर सकती है। जबतक ससद् के दोनो सदनो की सयुक्त बैठक राज्य-सभा बनाम लोक-सभा के आधार पर नही होगी, तबतक सयुक्त बैठको मे भी एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो सकती है।

जहाँ तक राज्य-सभा द्वारा लोक-सभा की निरकुशता (Absoluteness) पर नियन्त्रण रखने की बात है, राज्य-सभा को उतनी शक्ति ही नही है कि वह लोक-सभा से टकराने की हिम्मत कर सकेगी।

उपर्युक्त तर्को के आधार पर कुछ आलोचको ने यह दावा किया है कि राज्य-सभा की कोई वास्तविक उपयोगिता नही है। यह राष्ट्र के राजस्व पर एक भार-मात्र है। इससे लाभ के बदले नुकसान है, क्योकि व्यर्थ ही विधायक कार्यों मे दुहराव होता है, समय और धन का अपव्यय होता ही है, कानून बनने मे देर भी होती है।

इस प्रकार राज्य-सभा को उठा दिये जाने के पक्षवाले लेखको और आलोचको का कहना है कि इस सभा के द्वारा न तो भारत-सघ की इकाइयो का समुचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व ही होता है, यह सघीय सिद्धान्त की रक्षा भी नही करती है और न विधायन और प्रशासन मे निस्सन्देह रूप से गतिरोध पैदा नही करनेवाली सस्था ही है। यह लोक-सभा की निरकुशता पर भी कोई प्रभावशाली नियन्त्रण या रोक नहीं लगा सकती है। तो फिर, इसे क्यों न उठा दिया जाय ? यदि इसे उठा भी दिया जायगा तो भारतीय शासन-व्यवस्था के कार्यकरण मे किसी प्रकार का अन्तर नही आयगा।

राज्य-सभा के रखे जाने के पक्ष में भी दलीलें दी गई हैं, जो निम्नलिखित हैं—

राज्य-सभा का संगठन आँख मूँदकर सिर्फ जनसंख्या के आधार पर ही नहीं किया गया है। साथ-ही-साथ जबकि भारत-संघ की इकाइयों में तीव्र विभिन्नताएँ हैं, वैसी दशा में उन्हें समान प्रतिनिधित्व देना ठीक नहीं था। इसी प्रकार, बालिग-मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष चुनाव कराना भी ठीक नहीं था; क्योंकि जान-बूझकर राज्य-सभा को एक गौण सदन (Secondary Chamber) ही बनाना था। यदि मनोनीत सदस्यों की संख्या और भी बढ़ा दी जाती, तो और भी अधिक आलोचना होती, प्रगतिवादिता के नाम पर।

इन सब तर्कों के अलावा वे सभी तर्क दिये जाते हैं, जो उच्च सदन की स्थापना के पक्ष में दिये जाते हैं। अर्थात्, अविवेकपूर्ण और जल्दीबाजी में बनाये गये कानूनों में संशोधन किया जा सकना और उनके पारित होने में देर किया जा सकना इत्यादि।

उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त, राज्य-सभा की उपयोगिता के पक्ष में सबसे बड़ी दलील यह दी जाती है कि यह सभा राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों के दुरुपयोग पर एक जबरदस्त रोक है। स्मरण रहे कि राष्ट्रपति लोक-सभा को विघटित कर सकता है, लेकिन राज्य-सभा एक स्थायी सदन होने के कारण पूर्ण-रूपेण कभी विघटित नहीं होती। राष्ट्रपति द्वारा की गई आपातकालीन घोषणा दो महीनों के अन्दर संसद् के दोनों सदनों से स्वीकृत होने पर ही अधिक दिनों के लिए लागू रह सकेगी। राष्ट्रपति लोक-सभा को विघटित कर अपना रास्ता साफ कर सकता है, लेकिन राज्य-सभा उसके तानाशाह बनने की योजनाओं में बहुत बड़ी रुकावट सिद्ध होगी।

राज्य-सभा के पिछले ६ वर्षों के कार्यकरण के आधार पर भी इसकी निरर्थकता सिद्ध नहीं की जा सकती। इस लेखक की राय में यह कहना कि 'आज तक राज्य-सभा में किसी भी विधेयक पर ऐसा सर्वांगीण वाद-विवाद नहीं हुआ, जो उत्कृष्टता तथा विद्वत्ता के लिए जगत्-प्रसिद्ध हो', सर्वथा निराधार और असत्य है। बीते दिनों में कितनी हा बार ऐसे अवसर आये हैं, जबकि किसी प्रश्न पर राज्य-सभा में हुए वाद-विवाद का स्तर लोक-सभा के वाद-विवाद के स्तर की अपेक्षा ऊँचा रहा है।

इसी प्रकार, बीते दिनों में राज्य-सभा लोक-सभा की सेविका बनकर भी नहीं रही है। यह सच है कि किसी भी अवसर पर उसने किसी विधेयक या विषय पर लोक-सभा से मतान्तर की दशा में गतिरोध पैदा नहीं किया है। इस लेखक की

राय में यह तर्क वस्तुतः राज्य-सभा की उपयोगिता के पक्ष में है, न कि विपक्ष में। राज्य-सभा अपने अधिकारों तथा सम्मान के प्रति बराबर सतर्क रही है। यहाँ तक कि दो बार[1] अपनी प्रतिष्ठा के प्रश्न पर राज्य-सभा लोक-सभा से झगड तक पडी और प्रधान मत्री तथा उपराष्ट्रपति के बीच-बचाव करने से यह गतिरोध उग्र रूप धारण नही कर सका। अत, यह भी नही कहा जा सकता है कि राज्य-सभा लोक-सभा के रबर-स्टाम्प (Rubber Stamp) की तरह काम कर रही है।

द्विसदनात्मक ससद् के आधुनिक फैशन (Fashion) की पूर्ति भी एक अलकार मात्र बनी रह जाय, तो भी इसे सर्वथा निरर्थक नही कहा जा सकता, क्योकि अलकारो की भी उपयोगिता होती है और उसका भी अपना विशिष्ट महत्त्व होता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर राज्य-सभा को उठा देना उचित नही जान पडता है। इस लेखक की व्यक्तिगत सम्मति मे निकट भविष्य में राज्य-सभा को उठा देना न तो सभव ही है और न वाछनीय ही।

राज्य-सभा का उठा दिया जाना सभव इसलिए नही है कि द्विसदनात्मक ससद् आजकल की फैशन हो गई है। आधुनिक युग मे उच्च सदनो का होना प्रायः 'आवश्यक बुराई'-सा हो गया है और दिखाई पडनेवाले भविष्य मे उच्च सदन अवश्य ही ठहरने को हैं।[2] ("Bicameral Legislatures have become the fashion of the day. In modern times the presence of upper chambers has become almost a 'necessary evil" and therefore in the foreseeable future they have come to stay.")

---

[1] पहली बार वित्त-मत्री के एक वक्तव्य पर। वित्त-मत्री राज्य-सभा के सदस्य थे। उनके द्वारा राज्य-सभा में कही गई बात पर गलतफहमी हो गई और लोक-सभा ने स्पष्टीकरण के लिए उन्हें अपने सदन में उपस्थित होने को कहा। राज्य-सभा ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया, क्योकि वे राज्य-सभा के सदस्य थे, न कि लोक-सभा के।

दूसरी बार लोक-लेखा-समिति (Public Accounts Committee) के सात प्रतिनिधियो के चुनाव पर, लोक-सभा ने राज्य-सभा से इस कमिटी मे सात सदस्य भेजने का अनुरोध किया। लेकिन राज्य-सभा ने अपनी अनिच्छा प्रकट कर दी, इस वजह से कि लोक-लेखा-समिति समची ससद् की कमिटी न होकर सिर्फ लोक-सभा की ही कमिटी थी।

[2] Writer's personal remark.

लोक-सभा तथा राज्य-सभा का आपसी सम्बन्ध

(Mutual Relations of the Loksabha and the Rajyasabha)

लोक-सभा और राज्य-सभा के आपसी सम्बन्ध के बारे मे भी प्रश्न पूछे जाते है । यद्यपि इस सम्बन्ध की चर्चा लोक-सभा के अध्ययन के पश्चात् ही होनी चाहिए थी, तथापि विद्यार्थियो की सुविधा के लिए इसी स्थल पर हम इसका वर्णन कर देते हैं ।

प्रधान मन्त्री श्रीनेहरू ने ६ मई, १९५३ ई०, को भारतीय ससद् के दोनों सदनो की सयुक्त बैठक मे भाषण करते हुए कहा था कि 'सविधान दोनो सदनों को समान मानता है, केवल वित्तीय विषय लोक-सभा के ही अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं ।'[1]

श्रीनेहरू की उपर्युक्त उक्ति पूर्णत सच नही कही जा सकती है । इसकी परीक्षा हम नीचे करेंगे—

(१) धन-विधेयको के सम्बन्ध मे (With regard to Money Bills)—यह जानी हुई बात है कि धन-विधेयको के बारे मे राज्य-सभा की शक्तियाँ नही के बराबर है । धन-विधेयक केवल लोक-सभा मे ही सबसे पहले प्रस्तुत किया जा सकता है । अर्थात् इस प्रकार के विधेयक राज्य-सभा मे सबसे पहले उपस्थित ही नही किये जा सकते । कोई विधेयक धन-विधेयक है या नही, इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय भी लोक-सभा के अध्यक्ष द्वारा ही होगा ।

लोक-सभा द्वारा पारित होकर धन-विधेयक राज्य-सभा मे अवश्य भेजे जायेंगे । राज्य-सभा को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह उन विधेयको मे जो उचित सशोधन या सुधार समझे, उसकी सिफारिशो के साथ १४ दिनो के अन्दर उस धन-विधेयक को लोक-सभा के यहाँ विचारार्थ लौटा दे । लेकिन, राज्य-सभा की सिफारिशो को मानना या न मानना लोक-सभा की स्वेच्छा पर है । इस बार लोक-सभा जिस रूप मे उस धन-विधेयक को पास करेगी, उसी रूप मे वह विधेयक दोनो सदनो द्वारा पारित हुआ माना जायगा ।

यदि राज्य-सभा किसी धन-विधेयक को १४ दिनो के भीतर वापस नही करे, तो भी उस दशा मे लोक-सभा द्वारा पास किया हुआ धन-विधेयक दोनों सदनो द्वारा पारित समझा जायगा ।

---

१. "The constitution treats the two Houses equally except in certain financial matters which are to be the sole purview of the House of the people" —*Mr Nehru, on 6th May 1953.*

इस प्रकार, जहाँ तक धन विधेयकों का सम्बन्ध है, श्रीनेहरू का उपर्युक्त कथन अक्षरश: सही है। इस मामले में राज्य-सभा ठीक ही सर्वथा अशक्त है। धन-विधेयकों को अस्वीकार कर सकने की बात कौन कहे, लोक-सभा की इच्छा के विरुद्ध उनमें संशोधन कर सकने का भी अधिकार राज्य-सभा को नहीं है।

(१) साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में (With regard to Non-Money or Ordinary Bills — ऊपरी सतह पर ही देखने से श्रीनेहरू का कथन सत्य जान पड़ता है। संविधान के अनुसार कोई भी साधारण विधेयक संसद् द्वारा तबतक पारित नहीं समझा जायगा जबतक कि वह लोक-सभा के अलावा राज्य-सभा से भी (अर्थात् दोनों सदनों से) स्वीकृत न किया जाय। सम्भवत, यही प्रावधान, कि राज्य-सभा की स्वीकृति के बिना कोई विधेयक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता, श्रीनेहरू के ध्यान में रहा होगा, जब उन्होंने कहा कि साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में राज्य-सभा और लोक-सभा की शक्तियाँ बराबर हैं।

साधारण विधेयकों के कानून बनने की प्रक्रिया पर एक गहरी दृष्टि डालने पर पता चलता है कि इस सम्बन्ध में भी लोक-सभा की अपेक्षा राज्य-सभा शक्तिहीन है। राज्य-सभा साधारण विधेयक को ६ महीने से अधिक समय तक पारित होने से नहीं रोक सकती। यदि किसी साधारण विधेयक को लेकर दोनों सदनों में तीव्र मतान्तर हो और संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो जाय, तो वैसी दशा में राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुलायगा, जिसका सभापतित्व लोक-सभा के अध्यक्ष करेंगे और उसमें बहुमत से जो निर्णय होगा, वही अन्तिम निर्णय माना जायगा।

इस व्यवस्था के कारण साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में राज्य-सभा के अधिकार सिर्फ देखने मे ही बराबर हैं, असलियत में नहीं। हम जानते हैं कि लोक-सभा के सदस्यो की संख्या राज्य-सभा के सदस्यों की संख्या से दुगुनी है, अत किसी भी संयुक्त बैठक में यदि लोक-सभा अपने में बुरी तरह से विभाजित नहीं हो, तो साधारण विधेयकों के बारे में भी राज्य-सभा की इच्छा के विरुद्ध स्वेच्छानुसार ही निर्णय ले सकती है।

इस प्रकार, साधारण विधेयकों के सम्बन्ध मे भी राज्य-सभा को लोक-सभा के समान अन्तिम निर्णय ले सकने का अधिकार नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि धन-विधेयकों के मामले मे राज्य-सभा की जिस प्रकार की अवहेलना की जा सकती है, उस प्रकार की अवहेलना साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में नहीं।

(२) अन्य विधायिनी प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में (With regard to other Legislative procedures)— हम जानते हैं कि संविधान में संशोधन किये जाने तथा राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाहियो के किये जाने के सम्बन्ध में राज्य-सभा को

लोक-सभा के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। लेकिन इन विषयों पर भी यदि दोनों सदनों में गतिरोध होगा, तो फिर लोक-सभा की इच्छा ही मान्य होगी। यद्यपि कि संविधान इन मामलों में मौन है।

राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में तथा उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों को अपदस्थ किये जाने में राज्य-सभा को लोक-सभा के बराबर अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार, राष्ट्रपति द्वारा की गई आपात-काल की उद्घोषणाओं की स्वीकृति लोक-सभा और राज्य-सभा दोनों से ही ली जायगी।-

इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि एक-दो विषय ऐसे हैं, जिन पर राज्य-सभा को लोक-सभा की अपेक्षा अधिक अधिकार हैं। जैसे, उपराष्ट्रपति को अपदस्थ करने के प्रस्ताव को प्रारम्भ करने का अधिकार राज्य-सभा को ही है। राष्ट्रीय हित में राज्य-सूची के विषयों को समवर्ती सूची में हस्तान्तरित करने का अधिकार सिर्फ राज्य-सभा को ही है। इसी प्रकार, लोक सभा के विघटित रहने पर या आपातकालीन उद्घोषणा होने के बाद दो महीने के अन्दर विघटित हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा की गई आपातकालीन उद्घोषणाओं की स्वीकृति भी राज्य-सभा से ही ली जायगी।

अत, जहाँ तक अन्य विधायिनी शक्तियों का सवाल है, श्रीनेहरू का कथन बहुत दूर तक ठीक ही है।

(४) कार्यपालिका-अधिकार-सम्बन्धी (With regard to Executive Powers)—इस सम्बन्ध में यद्यपि मन्त्री या आवश्यकता आ पड़ने पर प्रधान मन्त्री भी, राज्य-सभा के सदस्यों में से नियुक्त किये जा सकते हैं, फिर भी संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद् को लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी ठहराये जाने के कारण राज्य सभा की स्थिति बहुत ही फीकी पड़ जाती है। यद्यपि राज्य-सभा में भी कार्यकारिणी से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछे जा सकते हैं और मन्त्रिपरिषद् के विरुद्ध 'काम रोको', 'निन्दा' तथा 'अविश्वास' के प्रस्ताव भी पास किये जा सकते हैं, लेकिन इससे मन्त्रिपरिषद् अपने पद से अपदस्थ नहीं होगी।

अत, जहाँ तक कार्यपालिका-कृत्य का सवाल है, राज्य-सभा लोक-सभा के समान शक्तिशाली संस्था नहीं है। इस सम्बन्ध में उसका लोक-सभा से अधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली नहीं होना ही स्वाभाविक और संवैधानिक है।

लोक-सभा और राज्य-सभा के विभिन्न आपसी सम्बन्धों के उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिर्फ वित्तीय विषयों पर ही लोक-सभा राज्य-सभा से अधिक शक्तिशाली नहीं है, वरन अन्य बातों में भी। भारतीय संसद्

के दोनों सदनों में से लोक-सभा ही प्रभावी तथा प्रमुख सदन है। राज्य-सभा की सापेक्षिक शक्तिहीनता स्पष्टत दृष्टिगोचर होती है। राज्य-सभा 'केवल द्वितीय सदन ही नहीं है, वरन् एक गौण सदन भी है।' (It is not only a Second Chamber but a Secondary Chamber as well)

प्रश्न

१. राज्य-सभा की रचना, उसके अधिकारों एवं कृत्यों की विवेचना कीजिए।
   Describe the composition, powers and functions of the Council of States (Rajyasabha).

२. राज्य-सभा के अधिकारों का वर्णन कीजिए। क्या आपकी सम्मति में इसे उठा देना उचित होगा?

   Discuss the powers of the Council of States (Rajyasabha) Will it be proper, in your opinion, to abolish it?

३. राज्य-सभा की रचना कैसे होती है? लोक-सभा तथा राज्य-सभा के आपसी या पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।

   How is the Council of States (Rajyasabha) composed? Discuss the mutual relations between the Loksabha and the Rajyasabha.

१३ संघ व्यवस्थापिका : लोक सभा

(The Union Legislature : House of the People)

द्विसदनात्मक भारतीय संसद् के निम्न या प्रथम (Lower or First) सदन (House or Chamber) को लोक-सभा[1] की संज्ञा दी गई है। वयस्क-मताधिकार के आधार पर निर्वाचित, भारतीय जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करने वाली, भारतीय संसद् का यह प्रभावी और प्रमुख सदन स्वभावतः भारतीय शासन तथा राजनीति का 'गुरुत्व-केन्द्र' (Centre of Gravity) है। जैसा इसके नाम से ही परिलक्षित होता है, लोक-सभा को 'भारतीय जनता की सर्वप्रभुत्व-सम्पन्नता के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष मूर्त रूप कहा जा सकता है।'

लोक-सभा का संगठन

(१) सदस्य-संख्या—लोक-सभा के सदस्यों की संख्या अधिक-से-अधिक ५२५ तक हो सकती है। इनमें से अधिकतम ५०० तक भारत संघ के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों के मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जायेंगे और शेष २५ भारत-राज्य के संघ-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने के लिए ऐसे ढंग से चुने जायेंगे, जैसा संसद् कानून बनाकर निर्धारित करे।

मूल संविधान की धारा ८१ के अनुसार लोक-सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या ५०० तक ही हो सकती थी। सन् १९५६ ई० के संविधान (सप्तम) संशोधन-अधिनियम के अनुसार इस संख्या में २० की वृद्धि कर दी गई।

इसी प्रकार सन् १९६२ ई० के चौदहवें संशोधन के द्वारा लोक-सभा के सदस्यों की संख्या ५२० से बढ़ाकर ५२५ कर दी गई।

लोक-सभा की सदस्यता के लिए भारत-संघ के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य को एक निश्चित संख्या दे दी (allotted) जाती है। इन संख्याओं का निर्धारण इस हिसाब से किया जाता है कि प्रत्येक राज्य की आबादी और उस राज्य द्वारा चुने जानेवाले सदस्यों की संख्या में जो अनुपात हो, वह अनुपात यथासंभव सभी राज्यों के लिए समान हो।

(२) अल्पसंख्यकों के लिए संरक्षण—लोक-सभा के लिए भारत संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों से जो अधिक-से-अधिक ५०० सीटें होंगी, उनमें से कुछ सीटें (क) अनुसूचित जातियों (Scheduled castes), (ख) आसाम के आदिम-

1 इसका अंगरेजी नाम (The House of the Peopl) था, लेकिन अब अंगरेजी में भी इसे 'Loksabha' लिखा जाने लगा है।

जाति-क्षेत्रों को छोड़कर अन्य अनुसूचित आदिम जातियों और (ग) आसाम के स्वायत्त जिलों की अनुसूचित आदिम जातियों के लिए सुरक्षित रखी जायेंगी।

ऐसा संरक्षण (Reservation) इन जातियों के अल्पसंख्यक (Minority) और पिछड़ी दशा में होने के कारण किया गया। साथ-ही-साथ यह संरक्षण इन जातियों की जन संख्या के आधार पर होगा। अर्थात्, इन जातियों की जन-संख्या और इनके राज्यों (जिस राज्य में बसते होंगे) की जन संख्या में जो अनुपात होगा, वही अनुपात, यथासम्भव, इन जातियों के लिए सुरक्षित सीटों की संख्या और लोक-सभा के लिए उस राज्य की कुल सीटों की सख्या में होगा।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए उपर्युक्त संरक्षण के अलावा ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय (Anglo-Indian Community) के लिए भी विशेष प्रावधान किया गया है। संविधान की धारा ३३१ के अनुसार अगर राष्ट्र-पति की सम्मति में जनता द्वारा चुने गये सदस्यों में ऐंग्लो-इंडियन समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व लोक-सभा में नहीं हुआ हो, तो उस समुदाय के प्रतिनिधित्व के लिए अधिक-से-अधिक दो सदस्य राष्ट्रपति मनोनीत कर सकता है। ऐसे दो सदस्य भारत-संघ के अन्तर्गत १६ राज्यों में प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से चुने जानेवाले अधिकतम ५०० सदस्यों के अलावा होंगे।

सविधान की ३३०वी तथा ३`१वीं धारा के अनुसार क्रमश अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित आदिम जातियों के लिए सीटो के सरक्षण का तथा ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय के लिए मनोनयन का प्रावधान सविधान लागू होने के बाद १० वर्षों (अर्थात्, २६ जनवरी १९६० ई०) तक ही रहना चाहिए था। लेकिन दिसम्बर, १९५९ ई० में हुए सविधान के अष्टम सशोधन के अनुसार यह अवधि अगले १० वर्षों के लिए और (अर्थात् २६ जनवरी, १९७० ई० तक) बढा दी गई है।

(३) **निर्वाचन-प्रणाली**—लोक-सभा के सदस्यो के निर्वाचन के लिए प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो (Territorial Constituencies) में बाँटा जाता है। इन निर्वाचन-क्षेत्रों की रचना निर्वाचन आयोग (Election Commission) द्वारा की जाती है। प्रत्येक राज्य का निर्वाचन-क्षेत्रों में बँटवारा इस तरह होगा कि प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र की जन-संख्या और उस निर्वाचन-क्षेत्र के लिए निश्चित लोक-सभा की सदस्य-संख्या में जो अनुपात हो, वह अनुपात यथासम्भव पूरे राज्य में समान हो।

किस राज्य को कितनी सख्या दी जायगी और निर्वाचन-क्षेत्रों के निर्माण में कितनी भूमि (Territory) को इकाई (Unit) माना जायगा, इन सब मामलों के निर्धारण में वही जन-सख्या आधार मानी जायगी, जो निर्वाचन के ठीक

पहले की जन-गणना (Census) के प्रकाशित आँकड़ों द्वारा जानी गई (Ascertained) हो।

प्रत्येक जन-गणना के पूर्ण होने पर, संसद् के कानून के निर्धारित ढंग और प्राधिकार द्वारा, लोक-सभा के लिए राज्यों को दी गई जगहों (Seats) और प्रत्येक राज्य के प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों के बँटवारे में पुन हेर-फेर किये जायेंगे, परन्तु इसका प्रभाव उस समय की लोक-सभा पर नहीं, वरन् उस लोक-सभा की अवधि पूर्ण होने तथा विघटन के बाद नई लोक-सभा की रचना पर पड़ेगा।

संविधान के मौलिक रूप में लोक-सभा के लिए निर्धारित होनेवाले निर्वाचन-क्षेत्र की जन संख्या के लिए भी प्रावधान था। उस प्रावधान के अनुसार प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए था कि प्रत्येक साढ़े सात लाख की जन संख्या के लिए कम-से-कम एक सदस्य और प्रत्येक पाँच लाख की जन संख्या के लिए अधिक-से-अधिक एक सदस्य होता।

सन १९५२ ई० के संविधान (द्वितीय)-संशोधन-अधिनियम द्वारा साढ़े सात लाख पर कम-से-कम एक सदस्य होने के उपबन्ध का अन्त कर दिया गया। इसी प्रकार सन् १९५६ ई० के संविधान (सप्तम)-संशोधन-अधिनियम द्वारा प्रत्येक पाँच लाख पर अधिक-से-अधिक एक सदस्य के प्रावधान को भी उठा दिया गया।

सन् १९५६ ई० के संविधान (सप्तम) संशोधन के पहले निर्वाचन-क्षेत्रों के निर्माण के लिए एक राज्य को दूसरे राज्य के साथ (जैसे, बिहार को उत्तर-प्रदेश के साथ, या पश्चिम-बंगाल को बिहार के साथ) मिला दिये जाने की जो व्यवस्था थी, अब उसका भी अन्त कर दिया गया है। अब एक ही राज्य को कई निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँटा जा सकेगा।

राज्यों से निर्वाचित होनेवाले लोक-सभा के सदस्यों का निर्वाचन कैसे होगा, इसकी चर्चा ऊपर की गई है। अब प्रश्न बचता है कि संघ-क्षेत्रों (Union Territories) का प्रतिनिधित्व करनेवाले लोक-सभा के सदस्य कैसे चुने जाते हैं? संविधान के अनुसार, संसद् द्वारा इस सम्बन्ध में बनाये गये कानून के अनुसार इस प्रश्न का समाधान होगा।

भारतीय संसद् ने कानून द्वारा यह व्यवस्था की है कि दिल्ली, हिमाचल-प्रदेश, त्रिपुरा और मणिपुर से लोक-सभा के लिए सदस्यों का चुनाव जनता उसी ढंग से करे, जैसे राज्यों की जनता करती है। लेकिन, अंडमन-निकोबार और लकादीव, मिनिकोय और अमीनदीवी के प्रतिनिधियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होने पर की जाय।

इस सम्बन्ध हमें यह भी स्मरण रखना है कि अबतक जम्मू-कश्मीर राज्य के प्रतिनिधियों का चुनाव, भारत-संघ के अन्य १४ राज्यों की तरह, प्रादेशिक

निर्वाचन-क्षेत्रों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वहाँ की जनता द्वारा नहीं होता है, वरन् जम्मू-कश्मीर के व्यवस्थापन-विभाग के परामर्श के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है। नागालैंड के लिए एक सदस्य को राष्ट्रपति मनोनीत करता है।

लोक-सभा के सदस्यों की संख्या की चर्चा करते समय ही कहा जा चुका है कि लोक-सभा भारत की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से गठित होती है फिर भी, यहाँ साफ-साफ दुहरा देना अनावश्यक नहीं होगा कि (१) राज्यों में जम्मू कश्मीर और नागालैंड, (२) संघ-क्षेत्रों में अडमन-निकोबार और लक्कादीव-अमीनदीवी, (३) आसाम के वर्ग 'ख' के जनजाति-क्षेत्र, और (४) ऐंग्लो-इंडियन-समुदाय के मनोनीत प्रतिनिधियों को छोड़कर वर्तमान लोक-सभा के सभी सदस्य वालिग-मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य हैं।

(४) निर्वाचन-प्रणाली की मुख्य बातें—

(क) प्रत्यक्ष चुनाव (Direct Election)—लोक-सभा के सदस्यों का चुनाव भारत की जनता द्वारा प्रत्यक्ष तरीके (Direct Method) से होगा। अर्थात्, इसके लिए किसी अप्रत्यक्ष तरीके, जैसे निर्वाचक-मंडल (Electoral College) इत्यादि का उपयोग नहीं किया जा सकेगा।

(ख) वयस्क मताधिकार—लोक-सभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिए जिस प्रणाली को अपनाया गया है, उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारत के प्रत्येक वयस्क (जो २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो) नागरिक को वोट देने का अधिकार दिया गया है। इस वयस्क-मताधिकार के फलस्वरूप इस समय भारत की जन-संख्या के ५० प्रतिशत के लगभग (लगभग १८½ करोड़) व्यक्तियों को लोक-सभा के लिए सदस्य चुनने का अधिकार है।

स्मरण रहे कि सन् १९१९ और १९३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियमों के अनुसार भारतीय जनता के क्रमशः ३ और १३ प्रतिशत व्यक्तियों को ही वोट देने का अधिकार प्राप्त था, क्योंकि उन अधिनियमों के अनुसार निर्वाचक होने के लिए सम्पत्ति, आमदनी, साक्षरता, पद, उपाधि आदि विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का होना आवश्यक था।

भारत के नये संविधान में इन सब तरह के भेद-भाव (Differentiate) करनेवाली और निर्वाचकों की संख्या को सीमित करनेवाली (Restrict) कुछ भी योग्यताएँ नहीं रखी गई हैं। हमारे देश का नया संविधान, भारत के प्रत्येक[1] वयस्क

१. बशर्ते कि कोई भी नागरिक, (क) पागलपन, फौजदारी, गैरकानूनी कार्य आदि के आधार पर, संसद् या विधान-सभा द्वारा बनाये गये किसी कानून के अधीन वोट के अधिकार से वंचित नहीं कर दिया गया हो और (ख) जिस निर्वाचन क्षेत्र के मतदाताओं की सूची में उसका नाम हो, वहाँ का वह सामान्यतया निवासी हो।

नर नारी को बिना किसी प्रकार का भेद भाव किये, वोट का अधिकार प्रदान करता है। स्वतंत्र भारत के संविधान का यह प्रावधान हमारे देश के लिए ही नहीं, वरन् समग्र विश्व के इतिहास में एक अभूतपूर्व और महान् क्रान्तिकारी घटना है।

(ग) पृथक् निर्वाचन-प्रणाली का अन्त—इस निर्वाचन-प्रणाली की दूसरी मुख्य बात यह है कि इस संविधान के पूर्व (अँगरेजी राज्य के दिनों में) हमारे देश में साम्प्रदायिक आधार (Communal basis) पर जो पृथक् निर्वाचन-प्रणाली (Separate Electorate) की व्यवस्था थी, उसका अन्त कर संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली (Joint Electorate) को अपनाया गया है।

पृथक् निर्वाचन-प्रणाली का मतलब यह था कि भारत के मुसलमानों, सिक्खों, एंग्लो-इंडियन और भारतीय ईसाइयों के लिए पृथक् स्थान सुरक्षित थे। मुसलमान प्रतिनिधियों के चुनाव का अधिकार सिर्फ मुसलमानों को, ईसाई प्रतिनिधियों के चुनाव का अधिकार सिर्फ ईसाइयों को प्राप्त था।

नये संविधान के अनुसार मुसलमानों, सिक्खों या ईसाइयों के लिए पृथक् स्थान सुरक्षित किये ही नहीं गये हैं और इसलिए अब उनके द्वारा पृथक् प्रतिनिधि निर्वाचन होने का सवाल ही पैदा नहीं होता है। अर्थात्, धर्म और जाति का भेद भाव जो पहले था, अब बिलकुल उठा दिया गया है।

इस सम्बन्ध में एक सन्देह पैदा हो सकता है। ऊपर कहा गया है कि कुछ पिछड़ी हुई जातियों और अल्पसंख्यकों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या यह पृथक् निर्वाचन नहीं हुआ। उत्तर है, नहीं। क्योंकि, इन जातियों के प्रतिनिधि, केवल अपनी जाति के मतदाताओं के वोटों से ही नहीं चुने जायेंगे, जैसा कि पहले होता था, वरन आम जनता द्वारा चुने जायेंगे। निर्वाचकों की श्रेणी में कोई फर्क नहीं आता, सिर्फ उन सीटों के लिए उसी जाति के लोग उम्मीदवार हो सकते हैं, इतना ही प्रतिबन्ध रखा गया है। इसी को संयुक्त निर्वाचन (Joint Electorate) कहा जाता है। एँग्लो-इंडियन जाति के दो प्रतिनिधियों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत तभी किया जायगा जब उस जाति का, निर्वाचन द्वारा, उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पायगा। साथ ही साथ ये व्यवस्थाएँ केवल कुछ समय[1] तक ही लागू रहेंगी।

ऐसा संरक्षण भी इसलिए किया गया कि संविधान-निर्माण-काल में देश में ऊँच-नीच और छूत-अछूत का भेद-भाव मौजूद था और कुछ जातियाँ इतनी गिरी हुई अवस्था में थीं तथा उनकी संख्या इतनी कम थी कि उचित संख्या में उनका निर्वाचित हो सकना कठिन था। आशा की गई कि १० वर्षों में उपर्युक्त परिस्थितियाँ बदल जायेंगी और तब इन संरक्षणों की आवश्यकता नहीं रहेगी।[2]

१. और २. संविधान के अष्टम संशोधन के अनुसार २६ जनवरी, १९७० ई० तक।

इस प्रकार, हमारे देश के नये संविधान की दृष्टि में भारत की सभी जनता समान मानी गई है और धर्म, जाति, भाषा, नस्ल आदि के आधार पर न कोई भेद-भाव ही किया गया है और न पृथक् प्रतिनिधित्व ही दिया गया है।

(घ) एक प्रतिनिधिवाले निर्वाचन-क्षेत्र (Single-Member Constituency)—ऊपर कहा जा चुका है कि लोक-सभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिए प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक या भूमिगत निर्वाचन-क्षेत्रों (Territorial Constituencies) में बाँटा जाता है। अब प्रश्न उठता है कि एक निर्वाचन-क्षेत्र से कितने सदस्य निर्वाचित होंगे? इस सम्बन्ध में दो प्रकार की व्यवस्थाएँ होती हैं—पहली, जिसका नाम है, एक प्रतिनिधि-वाले निर्वाचन-क्षेत्र (Single-Member Constituency) और दूसरी, जिसे अनुपाती प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) कहा जाता है।

भारत के नये संविधान ने एक प्रतिनिधिवाले निर्वाचन-क्षेत्र की प्रणाली अपनाई है। अर्थात् एक निर्वाचन-क्षेत्र से एक प्रतिनिधि।

लेकिन पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों के लिए जो सीटें सुरक्षित की गई हैं, वैसे-वैसे स्थानों में दो प्रतिनिधिवाले निर्वाचन-क्षेत्र (Double Member Constituency) भी पाये जाते हैं।[1] जैसी बातचीत चल रही है, अगले चुनावों में इस प्रकार के दो प्रतिनिधिवाले निर्वाचन-क्षेत्रों को भी उठा दिया जायगा।

भारतीय संविधान ने अनुपाती प्रतिनिधित्व-प्रणाली (Proportional Representation System) को इसलिए अस्वीकार कर दिया कि यह प्रणाली वैसे स्थानों में सफल होती है, जहाँ की जनता खूब शिक्षित हो और निर्वाचन-क्षेत्र छोटे हों। साथ-ही-साथ इस प्रणाली से बहुदलीय प्रथा (Multi-party system) को बढ़ावा मिलता है और इसके कारण सरकारों का अस्थायीपन (Instability) भी बढ़ जाता है। इस प्रणाली के इन्हीं दोषों को देखकर हमारे संविधान-निर्माताओं ने इसकी अपेक्षा एक प्रतिनिधिवाले निर्वाचन-क्षेत्रों की प्रणाली अपनाई।

इस प्रकार हम पाते हैं कि राष्ट्रीयता की दृढ़ता और सभी जनता में समानता की भावना के जड़ जमाने के हेतु हमारे संविधान-निर्माताओं ने पृथक् चुनावों (Separate Electorate) के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन (Joint Electorate)-प्रणाली को अपनाया और उन्होंने देश की विशालता, भारतीय जनता की घोर निरक्षरता और स्थायी सरकारों की स्थापना को मद्देनजर रखते हुए अनुपाती

१. सन् १९५१-५२ ई० के आम चुनाव में एक निर्वाचन-क्षेत्र से तीन सदस्य भी चुने गये थे।

प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के बदले एक प्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्र (Single-Member Constituency) की प्रणाली को अपनाया।

(ङ) निर्वाचन-आयोग (Election Commission)—निर्वाचन-प्रणाली के सम्बन्ध में हमारे संविधान ने एक और अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण जो कार्य किया है, वह है एक निर्वाचन-आयोग (Election Commission) की व्यवस्था। इस चुनाव-कमीशन की स्थापना चुनावों की निष्पक्षता तथा इनमें ईमानदारी कायम रखने के लिए की गई है।

संविधान की धारा ३२४ के अनुसार, निर्वाचकों की सूची, निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण, देश-भर में होनेवाले चुनावों का निरीक्षण एवं देख-भाल तथा चुनाव-सम्बन्धी मुकदमों के फसलों के लिए, राष्ट्रपति द्वारा एक निर्वाचन-कमीशन की नियुक्ति की जायगी। इस कमीशन का प्रधान एक चीफ निर्वाचन-कमिश्नर (Chief Election Commissioner) होगा तथा उसके नीचे उतने सहकारी चुनाव-कमिश्नर या क्षेत्रीय कमिश्नर (Regional Commissioner) नियुक्त किये जायेंगे, जितने राष्ट्रपति इस कार्य को पूरा करने के लिए उचित समझें।

निर्वाचन-आयोग अपने कार्य को निष्पक्षता तथा ईमानदारी से कर सके और सत्तारूढ दल या व्यक्ति (People or Party in power) उसपर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाल सकें, इसलिए संविधान में कहा गया है कि चीफ चुनाव-कमिश्नर की स्थिति वसी ही होगी, जैसी सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के न्यायाधीशों की। उसकी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उसको भी अपने पद से उसी प्रकार हटाया जा सकेगा जैसे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को।

(४) लोक-सभा के लिए मतदाताओं की योग्यताएँ—ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक वयस्क नर-नारी को लोक-सभा के सदस्यों के लिए वोट देने का अधिकार होगा। फिर भी नीचे हम उन मतदाताओं की योग्यताओं और अयोग्यताओं का साफ-साफ उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं—

निर्वाचक होने के लिए (१) भारत का नागरिक होना, (२) २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुकना, (३) निर्वाचक-नामावली (Electoral Roll) में किसी निर्वाचन-क्षेत्र में उसके नाम का उल्लिखित होना तथा (४) अपने निर्वाचन-क्षेत्र में कम-से-कम १८० दिनों तक रह चुकना आदि योग्यताएँ आवश्यक हैं। साथ ही, उस व्यक्ति को किसी न्यायालय द्वारा पागल न करार दिया गया हो और दुराचरण या निर्वाचन-सम्बन्धी भ्रष्टाचार के अपराध में उसे अपराधी न ठहराया गया हो।

(६) लोकसभा की सदस्यता की योग्यताएँ—कभी कभी, कुछ लोग यह सोच

बैठते हैं कि लोक-सभा के सदस्यों के चुनाव के निमित्त जो कोई मतदाता हो सकेगा, वह लोक-सभा की सदस्यता के लिए उम्मीदवार भी हो सकेगा। यह धारणा गलत है।

लोक सभा के लिए मतदाता (Voter) होने तथा लोक-सभा की सदस्यता के लिए उम्मीदवार (Candidate for Membership) होने मे पहला अन्तर यह है कि प्रत्येक भारत का नागरिक, जो २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, मतदाता हो सकता है, लेकिन सदस्यता के लिए उम्मीदवार वही हो सकता है, जिसने कम से कम २५ वर्ष की उम्र पूरी कर ली हो। दूसरा अन्तर यह है कि भारत-सरकार या राज्य सरकार के अन्तर्गत किसी लाभ के पद (Office of Profit) पर आसीन व्यक्ति मतदाता हो सकता है, लेकिन लोक सभा का सदस्य नहीं। इसी प्रकार, कोई भी विदेशी लोक सभा का सदस्य नहीं हो सकता।

जहाँ तक लोक-सभा की योग्यताओं और अयोग्यताओं के व्यौरेवार वर्णन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में वे ही व्यवस्थाएँ हैं, जो राज्य-सभा की सदस्यता के लिए हैं।[1]

(७) लोक-सभा की सदस्यता का अन्त—निम्नलिखित दशाओं मे लोक सभा की सदस्यता का अन्त हो जायगा—

(१) यदि कोई व्यक्ति एक से अधिक निर्वाचन-क्षेत्र से लोक-सभा का सदस्य हो जाय, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह केवल एक निर्वाचन-क्षेत्र से ही सदस्य रहे, अन्य निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधि-पद से इस्तीफा दे दे।

(२) यदि कोई व्यक्ति विधान-सभा और लोक-सभा दोनो का सदस्य निर्वाचित हो जाय, तो भी उसे किसी एक स्थान से त्याग-पत्र दे देना पड़ता है।

(३) कोई सदस्य अपनी इच्छा से भी लोक-सभा की सदस्यता से इस्तीफा दे सकता है।

(४) यदि निर्वाचित होने के बाद कोई लोक-सभा का सदस्य किसी प्रकार की सरकारी नौकरी, लाभ का पद, (Post of Profit) स्वीकार कर ले, तो उसका स्थान भी खाली हो जाता है।

(५) यदि कोई सदस्य लगातार ६० दिनों से अधिक लोक-सभा के अधिवेशन से अनुपस्थित रहे, और इसके लिए पहले ही अनुमति प्राप्त न कर ले, तो उसकी सदस्यता का अन्त हो जाता है।

---

१ देखिए, पृष्ठ-संख्या—१६७-६८।

(८) लोक-सभा की अवधि—लोक सभा का कार्य-काल ५ वर्ष का होगा। यह पांच वर्ष लोक-सभा की पहली बैठक की तारीख से गिना जायगा और जिस तारीख को पाँच वर्ष पूरा हो जायगा, उसी दिन लोक-सभा आप-से-आप विघटित हो जायगी और फिर से नया चुनाव होगा।

परन्तु, विशेष परिस्थितियों में पाँच वर्षों की यह सामान्य अवधि घटाई-बढ़ाई भी जा सकती है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह लोक-सभा को पाँच वर्ष की अवधि के पहले भी भंग कर सकता है और नया चुनाव होने का आदेश दे सकता है। इसी प्रकार, आपातकालीन उद्घोषणा के समय संसद् कानून के द्वारा उसकी अवधि, एक बार में एक वर्ष करके, बढ़ा सकती है। परन्तु सकट-काल की घोषणा की समाप्ति के बाद किसी भी दशा में लोक-सभा का बढ़ा हुआ कार्य-काल छह महीने से अधिक नहीं रह सकता।

लोक-सभा प्रत्येक वर्ष कम-से-कम दो बार बैठगी और एक अधिवेशन की अन्तिम तिथि तथा दूसरे अधिवेशन की पहली तिथि के बीच छह महीने का अन्तर नहीं होगा।

(९) लोक-सभा की गणपूर्त्ति—(Quorum) लोक-सभा तबतक अपना कार्य शुरू नहीं कर सकती है, जबतक उसकी कुल संख्या का दसवाँ भाग उपस्थित न हो।

(१०) सचिवालय (Secretariat)—लोक-सभा के दैनिक कार्यों के संचालन के लिए एक सचिवालय होता है। इसके विषय में संसद् को सभी नियम बनाने का अधिकार है।

लोक-सभा का वर्त्तमान संगठन

लोक-सभा की वर्तमान सदस्य-संख्या ५०६ है। इसका विभाजन इस प्रकार है—

(क) विविध राज्यों के प्रतिनिधि	४८७
(ख) विविध संघ-क्षेत्रों के प्रतिनिधि	१६
(ग) आसाम के जनजाति-क्षेत्र वर्ग 'ख' का प्रतिनिधि	१
(घ) ऐंग्लो-इंडियन समुदाय के प्रतिनिधि	२
	५०६ (पाँच सौ नौ)

इस सदस्य-संख्या में ७६ अनुसूचित जातियों के लिए और ३१ अनुसूचित आदिम जातियों के लिए सुरक्षित स्थानों के सदस्य हैं।

लोक-सभा के सदस्यों का ब्योरेवार वर्णन निम्नलिखित तालिका में देखिए—

(क) विविध राज्यों से—

क्रम-संख्या राज्यों के नाम	कुल सदस्य-संख्या	अनुसूचित जातियों के सदस्य	अनुसूचित जनजातियों के सदस्य
१ आन्ध्र	४३	६	२
२. आसाम	१२	१	२
३. बिहार	५३	७	५
४ गुजरात	२२	३	२
५ केरल	१८	२	×
६ मध्य-प्रदेश	३६	५	×
७ मद्रास	४१	७	×
८ मैसूर	२६	३	×
९ महाराष्ट्र	४४	४	३
१० उड़ीसा	२०	४	४
११ पंजाब	२२	५	×
१२ राजस्थान	२२	३	२
१३ उत्तर-प्रदेश	८६	१८	×
१४ पश्चिम-बंगाल	३६	६	२
१५ जम्मू-कश्मीर	६	×	×
१६ नागालैंड	१	×	×
योग—	४८८	७४	२९

(ख) संघ-क्षेत्र या केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों से—

क्रम-संख्या	कुल	अनुसूचित जातियों के सदस्य	अनुसूचित जनजातियों के सदस्य
१. दिल्ली	५	१	×
२. हिमाचल-प्रदेश	४	१	×
३. मणिपुर	२	×	×
४ त्रिपुरा	२	×	१
५. अण्डमन-निकोबार	१	×	×
६ लक्षद्वीप-समूह	१	×	×
७ दादर और नागरहवेली	१	×	×
८ गोआ, डामन, ड्यू	१	×	×
९. नेफा	१	×	×
योग —	१८	२	१

(ग) आसाम के भाग 'ख' जनजाति-क्षेत्र	१		१
(घ) ऐंग्लो-इंडियन समुदाय	२		
कुल योग—	५०६	७६	३१

उपर्युक्त ५०६ सदस्यों में निम्नलिखित १५ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हैं, शेष ४६४ सदस्य अपने-अपने निर्वाचन-क्षेत्रों की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि हैं।

राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य

१	जम्मू-कश्मीर-राज्य के प्रतिनिधि			६
२.	नागालैंड	,,	,,	१
३.	अण्डमन-निकोबार	,,	,,	१
४.	लक्षद्वीप-समूह	,,	,,	१
५.	आसाम के जनजाति-क्षेत्र-भाग (ख)	,,	,,	१
६.	ऐंग्लो-इंडियन समुदाय	,,	,,	२
७	दादर और नागरहवेली	,,	,,	१
८.	गोआ, डामन, ड्यू	,,	,,	१
९.	नेफा	,,	,,	१
				१५

इस सम्बन्ध में यह कह देना अनावश्यक नहीं होगा कि विविध राज्यों और संघ-क्षेत्रों को जो प्रतिनिधित्व दिया गया है, वह सन् १९५१ ई० की जन-गणना (Census) के अनुसार प्रकाशित जन-संख्या के आँकड़ों के आधार पर है।

(११) लोक-सभा का अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—लोक-सभा की बैठकों का सभापतित्व करने, लोक-सभा की कार्यवाहियों को निदेशित करने, सदन में सुव्यवस्था कायम किये रहने और सदन के विशेषाधिकारों (Privileges) का संरक्षण करने के लिए एक अध्यक्ष (Speaker) का भी प्रावधान किया गया है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष ये सब काम करेंगे।

लोक-सभा के सदस्य, अपने ही में से, बहुमत से एक अध्यक्ष (Speaker) और एक उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) निर्वाचित करेंगे।

लोक-सभा के अधिकार और कृत्य

भारतीय जनता की सर्वप्रभुत्व-सम्पन्नता के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष मूर्त रूप होने के कारण, लोक-सभा ही संसद् का प्रभावी तथा प्रमुख सदन है। भारतीय जनता का

प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करने की हैसियत से इसे ही संसद् का सर्वोपरि या सर्वोच्च अंग कहा जाना चाहिए, क्योंकि हमारे देश में संसदीय सरकार की स्थापना की गई है, अतः भारतीय शासन में लोक-सभा के अधिकार और प्रभाव असीम हैं।

राज्य-सभा के अधिकारों तथा कृत्यों का विवरण देते समय लोक सभा के अधिकारों तथा कृत्यों का विवरण दिया जा चुका है।[1] उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। फिर भी, कुछ मुख्य बातों की चर्चा हम यहाँ भी कर देते हैं।

देश की वास्तविक शासिका, मंत्रिपरिषद्, सामूहिक रूप से लोक-सभा के ही प्रति उत्तरदायी होती है, न कि राज्य सभा के प्रति। इस कारण से मन्त्रिपरिषद् पर वास्तविक नियंत्रण लोक सभा का ही रहता है।

धन-विधेयकों के सम्बन्ध में भी लोक-सभा ही सर्वशक्तिमान् है। ठीक ही कहा गया है कि इस विषय पर राज्य-सभा की भूमिका केवल एक सलाहकार की है।

अन्य विधेयकों या अन्य मामलों मे (जिनका वर्णन किया जा चुका है) भी जब लोक-सभा और राज्य-सभा के बीच उत्पन्न गतिरोध को दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जायगी, तब भी अगर लोक-सभा अपने में बुरी तरह विभाजित नहीं हो, तो वही होगा, जो यह चाहेगी।

इस प्रकार, राज्य-सभा पर लोक-सभा की उच्चता स्पष्ट है। साथ ही, लोक-सभा की यह सर्वोच्चता आनेवाले दिनों में भी कायम रहेगी। अमेरिका के संविधान-निर्माताओं का भी विचार था कि वहाँ का निचला सदन, प्रतिनिधि सभा (House of Representatives) प्रमुख सदन होगा। लेकिन, आज अमेरिका में निचले सदन से कहीं अधिक प्रमुख है उच्च सदन, जिसे सिनेट (Senate) कहा जाता है। लेकिन, इस तरह की स्थिति भारत में उत्पन्न नहीं होने पायगी। भारत की लोक-सभा वर्त्तमान में तो संसद् का सर्वोपरि अंग है ही, भविष्य में भी यह सर्वोच्च बनी ही रहेगी।

प्रश्न

१. लोक-सभा के गठन तथा अधिकारों का वर्णन कीजिए।
   Describe the Composition, Powers and Functions of the Lok-Sabha
२. लोक सभा के सदस्यों के लिए कौन सी आवश्यक योग्यताएँ हैं? उनका चुनाव किस ढंग से होता है?
   What are the essential qualifications for the members of the Lok-Sabha? How are they elected?
३ लोक-सभा के वर्तमान संगठन का वर्णन कीजिए। लोक-सभा और राज्य सभा के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।
   Describe the present composition of the Lok-Sabha. Discuss the mutual relations between the Lok Sabha & the Rajya-Sabha

---

१. देखिए, पृष्ठ-संख्या—१६६।

१४ संघ-व्यवस्थापिका : लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष (The Union Legislature : Speaker and Deputy Speaker)

प्रत्येक सभा के कार्य-संचालन के लिए एक अध्यक्ष की आवश्यकता होती है। भारतीय लोक सभा भी इस नियम का अपवाद नहीं है। लोक सभा के कार्य सचालन के लिए एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता है। लोक-सभा के अध्यक्ष[1] को 'स्पीकर' (Speaker) कहा जाता है और उपाध्यक्ष को 'डिप्टी स्पीकर' (Deputy Speaker)। लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को, 'लोक-सभा के पदाधिकारी' की संज्ञा दी जाती है।

निर्वाचन—सगठित होने के बाद, प्रत्येक लोक-सभा यथाशीघ्र अपने सदस्यों मे से एक को अपना अध्यक्ष (Speaker) और एक को उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) निर्वाचित करती है।

अध्यक्ष के निर्वाचन का तरीका यह है कि अध्यक्ष-पद के लिए वही उम्मीदवार चुना जायगा, जिसे उस चुनाव मे, अन्य सभी उम्मीदवारो को प्राप्त हुए वेटों के कुल जोड़ से अधिक वेट प्राप्त होगा। इस प्रक्रिया के अनुसार अध्यक्ष पद पर निर्वाचित होने के लिए, लोक सभा की कुल सदस्य-संख्या का स्पष्ट बहुमत प्राप्त करना आवश्यक नहीं है, लेकिन, साथ ही-साथ बिलकुल साधारण बहुमत से भी काम चलने को नहीं है। अध्यक्ष निर्वाचित होने के लिए उस चुनाव मे वेट देनेवाले सदस्यो का बहुमत ही आवश्यक है।

इस तरीके को हम एक उदाहरण के सहारे स्पष्ट करेंगे। मान लीजिए कि अध्यक्ष पद के लिए, किसी चुनाव मे ४ उम्मीदवार है, 'अ', 'ब', 'स' और 'द'। लोक-सभा की वर्त्तमान सदस्य सख्या है ५०५। अब मान लीजिए कि 'अ' को कम से-कम २५३ या उससे अधिक वेट प्राप्त होते हैं और शेष वेट बाकी उम्मीदवारों में बँट जाते हैं। इस हालत मे 'अ' निर्वाचित हो जाता है, क्योंकि उसे कम से कम २५३ वोट प्राप्त होते है जबकि अन्य उम्मीदवारों को प्राप्त

---

१ लोक सभा के अध्यक्ष को अँगरेजी मे 'President' कहा गया है और राज्य सभा के सभापति को 'Chairman'। राज्य सभा के सभापति को स्पीकार नहीं कहा जाता है। लोक-सभा के President का Technical नाम स्पीकर (Speaker) होता है।

वोटो-का कुल जोड़ अधिक-से-अधिक २५२ ही होता है। इस हालत मे 'अ' को लोक-सभा की कुल संख्या, ५०५, का स्पष्ट बहुमत भी प्राप्त है, जिसका होना आवश्यक नही था।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। इस हालत मे 'अ' को २२०, 'ब' को १०३, 'स' को ९७, और 'द' को ८५ वोट प्राप्त हुए। यद्यपि 'अ' को २२० वोट प्राप्त हुए हैं, जो अन्य सभी उम्मीदवारों को अलग-अलग प्राप्त वोटो से कही अधिक हैं, फिर भी 'अ' निर्वाचित नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'अ' को २२० वोट ही मिले है, जो 'ब', 'स' और 'द' को प्राप्त वोटो (१०३ + ९७ + ८५ के कुल जोड २८५) से कम है। इस प्रकार साधारण बहुमत प्राप्त होने से भी कोई अध्यक्ष-पद पर निर्वाचित नही हो सकता।

प्रश्न उठता है कि इस हालत मे क्या होगा? उत्तर है, कि इस पहली बार के मतदान मे कोई व्यक्ति अध्यक्ष नही चुना जायगा। दुबारा वोट लिया जायगा और इस बार, पहली बार के वोट मे सबसे कम वोट प्राप्त करनेवाले उम्मीदवार का, अर्थात् 'द' का, नाम उम्मीदवारो की लिस्ट से हटा दिया जायगा। देखा जायगा कि इस बार किसको कितना वोट मिलता है। मान लीजिए, कि इस बार 'अ' को २४५, 'ब' को १३९ और 'स' को १२१ वोट प्राप्त होते हैं। इस बार भी 'अ' निर्वाचित नही हो सकेगा, क्योकि उसको प्राप्त २४५ वोट अन्य उम्मीदवारो को प्राप्त वोटो (१३९ + १२१ के कुल जोड २६०) से कम है।

अब तीसरी बार वोट होगा और इस बार 'स' को उम्मीदवारो की लिस्ट से हटा दिया जायगा। मान लीजिए, कि इस बार 'अ' को २५० और 'ब' को २५५ वोट आता है या 'अ' को २५२ और 'ब' को २५३ वोट आता है। अब 'ब' निर्वाचित हो जायगा।

हो सकता था कि दूसरी बार के मतदान मे 'अ' को २९७ वोट ही प्राप्त होता, लेकिन १६ वोटरो के वोट नहीं देने के कारण अन्य उम्मीदवारो को प्राप्त हुए वोटो का कुल जोड २४२ ही होता (५०५—१६—२४७ = २४२)। इस दशा मे भी 'अ' निर्वाचित हो जाता।

आशा है, उपर्युक्त उदाहरणो से अध्यक्ष-पद की निर्वाचन-प्रक्रिया स्पष्ट हो जायगी। स्मरण रहे, कि इस प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य यह है कि लोक-सभा के अध्यक्ष-पद पर वही व्यक्ति निर्वाचित हो सकेगा, जिसे न केवल सबसे अधिक वोट प्राप्त हो, वरन् जिसे वोट देनेवाले सदस्यो की बहुसंख्या का समर्थन भी प्राप्त हो।

यद्यपि लोक-सभा को अपना अध्यक्ष चुनने का अधिकार है तथापि व्यवहार मे प्राय ऐसा ही देखा जाता है कि प्रधान मन्त्री विरोधी दल के नेता से परामर्श करके लोक-सभा के किसी सदस्य का नाम अध्यक्ष के चुनाव के लिए रखता है। वह उम्मीदवार सर्वसम्मति से चुन लिया जाता है, क्योकि जिस समय प्रधान मन्त्री किसी व्यक्ति का नाम अध्यक्ष-पद के लिए प्रस्तावित करता है उस समय लोक-सभा मे विरोधी दल का नेता उस नाम का अनुमोदन करता है।

अत, हमारे देश मे अध्यक्ष के निर्वाचन की पद्धति इगलैंड से अधिक मेल खाती है, न कि अमेरिका से। अमेरिका मे दोनो दल अपना-अपना उम्मीदवार खडा करते हैं और अधिक वोट पानेवाला व्यक्ति निर्वाचित हो जाता है।

अध्यक्ष की पदावधि :—लोक-सभा की अवधि, यानी पाँच वर्षों, तक तो इस पद की अवधि है ही, लेकिन इस अवधि के पहले भी यदि लोक-सभा भग कर दी जाय तो भी अध्यक्ष अपने पद पर तबतक कायम रहता है जबतक कि नई लोक-सभा की पहली बैठक मे अध्यक्ष का नया चुनाव न हो जाय।

उसी प्रकार पुरानी लोक-सभा की पूर्ण अवधि समाप्त हो जाने पर लोक-सभा तो आप-से-आप विघटित हो जाती है, लेकिन उस हालत मे भी अध्यक्ष अपने पद पर तबतक कायम रहता है जबतक कि नई निर्वाचित लोक-सभा की पहली बैठक मे अध्यक्ष का नया चुनाव न हो जाय।

लोक-सभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष का पद निम्नलिखित दशाओ मे खाली हो जाता है

(अ) यदि वे लोक-सभा के सदस्य न रह जायँ, (ब) यदि वे अपने पद से इस्तीफा दे दें। अध्यक्ष अपना इस्तीफा उपाध्यक्ष को देगा और उपाध्यक्ष अपना इस्तीफा अध्यक्ष को। (स) लोक-सभा अपने कुल सदस्यों के बहुमत से अयोग्यता या अविश्वास का प्रस्ताव पास कर भी उन्हें अपने पदो से हटा सकती है। लेकिन इस आशय का प्रस्ताव उपस्थित करने की सूचना कम-से-कम १४ दिन पहले अवश्य दी जानी चाहिए।

लोक-सभा की जिस बैठक मे अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर विचार हो रहा है, उस बैठक मे अध्यक्ष या उपाध्यक्ष उपस्थित तो रह सकेगा, लेकिन अपना पद ग्रहण नही करेगा। अध्यक्ष के विरुद्ध प्रस्ताव उपस्थित होने पर अध्यक्ष को लोक-सभा मे बोलने तथा प्रथम मत देने का अधिकार तो होगा, लेकिन उस प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष दोनो मे समान मतसख्या (Tie) हो जाने पर वह अपना मत नही दे सकेगा।

लोक-सभा के अध्यक्ष की अनुपस्थिति मे उपाध्यक्ष[1] अध्यक्ष का काम करेगा। १९५० ई० की ससदीय प्रक्रिया एव कार्य-सचालन-नियम-सहिता के सातवें नियम के अनुसार "ससद् के आरम्भ मे अथवा समय-समय पर जब जैसी आवश्यकता हो, अध्यक्ष ससद् के सदस्यो मे से छह अध्यक्षीय नामो की एक नामावली (Panel of chairman) तैयार करेगा। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो की अनुपस्थिति मे इस नामावली का कोई भी व्यक्ति, अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष के आदेशानुसार लोक-सभा की बैठक की अध्यक्षता करेगा।"

यदि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो ही का पद एक साथ खाली हो जाय, तो राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह लोक-सभा के सदस्यों मे से किसी को अस्थायी रूप से (जबतक कि उस पद के लिए लोक-सभा द्वारा चुनाव न हो जाय) अध्यक्ष नियुक्त कर दे। सविधान की धारा ९३ के अनुसार लोक-सभा को इन पदों के रिक्त होने पर यथाशीघ्र नया चुनाव करने का आदेश दिया गया है।

वेतन और भत्ते—लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे, जो ससद् विधि द्वारा निश्चित करेगी। सन् १९५३ ई० के 'ससद् के पदाधिकारियों के वेतन और भत्ते अधिनियम' (Salaries and Allowances of Officers of the Parliament) के अनुसार लोक-सभा के अध्यक्ष को २२५० रु० प्रति मास वेतन और ५०० रु० प्रति मास अन्य भत्ते (Sumptuary Allowance) मिलते है। उपाध्यक्ष को केवल २००० रु० प्रति मास वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त इन्हें बिना किराये का निवास-स्थान तथा भ्रमण-भत्ता भी मिलता है।

लोक-सभा के अध्यक्ष के कार्य और अधिकार (Functions and powers of the speaker of the Loksabha)—लोक-सभा के अध्यक्ष का मुख्य या आधारभूत काम है लोक-सभा की कार्यवाहियो को निर्देशित करना, सदन मे सुव्यवस्था कायम किये रहना तथा सदन के विशेषाधिकारो (Privileges) का सरक्षण करना। उसके कार्यों का ब्यौरा इस प्रकार दिया जा सकता है—

(क) वह लोक-सभा की बैठको का सभापतित्व करता है। सदन की कार्यवाही जब अध्यक्ष अपने स्थान पर बैठ जाता है तभी प्रारम्भ होती है। सदन की बैठक की कार्यवाही का समय भी वही निश्चित करता है। यदि सदन मे गणपूत्ति

---

१. उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) का निर्वाचन भी लोक-सभा के बहुमत से ही होता है। उपाध्यक्ष का काम अध्यक्ष को लोक-सभा की कार्यवाही के सचालन में सहायता तथा सहयोग प्रदान करना होता है। उपाध्यक्ष भी लोक-सभा के सदस्यो मे से ही हो सकता है।

(Quorum) नही है तो वह सदन की कार्यवाही कुछ समय के लिए रोक सकता है या स्थगित भी कर सकता है।

(ख) वह लोक-सभा मे अनुशासन कायम रखता है और वाद-विवादों का सम्बद्ध बनाये रखने का प्रयत्न करता है। सदन का कोई भी सदस्य उसकी आज्ञा के बिना नही बोल सकता है। सभी सदस्यो को उसको सम्बोधन करके बोलना पडता है। यदि कोई सदस्य अप्रासगिक (Irrelevant) भाषण दे या पहले कही गई बात को ही दोहराए, तो अध्यक्ष उसे रोक सकता है।

सभा की कार्यवाही के नियम-सम्बन्धी आपत्तियो (Points of order) पर निर्णय वही देता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।

कोई सदस्य उसके निर्णय के प्रति असहमति प्रकट नही कर सकता। ऐसा करना अध्यक्ष का अपमान (Contempt of chair) समझा जाता है।

यदि कोई सदस्य सदन की व्यवस्था भग करता है, तो अध्यक्ष उसे चेतावनी दे सकता है और सदन से बाहर चले जाने के लिए विवश कर सकता है। यदि वह सदस्य बाहर नही निकले तो उसे सदस्यता से निलम्बित (Suspend) कर देने का भी अधिकार अध्यक्ष को है। सदन की व्यवस्था भग करनेवाले किसी सदस्य का यदि अध्यक्ष नाम (Naming the member) ले ले, तो शेष अवधि के लिए उसकी सदस्यता निलम्बित हो जाती है।

यदि कोई सदस्य अपने भाषण मे अशिष्ट या असंसदीय भाषा (Unparliamentary language) का प्रयोग करे, तो वह उसे उन शब्दो को वापस (Withdraw) लने के लिए बाध्य कर सकता है और उसके द्वारा वैसा नही किये जाने पर अध्यक्ष उसे सदन से बाहर चले जाने का आदेश दे सकता है।

(ग) गम्भीर अव्यवस्था की दशा मे वह सदन को जितने काल के लिए चाहे, स्थगित कर सकता है।

(घ) दर्शको और अन्य ऐसे व्यक्तियो की, जो सदन के सदस्य नही है, सदन मे उपस्थिति को नियन्त्रित करना भी उसी का काम है। वह उन्हें किसी भी समय सदन से बाहर चले जाने के लिए कह सकता है।

(ङ) अध्यक्ष ससद् की कार्यवाही (Proceeding) से ऐसे शब्दो को अपने विवेकानुसार निकाल देने का आदेश दे सकता है, जो उसकी समझ मे मानहानिकारक, अशिष्ट, असंसदीय अथवा अनुचित हो।

(च) जब अध्यक्ष कुछ कहने को खडा हो जाय, तब उस समय अन्य सदस्यो का बैठ जाना आवश्यक है और कोई भी सदस्य सदन से बाहर नही जा सकता।

(छ) वह यह प्रयत्न करता है कि सरकारी दल तथा विरोधी दल को बोलने का समान अवसर प्राप्त हो।

(ज) सदन के नेता के परामर्श से कार्यक्रम निश्चित करना, राष्ट्रपति के अभिभाषण पर विचार करने का समय निश्चित करना और उसमें सशोधन का उपाय निर्देशित करना उसीका काम है।

(झ) प्रश्न पूछने, 'काम रोको' प्रस्ताव (Adjournment motion) पेश करने और किसी प्रस्ताव को रखने की अनुमति देने का अधिकार उसी को है।

(ञ) किसी भी विधेयक पर वाद-विवाद स्थगित करने का प्रस्ताव (closure motion) उपस्थित करने की अनुमति वही देता है।

(ट) प्रस्तावो, विधेयको आदि का मतदान कराना, मत गिनना और उसका फल बतलाना उसीका काम है।

(ठ) प्रवर समितियो (Select committees) के सभापतियो की नियुक्ति भी वही करता है।

(ड) बजट-सम्बन्धी भाषणो के लिए समय की सीमा वही निर्धारित करता है।

(ढ) लोक-सभा के सदस्यो के विशेषाधिकारो (Privileges) की रक्षा वही करता है।

(ण) ससद् के दोनो सदनों के सयुक्त अधिवेशन का सभापतित्व भी वही करता है।

(त) जो बिल और प्रस्ताव लोक-सभा द्वारा मजूर हो जाते हैं, अध्यक्ष ही अपने हस्ताक्षरो के साथ उन्हें राज्य-सभा या राष्ट्रपति के पास भेजता है। जब कोई बिल ससद् के दोनो सदनो से पास हो जाता है, तब उसपर अध्यक्ष का हस्ताक्षर होता है।

(थ) कोई बिल धन-विधेयक (Money Bill) है या नही, इसका निर्णय भी वही करता है।

(द) राष्ट्रपति और ससद् के बीच पत्र-व्यवहार का माध्यम वही है। राष्ट्रपति के सम्मुख लोक-सभा का प्रमुख प्रवक्ता (Chief Spokesman) वही होता है। राष्ट्रपति द्वारा लोक-सभा को भेजे जानेवाले सदेशो और लेख्यो (Document) को वही लेता है।

(ध) सभी औपचारिक अवसरों पर (Formal Occasions) पर लोक-सभा का प्रतिनिधित्व वही करता है।

(न) आम तौर पर वह अपना मत नही देता है, लेकिन जब किसी प्रस्ताव पर पक्ष और विपक्ष दोनो मे समान मत हो, तो वह अपना निर्णायक मत (Casting Vote) देता है।

अध्यक्ष की स्थिति—अध्यक्ष के कार्यों एव अधिकारो के उपर्युक्त वर्णन से स्वय ही स्पष्ट हो जाता है कि सघीय व्यवस्थापिका मे लोक सभा के अध्यक्ष का अत्यन्त ही प्रभावी तथा महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वतन्त्र रूप से निष्पक्ष होकर ही कोई व्यक्ति इस पद पर ठीक से कार्य कर सकता है।

अध्यक्ष की स्थिति के विषय मे सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि अध्यक्ष और राजनीतिक दलबन्दी मे क्या सम्बन्ध होगा ?

इस सम्बन्ध मे विभिन्न स्थितियाँ और मत पाये जाते हैं। इगलैंड मे तो यह परम्परा बन गई है कि ससद् का कोई सदस्य जैसे ही अध्यक्ष निर्वाचित हो जाता है, वैसे ही उसके दल से उसके सभी सम्बन्ध छूट जाते हैं। औग (Ogg) के शब्दो मे "सभा-भवन मे ही नही, अपितु बाहर भी अँगरेज स्पीकर दलबन्दी की छाया-मात्र से अलग रहता है।" इसीलिए अगले चुनाव मे जिस निर्वाचन-क्षेत्र से वह अपना मनोनयन-पत्र (Nomination Paper) दाखिल करता है, उस क्षेत्र के लिए कोई भी उम्मीदवार खडा नही होता। इस प्रकार वह निर्विरोध निर्वाचित होता है। यद्यपि अगले चुनाव मे ससद् मे विरोधी दल का बहुमत हो जाय, फिर भी पुराना अध्यक्ष ही नया अध्यक्ष निर्वाचित होता है। इसीलिए, कहा गया है कि 'एक बार अध्यक्ष, सदैव अध्यक्ष' (Once a speaker, always a speaker)।

इसके विपरीत अमेरिका मे प्रतिनिधि-सभा (House of Representatives) का अध्यक्ष सर्वथा दलगत आधार पर निर्वाचित होता है और अपने दल का एक क्रियात्मक राजनीतिज्ञ बना रहता है। यही स्थिति फ्रास मे भी पाई जाती है।

हमारे देश मे उपर्युक्त दोनो स्थितियो के बीच-बीच की स्थिति है। भारतीय अध्यक्ष का निर्वाचन, अमेरिका की तरह, दलीय आधार पर होता है और अध्यक्ष निर्वाचित होने के बाद वह अपने दल से सभी सम्बन्ध विच्छिन्न नही करता। लोक-सभा के पहले तथा भूतपूर्व अध्यक्ष श्री जी० वी० मावलकर ने अपना सम्बन्ध-विच्छेद कांगरेस से नही किया। यू० पी० विधान-सभा के अध्यक्ष श्री० पी० डी० टडन ने तो साफ शब्दो मे कहा कि 'मैं उन राज्यो के आचारो मे विश्वास करता हूँ, जो अध्यक्ष को राजनीति मे भाग लेने की अनुमति देते हैं।' इसीलिए हमारे देश मे लोक-सभा की सदस्यता के निर्वाचन मे अध्यक्ष निर्विरोध निर्वाचित नही होता। इसीलिए, भारतीय अध्यक्ष (स्पीकर) को वह सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त नही है, जो इगलैंड के अध्यक्ष (स्पीकर) को।

राज्य की विधान-सभाओ के अध्यक्ष की स्थिति तो और भी दयनीय है। अभी हाल मे ही बिहार-विधान-सभा के अध्यक्ष की आज्ञाओ का पालन नही हुआ और सभा मे गम्भीर अव्यवस्था उत्पन्न होने के ,कारण सभा की कार्यवाही को स्थगित करना पडा ।

फिर भी, यह कहना अनुचित होगा कि भारत का अध्यक्ष अमेरिकी अध्यक्ष की भाँति सदन मे भी पक्षपातपूर्ण व्यवहार करता है। ठीक ही कहा गया है कि सदन के बाहर वह अपना सम्बन्ध अपने दल से तोडता है, लेकिन सभा के अन्दर वह निष्पक्षता से काम करने का सफल प्रयास करता है। स्वर्गीय अध्यक्ष श्री मावलकर ने निष्पक्षता के कर्त्तव्य को बहुत ही अच्छी तरह से निभाया। वर्त्तमान अध्यक्ष सरदार हुकम सिंह भी इस कर्त्तव्य का भलीभाँति पालन कर रहे है।

भारतीय सविधान ने भी अध्यक्ष को स्वतन्त्र रूप मे कार्य करने देने के निमित्त, उसका वेतन और भत्ता, देश की सचित निधि (Consolidated fund) से दिये जाने का प्रावधान किया है।

भारत के अध्यक्ष की स्थिति के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि वह, ब्रिटेन के अध्यक्षो की निर्दलीय निष्पक्षता की चोटीवाली ऊँचाई तक तो नही पहुँच पाया है, लेकिन अमेरिका या फ्रास के अध्यक्षो के सकीर्ण दलगत राजनीतिक धरातल से बहुत ही ऊपर उठा हुआ है। परम्परा भी उसकी निष्पक्षता की ही बनती जा रही है। वैसे, मौजूदा स्थिति डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों मे यो कही जा सकती है, 'मैं किसी दल का नही हूँ, अर्थात् मैं सभी दल का हूँ। मेरा प्रयास ससदीय प्रजातन्त्र की उच्च परम्पराओं का निर्वाह करना और प्रत्येक दल के प्रति न्याय और निष्पक्षता बरतना होगा, जिसमें किसी के प्रति दुर्भाव न हो और सभी के प्रति सद्भाव रहे ।"

प्रश्न

१. लोक-सभा के अध्यक्ष की स्थिति, अधिकारो एवं कार्यों का वर्णन करें।
Describe the position, powers and functions of the Speaker of the Loksabha

२. लोक-सभा का अध्यक्ष कैसे निर्वाचित होता है ? राजनीतिक दलबन्दी के सम्बन्ध मे उसकी क्या स्थिति है ?
How is speaker of the Loksabha elected ? What is his position with regard to the party allignments ?

*

१५ संघ-व्यवस्थापिका : विधि-प्रक्रिया
(The Union Legislature: Legislative Procedure)

ससद् का सर्वप्रधान कार्य कानून निर्माण करना है। इस अध्याय मे हम भारतीय ससद् की विधि-प्रक्रिया का वर्णन करेंगे, अर्थात् भारतीय ससद् के विधेयक कानून कैसे बनते हैं ?

कोई कानून (Act) बनाने के लिए जो प्रारूप (Draft) बनाया जाता है और जिस प्रस्थापना या मसविदे (Proposal) के रूप मे उसे ससद् के सम्मुख उपस्थित किया जाता है, उसे 'विधेयक' या 'बिल' (Bill) कहा जाता है।

विधेयक दो प्रकार के होते हैं—(१) धन-विधेयक (Money Bill) या वित्त-विधेयक (Finance Bill) और (२) साधारण विधेयक (Ordinary Bill)। दोनो प्रकार के विधेयको को पास करने के लिए अलग-अलग प्रक्रिया रखी गई है। हम बारी-बारी से उन दोनो प्रकियाओ की परीक्षा करेंगे।

साधारण विधेयक की प्रक्रिया
(Procedure of an Ordinary Bill)

साधारण विधेयक—धन-विधेयक और वित्त-विधेयक को छोड़कर अन्य दूसरे विधेयक प्राय साधारण विधेयक कहे जाते हैं। साधारण विधेयक, सरकारी होने पर मन्त्रियो द्वारा या गैर-सरकारी होने पर निजी सदस्यो (Private Member) द्वारा ससद् के किसी भी सदन मे उपस्थित किये जा सकते हैं। साधारण विधेयकों के लिए आवश्यक नही है कि वे लोक-सभा मे ही पहले शुरू किये जायं।

(क) विधेयक का प्रस्तुत किया जाना (Introduction)—सरकारी गजट मे प्रकाशित करवा देने मात्र से ही सरकारी बिल का पेश किया जाना मान लिया जाता है। मन्त्रियों को, जिस सदन मे उसे बिल को प्रस्तुत करना हो, उस सदन के उपस्थित और मत देनेवाले सदस्यो के बहुमत से उस बिल को प्रस्तुत करने की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं। जब ससद् का कोई स्वतन्त्र सदस्य ससद् के किसी सदन मे कोई साधारण विधेयक प्रस्तुत करना चाहता है, तब उसे उस सदन के अध्यक्ष को कम-से-कम एक महीना पहले लिखित सूचना (Notice) देनी

पड़ती है।[1] अध्यक्ष द्वारा निश्चित की हुई तिथि[2] को जब कोई स्वतन्त्र सदस्य अपना विधेयक प्रस्तुत करता है तब वह अपनी जगह (Seat) पर खड़ा होकर सदन की अनुज्ञा प्राप्त करता है[3] और उसके पश्चात् उस विधेयक के शीर्षक को पढ़ता है। यदि उपस्थित और मतदान करनेवाले सदस्यों का बहुमत उस प्रस्ताव का समर्थन करते हैं, तो विधेयक प्रस्तुत किया गया माना जाता है।

(ख) प्रथम वाचन[4] (First Reading)—विधेयक का प्रथम वाचन उसको कहते हैं जबकि अध्यक्ष द्वारा निश्चित की गई तिथि को किसी बिल का प्रस्तावक (Mover) (चाहे मन्त्री अथवा सदन का अन्य सदस्य) सबसे पहले, नाम या शीर्षक पढ़ता है और उस विधेयक के सामान्य सिद्धान्तो (General Principles), उद्देश्यों और मुख्य-मुख्य बातो पर संक्षिप्त भाषण देता है।

प्रथम वाचन में विधेयक के सामान्य सिद्धान्तो (General Principles) पर ही वाद-विवाद होता है, उसके प्रत्येक खण्ड या धारा पर विस्तारपूर्वक बहस नही हो सकती है। प्रथम वाचन के साथ विधेयक की प्रारम्भिक अवस्था समाप्त हो जाती है। साधारणतया इस अवस्था मे किसी भी विधेयक को अस्वीकृत नही किया जाता है लेकिन असवैधानिकता के आधार पर अस्वीकृति की माँग भी की जा सकती है।

कई बार किसी बिल का प्रस्तुत किया जाना और प्रथम वाचन दोनों एक ही दिन हो जाते हैं, खासकर निजी सदस्यों के बिल के मामलो मे। वैसी दशा मे

---

१. लोक-सभा ने गैर-सरकारी सदस्य के विधेयको की जाँच के लिए एक समिति (Committee on the Private Member's Bill) का निर्माण किया है। यदि गैर-सरकारी सदस्यो का कोई साधारण विधेयक संविधान मे संशोधन करना चाहता है तो इस कमिटी द्वारा जाँच हो जाने पर ही उस विधेयक को किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकेगा। इन सदस्यो के अन्य विधेयकों की जाँच इस कमिटी के द्वारा प्रस्तुत किये जाने के बाद और प्रथम वाचन (First Reading) के पहले ही हो जाती है।

२. गैर-सरकारी सदस्यो के विधयकों पर प्रति शुक्रवार (Friday) को ढाई घटो तक वाद-विवाद होता है।

३. वह कहता है, "I beg leave to introduce this Bill and reading out the title of the Bill".

४. 'Reading' शब्द को हिन्दी मे लेखको द्वारा 'पाठन', 'वाचन', 'पढ़त' आदि भी कहा गया है। लेखक 'वाचन' शब्द का ही प्रयोग करेगा।

उस बिल को गजट मे प्रकाशनार्थ भेज दिया जाता है। जब विधेयक पहले ही गजट में प्रकाशित हो जाता है (सरकारी बिलों के मामले मे), तब उस विधेयक के प्रथम वाचन के लिए एक तिथि निश्चित की जाती है।

(ग) द्वितीय वाचन—विधेयक के भारत-सरकार के गजट मे प्रकाशित हो जाने के बाद अध्यक्ष द्वारा द्वितीय वाचन के लिए, एक तिथि निश्चित की जाती है।

द्वितीय वाचन के दिन बिल पर विस्तार से बहस होती है। द्वितीय वाचन की अवस्था साधारण विधेयकों की सबसे महत्त्वपूर्ण अवस्था मानी जाती है और इस अवस्था मे जो भी संशोधन उस बिल मे रखना हो रखे जाते हैं, इसके बाद नहीं।

द्वितीय वाचन मे दो अवस्थाएँ हो सकती है। द्वितीय वाचन के दिन विधेयक का प्रस्तावक यह प्रस्ताव रखेगा कि उस विधेयक को उसी सदन की प्रवर-समिति (Select committee) के पास विचारार्थ भेज दिया जाय या दोनों सदनो की संयुक्त प्रवर-समिति (Joint Select committee) के पास भेज दिया जाय अथवा उस विधेयक पर जनमत जानने के लिए उसे प्रसारित किया जाय या उसपर तत्काल विचार किया जाय। इनमे से किसी एक प्रस्ताव के उपस्थित होने पर सदन के सदस्य विधेयक के मूलभूत सिद्धान्तो पर विस्तारपूर्वक वाद-विवाद करेंगे।

यदि बिल को प्रवर-समिति मे भेजा जाता है या जनमत जानने के लिए प्रसारित किया जाता है, तो ऐसी हालत मे रिपोर्ट के मिल जाने के बाद फिर पूरा सदन उस बिल पर बहस करता है। विवादास्पद बिलो पर जनमत जाना जाता है और महत्त्वपूर्ण बिलों को प्रवर-समिति मे भेजा जाता है।

द्वितीय वाचन के दिन यह तय पाता है कि उस विधेयक पर तत्काल विचार किया जाय, तब, नही तो प्रवर-समिति या जनमत की रिपोर्ट मिल जाने पर, विधेयक के खण्ड-खण्ड पर (clause by clause) विचार किया जाता है। प्रत्येक संशोधन के सुझाव पर बहस होती है और प्रत्येक संशोधन और फिर मूल धारा पर अलग-अलग सदन की राय ली जाती है और विधेयक (बिल) खण्डशः पास किया जाता है।

द्वितीय वाचन की अवस्था में ही निजी सदस्य (Private Members) या विरोधी दलो के सदस्यो द्वारा उपस्थित किये गये बिल सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिये जाते हैं, क्योंकि सदन का बहुमत उनके पक्ष मे नही होता। मन्त्रियो द्वारा प्रस्तुत किये गये बिलों की इस स्थिति मे अस्वीकृत होने का प्रश्न ही नही उठता, क्योंकि सदन मे उनके दलों का बहुमत होता है। यदि इस अवस्था मे कोई

सरकारी बिल स्वीकृत न होने पावे, और मन्त्रिपरिषद् इसे अपने प्रति विश्वास का प्रश्न बना दे, तो ऐसी दशा मे मन्त्रिपरिषद् को त्याग-पत्र दे देना पडता है।

(छ) तृतीय वाचन—द्वितीय वाचन के कुछ समय पश्चात् विधेयक का तृतीय वाचन होता है। यह विधेयक की एक सदन मे अन्तिम अवस्था होती है। द्वितीय वाचन के फलस्वरूप सशोधन या पारित रूप मे बिल इस बार सदन के समक्ष वोट के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

तृतीय वाचन के अवसर पर बिल के केवल सामान्य सिद्धान्तो के पक्ष और विपक्ष मे भाषण दिये जाते है। इस अवसर पर कोई नये सशोधन प्रस्तुत नही किये जा सकते, सिर्फ भाषा की अशुद्धि इत्यादि को दूर करनेवाला सशोधन रखा जा सकता सकता है। इसके बाद सम्पूर्ण विधेयक (Bill as a whole) पर मतदान होता है। इस अवस्था मे सारा विधेयक या तो स्वीकार या अस्वीकार किया जायगा। इस अवस्था मे विधेयक प्राय स्वीकार ही किये जाते है।

जब विधेयक तृतीय वाचन मे स्वीकृत हो जाता है, तब उसे उस सदन का अध्यक्ष, दूसरे सदन मे विचारार्थ भेज देता है। अर्थात्, कोई साधारण विधेयक लोक-सभा मे तृतीय वाचन मे स्वीकृत हो जाने पर राज्य-सभा मे भेजा जायगा या राज्य-सभा मे उपस्थित होने पर और वहाँ तृतीय वाचन द्वारा स्वीकृत होने पर लोक-सभा मे भेजा जायगा।

(ज) दूसरे सदन मे—कोई साधारण विधेयक एक सदन से पास होकर जब दूसरे सदन मे आता है, तब वहाँ पर भी उसे उपर्युक्त दशाओं, यानी प्रथम, द्वितीय और तृतीय वाचनो की अवस्थाओ, मे से गुजरना पडता है।

जब दूसरा सदन भी इसी प्रकार इस विधेयक को पास कर देता है, तब उसे राष्ट्रपति की अनुमति (Assent) के लिए भेजा जाता है।

प्रश्न उठता है कि यदि किसी साधारण विधेयक को एक सदन पास करके दूसरे सदन को भेजता है और (अ) दूसरा सदन उसे पास कर देने से अस्वीकार कर दे, (ब) या विधेयक की प्राप्ति की तारीख से छह महीनों तक उसे पास ही नही करे, (स) या उस विधेयक मे ऐसा सशोधन उपस्थित करे, जिसे पहला सदन मानने को तैयार न हो, तब क्या होगा?

उपर्युक्त दशाओ मे उत्पन्न स्थिति को गतिरोध (Deadlock) कहा जाता है। इस दशा मे इस गतिरोध को दूर करने के लिए, राष्ट्रपति, दोनो सदनो की सयुक्त बैठक बुलायगा। इस सयुक्त बैठक का सभापतित्व लोक-सभा का अध्यक्ष करेगा। इस सयुक्त बैठक मे दोनो सदनो के उपस्थित तथा मत देनेवाले सभी सदस्यों के बहुमत से विधेयक जिस रूप में पारित होगा, उसी रूप में वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किया हुआ समझा जायगा।

(च) राष्ट्रपति की अनुमति (Assent of the President)—दोनों सदनो से पास हो जाने के बाद भी कोई विधेयक तबतक कानून नही बनता, जबतक कि उसपर राष्ट्रपति की अनुमति न मिल जाय और राष्ट्रपति का उसपर हस्ताक्षर न हो जाय।

जब कोई विधेयक दोनो सदनो से स्वीकृत होकर राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उसके पास भेजा जाता है, तब भी दो स्थितियाँ हो सकती है—पहली, राष्ट्रपति अपनी अनुमति दे दे, इस हालत मे विधेयक (Bill) कानून (Act) बन जाता है। दूसरी, राष्ट्रपति अपनी अनुमति न दे, ऐसी दशा मे राष्ट्रपति अपने सशोधनो, विचारो या सिफारिशो के साथ उस विधेयक को ससद् के पुनर्विचार (Reconsideration) के लिए लौटा देगा। राष्ट्रपति के इस अनुमति नही प्रदान करने को 'वीटो पावर' (Veto Power) या निषेधाधिकार कहा जाता है।

ऐसी दशा मे राष्ट्रपति के सुझावो या सिफारिशो पर दोनो सदनो मे, उसी ढग से वाद-विवाद किया जायगा, जैसे बिल मे प्रस्तुत किये गये सशोधनो पर होता है। इस बार जिस रूप मे भी (राष्ट्रपति के सशोधनो के साथ या उसके बिना) ससद् अपने बहुमत द्वारा उस विधेयक को पास कर देगी, उस विधेयक को पुन राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजा जायगा। इस बार राष्ट्रपति को उसी रूप मे उस विधेयक पर अपनी अनुमति देनी होगी। अब विधेयक (Bill) कानून (Act) बन जायगा। कानून बनने के बाद उसे सरकारी गजट मे प्रकाशित कर दिया जाता है।

धन-विधेयक की प्रक्रिया
(Procedure of a Money Bill)

धन-विधेयक के कानून बनने की प्रक्रिया साधारण विधेयक के कानून बनने की प्रक्रिया से भिन्न है। इसके पहले कि हम धन-विधेयक की प्रक्रिया का विवरण दें, धन-विधेयक की परिभाषा देंगे। अर्थात् यह बतायेंगे कि धन-विधेयक किसको कहते हैं ?

धन-विधेयक किसको कहते हैं (What is a Money Bill) ?—सविधान की धारा ११० के अनुसार जिस विधेयक मे सिर्फ निम्नलिखित मे से सभी या कोई बात होगी, उसे धन-विधेयक समझा जायगा—

(क) कोई नया कर लगाना, कोई कर उठाना, कम करना, बदलना या नियमित करना।

(ख) ऋण लेने, भारत-सरकार द्वारा गारटी देने का नियमन या भारत सरकार द्वारा वित्तीय उत्तरदायित्व लेने के कानून का सशोधन ।

(ग) भारत की सचित निधि (Consolidated Fund) या आकस्मिकता-निधि (Contingency Fund) का सरक्षण या इन निधियो मे रुपये जमा करना या इनमे से निकालना ।

(घ) भारत की सचित निधि से किसी व्यय के लिए धन देना ।

(ङ) किसी व्यय को सचित निधि पर भारित घोषित करना या ऐसी किसी रकम को वढाना ।

(च) सचित निधि या भारत की सार्वजनिक निधि (Public fund) के लिए रुपया स्वीकार करना या ऐसे रुपये का सरक्षण या सघ अथवा राज्य के आय-व्यय का हिसाव ।

(छ) कोई भी वात जो (क) से (ख) तक की किसी भी वात से सम्बन्धित हो ।

कुछ लेखको[1] ने धन-विधेयक (Money Bill) को 'रुपये पैसे-सम्बन्धी बिल' कहा है । यह कथन पूर्णत सत्य नही है, क्योकि कुछ विधेयक ऐसे होते है, जिनका सम्वन्ध 'रुपये-पैसे' से होता है, लेकिन वे 'धन-विधेयक' नही कहे जा सकते । जैसे, यदि किसी विधेयक के जरिये जुर्माना या अर्थदड लगाया जाता हो, या किसी सेवा या लाइसेन्स के लिए फीस की माँग की जाती हो, या किसी स्थानीय काम के लिए कोई कर लगाया, उठाया, कम किया, वदला या नियमित किया जाता हो, तो भी वह धन-विधेयक नही समझा जायगा ।

यदि यह प्रश्न उठ खडा हो कि कोई विल धन-विधेयक है या नही, तो उसके सम्बन्ध मे लोक-सभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम समझा जायगा ।

धन-विधेयक की प्रक्रिया—धन-विधेयक केवल लोक-सभा मे ही सवसे पहले प्रस्तुत किया जा सकता है, राज्य-सभा मे नही । धन-विधेयक किसी गैर-सरकारी सदस्य (Private member) द्वारा प्रस्तुत नही किया जा सकता । धन-विधेयक केवल राष्ट्रपति की सिफारशो पर वित्त मन्त्री (Finance Minister) के द्वारा लोक-सभा मे पेश किया जा सकता है ।

लोक-सभा मे पेश किये जाने के वाद धन-विधेयक को भी उन्ही सब सोपानो या अवस्थाओ (Stages) से होकर गुजरना होगा, जिनमे से साधारण विधेयक

[1] देखिए, श्रीराजनारायण गुप्त 'भारतीय सविधान तथा नागरिक जीवन' पृष्ठ ११६, का अन्तिम अनुच्छेद ।

को गुजरना पड़ता है। अर्थात् प्रथम वाचन, द्वितिय वाचन और तृतीय वाचन के वाद लोक-सभा से पास होने पर धन-विधेयक राज्य-सभा के पास विचारार्थ भेजा जायगा। लोक-सभा का अध्यक्ष हस्ताक्षर कर उसे धन-विधेयक घोषित करेगा।

यदि राज्य-सभा किसी धन-विधेयक को, प्राप्ति की तारीख से १४ दिनो के अन्दर, लोक-सभा को नही लौटाती है, तो इस अवधि की समाप्ति के वाद वह धन-विधेयक दोनो सदनो द्वारा उमी रूप मे पारित समझा जायगा, जिस रूप मे इसे लोक-सभा ने पारित किया था। ऐसी दशा मे इस अवधि की समाप्ति के वाद धन-विधेयक राष्ट्रपति के पास उसकी अनुमति या स्वीकृति (Assent) के लिए भेजा जायगा। यहाँ भी लोक-सभा का अध्यक्ष अपना हस्ताक्षर करके उसे धन-विधेयक घोषित करेगा।

दोनो सदनो से पारित धन-विधेयको पर राष्ट्रपति को अपनी अनुमति देनी ही पड़ेगी। वह उन्हें पुनर्विचार के लिए, साधारण विधेयकों की तरह, ससद् को वापस नही कर सकता है। इस प्रकार, राष्ट्रपति की अनुमति मिल जाने पर धन-विधेयक (Money Bill) कानून (Act) बन जायगा।

राज्य-सभा किसी धन-विधेयक को, प्राप्ति की तारीख से १४ दिनो के भीतर अपने सुझावो या सिफारिशों के साथ लोक-सभा के पास पुन विचारार्थ लौटा सकती है। ऐसी दशा मे लोक-सभा को उन सिफारिशों पर विचार अवश्य करना होगा, लेकिन उन सिफारिशों को या उनमे से कुछेक को स्वीकार या अस्वीकार करना लोक-सभा का अधिकार है।

इस वार, राज्य सभा द्वारा लौटाया गया धन-विधेयक, जिस रूप मे लोक-सभा के द्वारा पारित होगा, उसी रूप मे दोनो सदनो द्वारा पारित माना जायगा। इसे फिर राज्य-सभा के पास नही भेजा जायगा, वरन् राष्ट्रपति के पास उनकी अनुमति के लिए भेजा जायगा। ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रपति को ऐसे बिलो पर अनुमति देनी ही होगी और इस प्रकार वह धन-विधेयक कानून (Act) बन जायगा।

वित्तीय प्रक्रिया

(Financial Procedure)

साधारण विधेयक (Ordinary Bill) और धन-विधेयक (Money Bill) के अलावा एक और प्रकार का विधेयक होता है, जिसे वित्त-विधेयक, (Finance Bill) कहा जाता है। वित्त-विधेयक एक 'मिश्रित' या मिला-जुला विधेयक

होता है। भारतीय ससद् की वित्तीय प्रक्रिया को लेखको ने निम्नलिखित पाँच वर्गों मे बाँटा है—

(१) वार्षिक आय-व्यय-विवरण (Annual Budget),
(२) अनुदान की माँगें (Demand for Grants),
(३) विनियोग-विधेयक (Appropriation Bill),
(४) वित्तीय विधेयक (Finance Bill),
(५) अन्य वित्त-विधेयक।

(१) वार्षिक आय-व्यय-विवरण—प्रत्येक वित्तीय वर्ष (किसी वर्ष के १ अप्रैल से दूसरे वर्ष के ३१ मार्च तक का एक वर्ष) के शुरू मे राष्ट्रपति की अनुमति से भारत-सरकार के आगामी वर्ष के अनुमानित आय-व्यय का विवरण (Annual Budget) लोक-सभा में पेश किया जाता है।

बजट के दो भाग होते हैं—रेलवे बजट (Railway Budget) और साधारण बजट (General Budget)। दोनो की प्रक्रिया एक ही है, सिर्फ रेलवे-बजट लोक-सभा मे रेलवे-मत्री द्वारा उपस्थित किया जाता है और साधारण बजट वित्त-मत्री द्वारा।

वार्षिक आय-व्यय-विवरण मे दो तरह के व्यय का अनुमान होता है—(क) वह व्यय, जो कि अनिवार्य है, अर्थात् भारत की सचित-निधि पर भारित-व्यय और (ख) वह व्यय, जिसके लिए ससद् की आज्ञा माँगी जाती है, अर्थात् अभारित व्यय (Non-charged Expenditure)।

(क) भारत की सचित-निधि पर भारित व्यय (Expenditure charged on the Consolidatd Fund of India)—इस कोटि के व्यय मे राष्ट्रपति, लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, राज्य-सभा के सभापति और उप-सभापति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, सघीय लोकसेवा-आयोग के सदस्यो तथा भारत के नियत्रक और महालेखा-परीक्षक, इत्यादि के वेतन और भत्ते शामिल है। इसी कोटि मे उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो, सर्वोच्च न्यायालय के जजो, भारत के नियत्रक तथा महालेखा-परीक्षक, सघीय लोकसेवा-आयोग के सदस्यो के पेन्सन, देशी नरेशो के 'प्रिवी पर्स' (Privy purse) और भारत-सरकार के ऋण-सम्बन्धी भार भी शामिल हैं।

चूँकि उपर्युक्त व्यय अनिवार्य हैं, इसलिए इन पर ससद् केवल वाद-विवाद कर सकती है। इनके सम्बन्ध मे ससद् को मतदान का अधिकार नही है। ससद् द्वारा इनमे किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता।

(ख) भारत की सचित निधि पर भारित व्यय के लिए लोक-सभा की स्वीकृति की आवश्यकता नही है, परन्तु अभारित व्यय (Non-Charged

Expenditure) अथवा बजट के बाकी भाग के लिए लोक-सभा की स्वीकृति आवश्यक है। इन्ही बाकी खर्चो को 'अनुदान की माँगो' (Demand for Grants) के रूप में लोक-सभा के सामने रखा जाता है।

(२) अनुदान की माँग (Demand for Grants)—यह माँग भी राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति से लोक-सभा मे ही उपस्थित की जाती है। लोक-सभा को इन माँगो पर सिर्फ बहस करने का ही अधिकार नही है वरन् मत देने का भी अधिकार है। लोक-सभा को इन माँगो को स्वीकार, अस्वीकार या कम करने का अधिकार है, लेकिन किसी भी हालत मे लोक-सभा इन माँगो को बढा नही सकती।

लोक-सभा के गैर-सरकारी सदस्यों को किसी नये खर्च को प्रस्तावित (Propose) करने या किसी खर्च की रकम बढाये जाने की माँग करने का अधिकार है।

(३) विनियोग-विधेयक (Appropriation-Bill)—अनुदान की माँग लोक-सभा द्वारा स्वीकृत हो जाने के बाद, सचित निधि पर भारित व्यय के साथ ये अनुदान की माँगें एक विनियोग-विधेयक (Appropriaton Bill) के रूप मे लोक-सभा के सामने पेश की जाती है। इस विधेयक के द्वारा सचित निधि पर भारित व्यय-राशि तथा लोक-सभा द्वारा स्वीकृत अन्य व्यय-राशि को सचित निधि से खर्च के लिए निकालने की माँग की जाती है।

इस प्रकार के विधेयक पर लोक-सभा मे सिर्फ साधारण वाद-विवाद हो सकता है, लेकिन सशोधन या कटौती का प्रस्ताव नही हो सकता। लोक-सभा द्वारा स्वीकृत हो जाने पर, इस विधेयक को अध्यक्ष, धन-विधेयक घोषित करता है और फिर धन-विधेयक की प्रक्रिया लागू होती है।

स्मरण रहे कि विनियोग-विधेयक के पास हुए बिना सचित निधि से कुछ भी खर्च नही किया जा सकता।

(४) वित्त-विधेयक (Annual Finance Bill)—बजट मे प्रस्तावित करो (Taxes) को एक विधेयक से रूप मे ससद् के समक्ष उपस्थित किया जाता है। इसी को वार्षिक वित्त-विधेयक कहते है। इसकी प्रक्रिया भी अन्य धन-विधेयको की प्रक्रिया के समान ही है। लेकिन इस विधेयक पर बहस के दौरान किसी कर को अस्वीकृत करने या घटाने (बढाने का नही) का सशोधन उपस्थित किया जा सकता है।

(५) अन्य वित्त-विधेयक—बजट पास हो जाने के बाद, वित्तीय वर्ष मे, यदि बजट द्वारा स्वीकृत रकम से काम न चले तो राष्ट्रपति के समक्ष अनुपूरक

अनुदान (Supplementary grants), सहायक अनुदान (Additional grants) या अतिरिक्त अनुदान (Excess grants) की माँग पेश कर सकता है। इन सभी माँगो के लिए साधारण वार्षिक माँग की ही प्रक्रिया लागू होगी।

यदि नये वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने के पहले तक विनियोग-विधि पास न हो सके या कार्यकारिणी को किसी अत्यावश्यक कार्य के लिए तुरत जरूरी हो तो लोक-सभा को पेशगी अनुदान (Advance Grants) और अपवाद अनुदान (Exceptional Grants) देने का भी अधिकार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक धन-विधेयक तथा वित्त-विधेयको का सम्बन्ध है, लोक-सभा ही सर्वेसर्वा (All-in-All) है। इन क्षेत्रो मे राज्य-सभा के अधिकार, १४ दिनो तक देर कर सकने के अतिरिक्त और कुछ नही है।

जिस प्रकार इगलैड की वित्तीय प्रक्रिया के सम्बन्ध मे श्री मे (May) का यह कथन कि "क्राउन रुपया माँगती है, कामन्स उसे देते हैं और लार्ड्स उसे स्वीकार करते है" ठीक है, उसी प्रकार भारत मे "राष्ट्रपति रुपया माँगते हैं, लोक-सभा उसे देती है और राज्य-सभा उसे स्वीकार करती है।

प्रश्न

साधारण विधेयक और धन-विधेयक में क्या अन्तर है ? भारतीय संसद मे एक साधारण विधेयक के पारित होने की प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।

What is the difference between an Ordinary Bill and a Money Bill ? Mention the procedure of passing an Ordinary Bill in the Indian Parliament.

धन-विधेयक किसे कहते है ? कोई धन विधेयक कानून कैसे बनता है

What is a Money Bill ? How does it become an act ?

१६ संघ-न्यायपालिका : सर्वोच्च न्यायालय
(The Union Judiciary Supreme Court)

सघ-न्यायपालिका का महत्त्व—जनतन्त्रात्मक शासन मे स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना अत्यन्त ही आवश्यक होता है। स्वतन्त्र न्यायपालिका की अनुपस्थिति मे सभी व्यक्तियो के अधिकारो की रक्षा तथा उनके साथ समान और पूर्ण न्याय सभव नहीं है। लार्ड ब्राइस ने ठीक ही कहा है कि "किसी सरकार की श्रेष्ठता जांचने के लिए उसकी न्याय-व्यवस्था की निपुणता से वढकर और कोई अच्छी कसौटी नही है, क्योंकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितो पर इतना प्रभाव नही पडता जितना उसके इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र तथा निष्पक्ष न्याय-शासन पर निर्भर रह सकता है।"

जनतन्त्रात्मक शासनो से भी वढकर सघात्मक सरकारो के लिए स्वतन्त्र-न्यायपालिका की आवश्यकता होती है। एक सर्वोच्च, स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय संघीयशासन का निसर्गत ऐसा महत्त्वपूर्ण और अन्यतम अग होता है कि उसकी अनुपस्थिति मे एक सघात्मक राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

हम जानते हैं कि केन्द्र और इकाइयो के मध्य शासन-शक्तियो का बंटवारा ही सघात्मकता का सार तत्त्व होता है। सघीय शासन मे दो सरकारें, संघ-सरकार और राज्य-सरकारें, अपने-अपने क्षेत्रो मे न्यूनाधिक स्वाधीनतापूर्वक काम करती हैं।

हो सकता है कि शक्तियो का विभाजन करते समय, अत्यधिक परिश्रम और सतर्कता के बावजूद, कुछ अस्पष्टता (Vagueness), सन्दिग्धता (Doubts) और अतिव्याप्ति (Overlapping) रह ही जाय। ऐसी दशा मे अधिकार-क्षेत्र के प्रश्नो या सविधान की धाराओ के निर्वचन (Interpretation) को लेकर कभी-कभी सघ और राज्यों के बीच, या राज्यों के बीच आपस मे ही, मतभेद, विवाद या अन्तर्द्वन्द्व उठ खडे हो सकते हैं। ऐसे सघर्षों के निपटारे के लिए एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष मध्यस्थ चाहिए। श्री पालन्दे के अनुसार, "विवाद्य (Controversial) विषय के सम्बन्ध मे सविधान के स्पष्ट अर्थ की अधिकृत घोषणा द्वारा विवादो और अन्तर्द्वन्द्वो को समाप्त करने के लिए एक उच्चतर सत्ता की व्यवस्था होनी ही चाहिए। मूलत उच्चतम न्यायालय का यही कर्त्तव्य है।"

हम यह भी जानते हैं कि सघात्मक सविधान अनिवार्य रूप से एक लिखित सविधान होता है। लिखित सविधानो मे शासन के विभिन्न अगो (कार्यपालिका,

व्यवस्थापिका और न्यायपालिका) की शक्तियाँ निश्चित रहती है। उनके कार्य-क्षेत्रो की सीमाएँ निर्धारित रहती हैं और सिर्फ सविधान ही सर्वोच्च होता है। शासन का कोई अग अपने क्षेत्र से बाहर जाकर सविधान के उपबन्धो की मर्यादाओ का उल्लघन तो नही कर रहा है, सविधान की सर्वोच्चता पर आघात तो नही हो रहा है, इन सब बातो की देख-रेख भी न्यायपालिका ही करती है। इसलिए न्यायपालिका को 'सविधान का सरक्षक' कहा जाता है।

प्राय सभी लिखित सविधानो मे नागरिको को कुछ मूलभूत अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इन मूलभूत अधिकारो की रक्षा तथा उनकी उपलब्धि भी न्यायपालिका के द्वारा ही सभव है।

इन्ही उपर्युक्त कारणो और उद्देश्यो के फलस्वरूप सघात्मक राज्यो के लिए एक सुसगठित, शक्तिशाली और स्वतत्र न्यायपालिका का होना आवश्यक ही नही, वरन् अनिवार्य होता है। तभी तो इसे सघीय शासन-पद्धति का सतुलन-चक्र (Balancing Wheel) कहा गया है।

सघीय न्यायालय, सविधान का सरक्षक और निर्वाचनकर्त्ता (Protector and Interpretor) होता है। वह सघ तथा उसकी सघटक इकाइयो (Federal Units) के बीच विवादो और अन्तर्द्वन्द्वो का अन्तिम निर्णय करनेवाला न्यायाधिकरण भी होता है और सविधान द्वारा दिये गये नागरिको के मूलभूत अधिकारो का भी रक्षक होता है। श्री फाइनर ने ठीक ही कहा है कि उच्चतम न्यायालय समस्त सघात्मक ढाँचे को सम्बद्ध रखने मे सीमेंट (Cement) का काम करता है।

भारत की सघ-न्यायपालिका—भारत भी राज्यो का एक सघ है। अतएव, भारतीय सविधान के द्वारा भी एक सघीय न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। भारत की सघ-न्यायपालिका के सगठन, अधिकारो और कृत्यो के विवरण के पूर्व इसकी एक प्रधान विशेषता का उल्लेख किया जाना आवश्यक जान पडता है।

भारत की न्यायपालिका की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि भारतीय सविधान के सघात्मक होने पर भी, समूचे सघ के लिए एक ही सुसम्बद्ध (Well-Integrated) न्यायपालिका की स्थापना की गई है। अर्थात्, भारत में सभी न्यायालय, सर्वोच्च से लेकर निम्नतम न्यायालय तक, एक ही पद्धति में साघटित (गुँथे हुए) हैं।

साधारणत, सघात्मक राज्यों मे, कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका की ही भाँति, न्यायपालिका की भी दोहरी व्यवस्था रहती है। इस दोहरी व्यवस्था के अन्तर्गत, संघात्मक राज्यो मे, न्यायपालिका के दो पृथक् अग होते हैं —सघीय न्यायपालिका तथा राज्यों की न्यायपालिकाएँ। सघीय और राजकीय न्यायपालिकाएँ

एक-दूसरे से अलग और स्वतन्त्र हुआ करती हैं। संघीय न्यायपालिका संघीय कानूनो से सम्बन्धित मुकदमो की जाँच करती है और राज्यो की न्यायपालिकाएं राज्यो के कानूनो के उल्लंघन से उत्पन्न होनेवाले मुकदमो की। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका की न्यायपालिका।

भारतीय न्यायपालिका की प्रणाली संघात्मक राज्यो की उपर्युक्त सामान्य प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। यहाँ न्यायपालिका का द्वैध संगठन नही है। देश के सभी न्यायालय, ऊपर से नीचे तक, एक ही संगठन की इकाइयाँ हैं। वे विभिन्न स्तरो पर एक ही कडी के अंग (Links of the same chain) है और इन सभी न्यायालयो को संघीय और राजकीय विधान-मंडलो द्वारा बनाये गये दोनो प्रकार के कानूनो से सम्बन्धित मुकदमो को सुनने का अधिकार है।

भारत का सर्वोच्च न्यायालय

(The Supreme Court of India)

सर्वोच्च न्यायालय भारतीय न्यायपालिका की शृंखला (Hierarchy) की चोटी (Peak) पर का न्यायालय है। भारत-संघ के विभिन्न राज्यो के सभी उच्च न्यायालय (High Courts) और उनके अधीनस्थ जिला और अन्य निम्न न्यायालय, सभी-के-सभी भारत के सर्वोच्च न्यायालय के अधीन हैं।

सन् १९३५ ई० के भारत-सरकार-कानून के अन्तर्गत हमारे देश मे इसी प्रकार का एक न्यायालय था, जिसका नाम था 'फेडरल कोर्ट' (Federal Court) उसी 'फेडरल कोर्ट' या संघीय न्यायालय के स्थान पर, नये संविधान के अनुसार, 'सुप्रीम कोर्ट' या सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है।

संविधान-निर्माताओ ने जान-बूझकर इस न्यायालय का नाम 'फेडरल कोर्ट' से बदलकर 'सुप्रीम कोर्ट' कर दिया। जब भारत अंग्रेजो की अधीनता मे था तब इस 'फेडरल कोर्ट' द्वारा किये गये निर्णयो के विरुद्ध, लंदन मे स्थित, इंगलैंड की प्रिवी कौंसिल (Privy Council) मे अपीलें की जा सकती थीं। अब भारत के सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये गये फैसलो के विरुद्ध कोई भी अपील भारत के बाहर किसी न्यायालय मे पेश नही की जा सकती। न्यायिक मामलो मे सुप्रीम कोर्ट का स्थान देश में सर्वोपरि है और इसके निर्णय अन्तिम माने जाते हैं। इसीलिए इसका नाम जान-बूझकर सर्वोच्च न्यायालय रखा गया है—यथा गुण तथा नाम।

संगठन—भारतीय संविधान की मूल धारा १२४(१) के अनुसार भारत का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा, जो भारत के मुख्य न्यायाधिपति (Chief Justice) तथा, जबतक संसद् विधि द्वारा इस संख्या को नही बढाती, अधिक-से-अधिक सात अन्य न्यायाधीशो (Other Judges) से मिलकर बनेगा।

सर्वोच्च न्यायालय मे कम-से-कम कितने न्यायाधीश रहें, यह सख्या सविधान मे निश्चित नही की गयी है। ससद् को भी, कानून द्वारा, न्यायाधीशो की अधिकतम सख्या मे वृद्धि ही करने का अधिकार है। सविधान द्वारा निश्चित अधिकतम सख्या, यानी ७, मे कमी करने का अधिकार ससद् को भी नही है।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय का उद्‌घाटन २६ जनवरी, १९५० (जिस दिन भारत का नया सविधान लागू हुआ) को हुआ। उस दिन सर्वोच्च न्यायालय भारत के मुख्य न्यायाधिपति और अन्य ७ न्यायाधीशो से मिलकर बना। किन्तु भारतीय ससद ने सन् १९५६ ई० मे इसके अन्य न्यायाधीशो की अधिकतम सख्या ७ से बढाकर १० कर दी। इस वर्ष (१९६०) ससद् ने एक दूसरे कानून के द्वारा अन्य न्यायाधीशो की अधिकतम सख्या १० से बढाकर १३ कर दी है। फलत अब सर्वोच्च न्यायालय मे मुख्य न्यायाधिपति के सहित १४ न्यायाधीश होगे।

न्यायाधीशों की नियुक्ति—सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति तथा अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यो के उच्चन्यायालयो के उन न्यायाधीशो से परामर्श करता है, जिन्हें वह इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त समझे। मुख्य न्यायाधिपति को छोड कर अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति के विषय मे राष्ट्रपति के लिए मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करना आवश्यक है।

राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक नही है कि वह उपर्युक्त सिफारिशो या परामर्शों को स्वीकार करे ही। वस्तुत सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति मत्रिमडल अर्थात् प्रधान मत्री के परामर्श से ही करता है।

विशेष अवस्थाओ में न्यायाधीशों की नियुक्ति—जब भारत के मुख्य न्यायाधिपति का पद खाली हो, या वह अनुपस्थित हो, या किसी अन्य कारण से अपने पद का कार्य नही कर रहा हो, तब उसके पद के कार्य उस न्यायालय के अन्य न्यायाधीशो मे से ऐसे न्यायाधीश के द्वारा किये जायेंगे, जिसे राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए नियुक्त करे।

फिर, यदि किसी समय सर्वोच्च न्यायालय का अधिवेशन बुलाने या जारी रखने के लिए न्यायाधीशो की गणपूर्ति (Quorum) नही हो तो मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से, उच्च न्यायालयो के किसी न्यायाधीश को, जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की योग्यता रखता हो, आवश्यक अवधि के लिए तदर्थ (Ad hoc) न्यायाधीश के रूप मे, सर्वोच्च न्यायालयो की बैठको मे उपस्थित रहने के लिए लिखित निवेदन कर सकता है। ऐसी नियुक्तियो के पहले भारत का मुख्य न्यायाधिपति सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से भी

परामर्श लेगा। सन् १९५० ई० मे इसी प्रकार के दो तदर्थ जज हैदराबाद मे नियुक्त किये गये थे।

इसके अतिरिक्त, भारत का मुख्य न्यायाधिपति, किसी भी समय, राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से, किसी ऐसे व्यक्ति को, जो सर्वोच्च न्यायालय या भूतपूर्व सघ-न्यायालय (Federal Court) के न्यायाधीश के पद पर रह चुका हो, सर्वोच्च न्यायालय मे बैठने तथा न्यायाधीश के रूप मे काम करने के लिए निवेदन कर सकता है। ऐसे व्यक्तियो को सर्वोच्च न्यायालय के अन्य जजो के समान वेतन तथा अधिकार तो दिये जायेंगे, लेकिन उन्हें न्यायालय के सामने साधारण न्यायाधीश नही माना जायगा।

कुछ थोडे समय के लिए मुख्य न्यायाधिपति को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह उच्च न्यायालयो के जजो को सर्वोच्च न्यायालय मे कार्य करने के लिए बुला सके।

न्यायाधीशो की योग्यताएँ—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर किसी व्यक्ति की नियुक्ति होने के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक मानी गई हैं—

(१) वह भारत का नागरिक हो और

(२) (क) कम-से-कम ५ वर्षों तक किसी एक उच्च न्यायालय या लगातार दो या दो से अधिक ऐसे न्यायालयो का न्यायाधीश रह चुका हो, या

(ख) कम-से-कम १० वर्षों तक किसी एक उच्च न्यायालय या लगातार दो या अधिक ऐसे न्यायालयो का अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो या

(ग) राष्ट्रपति की सम्मति मे सुविख्यात विधि-वेत्ता (Distinguished Jurist) हो।

न्यायाधीशो के वेतन और भत्ते—सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति को ५००० रु० और अन्य न्यायाधीशो को ४००० रु० मासिक वेतन दिया जाता है। इसके अलावा उन्हें रहने के लिए बिना किराये का मकान, अनेक प्रकार के अन्य भत्ते और पेन्शन भी मिलेंगे। ससद् कानून बनाकर न्यायाधीशो के वेतन, भत्ते, पेंशन आदि मे परिवर्त्तन कर सकती है। लेकिन किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के बाद उसके वेतन, भत्ते, छुट्टी की सुविधाएं तथा पेंशन मे कमी नही की जा सकती। वित्तीय सकट (Financial Emergency) के उद्घोषणा-काल मे राष्ट्रपति उनके वेतन मे कटौती कर सकता है। न्यायाधीशो के वेतन, भत्ते, पेंशन आदि भारत की सचित-निधि पर भारित रहते हैं।

न्यायधीशो का कार्यकाल—सर्वोच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु तक ही अपने पदो पर आसीन रह सकते हैं। इस आयु के बाद वे अवकाश ग्रहण करते हैं।

इस अवधि के पूर्व भी कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति के पास लिखित त्याग-पत्र देकर अपना पद त्याग सकता है। किसी भी न्यायाधीश को अपने पद से हटाया भी जा सकता है, जिसके लिए निम्नलिखित प्रक्रिया है—

सर्वोच्च न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश, बिना राष्ट्रपति के आदेश के, अपने पद से हटाया नही जायगा। राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को हटाने का आदेश तभी देगा जबकि उसके पास एक ही सत्र (Session) मे ससद् का प्रत्येक सदन अपने कुल सदस्यो के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यो के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित निवेदन-पत्र प्रेषित करे कि अमुक न्यायाधीश सिद्ध-दुराचार या अक्षमता (Proved misbehaviour or incapacity) के आधार पर पदच्युत कर दिया जाय।

अन्य शर्तें—प्रत्येक न्यायाधीश को पद ग्रहण करते समय, राष्ट्रपति के समक्ष या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष, एक विहित शपथ लेनी होती है, जिसका आशय यह है कि वह भारत के सविधान के प्रति सच्ची निष्ठा रखेगा और अपने पद के कर्त्तव्यो का बिना भय, पक्षपात, अनुराग और द्वेष-भाव के वफादारी, श्रेष्ठ योग्यता और ज्ञान के अनुसार पालन करेगा।

जो व्यक्ति सर्वोच्च न्यायाधीश रह चुका हो, वह भारत के किसी अन्य न्यायालय मे या किसी अधिकारी के अधीन या सामने वकालत या अन्य कोई कार्य नही कर सकता।

स्थान—सर्वोच्च न्यायालय दिल्ली मे, अथवा ऐसे अन्य स्थान या स्थानो मे, जिन्हें भारत का मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति के अनुमोदन से समय-समय पर निश्चित करे, बैठेगा। सामान्यत इसकी बैठक दिल्ली मे ही होती है।

सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार और कृत्य

(Powers and Functions of the Supreme Court)

सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे बड़ा और अन्तिम न्यायालय है। इसके द्वारा घोषित विधियो और आज्ञाप्तियो को भारत-राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत सभी न्यायालयो को मानना ही पडेगा।

सविधान की धारा १२९ के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय एक अभिलेख-न्यायालय (Court of Record) होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि इसके सभी

निर्णय और कार्यवाहियाँ हमेशा की याद और प्रमाण के लिए रेकार्ड के रूप मे सुरक्षित रहेंगी तथा प्रमाणित समझी जायेंगी। कोई भी न्यायालय इन रेकार्डों की सत्यता को चुनौती नही दे सकेगा। साथ ही इसे अपने अधिकार के अपमान (Contempt of Court) के लिए दण्ड देने की शक्ति भी प्राप्त होगी।

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Supreme Court,—सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को चार वर्गो मे बाँटा जा सकता है—(१) प्रारंभिक (Original) (२) अपीलीय (Appellate), (३) परामर्शदात्री (Advisory), और (४) आवृत्ति-सम्बन्धी (Revisional)।

(१) प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र (original Jurisdiction)—प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र का अर्थ यह होता है कि इस क्षेत्र के अन्तर्गत पडने वाले मुकदमे शुरू मे ही सीधे सर्वोच्च न्यायालय मे लाये जा सकते हैं और उन्हें किसी छोटी अदालत मे पहले ले जाने की आवश्यकता नही है।

सर्वोच्च न्यायालय के प्रारंभिक क्षेत्राधिकार में पडनेवाले विषय भी दो प्रकार के हैं—

(क) ऐसे विषय जिनसे सम्बन्धित सभी झगड़े सिर्फ सर्वोच्च न्यायालय में ही पेश किये जा सकते हैं। अर्थात्, इन विषयो पर देश के किसी और दूसरे न्यायालय को विचार करने का अधिकार नही है। इसे सर्वोच्च न्यायालय का अनन्य अधिकार-क्षेत्र (Exclusive Jurisdiction) भी कहा जा सकता है।

(ख) ऐसे विषय जिनसे सम्बन्धित झगडे सर्वोच्च न्यायालय के साथ-साथ उच्च न्यायालय मे भी पेश किये जा सकते हैं। अर्थात्, इन विषयो पर सर्वोच्च न्यायालय के अलावा उच्च न्यायालय को भी विचार करने का अधिकार प्राप्त है। इसे सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय का समवर्ती अधिकार-क्षेत्र (Concurrent Jurisdiction) कहा जा सकता है।

(क) सर्वोच्च न्यायालय के प्रथम प्रकार के (अनन्य) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार मे निम्नलिखित विवाद आते हैं—

(१) जो विवाद भारत की सघ-सरकार और भारतीय सघ के अन्तर्गत एक या एक से अधिक राज्यो के बीच हो,

(२) जिस विवाद मे भारत की सघ-सरकार तथा भारतीय सघ के अन्तर्गत एक या एक से अधिक राज्य एक ओर हो और भारतीय सघ के अन्तर्गत अन्य कोई एक या एक से अधिक राज्य दूसरी ओर हो,

(३) जो विवाद भारतीय सघ के अन्तर्गत किन्ही दो या दो से अधिक राज्यों के बीच हो।

उपर्युक्त विवादो मे से कोई भी विवाद तभी सर्वोच्च न्यायालय मे लाया जा सकेगा जबकि उनमे कानून या तथ्य से सम्बन्धित कोई ऐसा प्रश्न उठा हो, जिस पर किसी पक्ष के कानूनी अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर करता हो ।

सर्वोच्च न्यायालय के अनन्य क्षेत्राधिकार मे भारतीय सघ और उसकी इकाइयो के अधिकार तथा शक्ति के बँटवारे-सम्बन्धी विवाद ही आते है । उनके बीच-के राजनीतिक झगडे इस अधिकार-क्षेत्र मे नही आते ।

इसी प्रकार सविधान की धारा १३१ के मुताबिक निम्नलिखित विषयो से सम्बन्धित विवाद सर्वोच्च न्यायालय के प्रारभिक क्षेत्राधिकार में नहीं आते—

(१) सविधान के लागू होने से पहले भूतपूर्व देशी रियासतो के साथ की गई सन्धि या समझौते के कारण उत्पन्न विवाद, यदि वह सन्धि या समझौता तबतक भी मान्य हो ।

(२) किसी राज्य के साथ की गई सन्धि, समझौता या सनद के ऐसे उपबन्ध से उत्पन्न विवाद, जिसमे स्पष्टत कहा गया हो कि उक्त उपबन्ध मे उत्पन्न विवाद सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के अधीन नही होगा ।

अन्तर्राज्य-जल सभरण (Inter-State Water Supplies) और वित्त-आयोग से सम्बधित बातें, राजदूत-सम्बन्धी मामले और नागरिको के बीच के विवाद आदि सर्वोच्च न्यायालय के प्रारभिक अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत नही होगे ।

इस प्रकार हम पाते है कि सर्वोच्च न्यायालय के प्रारभिक अधिकार क्षेत्र पर कुछ सीमाएँ लगी हुई हैं। इसके अन्दर भारत-सघ के अन्तर्गत किन्ही दो भिन्न राज्यो के निवासियो के बीच का विवाद या एक राज्य के विरुद्ध दूसरे राज्य के किसी निवासी का विवाद नही आ सकता है ।

(ख) सर्वोच्च न्यायालय के दूसरे प्रकार के (समवर्त्ती) प्रारभिक अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत, भारतीय नागरिको को सविधान द्वारा दिये गये मूल अधिकार आते हैं ।

भारतीय सविधान की धारा ३२ के अधीन, नागरिको के मूल अधिकारो की रक्षा के लिए, सर्वोच्च न्यायालय को बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), उत्प्रेषण (Certiorari) और अधिकार-पृच्छा (Quo-Warranto) आदि लेख (Writs) जारी कर सकने का अधिकार है ।

धारा २२६ के अनुसार मूल अधिकारो की रक्षा के लिए उपर्युक्त लेखो को जारी कर सकने का अधिकार उच्च न्यायालयो को भी है । कहा जा चुका है कि ऐसे विषय सर्वोच्च तथा उच्च—दोनो न्यायालयो के समवर्त्ती क्षेत्राधिकार मे पडते हैं ।

नागरिकों के मूल अधिकार सम्बन्धी-मामलों के अलावा संविधान की व्याख्या करने का प्रश्न, १९४७ के भारत-स्वतन्त्रता-अधिनियम से सम्बन्धित कोई प्रश्न, संसद् द्वारा बनाये गये कानूनों से सम्बन्धित कोई प्रश्न तथा राज्य के विधान-मंडलों द्वारा बनाये गये कानूनों से सम्बन्धित प्रश्न भी सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के समवर्ती क्षेत्राधिकार के ही अन्तर्गत आते हैं।

(२) अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction)—सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध किसी अन्य न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। लेकिन सैनिक न्यायालयों के अलावा भारत के अन्य किसी भी न्यायालय के किसी भी निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

सामान्यतः उच्च न्यायालयों या उस स्थिति के अन्य न्यायालयों, जैसे जुडिशियल कमिश्नर (Judicial Commissioner) के कोर्ट के विरुद्ध ही सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जाती है।

सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को चार भागों में बाँटा जाता है—(क) संवैधानिक प्रश्न-सम्बन्धी, (ख) दंड-सम्बन्धी अर्थात् फौजदारी, (ग) व्यवहार-सम्बन्धी अर्थात् दीवानी और (घ) संक्रमणकालीन अवस्था-से-जनित अपील।

(क) संवैधानिक प्रश्न-सम्बन्धी—संविधान की धारा १३२ के मुताबिक भारत राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी उच्च न्यायालय के दीवानी या फौजदारी या अन्य कार्यवाही-सम्बन्धी किसी निर्णय या आदेश के विरुद्ध अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकेगी, यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाण-पत्र (Certificate) दे कि उस फैसले, निर्णय या आदेश में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रश्न (Substantial question of Law) अन्तर्ग्रस्त (Involved) है।

यदि उच्च न्यायालय इस तरह का प्रमाण-पत्र नहीं दे, तो भी सर्वोच्च न्यायालय अपील करने की विशेष अनुमति (Special Leave) दे सकता है, यदि उसे समाधान हो जाय कि अमुक मामले में संविधान की व्याख्या-सम्बन्धी कानून का कोई सारमय प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।

(ख) दण्ड-सम्बन्धी, अर्थात् फौजदारी मामलों की अपील—फौजदारी मामलों में उच्च न्यायालयों के फैसलों के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में तभी अपील की जा सकेगी, जबकि—

(१) उच्च न्यायालय ने, अपील में, निचले न्यायालय द्वारा रिहा किये गये किसी अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड का आदेश दिया हो, या

(२) उच्च न्यायालय ने अपने अधीनस्थ न्यायालय से किसी मामले को अपने परीक्षण के लिए मांगकर अभियुक्त को मृत्यु-दड दे दिया हो, या

(३) उच्च न्यायालय यह प्रमाण-पत्र दे कि अमुक मुकदमा सर्वोच्च न्यायालय मे अपील किये जाने योग्य है ।

ससद् को अधिकार है कि वह फौजदारी मामलो मे सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को और भी बढा दे ।

(ग) व्यवहार-सम्बन्धी, अर्थात् दीवानी मामलो की अपील—दीवानी मामलो मे उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय मे अपील तभी हो सकती है जबकि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि (अ) उस मुकदमे मे २०,००० रु० से कम रकम (या वह रकम जो ससद् कानून बनाकर निश्चित करे) निहित नही है, या (ब) २०,००० की कीमत की जायदाद या दावा निहित है, या (स) वह ऐसा मुकदमा है, जिसकी अपील सर्वोच्च न्यायालय मे होने योग्य है ।

इस प्रकार के मुकदमो को छोडकर अन्य किसी प्रकार के मुकदमे मे यदि उच्च न्यायालय ने अपने अधीनस्थ न्यायालय के निर्णय का केवल अनुमोदन किया हो, तो उसकी अपील सर्वोच्च न्यायालय मे तभी हो सकती है जबकि उच्च न्यायलय यह भी प्रमाणित करे कि उस मुकदमे मे कानून का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है ।

यदि किसी दीवानी मुकदमे का निर्णय उच्च न्यायालय के किसी एक न्यायाधीश ने ही किया हो, तो उसकी अपील सर्वोच्च न्यायालय मे नही की जा सकती है । ससद् को अधिकार है कि वह इस नियम को कानून बनाकर बदल दे ।

भारत का सर्वोच्च न्यायालय भारत राज्य-क्षेत्र की केवल फौजी अदालतों को छोडकर अन्य किसी भी तरह के न्यायालय या ट्रिब्यूनल (Court or Tribunal) के निर्णय के विरुद्ध अपील किये जाने की विशेष अनुमति दे सकता है । सविधान की सम्बन्धित धारा १६६ सर्वोच्च न्यायालय को अपील सुनने का असीमित अधिकार प्रदान करती है । इसके अनुसार किसी मुकदमे मे किसी पक्ष को यदि अपील करने का अधिकार न हो, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय की राय मे उस दशा मे न्याय (Natural Justice) का उल्लघन हो रहा हो तो वह विशेष अनुमति (Special Leave) देकर अपील करने का अधिकार दे सकता है ।

(घ) सक्रमणकालीन अवस्था जनित अपील—कहा जा चुका है कि भारत के भूतपूर्व फेडरल कोर्ट का स्थान सर्वोच्च न्यायालय ने ले लिया है । अतएव सविधान की धारा १३५ के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को उस फेडरल कोर्ट के सभी

अधिकार मिल गये हैं। इसलिए यदि ससद् ऐसा करने से मना नही करे, तो सर्वोच्च न्यायालय, किसी भी ऐसे निर्णय की, जिसकी अपील उस कोर्ट मे हो सकती थी, अपील करने की अनुमति दे सकता है।

(३) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को राष्ट्रपति को परामर्श देने का भी अधिकार है। सविधान की धारा १४३ के मुताबिक, राष्ट्रपति जब चाहे, किसी भी महत्त्वपूर्ण सवैधानिक मामलो, समझौतो, सन्धियो या सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नो से सम्बन्धित किसी विषय को सर्वोच्च न्यायालय के पास राय के लिए भेज सकता है। सर्वोच्च न्यायालय उन विषयो पर राष्ट्रपति को अपना विचार दे सकेगा।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये परामर्श को मानना या न मानना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है।

सविधान की धारा ३१७ (१) मे कहा गया है कि लोकसेवा-आयोग (Public Service Commission) का अध्यक्ष या अन्य कोई सदस्य तबतक अपदस्थ नही किया जा सकेगा, जबतक, राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित होने पर, सर्वोच्च न्यायालय उस व्यक्ति का दुराचरण प्रमाणित करते हुए उस व्यक्ति को पदच्युत करने का परामर्श न दे।

इस क्षेत्राधिकार को सर्वोच्च न्यायालय का निर्देशन अधिकार-क्षेत्र (Reference Jurisdiction) भी कहा गया है।

(४) आवृत्ति-सम्बन्धी क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार भी है कि अपने द्वारा दिये गये किसी निर्णय या आदेश का पुन निरीक्षण या अवलोकन कर सके तथा उसकी त्रुटियो को हटाने के लिए सुधार कर सके। सविधान की धारा ३२ के अधीन विभिन्न प्रकार के लेखो को जारी कर सकने का अधिकार प्राप्त रहने के फलस्वरूप भी सर्वोच्च न्यायालय देश के किसी भी न्यायालय के निर्णय को दुहरा (Revise) सकता है।

(५) न्यायिक-पुनर्विलोकन (Judicial Review) का अधिकार—भारत के सर्वोच्च न्यायालयो को न्यायिक पुनर्विलोकन का भी अधिकार प्राप्त है। ससद् या राज्यो के विधानमण्डलो द्वारा बनाये गये कानूनो पर विचार करने और उनकी सवैधानिकता की जाँच करने के अधिकार को ही न्यायिक-पुनर्विलोकन (Judicial Review) का अधिकार कहा जाता है।

इस अधिकार के अनुसार भारतीय ससद् अथवा भारत-सघ के अन्तर्गत राज्यो के विधानमण्डल यदि कोई ऐसा कानून बनाते है या राज्यो की कार्यपालिकाएँ ऐसा आदेश देती है, जिनसे सविधान का उल्लघन या अतिक्रमण

होता हो, सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह वैसे कानूनो या आदेशों को अवैध (Ultra Vires) घोषित कर सकेगा। उदाहरणार्थ, सघ-सरकार या राज्य-सरकारें जहाँ अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर गई कि सर्वोच्च न्यायालय उन्हें अवैध घोषित करेगा। इसी प्रकार अगर, कोई ऐसा कानून बना जो सविधान द्वारा दिये गये मूल अधिकारों का उल्लघन करे तो वैसा कानून भी अवैध घोषित किया जायगा।

(६) अन्य अधिकार—उपर्युक्त अधिकारो के अलावा सर्वोच्च न्यायालय को राष्ट्रपति के अनुमोदन से, अपनी कार्यवाही के सम्बन्ध मे नियम बनाने का अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय अपनी कार्यवाही सम्पादित करने के लिए किसी व्यक्ति को उपस्थित होने, कोई कागजात पेश करने आदि का आदेश दे सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति को, इस न्यायालय के पदाधिकारियो और सेवको को नियुक्त करने का अधिकार है, उनके वेतन और सेवा की शर्तों से सम्बन्धित नियम इत्यादि, राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से बनाने का भी अधिकार है।

सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारो मे वृद्धि—सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारो मे ससद् कानून बनाकर और भी वृद्धि कर सकती है। सघ-सूची का कोई भी विषय, ससदीय कानून द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत किया जा सकता है। इसी प्रकार, इस न्यायालय को मूल अधिकारो की रक्षा के अलावा अन्य विषयो तथा कार्यों के लिए भी लेख जारी कर सकने का अधिकार दे सकती है।

ससद्, कानून द्वारा, सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी सभी अनुपूरक और उपसहायक शक्तियाँ दे सकती है, जो उसके कार्यों के सम्पादन के लिए आवश्यक हो।

इसी प्रकार, भारत की सघ-सरकार और भारत-सघ के अन्तर्गत राज्य-सरकारो के आपसी समझौते द्वारा भी, सर्वोच्च न्यायालयो के अधिकार बढ़ाये जा सकते है यदि ससद्, कानून द्वारा, उस अधिकार को इस न्यायालय को दे दे।

निष्कर्ष—भारत के सर्वोच्च न्यायालय के सगठन, अधिकारो एव कृत्यो के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसे विभिन्न प्रकार के कितने ही महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये गये हैं। ठीक ही कहा गया है कि यह संसार के सभी उच्चतम न्यायालयो से अधिक शक्तिशाली है। भारत के महान्यायवादी श्री सीतलवाद ने सर्वोच्च न्यायालय के उद्घाटन के दिन कहा था कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार, अपने चरित्र और विस्तार के किसी भी देश के उच्चतम न्यायालय और अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट के अधिकार से अधिक है।

हम जानते हैं कि हमारे देश मे ससदीय शासन-पद्धति अपनाई गई है। अतएव, सविधान की सर्वोच्चतम की सीमाओ के अन्दर भारतीय सामद् को सर्वोच्चता प्रदान की गई है। इस वजह से भारत के सर्वोच्च न्यायालय का नियत्रण, अर्थात् उसके न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार, भारतीय ससद् पर उतना कारगर नही हो सकेगा। जब भी, सर्वोच्च न्यायालय, भारतीय ससद् द्वारा बनाये गये कानूनो के औचित्य को, सवैधानिकता की कमी या उसके विरुद्ध होने के आधार पर अवैध घोषित करेंगे, भारतीय ससद् सविधान के उन सम्बन्धित उपबन्धो का सशोधन कर न्यायालय की शक्ति को कम कर देगी।

अत जहाँ तक भारतीय ससद् पर नियत्रण का प्रश्न है, भारत के सर्वोच्च न्यायालय को उतना अधिकार नही है। लेकिन जहाँ तक सघ या राज्यो की कार्य-पालिका का सवाल है, भारत का सर्वोच्च न्यायालय उनपर अच्छी तरह से नियत्रण रख सकता है।

नागरिको के मूल अधिकारो का सरक्षण—सर्वोच्च न्यायालय के सम्बन्ध मे एक और प्रश्न पूछा जाता है कि वह नागरिको के मूल अधिकारो की रक्षा कैसे करता है? इसका उत्तर है कि विविध लेखो (Writs) को जारी कर सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करता है।

इस पुस्तक के 'नागरिकों के मूल अधिकार' अध्याय[1] मे सवैधानिक उपचारो के अधिकार का वर्णन[2] करते समय और सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का वर्णन[3] करते समय, इस प्रश्न का विस्तार उत्तर दिया जा चुका है। अत, उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही दीख पडती।

सर्वोच्च न्यायालय की स्वतत्रता—इस अध्याय के प्रारम्भ मे हमने उन कारणो और उद्देश्यों को बताया है, जिनके फलस्वरूप साधारणत सभी प्रजातन्त्रात्मक देशो मे और विशेषकर सघात्मक राज्यो मे एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका का होना आवश्यक होता है।

भारत के सर्वोच्च न्यायलय के अधिकारों एव कृत्यो की चर्चा करते समय हमने देखा है कि इस न्यायालय को कितने महत्त्वपूर्ण कार्य करने हैं।

सर्वोच्च न्यायालय सविधान और नागरिको के मूल अधिकारो का रक्षक या प्रहरी है। यह "सघीय तथा राज्य-विधानमण्डलो के बीच का सतुलन-चक्र है।"

---

१ अध्याय ३।

२. देखिए पृष्ठ-सख्या ४७ से ४९।

३. देखिए पृष्ठ-सख्या २०४।

अपने उपर्युक्त कर्त्तव्यो के निर्वहन के लिए यह आवश्यक है कि सर्वोच्च न्यायालय निष्पक्ष और स्वतत्र रूप मे अपने कार्यों का सम्पादन कर सके। अर्थात् इसके कार्यकरण मे किसी प्रकार का अनुचित हस्तक्षेप नही होना चाहिए।

यह जानी हुई बात है कि शासन के तीनों अग—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका, एक-दूसरे से पूर्णत अलग और स्वतत्र होकर कार्य नही कर सकते। फिर भी न्यायपालिका को निष्पक्ष और स्वतत्र रूप मे कार्य करने देने तथा व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी द्वारा उसके कार्यकरण मे अनुचित हस्तक्षप किये जाने की सभावना को दूर करने के निमित्त कुछ-न-कुछ प्रावधान अवश्य किया जाना चाहिए।

भारतीय सविधान के निर्माताओ ने भी हमारे सविधान मे कुछ ऐसे उपबन्धो का प्रावधान किया है, जिनके माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के अवाछनीय प्रभावो एव अनुचित हस्तक्षेपो से स्वतत्र रहकर, निष्पक्षता तथा निर्भीकतापूर्वक अपने आदर्शों एव कर्त्तव्यो का पालन कर सके।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय की स्वतत्रता एव निष्पक्षता निम्नलिखित प्रकार से सरक्षित की गई है—

(१) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है, न कि आम चुनाव (General Election) द्वारा और न ससद् द्वारा ही। नियुक्ति के लिए बहुत-सारी योग्यताएं निर्धारित कर दी गई हैं और राष्ट्रपति को सविधान के उपबन्धो द्वारा सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों से परामर्श लेना अनिवार्य कर दिया गया है। इन सब उपबन्धो के कारण राष्ट्रपति भी न्यायाधीशो की नियुक्त मे मनमानी नहीं कर सकता।

(२) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन, भत्ते आदि भारत की सचित निधि पर भारित हैं। भारतीय ससद् उन पर बहस कर सकती है, लेकिन वोट नही कर सकती है। न्यायाधीशो के कार्य-काल मे उनके वेतन, भत्ते आदि मे कमी नहीं की जा सकती। न्यायालय के अधिकारियो और सेवकों के वेतन और भत्ते तथा न्यायालय के प्रशासन-खर्च भी सचित निधि पर ही भारित है।

इस व्यवस्था के फलस्वरूप इस न्यायालय के न्यायाधीश मत्रिमडल तथा ससद दोनो के कोप व प्रसाद (Anger or Pleasure) की परवाह किये विना अपना काम स्वतत्रतापूर्वक कर सकते हैं।

(३) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की पदावधि कुछ निश्चित समय के लिए (जैसे भारत का राष्ट्रपति, ५ वर्षों के लिए इत्यादि, निर्धारित नही की गई

है, वरन् नियुक्त होने पर न्यायाधीश ६५ वर्षों की आयु तक अपने पदो पर रह सकेंगे। ६५ वर्ष की उम्र काफी लम्बी अवधि हुई।

इस उम्र के पहले न्यायाधीशो को पदच्युत करने की जो प्रक्रिया है, वह बहुत ही जटिल है। कोई भी न्यायाधीश तभी अपदस्थ किया जा सकेगा जबकि ससद् के दोनो सदनो की कुल सदस्य-सख्या का बहुमत और उपस्थित सदनो की दो-तिहाई सख्या कदाचार व अयोग्यता के कारण उसको पदच्युत करने का निवेदन-पत्र राष्ट्रपति के पास भेजे।

एक तो इस प्रक्रिया की जटिलता के कारण जल्दी किसी न्यायाधीश के विरुद्ध इस तरह का निवेदन-पत्र समर्पित नही किया जा सकेगा। दूसरे, यदि राजनीतिक कारणो मे, एक पार्टी के ससद् के दोनो सदनो मे बहुत बडे बहुमत मे होने के कारण किसी न्यायाधीश के विरुद्ध ऐसा निवेदन-पत्र पास हो भी जाय, तो भी राष्ट्रपति उस न्यायाधीश को पदच्युत होने का आदेश देना अस्वीकार कर सकता है, अगर उसे यह समाधान हो जाय कि वैसा करना उस न्यायाधीश के प्रति अन्याय है।

(४) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के किसी ऐसे कार्य पर, व्यवस्थापिकाओ में, विवाद नही हो सकते, जिसे न्यायाधीशो ने अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए किया हो।

(५) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अवकाश ग्रहण करने पर देश के किसी अन्य न्यायालय मे या किसी अधिकारी के अधीन या सामने वकालत या अन्य कोई कार्य नही कर सकते।

इस व्यवस्था के कारण, न्यायाधीशो को अवकाश ग्रहण करने के बाद, किसी अच्छी सरकारी नौकरी के लोभ मे या अच्छे पैसेवाले मुवक्किलो (Clients) की आशा मे, क्रमश सरकारी या गैर-सरकारी पक्षो के प्रति, पक्षपात करने की प्रवृत्ति नही होगी।

इन्ही उपर्युक्त व्यवस्थाओ और प्रावधानो के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की स्वतत्रता और निष्पक्षता सरक्षित की गई है।

फिर यह भी कहना कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय देश की व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के अवाछनीय प्रभाव और अनुचित हस्तक्षेपो से पूर्णत स्वतत्र और चिन्ताविहीन है, पूर्णत सत्य नही होगा।

सर्वोच्च न्यायालय के सगठन आदि के सबध मे सविधान मे कुछ प्रावधान ऐसे है, जिनसे इस न्यायालय की स्वतत्रता और निष्पक्षता पर आँच आ सकती है।

(१) ससद को इस न्यायालय के न्यायाधीशों की सख्या मे वृद्धि कर सकने का अधिकार है। सविधान मे न्यायाधीशो की उस अन्तिम या अधिकतम सख्या का उल्लेख नही है, जिससे अधिक ससद् बढा नही सकती। कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका इस अधिकार का दुरुपयोग कर इस न्यायालय को अपने समर्थक न्यायाधीशो से भर (Pack) कर अपनी इच्छानुसार निर्णय ले सकती हैं। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ऐसा करने का प्रयास किया था।

(२) इस न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति मे उस व्यक्ति की योग्यता और समर्थता के अतिरिक्त अन्य बातो, जैसे सत्तारूढ पार्टी के सिद्धान्तो और कार्यक्रमो के प्रति आस्था या भक्ति आदि को ध्यान मे रखा जा सकता है। न्यायाधीशो की नियुक्ति मे प्रधान मत्री और मन्त्रिमडल का हाथ तो रहता ही है, क्योकि उनके परामर्श के उपरान्त ही राष्ट्रपति वैसी नियुक्तियाँ करता है।

कुछ दिनो पहले देश मे यह अफवाह फैली थी कि कानून-आयोग (Law-commission) ने अपनी रिपोर्ट मे न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति के ऊपर कुछ कीचड उछाला था।

(३) वित्तीय सकटकालीन अधिकारो का भी दुरुपयोग किया जा सकता है। विशेपकर वर्त्तमान काल मे जबकि भारत सदैव आर्थिक सकट मे ही रहता है।

(४) कुछ लोगों के अनुसार, अवकाश ग्रहण करने के बाद न्यायाधीशो को कही भी वकालत या अन्य सरकारी कार्य करने से जो मना किया गया है, उसके कारण भी इस न्यायालय के न्यायाधीश अपने कार्य-काल मे ही सरकार को खुश करने या प्रभावित करने के लिए अपनी नैतिकता, स्वतन्त्रता और निष्पक्षता से डिग जा सकते हैं। उन्हे यह लोभ रहेगा कि सेवा-निवृत्त (Retire) होने के बाद वे राज्यपाल या राजदूत आदि पदो पर नियुक्त हो सकेंगे।

इस प्रकार हम पाते हैं कि भारत मे ससदीय शासन-पद्धति होने के कारण सर्वोच्च न्यायालय व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नही है।

प्रश्न

१. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के सगठन तथा अधिकारो का वर्णन कीजिए।
   Describe the Composition and Powers of the Supreme Court of India.

२. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के सगठन का वर्णन कीजिए। इसके न्यायाधीश अपने पदो से कैसे हटाये जायगें ?

Discuss the organisation of the Supreme Court of India. How can a Judge of this Court be removed from his office ?

३. भारत का सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारो की रक्षा किस प्रकार करती है ? इस न्यायालय के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का वर्णन कीजिए।
How does the Supreme Court of India safeguard the Fundamental Rights of the Indian citizens ? Describe some of the other important functions performed by it.

४. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कैसे होती है ? इस न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।
How are the Judges of the Supreme Court of India appointed ? Discuss the Appellate Jurisdiction of this Court

५ भारत के सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए। इस न्यायालय की स्वतन्त्रता का सरक्षण किस भाँति किया गया है ?
Discuss the Original Jurisdiction of the Supreme Court of India How has the independence of this Court been guaranteed ?

*

१७ संघ तथा राज्यों के बीच सम्बन्ध
(Relation between the Union and the State)

भारत का सविधान सघात्मक है। चूंकि सविधान का रूप सघात्मक है, इसलिए यह आवश्यक है कि सघ और राज्य-सरकारो के अधिकार-क्षेत्र अलग-अलग हो तथा उनमे आपसी सम्बन्ध भी हो। सयुक्त राज्य अमेरिका मे केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ सविधान मे निश्चित कर दी गई हैं और शेष शक्तियाँ राज्यो को दे दी गई है। कनाडा के सविधान मे इसके विपरीत राज्यो की शक्तियाँ सविधान मे निश्चित कर दी गई है तथा शेष शक्तियाँ केन्द्र को दे दी गई हैं। हमारे देश के सविधान मे एक तीसरे प्रकार से अधिकार-क्षेत्रो का बँटवारा किया गया है। यहाँ पर शक्तियो के विभाजन के लिए तीन सूचियाँ तैयार की गई है—सघ-सूची, राज्य-सूची तथा समवर्त्ती-सूची। अव हमारे देश मे सघ और राज्यो के बीच आपसी सम्बन्ध क्या है, उसका वर्णन आगे किया जाता है।

सघ एव राज्यो के आपसी सम्बन्धो को सुगमतापूर्वक जानने एव समझने के लिए उनका विवेचन मुख्यत निम्नाकित शीर्षको के अन्तर्गत किया जायगा—

१. प्रशासनिक सम्बन्ध (Administrative Relation)
२. विधायी सम्बन्ध (Legislative Relations)
३. वित्तीय सम्बन्ध (Financial Relations)
४. अन्यान्य सम्बन्ध (Other Relations)

१. प्रशासनिक सम्बन्ध
(Administrative Relations)

सघात्मक शासन-व्यवस्था की सबसे कठिन समस्या सघ तथा राज्यो के प्रशासनिक सम्बन्धो का समायोजन करना है। यदि सविधान मे उससे सम्बन्धित स्पष्ट उपबन्ध न हो तो दोनो अपना-अपना उत्तरदायित्व निभाने मे कठिनाई का अनुभव करते हैं। इसीलिए भारतीय सविधान-निर्माताओ ने, इस कठिनाई को दूर करने के लिए, विस्तृत उपबन्धो का निर्माण किया। यहाँ भारत-सरकार अधिनियम, १९३५ का काफी अनुकरण किया गया है। सघीय सरकार का राज्यो की सरकारो पर निम्नाकित मामलो मे नियन्त्रण है—

राष्ट्रपति को राज्यो के राज्यपाल तथा उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो की नियुक्ति का पूर्ण अधिकार है। राष्ट्रपति व्यवहार मे प्राय प्रधानमन्त्री की सलाह से ही ऐसी नियुक्ति करता है। राज्यपाल की नियुक्ति मे सम्बन्धित राज्य के मुख्य मन्त्री की राय अवश्य ली जाती है। न्यायाधीशो को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित भी किया जाता है।

अनुच्छेद २५६ के अनुसार प्रत्येक राज्य को अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करना होगा कि ससद् द्वारा निर्मित अधिनियमो का परिपालन निश्चित रूप से हो। इस हेतु सघीय कार्यपालिका राज्यो की कार्यपालिकाओ को उचित निर्देश दे सकती है। सविधान केन्द्र को केवल उचित निर्देश देने का अधिकार देकर ही सतुष्ट नही हुआ। २५७ अनुच्छेद के अनुसार प्रत्येक राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि राज्य के अन्दर केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति को सकुचित नही किया जाय। यदि किसी केन्द्रीय अभिकरण को किसी राज्य मे अपने कर्त्तव्य का पालन करने मे कठिनाई होती है तो सघीय कार्यपालिका की ओर से राज्य की कार्य-पालिका को आवश्यक निर्देश दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय तथा सैनिक महत्त्व के सचार-साधनो का निर्माण तथा पोषण एव राज्यो के प्रदेश मे रेलमार्गों की सुरक्षा के सम्बन्ध मे भी केन्द्र को निर्देश जारी करने का अधिकार है। केन्द्र द्वारा निर्देशित इन कार्यों की पूर्त्ति मे राज्य द्वारा जो अतिरिक्त व्यय किया जायगा, उसकी पूर्त्ति केन्द्रीय सरकार करेगी। यदि सघ एव राज्यो मे इस प्रश्न पर मतभेद हो जाय तो उसका फैसला मुख्य न्यायाधिपति द्वारा नियुक्त पच करेगा।

अनुच्छेद २६२ के अन्तर्गत यदि किसी नदी के पानी के उपयोग, वितरण तथा नियन्त्रण के बारे मे, जो कि एक से अधिक राज्यो की सीमा मे बहती हो, कभी कोई विवाद उठे तो ससद् को तमाम झगडो के नियन्त्रण करने एव उनके सम्बन्ध मे कानून बनाने का अधिकार है।

सविधान द्वारा सघीय कार्यपालिका को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने क्षेत्राधिकार का कार्यपालिका-सम्बन्धी कार्य, राज्य सरकार या उसके किन्ही पदा-धिकारियो को सौप दे। ससद द्वारा बनाये गये किसी भी ऐसे कानून के अन्तर्गत जो राज्य-सरकारो के क्षेत्र के बाहर हो सघ द्वारा राज्य सरकार या उसके अधिकारियो को शक्तियाँ अथवा कर्त्तव्य सौपे जा सकते है। ऐसे मामलो मे सघ-सरकार को उस अतिरिक्त व्यय का भार उठाना होगा, जो कि ऐसे कानूनो के प्रशासन मे राज्य सरकार को करना पडेगा।

२. विधायी सम्बन्ध
(Legislative Relations)

भारतीय सविधान मे शक्तियो के विभाजन के लिए तीन सूचियाँ दी गई हैं—सघ-सूची, राज्य-सूची तथा समवर्त्ती सूची। विषयो का इस प्रकार का बँटवारा आस्ट्रेलिया के सविधान मे भी है। हमारे सविधान मे इस प्रकार के बँटवारे का अनुकरण सन् १९३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियम से किया गया है।

सघ-सूची मे ९७ विषय हैं तथा यह सबसे लम्बी सूची है। इसमे प्रतिरक्षा, परराष्ट्र-विषय, परमाणु-शक्ति, सयुक्त राष्ट्रसघ, सधियाँ, रेलवे तथा डाक-तार, विदेशो से वाणिज्य एव व्यापार, यातायात, बीमा, नोट एव मुद्रा, उद्योग-नियत्रण, तोल एव मापो का नियत्रण, जनगणना, सघीय लोक-सेवाएँ, आय-कर, सीमा-शुल्क आदि विषय हैं। इसमे वे सभी विषय सम्मिलित है, जो सघीय महत्व के है। इन विषयो पर ससद् को ही अनन्य विधायी शक्ति प्राप्त है।

राज्य-सूची मे ६६ विषय है। ये विषय राज्य-सरकारो के ही महत्त्व के हैं तथा राज्य-सरकार को ही इन विषयो पर कानून बनाने का अधिकार है। इनमें सार्वजनिक व्यवस्था, न्याय-प्रशासन, स्थानीय स्वशासन, पुलिस तथा जेल, जगल, राजस्व, शिक्षा, पशु-पालन, स्थानीय निर्वाचन, राज्य का लोकसेवा-आयोग, राज्य के अन्तर्गत वाणिज्य एव व्यापार, राज्य की लोक-सेवाएं आदि सम्मिलित हैं।

समावर्त्ती सूची मे ४७ विषय है। उदाहरणार्थ, इसमे बिजली, पागलखाने, व्यवहार-प्रक्रिया, दड-विधि, आर्थिक और सामाजिक योजना, विवाह और तलाक, जन्म-मृत्यु का पजीकरण, समाचार-पत्र, पुस्तकें तथा मुद्रणालय, वृत्तियाँ, न्याय और न्यासी, कारखाने, मूल्य-नियत्रण आदि सम्मिलित है। जबतक इनमे से किसी विषय पर ससद् कोई विधि-निर्माण नही करती तबतक राज्यो के विधान-मडल उस विषय पर विधि निर्मित कर सकते है। किन्तु यदि ससद उस विषय पर कानून का निर्माण करे तो वह कानून राज्य-विधानमडल द्वारा निर्मित कानून पर अभिभावी (Prevail over) होगा। इस नियम का एक अपवाद भी है। यदि ससद् द्वारा किसी विषय पर विधि-निर्माण करने के बाद कोई राज्य उस विषय पर अधिक विस्तृत और उन्नत विधि-निर्माण करना चाहता है तथा विधेयक पारित करता है तो पारित होने के बाद वह विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु रखा जाता है। यदि राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल गई तो ससद्-निर्मित विधि से राज्य-विधानमडल द्वारा निर्मित विधि ऊपर होगी।

संपूर्ण देश के प्रशासनिक यंत्र को सफलतापूर्वक चलाने के लिए यदि राष्ट्रपति आवश्यकता समझे तो एक अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की स्थापना करेगा, जिसके ऊपर निम्नलिखित कृत्यों को करने का भार होगा—(१) राज्यों के बीच उत्पन्न होनेवाले विवादों की जाँच करना और उनके बारे में सलाह देना, (२) ऐसे विषयों की विवेचना या छानबीन करना, जिनमें एक से अधिक राज्यों का सामान्य हित हो, (३) ऐसे ही किसी विषय में सिफारिश करना अथवा नीति से अधिक अच्छा समन्वय लाना। इस प्रकार की परिषद् के निर्माण की व्यवस्था सन् १९३५ ई० के संविधान में भी थी। अभी तक इस प्रकार की कोई परिषद् नियुक्त नहीं हुई है।

यदि राष्ट्रपति बाहरी आक्रमण अथवा युद्ध की संभावना के कारण संकटकालीन स्थिति की घोषणा करे तो वह राज्यों की सरकारों को अपनी कार्यपालिका शक्ति को विशेष ढंग से प्रयोग करने के लिए आदेश देगा। उस समय शासन का रूप एकात्मक हो जायगा तथा प्रान्तीय सूची में निर्धारित विषयों पर भी केन्द्र द्वारा ही प्रशासन चलेगा।

जब राज्यपाल से रिपोर्ट पाकर अथवा किसी अन्य तरीके से राष्ट्रपति को विश्वास हो जाय कि किसी राज्य में संविधान के अनुसार शासन नहीं चल रहा है तो राष्ट्रपति उस राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा कर देता है। उस समय राज्य का शासन केन्द्र के हाथ में चला आता है तथा राज्यपाल को राष्ट्रपति के आदेशानुसार शासन को चलाना पड़ता है। मन्त्रिमण्डल प्रायः इस हालत में समाप्त कर दिया जाता है। ऐसी घोषणा कई बार केरल तथा उड़ीसा में हो चुकी है।

अनुच्छेद २६० के अनुसार भारत के राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र संघ की या प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्रवाइयों को पूरा विश्वास तथा पूरी मान्यता दी जायगी। इस अनुच्छेद द्वारा प्रशासन-कार्य सरल कर दिया गया है।

संविधान के अन्तर्गत संसद् के कानून के द्वारा दो सेवाएं निर्मित की गई हैं—भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस-सेवा। इन सेवाओं पर संसद् तथा केन्द्रीय सरकार का पूर्ण नियंत्रण है। इन सेवाओं के अनेक अधिकारी सभी राज्यों में उच्च पदों पर रहते हैं और इस प्रकार संघ-सरकार राज्य-सरकारों पर पूरा नियंत्रण रखती है।

केन्द्रीय सरकार भारत के सारे राज्यों में शासन-सम्बन्धी एकता स्थापित करने तथा संघ एवं राज्यों की सरकारों की नीतियों में मेल उत्पन्न करवाने के लिए राज्य-सरकारों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुला सकती है और उनमें कुछ सिफारिशें कर सकती हैं।

सघात्मक सविधान में अधिकारो का-जो केन्द्र एव राज्यों के बीच अधिकारो का विभाजन रहता है, उसके नियमानुसार राज्य कों राज्य सूची मे वर्णित विषयों पर कानून बनाने का अनन्य अधिकार प्राप्त है । परन्तु भारतीय सविधान मे ऐसी व्यवस्था की गई है या ऐसे उपबन्धो का निर्माण किया गया है, जिसके मुताबिक निम्नलिखित परिस्थितियो मे ससद् राज्य-सूची मे वर्णित विषयो पर कानून बना सकती है—

(१) यदि राज्यपाल के प्रतिवेदन पाने के पश्चात् अथवा अन्य किसी तरीके से राष्ट्रपति सतुष्ट हो जाय कि किसी राज्य में सविधान के अनुसार शासन नही चल रहा है तो वह उस राज्य मे सवैधानिक आपात्काल की घोषणा कर सकता है। इस घोषणा के अनुसार ससद् को राज्य-सूची पर कानून बनाने का अधिकार होगा ।

(२) यदि राष्ट्रपति बाह्य आक्रमण या युद्ध के कारण आपात्काल की उद्घोषणा कर दे तो उस समय राज्य के विधान-मण्डल की सारी शक्तियाँ ससद् के पास चली जायेंगी ।

(३) यदि किसी एक राज्य का विधान-मण्डल या अधिक राज्यो के विधान-मण्डल ससद् से राज्य-सूची मे वर्णित किसी विषय पर कानून बनाने के लिए प्रार्थना करें तो ससद् उस विषय पर कानून बना सकती है । परन्तु ये कानून उन्ही राज्यो पर लागू होंगे, जिन्होंने इसके लिए प्रार्थना की थी ।

(४) यदि राज्य-सभा उपस्थित और मतदान करनेवाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से यह पास कर दे कि राज्य-सूची मे वर्णित अमुक विषय राष्ट्रीय हित का हो गया है, अत उसपर संसद् को कानून बनाना चाहिए तो उस विषय पर निध रित समय के लिए ससद् को कानून बनाने का अधिकार होगा ।

(५) यदि केन्द्रीय सरकार ने किसी अन्य देश की सरकार से किसी प्रकार की सन्धि कर ली हो, तो वह सभी राज्यो पर लागू होगी । ससद् को उसका व्यावहारिक रूप देने के लिए कानून बनाने का अधिकार है, चाहे वह विषय राज्य-सूची मे ही क्यो न हो ।

इसके अतिरिक्त कोई भी ऐसा विषय, जिसका सम्मिश्रण किसी भी सूची मे नही हुआ हो, केन्द्रीय सूची का विषय समझा जायगा तथा ससद् को ही उस विषय पर कानून बनाने का अधिकार होगा ।

३. वित्तीय सम्बन्ध
(Financial Relations)

वित्तीय क्षेत्र मे संघ एव राज्यो के सम्बन्धो का इतना विस्तृत वर्णन अन्य किसी सघात्मक सविधान मे नहीं मिलता है। किसी भी देश के शासन को चलाने के लिए धन का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योकि उसके बिना सरकार ठीक से नहीं चल सकती है। अत सविधान द्वारा राज्य एव सघों को आमदनी के काफी साधन दिये गये हैं।

सघ की आय के प्रमुख साधन ये हैं—आयात-निर्यात-कर, शराब व अफीम आदि नशीली वस्तुओं को छोडकर देश मे बने तथा खपनेवाले पदार्थों जैसे तम्बाकू पर महसूल, अचल सम्पत्ति-कर (कृषि-भूमि को छोडकर), आय-कर, रेलवे तथा जहाजो द्वारा ले जाये जानेवाले माल एव यात्रियो पर सीमा-कर तथा रेलो के किरायो एव भाडों पर कर, एक्सचेंज बिलो, रूक्को, हुडियो, बीमा-पालिसियों, समाचार-पत्रो की बिक्री तथा खरीद पर कर आदि।

राज्यो के मुख्य आय के साधन निम्नाकित हैं—भूमि-कर, कृषि-आय पर कर, नशीली वस्तुओ पर कर, बिजली-कर, गाडियो, पेशो तथा व्यापारो पर कर, मनोरजन-कर, स्टाम्प-फीस, सडको एव जलमार्गो पर फीस, पशुओ एव नावों पर कर आदि।

राज्य सरकार के उपर्युक्त आय के साधनो के अतिरिक्त कुछ ऐसे कर हैं, जिन्हें सघ-सरकार आरोपित और इकट्ठा करती है, जिससे कि उनके सम्बन्ध मे एकरूपता बनी रहे, परन्तु जिनकी आय राज्यो को दे दी जाती है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी आय के साधन हैं, जिन्हें सघ-सरकार आरोपित तथा इकट्ठा करती है, परन्तु उनसे होनेवाली आय मे सघ तथा राज्य दोनों सरकारें हिस्सा पाती हैं। उस प्रकार के करो का वर्णन निम्नाकित है—(१) कृषि-भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्ति कर, उत्तराधिकार-कर, अचल सम्पत्ति-कर, रेलो-जहाजो द्वारा ले जाये जानेवाले माल और यात्रियो पर सीमा-कर तथा रेलो के किरायो एव भाडो पर कर, समाचार-पत्रो के खरीद-बिक्री तथा उनमे प्रकाशित विज्ञापन पर कर आदि ऐसे कर हैं, जिन्हें सघ-सरकार आरोपित और सग्रह करती है, परन्तु जिनकी कुल आय ससद् के कानून के अन्तर्गत अनुपात के अनुसार विभिन्न राज्यो को बाँट दी जाती है। (२) कुछ ऐसे भी कर हैं, जिन्हें सघ-सरकार आरोपित तथा इकट्ठा करती है, जैसे आय-कर, परन्तु उसका ५५% भाग प्रथम वित्त-आयोग की

सिफारिश के अनुसार विभिन्न राज्यो मे बांट दिया जाता है। (३) भारत-सरकार सघ-सूची मे वर्णित दवाइयो और श्रृंगार की वस्तुओ पर स्टाम्प व महसूल लगाती है, जिसे राज्य-सरकार द्वारा इकट्ठा किया जाता है और उसे ही मिल जाती है।

निर्वाचन, आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। परन्तु इस आयोग पर सघ तथा राज्य दोनो के निर्वाचन की जिम्मेवारी रहती है।

राज्य-विधान-मण्डल द्वारा बहुत-से पारित विधेयको को राज्यपाल को राष्ट्रपति की सम्मति हेतु रखना पडता है, क्योंकि वे राष्ट्रपति की सम्मति से ही अधिनियम बन सकते हैं।

सशोधन की प्रक्रिया मे बहुत-से ऐसे उपबन्ध हैं, जिनके सशोधन मे ससद् को राज्यो के आधे से अधिक विधान-मण्डलो की सहमति की आवश्यकता होती है।

हमारे सविधान मे सघ एव राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को देखने से साफ पता चलता है कि हमारे सविधान-निर्माताओ ने दूसरे सघीय देशो के सविधानो की त्रुटियो से अवगत होकर इस प्रकार से स्पष्ट उपबन्धो का निर्माण किया, जिससे सघ तथा राज्यो मे अधिकार-क्षेत्र को लेकर शायद ही कभी झगडा उठे। साथ ही दोनो के सबधों को देखने से यह भीजाहिर होता है कि यद्यपि भारत का सविधान सघात्मक है, फिर भी इसमे अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण इसे एकात्मक की ओर झुका हुआ बताया जाता है, जैसे एक नागरिकता, एक न्यायपालिका, आपात्काल के समय सघ का राज्य की सारी शक्तियो पर एकाधिकार, विभिन्न प्रकार के सघ को राज्यो को निर्देश करने की प्रक्रिया आदि। अत यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि बपर्युक्त उपबन्धों के द्वारा, संघात्मक सविधान के गुणो के खिलाफ, राज्यो की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप किया गया है। साथ ही राज्य-सूची मे वर्णित विषयों पर कुछ परिस्थितियो मे ससद् जो कानून बना सकती है, उससे तो राज्य की स्वतन्त्रता पर और भी कुठाराघात किया गया है।

सघ तथा राज्यो के आपसा सम्बन्धो की आलोचना करते हुए आपात्कालीन शक्तियो के विषय मे के० टी० शाह ने कहा था—"इस अध्याय मे दो प्रभावशाली विचारधाराएँ पाता हूँ—(१) इकाइयो के विरुद्ध केन्द्र को अधिक शक्ति प्रदान करना, (२) शासन को जनता के विरुद्ध अधिक शक्ति प्रदान करना। श्री एच० एन० कुजरू के मुताबिक "विभिन्न प्रावधानो का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उनके प्रयोग के ये परिणाम होंगे—(१) सघ के सघात्मक रूप का अन्त हो जायगा तथा सघ अत्यधिक शक्तिशाली बन जायगा। (४) वित्त-आयोग की सिफारिश

के अनुसार दियासलाई, तम्बाकू, वनस्पति पर उत्पादन-करो की कुल आय का ४०% विभिन्न राज्य-सरकारो मे बाँटा जा सकता है।

भारत की संचित निधि से आसाम, बगाल, बिहार और उडीसा को, जो कि पटसन उत्पादन करनेवाले राज्य है, निर्धारित ढग के अनुसार पटसन तथा उससे बने माल पर निर्यात-कर के बदले अनुदान दिये जाते है। जैसे बगाल को १०५ लाख, आसाम को ४० लाख, बिहार को ३५ लाख तथा उडीसा को ५ लाख रुपये।

ससद् यह निर्धारित करती है कि भारत की सचित निधि से उन राज्यो को, जिन्हें आर्थिक सहायता की आवश्यकता है, क्या अनुदान दिये जायं। आसाम मे कबीलेवाले प्रदेशो के प्रशासन के लिए अनुदान की व्यवस्था संविधान मे की गई है। संविधान मे यह भी व्यवस्था है कि ससद् मे एसे विधेयक, जिनका प्रभाव उन करो पर पडता हो, जिनकी आय मे राज्यो का हित हो, राष्ट्रपति की सिफारिश के उपरान्त ही पेश किये जा सकते हैं।

सघ तथा राज्य-सरकारें अपने-अपने विधान-मण्डलो द्वारा समय समय पर अपनी-अपनी संचित निधि से ऋण भी दे सकती है। ससद् द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर सघ-सरकार राज्यो को ऋण भी दे सकती है।

४. अन्यान्य सम्बन्ध

(Other Relations)

उपर्युक्त कार्यपालिका, विधायी तथा वित्तीय सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ और भी सघ और राज्यो के बीच सम्बन्ध हैं, जिनका वर्णन आगे किया जाता है।

राष्ट्रपति के द्वारा सघ तथा राज्यो के आय-व्ययक की जांच के लिए एक नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक की नियुक्ति होती है। वह सघ एव राज्य कही पर भी आय-व्ययक की जाँच कर सकता है।

हमारे देश मे केन्द्र से लेकर निम्न स्तर तक एक न्यायपालिका की व्यवस्था गई है। उच्चतम न्यायालय की मान्यता सर्वोच्च है। सभी राज्यो के न्यायालय उसी के अन्दर काम करते हैं।

(१) बहुत-से सघीय राज्यो मे दोहरी नागरिकता की व्यवस्था है—एक सघ के लिए तथा दूसरी राज्य के लिए। हमारे सघीय सविधान मे एक नागरिकता की व्यवस्था की गई है। (२) राज्यो की शक्तियाँ सघ की कार्यपालिका मे केन्द्रीभूत हो जायेंगी, (३) राष्ट्रपति एक प्रकार का अधिनायक बन जायगा। (४) राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता का अन्त हो जायगा।

उपर्युक्त आलोचनाओ मे यह तथ्य अवश्य है कि हमारा सविधान सघात्मक होते हुए भी एकात्मक की ओर झुका हुआ है। परन्तु राज्यो की स्वतन्त्रता से देश की सुरक्षा एव कल्याण का स्थान अधिक है। उपर्युक्त सारे उपबन्ध जिनमे राज्यो की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप का वर्णन है, विशेप परिस्थितियो मे देश की सुरक्षा एव कल्याण हेतु बनाये गये है। कुछ ऐसे प्रावधान जैसे एक नागरिकता एक न्यायपालिका आदि देश की अखण्डता एव एकता को कायम रखने हेतु निर्मित हुए है। इस प्रकार हमारे सविधान मे सघ और राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे जो उपबन्ध हैं, वे स्पष्ट एव सुनिश्चित है तथा उससे सघ और राज्यो मे अधिकार-क्षेत्र को लेकर झगडे की कम गु जाइश है। इस प्रकार का वृहद स्पष्टी-करण अन्य सघीय सविधानो मे नही है।

१८ लोकसेवा-आयोग
(Public Service Commission)

राज्य की शासन-पद्धति किसी भी प्रकार की हो, चाहे ससदात्मक हो या अध्यक्षात्मक, शासन का वास्तविक कार्य उस कर्मचारी-वर्ग द्वारा किया जाता है, जो कि स्थायी रूप से सरकारी सेवा मे रहते हैं। ससद् कानून बनाती है, कार्यपालिका राजकीय नीति का निर्धारण करती है, परन्तु कानूनो और राजकीय नीति को क्रियात्मक रूप देना इसी स्थायी कर्मचारी-वर्ग का कार्य है। देश का शासन सुचारु रूप से उसी हालत मे चल सकता है जबकि कर्मचारी योग्य, निष्पक्ष एव ईमानदार हों। कुशल कर्मचारियों के अभाव में जनतंत्र कभी भी सफल नही हो सकता। यही कारण है कि सभी जनतंत्रात्मक राज्यो में लोकसेवा-आयोग की स्थापना की जाती है। हमारे देश में भी केन्द्रीय तथा राज्य-स्तरों पर योग्य, कुशल एव ईमानदार कर्मचारियों के चयन हेतु लोकसेवा-आयोग की स्थापना की गई है।

लोकसेवा-आयोग की स्थापना की आवश्यकता—

लोकतंत्र के विकास के प्रारम्भिक दिनों में अधिकाश जनतत्रात्मक देशों में लोक-सेवा के सदस्य राजनीतिज्ञो एव इने-गिने व्यक्तियों की अनुकम्पा प्राप्त कर अपना पद प्राप्त करते थे। इस पद्धति के कारण योग्य एव निष्पक्ष व्यक्ति सरकारी पद प्राप्त करने से वचित रह जाते थे। पदों को प्राप्ति के बाद भी कार्य-क्षमता एव योग्यता की ओर कोई कर्मचारी ध्यान नही देता था, क्योंकि पदोन्नति के लिए ये गुण आवश्यक न थे। पदोन्नति के लिए तो राजनीतिज्ञो का अनुग्रह प्राप्त करने की आवश्यकता थी। इस पद्धति से दूसरी हानि यह होती थी कि यदि सत्तारूढ दल या व्यक्ति में परिवर्त्तन होता था तो प्रवर असैनिक अधिकारी भी बदल जाते थे। अत. यह पद्धति प्रशासनिक अनुभव की निरन्तरता प्रदान नही कर सकती थी। सयुक्त राज्य अमेरिका में इस समय भी इस पद्धति को कुछ हद तक अपनाया जाता है। अत उपर्युक्त दुर्गुणों से बचने के लिए हमारे देश में लोकसेवा-आयोग की स्थापना की गई है।

भारत जैसे देश के लिए लोकसेवा-आयोग की और भी आवश्यकता है। यह एक विशाल देश है, जिसमे अनेक जातियाँ एव विभिन्न भाषा-भाषी लोग रहते

हैं। इस हालत मे यदि लोक-सेवाओ के नियोजन मे राजनीतिक विचार या अनुग्रह की प्रधानता होगी तो राष्ट्र रसातल मे चला जायगा।

इस प्रकार लोकसेवा-आयोग के दो प्रमुख कार्य हो जाते है। प्रथम, धूर्त-जनो एव अयोग्य व्यक्तियो को सेवा से वाहर रखना तथा दूसरा, योग्य व्यक्तियो को लोक-सेवा मे लाने का प्रयास करना।

योग्य एव कुशल सरकारी कर्मचारियों के चयन हेतु लोकसेवा-आयोग की स्थापना की आवश्यकता बताते हुए सविधान-सभा मे श्री कामथ ने कहा था—
"However well designed the machine and however skilfully constructed its component parts may be, it will fail to deliver its full power unless it is manned by competent and trained operators"

हमारे देश मे ससदात्मक पद्धति को अपनाया गया है। ससदात्मक पद्धति मे यद्यपि प्रशासन का उत्तरदायित्व मन्त्रियो पर रहता है, तथापि प्रशासन करना उनका कार्य नही। उनका कार्य कर्मचारियो पर निगरानी रखना है। मन्त्रियो को प्रशासन का व्यावहारिक ज्ञान नही रहता है। वे अपने विषय के विशेषज्ञ नही होते। उनकी नियुक्ति राजनीतिक योग्यता तथा लोकप्रियता के आधार पर होती है न कि विशेषज्ञ होने के कारण। राष्ट्रपति या मन्त्रिमण्डल के अभाव मे शासन कुछ समय के लिए चल सकता है, परन्तु सरकारी कर्मचारियो के अभाव मे राज्य का काम एक मिनट भी नही चल सकता है। गोखाला ने यहाँ तक कहा है कि "सरकारी कर्मचारी के बिना कोई उपाय नही है।" (There is no way of doing with the Government servant. He is essential and has to stay) अत इस बात को ध्यान मे रखते हुए जिससे कि हमारे देश का प्रशासन सुचारु रूप से चल सके, निष्पक्ष, ईमानदार एव कुशल सरकारी कर्मचारी के चयन हेतु लोकसेवा-आयोग की स्थापना की गई है।

इस सम्बन्ध मे एक बात और भी उल्लेखनीय है। सरकारी कर्मचारी राज्य तथा जनता के नौकर है, सरकार के नौकर नही। वे सविधान तथा कानून के अधीन किसी भी सरकारी आदेश को मानने के लिए बाध्य हैं। यदि उनका चुनाव राजनीतिक आधार पर होगा तो वे अपने से ऊपर के अधिकारी की बात, जो कि दूसरे दल के होगे, शीघ्रता से न मानेंगे। इसके लिए उन्हें सजा भी मिलेगी, क्योकि उनके दल के राजनैतिक नेता की कृपादृष्टि तो उनपर है ही। अत यदि उनका चयन लोकसेवा-आयोग द्वारा होगा तो उनकी ईमानदारी तथा वफादारी एव योग्यता मे किसी को भी शक न होगा।

लोकसेवा-आयोग का सगठन

भारतीय सविधान की धारा ३१५ से ३२३ मे लोकसेवा-आयोग की व्यवस्था की गई है। सविधान के अनुसार सघ के लिए एक सघीय लोकसेवा-आयोग तथा राज्य के लिए राजकीय लोक सेवा-आयोग की व्यवस्था है, परन्तु दो या अधिक राज्य चाहे तो स्युक्त लोकसेवा-आयोग की स्थापना की जा सकती है और उनकी प्रार्थना पर ससद् कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था कर सकती है।

संघीय लोकसेवा-आयोग का संगठन

अनुच्छेद ३१५ के द्वारा सघ मे सघीयसेवा-आयोग की स्थापना की गई है। इसमे एक अध्यक्ष तथा सात अन्य सदस्य है। अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। इनकी सख्या तथा सेवा की शर्त्तो को निर्धारित करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को ही है। इनका कार्यकाल, पदभार-ग्रहण करने की तिथि से छह वर्ष तक अथवा ३५ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक होता है। इसमे कम-से-कम आधे सदस्य ऐसे अवश्य हो जो कम-से-कम १० वर्षो तक सरकारी सेवा का अनुभव प्राप्त कर चुके हो।

आयोग का कोई भी सदस्य उसी पर दुवारा नियुक्त नही किया जा सकता है। सघीय लोकसेवा-आयोग का अध्यक्ष सघ या राज्यों मे अन्य किसी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है, आयोग के सदस्यो का वेतन राष्ट्रपति द्वारा विनियमित होता है। आयोग के सदस्यों की नियुक्ति के उपरान्त उनकी सेवा की शर्त्तो को उनके हित के विरुद्ध वदला नही जा सकता है। इस समय अध्यक्ष का वेतन ४००० तथा अन्य सदस्यो का वेतन ३००० है, जो भारत-सरकार की सचित निधि से दिया जाता है।

आयोग के सदस्यों को उनके दुराचार के लिए राष्ट्रपति के आदेश द्वारा हटाया भी जा सकता है। यदि राष्ट्रपति को किसी भी सदस्य के खिलाफ दुराचार की रिपोर्ट मिले तो वह विषय न्यायालय के पास विचारार्थ प्रस्तुत होगा। न्यायालय की सम्मति मिलने पर उस सदस्य को पदच्युत किया जायगा। निम्नांकित कारणो के उपस्थित होने पर राष्ट्रपति आयोग के किसी भी सदस्य को हटा सकता है—(१) यदि वह व्यक्ति दिवालिया सिद्ध हो, (२) यदि अपने कार्यकाल मे कोई दूसरा सवैतनिक पद स्वीकार कर ले, (३) शारीरिक अस्वस्थता के कारण कार्य करने के लिए अक्षम हो गया हो, (४) यदि भारत-सरकार या राज्य-सरकार के साथ करार किये गये किसी ठेके के साथ सम्वन्ध हो अथवा उससे कोई लाभ प्राप्त करता हो।

राजकीय लोकसेवा-आयोग का संगठन

राजकीय लोकसेवा-आयोग के सदस्यो को राज्यपाल नियुक्त करता है। राज्यपाल को ही सदस्य संख्या तथा सेवा की शर्तों को निर्धारित करने का अधिकार है। इसमे भी आधे सदस्य ऐसे होंगे जो कम-से-कम १० साल तक सरकारी कर्मचारी रह चुके हो। इनके वेतन, भत्ता आदि राज्य की सञ्चित निधि से दिये जाते हैं। इनके सदस्यो का कार्यकाल ६ साल का है किन्तु कोई भी सदस्य ६० वर्ष की उम्र के बाद अपने पद पर नही रह सकते।

अवकाश प्राप्त करने के बाद राज्यो के लोकसेवा-आयोग का अध्यक्ष केवल संघीय लोकसेवा-आयोग का अध्यक्ष या सदस्य अथवा दूसरे राजकीय आयोग का अध्यक्ष हो सकता है। साधारण सदस्य अवकाश-प्राप्ति के बाद केवल संघीय लोक-सेवा-आयोग का अध्यक्ष या सदस्य या राजकीय लोकसेवा-आयोग का अध्यक्ष हो सकता है। अवकाश ग्रहण करने के बाद लोकसेवा-आयोग का कोई सदस्य सरकारी नौकरी नही कर सकता है। साथ ही इनके सेवा-काल मे इनकी सेवा की शर्तों मे कोई परिवर्त्तन नही लाया जा सकता है। इस समय बिहार लोकसेवा-आयोग मे एक अध्यक्ष (श्री रोहतजी) तथा दो अन्य सदस्य हैं।

इन्हें पद से हटाने की प्रक्रिया व आधार वही हैं, जो संघीय-आयोग के सदस्यो के पद से हटाने के लिए निर्धारित किये गये हैं।

आयोगों के कार्य

(Functions of the Commissions)

अनुच्छेद ३२० के अनुसार आयोग के निम्नांकित कार्य हैं—

(१) संघ तथा राज्यों की सेवाओ मे नियुक्तियो के लिए परीक्षाओ का आयोजन करना। संघीय आयोग संघ में तथा राजकीय आयोग राज्य मे परीक्षाओ का आयोजन करता है।

(२) यदि एक या अधिक राज्य संघीय लोकसेवा-आयोग को संयुक्त नियोजन अथवा भर्त्ती के लिए आग्रह करें तो राज्यों को इस प्रकार की योजनाएँ बनाने मे सहायता देना।

(३) निम्नलिखित मामलो मे संघीय लोकसेवा-आयोग से संघ-सरकार तथा राजकीय लोकसेवा-आयोग से राज्य-सरकार राय लेती है—

(क) असैनिक सेवाओ मे बहाली के तरीके से सम्बन्धित सभी मामलो मे,

(ख) उनकी बहाली, तरक्की तथा बदलो मे,

(ग) सरकारी कर्मचारियो के अनुशासन-सम्बन्धी मामलो मे,

(घ) किसी कर्मचारी के ऐसे दावे पर कि कर्त्तव्य-पालन के सम्बन्ध मे कोई कानूनी कार्रवाई की गई हो, तो उसमे अपने को निर्दोप सिद्ध करने मे जो भी खर्च हुआ है, उसे सरकार से कितना मिलना चाहिए,

(ड) सरकारी कर्मचारी को यदि कर्त्तव्य-पालन के सिलसिले मे किसी प्रकार की चोट या क्षति पहुँचती हो, तो क्षति पूर्त्ति के सम्बन्ध मे,

(च) राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा निर्दिष्ट अन्य किसी विपय मे।

अनुच्छेद ३२१ के मुताबिक ससद् सघीय लोकसेवा-आयोग तथा राजकीय विधानमण्डल राजकीय लोकसेवा-आयोग के कार्यक्षेत्र वढा सकते हैं।

राष्ट्रपति या राज्यपाल अपने-अपने क्षेत्राधिकार मे ऐसे नियम वना सकते हैं कि किसी सेवा के सम्बन्ध मे लोकसेवा-आयोग की सलाह लेना आवश्यक नही है। परन्तु इन नियमो को १४ दिनो के अन्दर ससद् या विधानमण्डल के सामने रखना पडता है। ससद् या विधानमण्डल को अधिकार है कि राष्ट्रपति या राज्यपाल के ऐसे नियम को स्वीकार करे या रद्द करे।

आयोगो के प्रतिवेदन—

सघीय लोकसेवा-आयोग को प्रतिवर्ष अपने कार्यो के सम्वन्ध मे एक प्रतिवेदन तैयार कर राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत करना पडता है। ठीक इसी सरकार राजकीय लोकसेवा-आयोग भी प्रतिवर्ष अपना प्रतिवेदन तैयार कर राज्यपाल के सामने प्रस्तुत करता है। उक्त प्रतिवेदनो को सरकारी विज्ञापन के साथ सम्वन्धित विधायिका यानी ससद् के दोनो सदनो तथा राज्य के विधान-मण्डलो के सामने प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रतिवेदन मे यह स्पष्ट रहता है कि किस हद तक आयोग की सिफारिशो को सरकार ने मान्यता दी है। यदि आयोग की सिफारिशें स्वीकार न की गई हैं तो सरकारी ज्ञापन मे उसके कारण अवश्य स्पष्ट कर दिये जाने चाहिए।

यह वात सही है कि साधारणतः लोकसेवा-आयोग की राय से ही वहाली होती है, फिर भी सम्वन्धित सरकार उसकी राय को मानने के लिए वाध्य नही है। कुछ वातो मे कुछ कारणो से सरकार इसकी वात की अवहेलना भी कर सकती है। नियुक्ति करने का अधिकार सिर्फ सरकार को ही है। यदि आयोग की सिफारिशें आदेशात्मक (Mandatory) होती तो शायद कम प्रभावशाली होती, क्योकि सरकार तथा आयोग दोनो मे वरावर तफरका होने की गुंजाइश रहती है। फिर भी साधारणतः आयोग की सिफारिशो की मान्यता दी ही जाती है। आयोग की सिफारिशो

राज्य-सरकार
STATE GOVERNMENT

१ राज्य-सरकार का परिचय

भारतीय संविधान के अनुसार हमारा देश राज्यों का एक संघ (Union of States) है, जिसमें १६ राज्य (States) और ६ संघ-क्षेत्र (Union Territories) सम्मिलित हैं।[1] चूँकि, हमारे देश में संघात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना की गई है, इसलिए, संघत्व-गुणों के अनुकूल, यहाँ भी दोहरी सरकार की व्यवस्था की गई है। अन्य संघात्मक राज्यों की भाँति, भारत में भी दो प्रकार की सरकारें हैं—पहली, संघीय सरकार (भारत-सरकार) और दूसरी, कई राज्य-सरकारें (जैसे—बिहार-सरकार, मद्रास-सरकार इत्यादि)।[2] संविधान के अनुसार इन दोनों प्रकार की सरकारों की अपनी अपनी अलग सत्ता है। संविधान की सातवीं अनुसूची में उल्लिखित संघ सूची के अन्तर्गत सभी विषय संघ सरकार के क्षेत्राधिकार में हैं। राज्य-सूची के विषयों पर राज्य का अधिकार है। समवर्ती सूची के विषय दोनों सरकारों के अधिकार-क्षेत्र में पड़ते हैं। प्रत्येक सरकार की सत्ता अपने-अपने क्षेत्र में कमोवेश सर्वोच्च बनाई गई है और सामान्यतः, कोई भी सरकार, संघीय या राज्य सरकारें, एक दूसरे के क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप नहीं कर सकती हैं।

पिछले बारह अध्यायों (५ से १६) में संघ-सरकार का अध्ययन किया जा चुका है। अब हमें यह देखना है कि भारत संघ के संघटक राज्यों (Constituent States) की शासन प्रणाली किस प्रकार संचालित होती है।

राज्य-सरकारों के सम्बन्ध में सबसे पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि भारत-संघ के संघटक राज्यों का, सिर्फ जम्मू कश्मीर को छोड़कर, अपना कोई पृथक् संविधान नहीं है।[3] उन राज्यों की शासन प्रणाली जिस संवैधानिक यंत्र के अनुसार चलाई जायगी, उसका नमूना (Model) भारत के संविधान में ही दे दिया गया है।

[1] इनके नामों के लिए देखिए—पृष्ठ संख्या ६ (फुट-नोट न० २)।

[2] भारत-संघ के अन्तर्गत जो संघ क्षेत्र (Union Territories) हैं, उनके शासन की व्यवस्था इन दोनों प्रकार की सरकारों से अलग तथा भिन्न है।

[3]. दुनिया के बहुत से दूसरे संघात्मक देशों में, जैसे अमेरिका में, संघटक-राज्यों का अपना अलग संविधान होता है।

भारतीय संविधान के छठे भाग (Part VI) में, १५२ से २३७वीं धारा तक, राज्य-सरकार का उल्लेख किया गया है। इस भाग के दूसरे अध्याय में, १५३वीं से १६७वीं धारा तक, राज्य कार्यपालिका का, तीसरे अध्याय में, १६८वीं से २१२ वीं धारा तक, राज्य-व्यवस्थापिका का, चौथे अध्याय की २१३वीं धारा में राज्यपाल की विधायिनी शक्तियों का और पाँचवें तथा छठे अध्याय में २१४वीं से २३७वीं धारा तक, राज्य-न्यायपालिका का उल्लेख किया गया है। राज्य-सरकारों को अपने इस उपर्युक्त संविधान के नमूने (Model) में संशोधन करने का भी अधिकार नहीं है।

इस स्थल पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि जम्मू-कश्मीर राज्य की स्थिति भारत-संघ के अन्य १५ संघटक राज्यों से भिन्न है। इस राज्य ने २६ अक्तूबर, १६४७ ई० के दिन, एक आन्तरिक भाग के रूप में, भारत-संघ में प्रवेश किया। जिस प्रवेश-पत्र के आधार पर जम्मू-कश्मीर राज्य, भारत के आन्तरिक भाग के रूप में, भारत-संघ में सम्मिलित हुआ, उसके अनुसार भारत-संघ को इस राज्य द्वारा केवल तीन विषय—सुरक्षा, यातायात और वैदेशिक सम्बन्ध—दिये गये थे। केवल इन्हीं तीन विषयों पर भारत-संघ को, इस राज्य के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया गया।

यद्यपि इस राज्य-सरकार के परामर्श के उपरान्त, भारत के राष्ट्रपति के १४ मई १६५४ ई० के आदेशों द्वारा भारतीय संघ सरकार अन्य विषयों में भी जम्मू-कश्मीर राज्य के लिए कानून बना सकती है, फिर भी इन अन्य विषयों की शासन व्यवस्था चलाने के लिए जम्मू कश्मीर राज्य का अपना एक अलग संविधान है।[1]

जम्मू-कश्मीर-राज्य का अपना यह अलग संविधान २६ जनवरी, १६५७ ई० के दिन लागू हुआ और इस राज्य की वर्तमान शासन-व्यवस्था इसी संविधान के अनुसार संचालित हो रही है। इस राज्य की विधान-सभा को इस संविधान में संशोधन करने का भी अधिकार है, सिर्फ एक बात को छोड़कर, कि यह राज्य भारत-संघ का अविच्छिन्न भाग बना रहेगा।

इस प्रकार, जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर शेष भारत-संघ के अन्य पन्द्रहों संघटक राज्यों का शासन-प्रबन्ध भारतीय संविधान के छठे भाग में विहित संवैधानिक यन्त्र के अनुसार ही चल रहा है।

राज्य-सरकारों के सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि संघ-सरकार की ही भाँति राज्य सरकारें भी संसदीय या मंत्रिमंडलात्मक पद्धति पर ही आधारित

---

१. इस संविधान में १५८ धाराएँ और ६ अनुसूचियाँ हैं।

हैं। राज्य-सरकारों का स्वरूप संघ-सरकार के ही स्वरूप से मिलता-जुलता है। जम्मू-कश्मीर राज्य भी इस सम्बन्ध में अपवाद नहीं है।

राज्य-सरकारों का परिचय देते समय हम यह बता देने का भी लोभ संवरण नहीं कर सकते कि आज भारत-संघ जिस प्रकार सिर्फ दो संघटक इकाइयों – (१) राज्यों और (२) संघ क्षेत्रों से मिलकर बना हुआ है, वैसा संविधान के लागू होने के समय नहीं था।

प्रारम्भिक निर्माण-काल में भारत-संघ 'क', 'ख', 'ग' और 'घ' नामक चार प्रकार के राज्यों से मिलकर बना था। इसके अन्तर्गत राज्यों की संख्या २८ थी—'क' वर्ग मे १०, 'ख' वर्ग में ८, 'ग' वर्ग मे ६ और 'घ' वर्ग में १। इन चारों श्रेणियों के राज्य एक-दूसरे से भिन्न थे। 'क' वर्ग में वे राज्य आते थे, जो पहले गवर्नरों के प्रान्त कहलाते थे। 'ख' वर्ग मे वे राज्य या राज्यों के संघ थे, जो १५ अगस्त, १९४७ ई० के पहले देशी राजाओं के राज्य थे। 'ग' वर्ग में कुछ तो देशी राज्य थे, बहुत छोटे-छोटे, जो 'ख' वर्ग के लायक नहीं थे और कुछ चीफ-कमिश्नरों के प्रान्त थे। 'घ' वर्ग में सिर्फ एक ही क्षेत्र था—अण्डमन-निकोबार द्वीप-समूह।

चूँकि, उपर्युक्त चारों प्रकार के राज्य एक कोटि या स्तर के नहीं थे, इसलिए उन चारों श्रेणियों के अन्तर्गत राज्यों के शासन-प्रबन्धों के स्वरूप और ढाँचे में भी भिन्नताएँ थीं। 'क' वर्ग के राज्य का प्रधान राज्यपाल हुआ करता था, जबकि 'ख' वर्ग के राज्य के प्रधान को राजप्रमुख कहा जाता था। 'ग' वर्ग के राज्य और 'घ' वर्ग के क्षेत्रों का प्रशासन केन्द्र द्वारा चीफ कमिश्नर या अन्य अधिकारियों द्वारा होता था।

भारत-संघ के संघटक राज्यों का उपर्युक्त वर्गीकरण तथा शासन-प्रबन्ध २६ जनवरी, १९५० ई० (जिस दिन भारत का नया संविधान लागू हुआ) से १ नवम्बर, १९५६ ई० तक कायम रहा। सन् १९५६ ई० के राज्य-पुनर्गठन अधिनियम (The State Re-organisation Act) ने भारत-संघ की संघटक इकाइयों के तत्कालीन वर्गीकरण का अन्त कर दिया। इसी अधिनियम के अनुसार (जो १ नवम्बर, १९५६ से लागू हुआ) भारत-संघ का समूचा क्षेत्र 'राज्य' और 'संघ-क्षेत्र' नामक सिर्फ दो प्रकार की संघटक इकाइयों (१४ राज्यों और ६ संघ क्षेत्रों) में बाँटा गया और सभी[1] राज्यों तथा संघ-क्षेत्रों के लिए क्रमशः एक ही ढाँचे का शासन-प्रबन्ध लागू किया गया।

---

[1] जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर।

१ मई, १९६० को तत्कालीन बम्बई-राज्य को गुजरात और महाराष्ट्र नामक दो अलग राज्यों में बाँट दिये जाने के कारण राज्यों की संख्या १४ से बढ़कर १५ हो गई। इसी प्रकार संघ-क्षेत्रों की संख्या भी ६ से बढ़कर ९ हो गई है।

कहा जा चुका है कि राज्य-सरकारों के अधिकार-क्षेत्रों में वे विषय ही आते हैं, जिनका उल्लेख राज्य-सूची में किया गया है। राज्य-सूची के विषयों की कुल संख्या ६६ है। राज्य-सूची में ऐसे विषय रखे गये हैं, जो समूचे देश के महत्त्व के न होकर केवल राज्यों के ही महत्त्व के हैं, जैसे, शिक्षा, कृषि, सड़कें इत्यादि।

राज्य-सूची के विषयों पर राज्यों का क्षेत्राधिकार तो है ही, समवर्ती सूची (Concurrent List) में जो ४७ विषय रखे गये हैं; उनपर भी कानून बनाने का अधिकार, संसद् के साथ-साथ, राज्य के विधान-मंडलों को प्राप्त है। परन्तु यदि संसद् और राज्यों के कानूनों में विरोध हो, तो संसद् का ही कानून लागू होगा और जिस हद तक राज्य का कानून संसद् के कानून का विरोधी होगा, वहाँ तक राज्य का कानून रद्द माना जायगा।

राज्य-सरकारों के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के पश्चात् आगे आनेवाले अध्यायों में राज्य-कार्यपालिका, राज्य-व्यवस्थापिका और राज्य-न्यायपालिका का सविस्तर वर्णन किया जायगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राज्यों के शासन की रूपरेखा मूलतः वही है, जो संघीय शासन की है। ठीक ही कहा गया है कि यदि हम संघ-शासन की रूप-रेखा को ध्यान में रखें तो राज्य-शासन की रूप-रेखा आप से आप हमारी दृष्टि में आ जायगी।

ऊपर कहा जा चुका है कि जम्मू-कश्मीर राज्य की स्थिति अन्य १५ राज्यों से भिन्न है। अतएव अन्य सभी राज्यों के शासन-प्रबन्ध से जम्मू-कश्मीर राज्य के शासन-प्रबन्ध में जो भिन्नताएँ आती जायँगी, हम उनका उल्लेख सम्बन्धित स्थानों पर ही करते जायँगे।

२ राज्य-कार्यपालिका : राज्यपाल

State Executive : Governor

राज्य-कार्यपालिका का स्वरूप—संविधान (सप्तम संशोधन अधिनियम, १९५६) के अनुसार सभी राज्यो की कार्यपालिका के प्रधान को गवर्नर या राज्यपाल की संज्ञा दी गई है।[1] कुछ ही दिनों पहले तक जम्मू-कश्मीर राज्य के संवैधानिक प्रधान तथा कार्यपालिका के अध्यक्ष को 'सद्रे रियासत' कहा जाता था, राज्यपाल नहीं। लेकिन अब जम्मू और कश्मीर राज्य की कार्यपालिका का प्रधान भी राज्यपाल ही कहलाने लगा है। एक ही व्यक्ति दो या दो से अधिक राज्यों का भी राज्यपाल नियुक्त किया जा सकेगा। राज्य की समस्त कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल में निहित होगी। इन अधिकारों का प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा। राज्य के कार्यपालिका-सम्बन्धी सारे कार्य राज्यपाल के हस्ताक्षर तथा नाम से ही सम्पादित होंगे।

राज्यपाल राज्य-शासन का संवैधानिक प्रधान और राज्य कार्यपालिका का अध्यक्ष होता है। भारतीय संविधान के छठे भाग (Part VI) के चौथे अध्याय की २१३वीं धारा के अनुसार राज्यपाल को कानून बनाने का भी अधिकार दिया गया है। राज्यपाल को कुछ न्यायिक (Judicial) अधिकार भी प्राप्त हैं। इस प्रकार, राज्यपाल की उपर्युक्त शक्तियों के देखने से यह धारणा हो सकती है कि जिस प्रकार अँगरेजी राज्य में ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत प्रान्तों में गवर्नरों का शासन था, उसी प्रकार आजकल भी भारत-संघ के संघटक राज्यों में राज्यपालों का शासन है। आगे चलकर हम देखेंगे कि वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है।

'संविधान की मुख्य विशेषताओं' का वर्णन करते समय तथा 'राज्य-सरकार का परिचय' देते समय कहा जा चुका है कि हमारे देश में, संघ तथा राज्यों—दोनों में, संसदीय शासन व्यवस्था की स्थापना की गई है। फिर भी, यहाँ यह दुहरा देना अनावश्यक नहीं होगा कि संघ-सरकार की भाँति राज्य सरकारें भी संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक ही हैं। ठीक ही कहा गया है कि संसदीय पद्धति जितने अंशों में संघीय शासन पर लागू होती है, उतने ही अंशों में राज्य-शासन पर भी लागू होती है। जिन कारणों और उद्देश्यों से

---

1. स्मरण रहे कि १ नवम्बर, १९५६ ई० को राज्य पुनर्गठन-कानून के लागू होने के पहले तक सिर्फ 'क' वर्ग के राज्यों के प्रधान को ही गवर्नर या राज्यपाल कहा जाता था। 'ख' वर्ग के राज्यों के प्रधान को 'राजप्रमुख' कहा जाता था।

संघ शासन में संसदीय प्रणाली अपनाई गई, उन्हीं कारणों और उद्देश्यों से राज्य-शासन में भी संसदीय प्रणाली को ही अपनाया गया।

राज्यपाल की शक्तियों और कार्यों का जो विवरण आगे दिया जायगा, उसका अध्ययन करते समय हमें इस तथ्य को कभी नहीं भूलना चाहिए कि जिस प्रकार संघ में एक राष्ट्रपति के होते हुए भी संसदीय सरकार है, उसी प्रकार, राज्यों में भी राज्यपालों के होते हुए भी संसदीय सरकारें ही हैं। भारतीय संविधान ने स्वय ही ऐसी व्यवस्था कर दी है।

राज्यपाल की नियुक्ति और पदावधि - राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है।[1] राज्यपाल के कार्यकाल की अवधि सामान्यत पाँच वर्ष रखी गई है। राष्ट्रपति अगर चाहे, तो किसी राज्यपाल को पाँच वर्ष से पहले भी हटा सकता है, क्योंकि संविधान कहता है[2] कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त ही अपने पद पर रहेगा। यदि कोई राज्यपाल चाहे, तो किसी भी समय राष्ट्रपति के पास, अपना त्याग पत्र भेजकर भी अपने पद से हट सकता है। संविधान में कहा गया है कि राज्यपाल जिस तिथि को अपना पद ग्रहण करेगा, उस तिथि से पाँच वर्ष तक ही वह अपने पद पर रह सकेगा। लेकिन इस अवधि के समाप्त हो जाने पर भी, जबतक उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति न हो जाय और नया राज्यपाल जबतक अपना पद भार ग्रहण न कर ले, वह अपने पद पर कायम रहेगा। राष्ट्रपति किसी भी पुराने राज्यपाल के कार्य-काल की अवधि को बढा भी सकता है।

केवल ऐसा ही व्यक्ति राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल नियुक्त हो सकता है, जो (१) भारत का नागरिक हो, (२) ३५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, (३) भारतीय संसद् या किसी राज्य-विधान-मण्डल का सदस्य न हो। यदि वह ऐसा सदस्य होगा भी, तो राज्यपाल नियुक्त होने के उपरान्त उसके पद ग्रहण की तिथि से, उसकी सदस्यता खतम हो जायगी और (४) वह भारतीय संघ और उसके अन्तर्गत किसी राज्य और संघ क्षेत्र की सरकार के अधीन लाभ का कोई अन्य पद ग्रहण नहीं कर सकेगा।

राज्यपालों का मनोनयन क्यों? (Why Nominated Governors?) —राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में एक प्रश्न किया जाता है कि राज्य-शासन के प्रधान तथा राज्य कार्यपालिका के अध्यक्ष राज्यपालों की नियुक्ति की व्यवस्था राष्ट्रपति के मनोनयन द्वारा क्यों की गई? अर्थात् राज्यपालों के प्रत्यक्ष ढग से या अप्रत्यक्ष ढग से से ही, निर्वाचित होने की व्यवस्था क्यों नही की गई?

---

1 जम्मू और कश्मीर राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त नहीं, वरन् 'स्वीकृत होता है'। ऐसी स्वीकृति केवल राज्य-विधान सभा द्वारा चुने हुए व्यक्ति को ही दी जा सकती है। (जम्मू और कश्मीर के संविधान की धारा २७)

2. धारा १५६ (१)

संविधान के प्रारूप (Draft) में 'क' वर्ग के राज्यों के प्रधान राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में दो प्रस्ताव रखे गये थे। पहला, राज्यपाल का निर्वाचन सम्बन्धित राज्य के मतदाताओं द्वारा हो। दूसरा, प्रत्येक राज्य-विधान-मण्डल अपने राज्यपाल के लिए चार व्यक्तियों को चुने और उनके नाम राष्ट्रपति के पास भेजे। राष्ट्रपति उन चार व्यक्तियों में से किसी एक को राज्यपाल नियुक्त करे।

राज्यपाल का मनोनयन क्यों ?

१ संसदीय शासन का संवैधानिक प्रधान,
२ मुख्य मन्त्री से संघर्ष की आशंका,
३ राजनीतिक गुटबन्दी के शिकार होने का भय,
४ विधान-मण्डल का कठपुतला न बने,
५ केन्द्रीय सरकार का अभिकर्ता,
६ संकटकालीन उद्घोषणा के समय राष्ट्रपति का प्रतिनिधि,
७ अर्थ एवं शक्ति का अपव्यय।

संविधान-सभा का बहुमत इन प्रस्तावों के पक्ष में नहीं था, अतएव इन्हें अस्वीकृत कर दिया गया और राज्यपालों की नियुक्ति के लिए राष्ट्रपति द्वारा मनोनयन की व्यवस्था कर दी गई है। ऐसा निम्नलिखित कारणों और उद्देश्यों से किया गया—

(१) संघ सरकार की ही भाँति राज्य-सरकारें भी संसदीय शासन-पद्धति पर आधारित हैं। अतः, राज्यों के संवैधानिक प्रधानों को भी राष्ट्रपति की ही भाँति एक संवैधानिक प्रधान के रूप में ही कार्य करना है। श्री के० एम० मुन्शी ने संविधान-सभा में भाषण करते हुए कहा था कि "राज्यपाल का महत्त्व गौण होगा, फलस्वरूप उसके निर्वाचन की व्यवस्था निरर्थक होगी।" आम जनता द्वारा चुना गया राज्यपाल एक संवैधानिक प्रधान मात्र नहीं रह सकता था। (२) उसमें और राज्यों के मुख्य मन्त्रियों में प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष की संभावना हो सकती थी, क्योंकि वह भी अपने को जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि और उसके प्रति अपने को उत्तरदायी समझता।

अर्थात्, जिन कारणों से संघ-सरकार में राष्ट्रपति के आम चुनाव द्वारा निर्वाचित होने की व्यवस्था को अस्वीकार किया गया, उन्हीं कारणों से राज्यपालों के भी आम चुनाव द्वारा निर्वाचित होने के सुझाव को अस्वीकार कर दिया गया। डा० अम्बेदकर ने ठीक ही तो कहा था कि "अगर राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता तो उसका निर्वाचन होना या मनोनीत होना समान है।" ऐसे निर्वाचन में अर्थ तथा शक्ति का निष्प्रयोजन अपव्यय होता।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर राज्यपाल का आम चुनाव द्वारा निर्वाचित नहीं किया जाना तो ठीक जँचता है, लेकिन यह प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार राष्ट्रपति को व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों द्वारा अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित किया जाता है, उसी प्रकार राज्यपाल को भी सम्बद्ध राज्य के विधान-मण्डल के निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्वाचित क्यों नहीं किया गया ?

(३) इसके उत्तर में कहा जाता है कि यदि राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के विधानमंडल द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन से होती, तो राज्यपाल दलबन्दी के चक्कर में फँस जाता। ऐसा व्यक्ति तो उसी राज्य का निवासी होता और वह राज्य के सभी नागरिकों या सभी दलों का विश्वास प्राप्त नहीं कर पाता। जिस दल या जिन दलों के समर्थन से निर्वाचित हो पाता, वह उस दल या उन दलों के हाथ की कठपुतली बन जाता।

लेकिन, यह तर्क तो राष्ट्रपति के निर्वाचित होने की व्यवस्था के विरुद्ध भी दिया जा सकता है। इसलिए, राज्यपालों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाने के कुछ और भी कारण और उद्देश्य थे।

राज्यपालों को किसी भी प्रकार से निर्वाचित नहीं कर उन्हें संघ कार्यपालिका के अध्यक्ष राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाने की व्यवस्था इसलिए की गई कि भारत-संघ, 'एक सबल केन्द्र और दुर्बल राज्योंवाला संघ' है।

भारत संघ का केन्द्र अत्यन्त ही शक्तिशाली बनाया गया है। इस हालत में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राज्यपाल सम्भवतः ठीक नहीं रहता, क्योंकि वैसी हालत में संघ और राज्य के बीच संघर्ष या गतिरोध के समय में उनसे 'यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह संघ-सरकार का आज्ञाकारी सेवक अथवा सुविधाजनक यंत्र (Convenient instrument) सिद्ध होगा।'

किसी भी प्रकार से निर्वाचित राज्यपाल राज्य के क्षेत्र में किसी भी रूप में संघ के अधिकार-क्षेत्र के विस्तार की राह में रुकावटें डालता। फिर, आपातकालीन उद्घोषणाओं के सम्बन्ध में संविधान में जो व्यवस्थाएँ की गई हैं, वे भी निर्वाचित राज्यपाल से सामंजस्य नहीं रखती थीं।

संक्षेप में, राज्यों के शासन पर सुदृढ़ केन्द्रीय निदेशन और नियंत्रण कायम रखने के हेतु मनोनीत राज्यपालों की व्यवस्था की गई है।

(४) उपर्युक्त तर्कों के अलावा मनोनीत राज्यपालों की व्यवस्था इसलिए भी की गई है कि राज्यपाल राज्य की राजनीतिक गुटबन्दियों और प्रतिद्वन्द्विताओं से अलग रह सके। उसे तो प्रतिद्वन्द्वी गुटों के बीच समझौता करानेवाला और उनके बीच निष्पक्ष और स्वतंत्र मध्यस्थता करनेवाला व्यक्ति होना चाहिए था।

(५) मनोनीत राज्यपालों की व्यवस्था इसलिए भी की गई है कि दूसरे प्रकार की आपातकालीन उद्घोषणा राज्यों के सवैधानिक यंत्र के असफल हो जाने पर, के समय में भी वह, राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में, उस राज्य का शासन करता रहे।

यही सब कारण और उद्देश्य थे, जिनके फलस्वरूप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राज्यपाल वांछनीय नहीं सोचा गया और राष्ट्रपति द्वारा उसके मनोनीत किये जाने की व्यवस्था की गई।

राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित और भी दो बातों को हमें ध्यान में रखना चाहिए । पहली बात, यह कि प्रधान मन्त्री, अर्थात् केन्द्रीय मंत्रिमडल, के परामर्श से ही राष्ट्रपति राज्यपालों की नियुक्ति करता है। दूसरी बात, यह कि राज्यपालों की नियुक्ति में सम्बन्धित राज्य के मुख्यमन्त्री की भी राय ले ली जाती है।

राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में एक अभिसमय (Convention) यह चल पड़ा है कि किसी राज्य के राज्यपाल के पद पर ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति की जाती है, जो साधारणतया उस राज्य का निवासी नहीं होता। ऐसा इसलिए किया जा रहा है कि राज्यपाल दूसरे राज्य का निवासी होने के कारण स्थानीय राजनीति और राजनीतिक गुटबन्दियों और सघर्षों से अलग रह सकेगा। इसके अतिरिक्त दूसरे राज्य का निवासी होने के कारण उस राज्य की आन्तरिक समस्याओं तथा उस राज्य और भारत-सघ के बीच उठनेवाली समस्याओं पर भी स्वतन्त्रता, तटस्थता और निष्पक्षता से विचार और कार्य कर सकेगा।

इस अभिसमय का प्रभाव अबतक तो बहुत ही गुणकारी सिद्ध हो रहा है। इस सम्बन्ध में दो अपवाद अबतक रहे है। पश्चिमी बगाल के भूतपूर्व गवर्नर श्रीमुखर्जी तथा मैसूर के वर्त्तमान राज्यपाल ये दोनों ही उन्ही राज्यों के निवासी रहे हैं। जम्मू-कश्मीर राज्य के राज्यपाल भी उसी राज्य के निवासी हैं।

स्मरण रहे कि जम्मू-कश्मीर राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा ही होती है। लेकिन उनकी नियुक्ति में राष्ट्रपति का वैसा हाथ नही है, जैसा अन्य राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति में। उस राज्य के राज्यपाल के पद पर राष्ट्रपति को उसी व्यक्ति को नियुक्त करना होगा (या स्वीकार करना होगा), जो उस राज्य की विधान-सभा के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा निर्वाचित होता है।

अत, जम्मू-कश्मीर राज्य के शासन का प्रधान एक निर्वाचित व्यक्ति होता है, न कि एक मनोनीत व्यक्ति। उसका कार्यकाल भी, अन्य राज्यपालों की तरह, पाँच वर्ष होता है और एक ही व्यक्ति कितनी बार भी, अर्थात् बार-बार भी, राज्यपाल निर्वाचित हो सकता है।

चूँकि, अबतक इस राज्य के राज्यपाल के पद पर कश्मीर राज-वंश के राजा कर्ण सिंह ही विराजमान रहे हैं, इसलिए कुछ लोगों के मन में यह भ्रमात्मक धारणा पैदा हो सकती है कि इस राज्य के राज्यपाल का पद वंश क्रमानुगत (Hereditary) है, जैसा कि ब्रिटिश सम्राट् का पद। हमें यह साफ-साफ जान लेना चाहिए कि जम्मू-कश्मीर राज्य के राज्यपाल का पद एक निर्वाचित पद है और अबतक राजा कर्ण सिंह इस पद पर इसलिए नहीं रहे हैं कि वे राज-वंश से आते हैं, वरन् इसलिए कि वे इस राज्य की विधान-सभा द्वारा बहुमत से निर्वाचित होते रहे हैं।

जम्मू-कश्मीर राज्य का राज्यपाल अन्य राज्यपालों की भाँति राष्ट्रपति के प्रसाद-काल में ही अपने पद पर नहीं रहता है। अन्य राज्यपालों को तो राष्ट्रपति जब भी चाहे, हटा सकता है। लेकिन जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल को राष्ट्रपति तभी अपदस्थ कर सकेगा, जब जम्मू कश्मीर राज्य की विधान सभा अपने कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा उसपर संविधान के अतिक्रमण और उसके विरुद्ध आचरण करने का आरोप लगाकर उसे अपदस्थ करने के लिए राष्ट्रपति से प्रार्थना करे।

राज्यपालों के वेतन और भत्ते[1] —राज्यपालों को ५५०० रु० प्रतिमास वेतन और कई प्रकार के भत्ते मिलते हैं। उन्हें रहने के लिए बिना किराये का मकान भी मिलता है, जिसे राजभवन (Government House) कहा जाता है।

राज्यपालों के वेतन, भत्ते तथा अन्य विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में भारतीय संसद् को (जम्मू-कश्मीर राज्य के राज्यपाल के सम्बन्ध में उस राज्य की व्यवस्थापिका को) अधिकतम मात्रा निर्धारित कर सकने या अन्य कानून बना सकने का अधिकार है, लेकिन किसी राज्यपाल के कार्यकाल में इनमें किसी भी प्रकार की कमी नहीं की जा सकेगी।

शपथ-ग्रहण—प्रत्येक राज्यपाल को पद-ग्रहण करने से पहले उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के सामने अपने पद के कर्तव्यों के निर्वहन, संविधान और कानून के परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण तथा जनता की सेवा में निरत रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है और उस प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ता है।

राज्यपाल के अधिकार और कार्य

(*Powers and Functions of the Governor*)

राज्यपाल के अधिकारों एवं कार्यों को अध्ययन की सुविधा के लिए प्रायः चार वर्गों में बाँटा जाता है—

(१) कार्यपालिका-सम्बन्धी (Executive powers),
(२) व्यवस्थापिका सम्बन्धी (Legislative powers),
(३) वित्त सम्बन्धी (Financial powers),
(४) न्याय सम्बन्धी (Judicial powers)।

(१ **कार्यपालिका सम्बन्धी**—राज्यपाल राज्य-शासन के प्रधान होने की हैसियत से राज्य-कार्यपालिका का भी अध्यक्ष होता है। राज्य की समस्त कार्यकारिणी शक्ति

१ इस सम्बन्ध में जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल की भी स्थिति अन्य राज्यपालों के ही समान है।

उसी में निहित रहती है और उसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों या कर्मचारियों द्वारा करता है। राज्य के सभी प्रशासकीय कार्य उसी के नाम और हस्ताक्षर से किये जाते हैं और उन कार्यों के सुविधापूर्ण सचालन के लिए सभी नियम भी उसी के द्वारा बनाये जाते हैं।

संविधान की सातवीं अनुसूची (Seventh schedule) में उल्लिखित राज्य-सूची में जितने विषय हैं, उन सबपर कार्य सम्पादन का अधिकार राज्यपाल को प्राप्त है।

कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार

१ कार्यपालिका का प्रधान
२ मुख्य मत्री की नियुक्ति
३ मन्त्रि परिषद् की रचना
४ अन्य पदाधिकारियो की नियुक्ति
५. प्रशासन-सम्बन्धी नियमों का निर्माण
६. स्वविवेक के कार्य
७ विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति
८ राष्ट्रपति का प्रतिनिधि

जहाँ तक समवर्त्ती सूची के विषयों का प्रश्न है, इन विषयों पर राज्यपाल सघ सरकार के प्रतिनिधि (Agent) के रूप मे सघीय कार्यपालिका के आदेशानुसार ही कार्य कर सकेगा।

सन् १९५६ ई० के सतम सशोधन कानून द्वारा सविधान मे जोडी गई धारा (२५८ ए) के अनुसार[1] "सविधान के किसी भी उपबन्ध के बावजूद, राज्यपाल भारत सरकार की सहमति लेकर भारत सरकार या उसके किसी अधिकारी को विना शर्त या शर्त के साथ कोई ऐसा कार्य सौंप सकता है, जो राज्य की कार्यकारिणी-शक्ति से सम्बन्ध रखता हो।"

संविधान के अनुसार राज्य के मुख्य मत्री को भी राज्यपाल ही नियुक्त करेगा और वही मुख्य मत्री की राय से मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों को भी नियुक्त करेगा। मन्त्रियों के बीच कार्य वितरण भी वही करेगा।

उस राज्य के महाधिवक्ता (Advocate General), लोक-सेवा-आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों, जिला न्यायाधीशों और अन्य उच्च सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति भी उसी के द्वारा होती है। लोक सेवा आयोग के कर्मचारी-वर्ग, राज्य के व्यवस्थापन-विभाग और उच्च न्यायालय के कर्मचारियों आदि की नियुक्ति और उनकी सेवाओं की शर्तों का निर्धारण और उनके कार्य-सचालन के नियम बनाने का अधिकार राज्यपाल को ही है।

---

१ "Notwithstanding anything in the Constitution, the Governor of a State may with the consent of the Government of India entrust either conditionally or unconditionally to that Government or to its officers functions in relations to which the executive power of the State extends" (*Article 258 A*)

प्रशासन सम्बन्धी सभी सूचनाएँ प्राप्त कर सकने का अधिकार राज्यपाल को है। राज्य के मुख्य मन्त्री का यह कर्तव्य होगा कि वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों एवं कार्यों की सूचना राज्यपाल को देता रहे। किसी एक मन्त्री के निर्णय या सुझाव को वह मुख्य मन्त्री के द्वारा समूचे मन्त्रिमंडल के सामने रखवा सकता है।

आसाम, बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के राज्यपालों का विशेष दायित्व यह देखना है कि एक मन्त्री को सुपुर्द आदिम जातियों का कल्याण-कार्य हो।

राज्यपाल को कुछ ऐसे भी अधिकार प्राप्त हैं, जिनका प्रयोग वह स्वविवेक (discretion) के अनुसार करता है।

राज्यपाल राज्य में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। इस हैसियत से उसका कार्य हो जाता है कि वह राष्ट्रपति तथा संघीय सरकार को राज्य की घटनाओं, समस्याओं और गति-विधियों से अवगत कराता रहे। राज्यपाल राष्ट्रपति को पाक्षिक रिपोर्ट भेजता है। जब राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चल रहा हो या नहीं चलने-वाला हो, तब राज्यपाल उसकी सूचना राष्ट्रपति को देगा और यदि राष्ट्रपति उस सूचना के आधार पर आपातकालीन घोषणा (दूसरे प्रकार की) करे, तो उस राज्य का शासन राज्यपाल के द्वारा चलाया जायगा। ऐसी अवस्था में राज्यपाल संघ के प्रतिनिधि के रूप में काम करेगा।

राज्यपाल, अपने पदेन (Ex officio) अधिकार से उस राज्य के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति (Chancellor) भी होता है।

राज्यपाल को, अपने उपर्युक्त कार्यों के शीघ्र तथा सफल सम्पादन के लिए तथा अपने आदेशों और सुझावों को वैध बनाने के लिए, स्वयं नियम बनाने का भी अधिकार प्राप्त है।

(२) **व्यवस्थापिका-सम्बन्धी अधिकार**—राज्यपाल राज्य विधानमंडल का सदस्य नहीं होते हुए भी राज्य के व्यवस्थापन विभाग का अन्यतम अंग माना गया है। राज्य के व्यवस्थापन-विभाग के सदन या सदनों (सभी राज्यों में दो सदन नहीं होते हैं) द्वारा पारित कोई भी विधेयक तबतक कानून नहीं बन सकेगा जबतक कि राज्यपाल उस पर अपनी स्वीकृति (Assent) न दे दे।

राज्य के व्यवस्थापन-विभाग द्वारा पारित सभी विधेयक राज्यपाल के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेजे जाते हैं। राज्यपाल को अधिकार है कि वह धन-विधेयकों को छोड़कर अन्य सभी विधेयकों को अपनी अनुमति न देकर पुनर्विचारार्थ अपनी सिफारिशों या संशोधनों के साथ व्यवस्थापिका को लौटा दे। ऐसे लौटाये गये विधेयक जब व्यवस्थापिका के द्वारा दुबारा पास होकर पुनः राज्यपाल के पास आयेंगे तो इस बार राज्यपाल को अपनी स्वीकृति देनी ही होगी।

उच्च न्यायालय की शक्तियों और स्थिति में कमी की आशका होने, राज्य द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति को बाध्य रूप से लिये जाने, ससद् द्वारा घोषित आवश्यक वस्तु (Essential goods) पर सेल्स-टैक्स के लगाये जाने और अन्तर-राज्य जल या बिजली के वितरण या उत्पादन पर टैक्स लगाये जाने से सम्बन्ध रखनेवाले विधेयकों पर राज्यपाल अपनी स्वीकृति नहीं दे सकता है। ऐसे विधेयकों को राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के पास विचार के लिए भेजा जाना आवश्यक है। उपर्युक्त विधेयकों के अलावा, यदि राज्यपाल उचित समझे तो, किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रोक सकता है। ऐसे विधेयकों को स्वीकार करने या नहीं करने का अधिकार राष्ट्रपति को होगा।

व्यवस्थापिका सम्बन्धी अधिकार

१ राज्य विधानमडल का अभिन्न अग,
२ विधान-मडल के अधिवेशनों को आमन्त्रित करना;
३. विधान-सभा को भग करना,
४. विधान-मडल में भाषण देना तथा सन्देश भेजना,
५ विधान-सभा की अवधि मे वृद्धि करना,
६ सयुक्त अधिवेशन को आमन्त्रित करना,
७ विधान मडल के कुछ सदस्यों को मनोनीत करना,
८ विधेयकों पर हस्ताक्षर करना,
९ कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रोकना;
१०. अध्यादेश जारी करना।

धन-विधेयक या उनमें सशोधन, बिना राज्यपाल की सिफारिश के विधान-सभा में पेश नहीं किये जा सकते।

राज्यपाल को राज्य के विधान-मडल के एक या दोनों सदनों को बुलाने और स्थगित करने का अधिकार है। आवश्यकता पड़ने पर राज्यपाल विधान-सभा[1] को भग भी कर सकता है। वह विधान-सभा के लिए हुए प्रत्येक आम चुनाव के बाद तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम अधिवेशन के प्रारभ में व्यवस्थापिका के दोनों सदनों की सयुक्त बठक में या प्रत्येक सदन की अलग-अलग बठकों में भाषण दे सकता है। उसे किसी भी सदन के पास, समय आ पड़ने पर, विधायन-सम्बन्धी संदेशों को भेजने का भी अधिकार है।

राज्यपाल के विचार में विधान-सभा मे यदि ऐंग्लो-इडियन-समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ हो, तो वह उक्त समुदाय के प्रतिनिधियों को उचित सख्या में मनोनीत कर सकता है।

जिन राज्यों में दो सदन हैं, उनमें उच्च सदन (Upper House), यानी विधान-परिषद् (Legislative Council) में उस सदन की कुल सदस्य-सख्या के १/६ सदस्यों को मनोनीत करने का भी अधिकार राज्यपाल को है।

निर्वाचन-आयोग के परामर्श से वह विधान मडल के सदस्यों के निर्वाचन-सम्बन्धी विवादों को भी तय करता है। जबतक विधान-सभा और विधान-परिषद् अपने-अपने

[1] विधान-परिषदों का नहीं।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव नहीं कर लेते, राज्यपाल ही उनके लिए सामयिक अध्यक्षों (Presiding Officers) की नियुक्ति करता है।

यदि किसी भी समय, जबकि राज्य का विधान-मंडल अधिवेशन में नहीं हो, राज्यपाल को संतोष हो जाय (Satisfied) कि ऐसी स्थिति आ गई है, जिसमें उसे शीघ्र कार्य करना हो, तो राज्यपाल अध्यादेश (Ordinance) भी जारी कर सकता है। ये अध्यादेश केवल उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में हो सकेंगे, जिनपर राज्य-व्यवस्थापिका को कानून बनाने का अधिकार होगा। इन अध्यादेशों का महत्त्व विधान-मंडल द्वारा बनाये गये कानूनों-जैसा ही होगा। यदि इन अध्यादेशों का सम्बन्ध ऐसे विषयों से हो, जिनपर बिना राष्ट्रपति की मंजूरी के कानून नहीं बना सके तो राज्यपाल बिना राष्ट्रपति की अनुमति के उन अध्यादेशों को भी जारी नहीं कर सकेगा।

राज्यपाल द्वारा जारी किये गये प्रत्येक अध्यादेश को राज्य के विधान-मंडल के सम्मुख रखा जायगा और प्रत्येक अध्यादेश विधानमंडल के पुनराधिवेशन (reassembly) की पहली बैठक के दिन से छह सप्ताह के बाद लागू नहीं रहेगा। इस अवधि के अन्दर भी वे अध्यादेश विधान-मंडल के प्रस्तावों द्वारा रद्द किये जा सकते हैं। राज्यपाल, जब भी चाहे, इन अध्यादेशों को वापस ले सकता है।

(३) वित्त-सम्बन्धी अधिकार—बिना राज्यपाल की सिफारिश के कोई भी धन-विधेयक विधान-सभा में पेश नहीं किया जा सकता। वार्षिक बजट भी राज्यपाल की ही ओर से राज्य का वित्त-मंत्री विधान-सभा के समक्ष उपस्थित करता है। धन-विधेयक पर संशोधन भी बिना उसकी सिफारिश के पेश नहीं किये जा सकते।

सरकारी आय-व्यय और अनुदान की माँगें भी बिना उसकी अनुमति के विधान-मंडल में पेश नहीं की जा सकतीं। पूरक बजट (Supplementary Budget) भी उसकी अनुमति और सिफारिश से ही विधान-सभा में पेश किये जाते हैं।

राज्य की आकस्मिक निधि (Contingency fund) भी उसी के नाम से रहती है और जरूरत पड़ने पर इस निधि से वह खर्च के लिए अग्रिम राशि (Advance) दे सकता है।

(४) न्याय-सम्बन्धी अधिकार— राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों से सम्बन्धित अपराधों के लिए दंड पाये हुए व्यक्तियों के दण्ड को कम, स्थगित या पूर्णतया क्षमा कर सकने का अधिकार राज्यपाल को है। लेकिन इस सम्बन्ध में मृत्यु-दण्ड को क्षमा करने का अधिकार उसको नहीं है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति राज्यपाल से भी परामर्श लेता है। उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियों में भी उसकी राय ली जाती है।

कुछ अन्य अधिकार—उपर्युक्त अधिकार और कार्य तो प्रत्येक राज्य के राज्यपाल को दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त आसाम, आन्ध्र और पंजाब के राज्यपालों को कुछ विशेष उत्तरदायित्व भी दिया गया है।

आसाम का राज्यपाल जनजाति-क्षेत्र, भाग 'ख' का शासन राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में करता है। इसी प्रकार वह उस राज्य के जनजाति-क्षेत्रों में जिला-परिषदो (District Councils) की भी स्थापना कर सकेगा।

आन्ध्र और पजाब राज्यों में विधान-सभाओं की क्षेत्रीय समितियों का उचित कार्य-सम्पादन—इन राज्यपालों का ही विशेष उत्तरदायित्व है। इसी प्रकार, भूतपूर्व बम्बई राज्य के विभिन्न क्षेत्रों के लिए विकास-बोर्ड (Development Board) की स्थापना तथा उनके कार्य-संचालन का विशेष उत्तरदायित्व उस राज्य के राज्यपाल को ही था।

इन कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में भी राज्यपाल के महत्त्वपूर्ण कार्य होते हैं।

राज्यपाल के उपर्युक्त अधिकारों और कार्यों की सूची पर दृष्टिपात करने से ऐसा लग सकता है कि 'उसके हाथों में असामान्य शक्ति सन्चित है।' लेकिन श्रीगिरिधारी लाल के शब्दों में, 'इन दिनों राज्यपाल की स्थिति वह नहीं है, जो उसके पद से प्रतीत होती है। वह नाम-मात्र का प्रधान है, नाम-मात्र का कार्यपालक है, उसके पद का महत्त्व कार्य से अधिक शोभार्थ है। उसकी स्थिति एक अधिकारी की अपेक्षा सम्मान तथा प्रतिष्ठा की है।'

प्रश्न उठता है कि इस विरोधाभास (Paradox) की वजह क्या है?

इसका उत्तर जानने के लिए हमें राज्यपाल तथा राज्य-मन्त्रिपरिषद् और राज्य-विधानमंडल के बीच स्थित सम्बन्धों को जानना जरूरी है।

राज्यपाल और मंत्रिपरिषद्—संविधान की धारा १६३ (१) के अनुसार "जिन बातों में राज्यपाल को, स्वयं या संविधान के अन्तर्गत, अपने स्वविवेक (Discretion) से कार्य करना आवश्यक हो, उन सब कार्यों को छोड़कर अन्य कार्यों के सम्पादन मे सहायता और परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी जिसका मुखिया मुख्य मन्त्री होगा।" धारा १६४ (१) के अनुसार मुख्य मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा होगी, मुख्य मन्त्री की राय से राज्यपाल अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा और मंत्री राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदों पर कायम रहेंगे।

१६४वीं धारा की उपधारा २ के अनुसार मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी। यही उपबन्ध मन्त्रिपरिषद् की रचना और कार्य-सम्पादन के सम्बन्ध में राज्यपाल को शक्तिविहीन कर देता है। राज्यपाल को विधान-सभा में बहुमत-प्राप्त दल या मिले-जुले दलों के नेता को मुख्य मन्त्री नियुक्त करना ही होगा। अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति में भी मुख्य मंत्री की इच्छा ही निर्णायक होगी। जबतक मन्त्रिपरिषद् को विधान-सभा के बहुमत का समर्थन तथा विश्वास प्राप्त रहेगा, तबतक राज्यपाल उसे अपदस्थ नहीं कर सकेगा। इस प्रकार, जहाँ तक मन्त्रिपरिषद् की रचना का प्रश्न है, जबतक कोई असाधारण स्थिति उत्पन्न न हो जाय—जैसे, किसी दल का स्पष्ट बहुमत न हो, जैसा कि उड़ीसा में पिछले आम चुनावों के बाद हुआ आदि—तबतक राज्यपाल के हाथ बँधे हुए हैं।

अब प्रश्न बचता है मन्त्रिपरिषद् द्वारा दी जानेवाली सहायता और मंत्रणा का। इस सम्बन्ध में भी, संविधान की आत्मा और अबतक के कार्यकरण और अभिसमय की दृष्टि से कोई विवाद नहीं उठना चाहिए। संविधान साफ शब्दों में मन्त्रिपरिषद् को सामूहिक रूप से विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी ठहराता है, न कि राज्यपाल के प्रति। अत उत्तरदायी संसदात्मक शासन-पद्धति होने के कारण राज्य शासन की बागडोर मन्त्रिपरिषद् के हाथों में होगी, न कि राज्यपाल के हाथों में। राज्यपाल भारतीय राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत व्यक्ति होगा, जबकि मन्त्रिपरिषद् राज्य विधान-सभा का एक विश्वासप्राप्त निकाय। अत, राज्यपाल को मन्त्रिपरिषद् के अनुसार ही चलना पड़ेगा। वह वास्तव में शक्तिहीन और सदैव मन्त्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करनेवाला केवल सवैधानिक और प्रतीकात्मक प्रमुख है।

फिर भी कुछ लेखक हैं, जो संविधान की धारा १६३ की शब्दावली के आधार पर उपर्युक्त मत से शंका प्रकट करते हैं। इन लेखकों का कहना है कि उस धारा में यह स्पष्ट नहीं लिखा हुआ है कि राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा को मानने के लिए बाध्य होगा ही।

इस विषय की संवैधानिक पेचीदगियों की चर्चा आगे[1] चलकर करेंगे। इस स्थल पर सिर्फ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि सामान्य परिस्थितियों में और उन विषयों को छोड़कर जिनके बारे में संविधान स्पष्ट रूप से, राज्यपाल को, स्वविवेक से या राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने का अधिकार या आदेश देता है, राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणाओं की अवहेलना नहीं कर सकेगा और केवल सवैधानिक प्रधान के रूप में ही कार्य करेगा।

---

१. देखिए, अगला अध्याय—'राज्य-कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद्'।

राज्यपाल और विधान-मंडल—राज्यपाल के व्यवस्थापिका-सम्बन्धी अधिकारों की चर्चा करते समय हमने देखा है कि राज्यपाल विधान मंडल का एक अविच्छिन्न अंग होता है और बिना उसकी स्वीकृति के कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता है। विधान-मंडल के विराम-काल में वह अध्यादेश (Ordinance) भी जारी कर सकता है। राज्यपाल के व्यवस्थापिका सम्बन्धी अन्य कार्यों की सविस्तर चर्चा पहले की जा चुकी है और उन्हें यहाँ पुनः दुहराना आवश्यक नहीं जान पड़ता है।

संक्षेप में या निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि मन्त्रिपरिषद् और विधान-मंडल की इच्छा के विरुद्ध राज्यपाल कोई भी कानून नहीं बना सकता है। जिस प्रकार संघीय स्तर पर राष्ट्रपति को किसी साधारण विधेयक के विषय में संसद् के दोनों सदनों के बीच उत्पन्न गतिरोध को दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार है, उस प्रकार का अधिकार राज्यपाल को नहीं है।

हाँ, विधान मंडल के विराम-काल (Recess) में अध्यादेश जारी कर सकने के अधिकार का सदुपयोग या दुरुपयोग राज्यपाल अवश्य कर सकता है। यदि राज्यपाल इस अधिकार का सदुपयोग करता है, तो कोई बात ही नहीं है। उस दशा में तो उसे मन्त्रिपरिषद् का समर्थन प्राप्त रहेगा ही। राज्यपाल इस अधिकार का दुरुपयोग भी कर सकता है, लेकिन ऐसा भी केवल साढ़े सात महीनों के लिए ही और वह भी, जबकि राष्ट्रपति उसके ऐसे दुस्साहस या षड्यन्त्र का समर्थक हो।

राज्यपाल का अध्यादेश विधान-मंडल के अधिवेशन की प्रथम बैठक की तिथि से छह सप्ताह तक ही, विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत होने पर, लागू रहेगा और उसके बाद रद्द हो जायगा। कहा जा सकता है कि राज्यपाल अध्यादेश जारी करने के बाद विधान मंडल का अधिवेशन बुलायगा ही नहीं। लेकिन, संविधान के अनुसार विधान मंडल के पिछले अधिवेशन और अगले अधिवेशन के बीच ६ महीनों से अधिक का मध्यान्तर (Interval) नहीं होना चाहिए। इसीलिए हमने कहा कि साढ़े सात महीने (६ महीना अधिवेशन बुलाने में देर और डेढ़ महीना अधिवेशन के बाद तक) से अधिक समय तक के लिए, राज्यपाल द्वारा अध्यादेश जारी कर सकने के अधिकार का भी दुरुपयोग नहीं किया जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि विधि निर्माण के क्षेत्र में भी राज्यपाल के अधिकार सीमित ही हैं, लगभग शून्यवत्।

राज्यपाल की वास्तविक स्थिति—राज्य-विधान मंडल और मन्त्रिपरिषद् के साथ राज्यपाल के सम्बन्धों की उपर्युक्त चर्चा के पश्चात् राज्य-शासन में राज्यपाल की स्थिति आप ही-आप स्पष्ट हो जाती है।

राज्यपाल के अधिकारों और कार्यों की लम्बी तथा शानदार सूची सिर्फ दिखाऊ वस्तु है, हाथी के बाहरी दाँतों की तरह। राज्यपाल अगर मंत्रिपरिषद् के कार्यों में हस्तक्षेप करेगा, या मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा की अवहेलना करेगा, तो मंत्रिपरिषद् अपना त्याग-पत्र देकर संवैधानिक गतिरोध या संकट उत्पन्न कर देगी और उस दशा में राज्यपाल को मुँह की खानी पड़ेगी। राज्यपाल व्यवस्थापिका के कार्यों में स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णयों से कार्य नहीं कर सकेगा। न्यायिक क्षेत्र में भी उसके अधिकार सीमित ही हैं।

नये संविधान के लागू होने के पहले, अर्थात् सन् १९३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियम के अनुसार कतिपय स्वविवेक तथा स्वेच्छाचारी शक्तियों से युक्त जो गवर्नर पाये जाते थे, वे गवर्नर अब नहीं रहे। नये संविधान ने राज्यों में उत्तरदायी संसदात्मक सरकारों की स्थापना कर और राज्यपालों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत व्यक्ति बनाकर, उन्हें केवल संवैधानिक प्रधान कर दिया है। ठीक ही कहा गया है कि 'राज्यपाल साधारण या विशेष किसी भी परिस्थिति में स्वतन्त्र प्रतिकर्ता नहीं है।'[1] ऐसा इसलिए कि सामान्य परिस्थितियों में उसे मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा के अनुसार ही कार्य करना होगा और सकट-कालीन दशाओं में उसे राष्ट्रपति या संघ-कार्यपालिका की आज्ञाओं का पालन करना होगा।

'सुनील कुमार बोस और दूसरे लोग बनाम प्रमुख सचिव, बंगाल-सरकार' (१९५०) नामक मुकदमे में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यही निर्णय दिया है—"संविधान के अनुसार राज्यपाल मन्त्रियों के परामर्श से ही कार्य करेंगे। भारत-सरकार-अधिनियम, १९३५ के अन्तर्गत स्थिति भिन्न थी। उस समय राज्यपाल कुछ कार्य स्वविवेक से, अर्थात् बिना मन्त्रियों की राय के, कर सकता था, वह कुछ कार्य अपने व्यक्तिगत निर्णय से कर सकता था, अर्थात् उसको मन्त्रियों से सलाह लेनी पड़ती थी, परन्तु उसके अनुसार कार्य करना या न करना उसकी इच्छा पर निर्भर था। वर्तमान संविधान में राज्यपाल की स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णयों की शक्तियाँ (Discretionary powers and Powers of Individual judgment) समाप्त कर दी गई हैं और राज्यपाल को अवश्य ही अपने मन्त्रियों की मंत्रणा के अनुसार कार्य करना चाहिए। भारत के महान्यायवादी ने हमको राज्यपाल की यह संवैधानिक स्थिति समझाई है और हम इससे सहमत हैं।"

इस मत के समर्थन में कि संविधान-निर्माताओं के अनुसार सामान्यतः राज्यपाल कोई कर्त्तव्य नहीं रखेंगे, संघ के उप-राष्ट्रपति के पद के समान राज्य में उप राज्यपाल की व्यवस्था की अनुपस्थिति का भी उल्लेख किया जाता है।

---

१. "The Governor is not a free agent, either during normal times or abnormal times." —Dr M. V. Pylee

कहा जाता है कि राज्यपाल का पद अगर सचमुच महत्त्वपूर्ण होता, तो उसकी अनुपस्थिति में उसके कर्त्तव्यों के निर्वहन के लिए किसी अन्य अधिकारी, जैसे उप-राज्यपाल की व्यवस्था संविधान-निर्माताओं द्वारा अवश्य की गई होती।

कुछ राज्यपालों ने स्वयं ही अपने कथनों द्वारा इस मत का समर्थन किया है। एक भूतपूर्व राज्यपाल के कथनानुसार उनका काम यही रह गया है कि राजभवन में चाय और भोजन की दावतों के लिए आमंत्रित व्यक्तियों की सूची तैयार करवायें और उस समय यह देखें कि अधिक बच्चोंवाले ज्यादा परिवार न कहीं एक ही साथ आमंत्रित हो जायें। इसी प्रकार एक दूसरे राज्यपाल के मतानुसार राज्यपालों का कार्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक आयोजनों का उद्‌घाटन और सभापतित्व करना तथा अन्यान्य अवसरों पर सिर्फ भाषण देना रह गया है। कुछ लोग राज्यपाल के पद को बूढ़े या उपेक्षित सार्वजनिक नेताओं का विश्रामागार भी मानते है।[१] यद्यपि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्यपाल राज्य-शासन व्यवस्था का वास्तविक शासक न होकर केवल संवैधानिक और प्रतीकात्मक (Constitutional and symbolic) प्रधान ही है, तथापि यह नहीं कहा जाना चाहिए कि राज्य-शासन में राज्यपाल की स्थिति एक 'निरर्थक नहीं' (Superfluous nothing) के सदृश है।

राज्य-शासन मे राज्यपाल का एक विशिष्ट स्थान है। वह संघीय तथा राज्य सरकारों के बीच एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम करता है। संसदीय शासन-पद्धति के लिए एक संवैधानिक प्रधान की अनिवार्यता की पूर्त्ति तो वह करता ही है, इसके अलावा और भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य वह करता है।

राज्यपाल डा० काटजू ने राज्यपाल के पद को आवश्यक माना है। उनके अनुसार यदि महान् व्यक्तित्वों को योग्यता, अनुभव तथा लोकप्रियता के आधार पर राज्यपाल नियुक्त किया जाय तो लोग उन्हें श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखेंगे और वैसा राज्यपाल राज्य की बहुत सेवा कर सकेगा। श्री बी० जी० खेर ने संविधान-सभा मे ठीक ही कहा था कि "यद्यपि राज्यपाल को बहुत ही सीमित अधिकार हैं, फिर भी एक अच्छे राज्यपाल से राज्य को बहुत ही लाभ पहुँच सकता है तो एक बुरे राज्यपाल से बहुत हानि।"[२]

---

१ "A rest house for the old or discarded public leaders."

२. "A Governor can do a great deal of good if he is good governor and he can do a great deal of mischief if he is a bad governor inspite of the very little power given to him."

—*B. G. Kher.*

कुछ विशेष राज्यों, जैसे आसाम, आन्ध्र और पंजाब के, राज्यपालों को राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में स्वविवेक से कुछ कार्य कर सकने का अधिकार प्राप्त है। जिस समय किसी राज्य की विधान-सभा में जब किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत नहीं हो, वैसी दशा में राज्यपाल का कार्य महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जैसे गत आम चुनाव के बाद उड़ीसा के राज्यपाल का। जब किसी राज्य में सत्तारूढ दल के नेताओं में आपसी तीव्र मतभेद होने के कारण या सत्तारूढ़ और विरोधी दलों में संघर्ष होने के कारण उस राज्य की सरकार के चलने में गड़बड़ी की आशंका हो, उस समय में भी राज्यपाल उन मतभेदों और संघर्षों में पक्षपात-रहित मध्यस्थता कर राज्य के शासन-यन्त्र को सुचारु रूप से चलाने में अपना गुण-कारी और प्रभावी सहयोग प्रदान कर सकता है। उदाहरणार्थ, पंजाब राज्य की बिगड़ती राजनीति को सँभालने में पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल श्री सी० पी० एन्० सिंह का प्रशासनीय कार्य।

राज्यपाल के पद का सर्वाधिक महत्त्व उस समय होता है, जब किसी राज्य-सरकार और संघ-मंत्रिपरिषद् के बीच मतभेद या संघर्ष उत्पन्न हो जाय या जबकि संघ-सरकार की सम्मति में किसी राज्य का संवैधानिक यंत्र विफल हो गया है, लेकिन राज्य-सरकार ऐसा मानने को तैयार न हो। उदाहरणार्थ, केरल-राज्य की स्थिति।

हमारे देश की वर्त्तमान स्थिति में जब केन्द्र-विमुख प्रवृत्तियाँ (Centrifugal tendencies) बढ़ती जा रही हैं, राज्य-विधानमंडलों में प्रतिद्वन्द्वी समूहों और गुटों की बढ़ती के फलस्वरूप राज्य मन्त्रिमंडलों के अस्थायित्व (Instability) की संभावनाएँ दिन-दिन बढ़ती ही जा रही हैं, स्थानीय दलगत-राजनीति के भँवर से अप्रभावित एक स्वतंत्र, निष्पक्ष और सम्मानित महिमाशाली व्यक्ति का मार्ग दर्शन बहुत ही महत्त्व की चीज मानी जानी चाहिए।

अत, निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सामान्य परिस्थितियों में, अर्थात्, जबतक किसी राज्य का शासन संविधान के प्रावधानों के अनुसार सुचारु रूप से संचालित हो रहा हो, राज्यपाल की स्थिति अवश्य ही एक संवैधानिक प्रधान की स्थिति होगी। लेकिन, असामान्य परिस्थितियों में उसकी स्थिति भिन्न हो जायगी। साधारणत राज्यपाल का पद शक्ति का नहीं, किन्तु सम्मान का ही होगा फिर भी असाधारण परिस्थितियों में राज्यपाल सम्मान के साथ-साथ शक्ति भी प्राप्त कर लेगा।

प्रश्न

१. भारतीय राज्यों के राज्यपाल की स्थिति का वर्णन कीजिए। राज्यपाल की नियुक्ति मनोनयन द्वारा क्यों की जाती है?

Describe the position of the Governor of an Indian State. Why is he nominated ?

२ राज्य शासन में राज्यपाल की वास्तविक स्थिति क्या है ? राज्यपाल और मन्त्रि-परिषद् के सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।

What is the position of the Governor in the State Administration ? Discuss the relations between the Governor and the State Council of Ministers.

३. राज्य के विधानमण्डल के साथ राज्यपाल के सम्बन्धों का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए राज्यपाल के अधिकारों तथा कृत्यों का वर्णन कीजिए।

Discuss the powers and functions of the Governor with special reference to his relations with the State Legislature.

३ राज्य-कार्यपालिका : मन्त्रिपरिषद्

(State Executive : Council of Ministers)

भारत-संघ के अन्तर्गत राज्यों के शासन में सर्वाधिक महत्त्व का स्थान राज्य-मन्त्रिपरिषद् को ही प्राप्त है। राज्यपाल के संवैधानिक प्रधान होने के कारण राज्य कार्यपालिका-शक्ति का वास्तविक प्रयोग या उपयोग राज्य-मन्त्रिपरिषद् ही करती है। राज्य-शासन रूपी अभिनय का सूत्रधार मन्त्रिपरिषद् ही होती है।

मन्त्रिपरिषद् की रचना —संविधान की धाराएँ १६३ और १६४ के अनुसार, उन मामलों को छोड़कर, जिनमें राज्यपाल को स्वयं या संविधान के अन्तर्गत स्वविवेक से कार्य करना है, अन्य सभी कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका मुखिया मुख्यमंत्री[1] होगा। मुख्य मंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा और मुख्य मन्त्री की राय से राज्यपाल अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा। मन्त्री राज्यपाल के प्रसाद काल तक अपने पदों पर आसीन रहेंगे। मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से राज्य-विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।

राज्य-मन्त्रिपरिषद् की रचना के उपर्युक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इस सम्बन्ध में राज्यपाल को बहुत ही व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मुख्य मन्त्री की नियुक्ति में राज्यपाल स्वतन्त्र नहीं है। चूँकि राज्य-मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से राज्य-विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है, इसलिए राज्यपाल केवल उसी व्यक्ति को मुख्य मन्त्री नियुक्त कर सकेगा, जिसके दल या दल-समूह को राज्य की विधान-सभा में बहुमत प्राप्त हो। अत, सामान्य परिस्थितियों में मुख्य मन्त्री को नियुक्त करनेवाला राज्यपाल का अधिकार केवल नाम-मात्र का अधिकार है। इस सम्बन्ध में राज्यपाल कोई मनमानी नहीं कर सकता है।

इसी प्रकार मन्त्रिपरिषद् के अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति में भी राज्यपाल के अधिकार सीमित ही हैं। मुख्य मन्त्री द्वारा प्रस्तावित अन्य मन्त्रियों की सूची में भी, मुख्य मन्त्री की इच्छा के विरुद्ध, राज्यपाल कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है।

---

१. जम्मू-कश्मीर-राज्य के मुख्य मन्त्री को पहले प्रधान मंत्री ही कहा जाता था।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मंत्रिपरिषद् की रचना का कार्य वास्तव में मुख्य मंत्री का है न कि राज्यपाल का, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मुख्य मंत्री इस कार्य में सर्वथा स्वतंत्र हो। वह अपने दल या दलों के समूह के अन्य प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण नेताओं की अवहेलना नहीं कर सकता है।

राज्य-मन्त्रिपरिषदों की रचना के सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय अभिसमय स्थापित हो चुके हैं।

चूँकि, मंत्रिपरिषद् को विधान-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी ठहराया गया है, इसलिए ऐसा सोचा जाता है कि मुख्य मंत्री विधान-सभा के सदस्यों में से ही होगा। लेकिन १९५१-५२ के आम चुनाव के बाद मद्रास राज्य में किसी दल को विधान-सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होने पर, श्रीराजगोपालाचारी को कांगरेस-दल के नेता के रूप में मुख्य मंत्री बनाने के लिए विधान-परिषद् का सदस्य मनोनीत किया गया। इसी प्रकार १९५१-५२ ई० के आम चुनाव में बम्बई-राज्य के भावी मुख्य मन्त्री श्री मोरारजी देसाई के विधान-सभा की सदस्यता के चुनाव में हार जाने पर उन्हें भी तत्काल विधान परिषद् का सदस्य मनोनीत कर मुख्य मन्त्री बनाया गया।

इसी प्रकार, राज्य मन्त्रिपरिषद् की रचना के सम्बन्ध में यह अभिसमय भी स्थापित हो चुका है कि यदि विधान सभा में किसी पार्टी का स्पष्ट बहुमत न हो, तो राज्यपाल उस दशा में सबसे अधिक सदस्यवाली पार्टी के नेता को ही मुख्य मन्त्री नियुक्त करेगा। सन् १९५६-५७ ई० के आम चुनाव के बाद उड़ीसा विधान-सभा में किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त हुआ। कांगरेस पार्टी के सदस्यों की संख्या ही सबसे अधिक थी। अत, उसी के नेता श्री हरेकृष्ण मेहताब को उड़ीसा के राज्यपाल ने मुख्य मन्त्री नियुक्त किया। आजकल वहाँ कांगरेस और गणतंत्र परिषद् इन दोनों दलों की संयुक्त सरकार है।

राज्य-मन्त्रिपरिषद् की रचना के सम्बन्ध में सबसे अभूतपूर्व और मनोरंजक रूढ़ि को तो तब जन्म दिया गया, जब ट्रावणकोर कोचीन के १०८ सदस्यों की विधान-सभा में १९ सदस्योंवाले प्रजा-समाजवादी दल के नेता को मुख्य मन्त्री बनाकर कुछ दिनों के लिए सरकार चलाई गई। सन् १९५२ ई० के चुनाव के बाद उस राज्य में किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। पहले सबसे अधिक सदस्यवाली कांगरेस-पार्टी का मन्त्रिमंडल बनाया गया। सन् १९५३ ई० में इस मन्त्रिमंडल की हार हो गई। फिर नया चुनाव हुआ। उसमें भी किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। इस बार सबसे अधिक संख्यावाली पार्टी को मन्त्रिमंडल बनाने के लिए न कहकर राज्यपाल ने १९ सदस्यों वाले प्रजा-समाजवादी दल के नेता को मन्त्रिमंडल बनाने को कहा, क्योंकि इस दल का कांगरेस ने समर्थन करने का आश्वासन दिया था।

राज्यों में कॉंग्रेसी मन्त्रिपरिषदों की रचना में कांग्रेस आलाकमान (High command) का हस्तक्षेप और नियन्त्रण होता है। कॉंग्रेस की केन्द्रीय संसदीय समिति ने राज्यों में मन्त्रिपरिषदों के निर्माण का उत्तरदायित्व खुलेआम अपने ऊपर ले लिया है। कौन मुख्य मन्त्री होगा, मन्त्रिपरिषद् की सख्या क्या होगी और किस-किस स्तर के कितने मन्त्री होंगे, मन्त्रिपरिषद् सभी ग्रूपों के नेताओं से मिलकर (Composite) बनेगी या नहीं इत्यादि सभी बातों का निर्णय करने लगी है।

इसका परिणाम हुआ कि मन्त्रिपरिषद् की रचना में राज्य-विधान-सभा के बहुमत दल की विधायक शाखा (Legislative wing) के अधिकार, केन्द्रीय हस्तक्षेप और नियन्त्रण के फलस्वरूप, बहुत ही सीमित हो गये हैं।

श्री के० सन्थानम् का कहना है कि केन्द्रीय हस्तक्षेप के कारण मन्त्रियों के लिए अपने सहयोगियों से सुन्दर सम्बन्ध तथा विधान सभा की सद्भावना के बजाय तथाकथित आलाकमान की सद्भावना को प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है।

इस प्रकार, राज्य-मन्त्रिपरिषदों की रचना में जो अभिसमय और रूढ़ियाँ स्थापित हो चुकी हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विधान-सभा में किसी पार्टी का स्पष्ट बहुमत नहीं होने पर राज्यपाल को स्वविवेक के अनुसार स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने का अवसर प्राप्त हो जाता है। लेकिन विधान-सभा में किसी एक राजनीतिक पार्टी का स्पष्ट बहुमत हो जाने पर राज्यपाल शक्तिविहीन हो जाता है।

मन्त्रियों की योग्यता—मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक हैं —

(क) वह भारत का नागरिक हो,

(ख) राज्य विधान-मडल के किसी एक सदन का सदस्य हो,

(ग) अगर मन्त्री नियुक्त होते समय विधान-मडल का सदस्य नहीं हो तो नियुक्ति के दिन से छह महीने की अवधि के अन्दर विधान-मडल की सदस्यता अवश्य प्राप्त कर ले।

मन्त्रियों की श्रेणियाँ—यद्यपि मन्त्रियों की श्रेणियों के सम्बन्ध में सभी राज्यों में कोई एकरूपता (Uniformity) नहीं पाई जाती है, फिर भी तीन श्रेणियों के मंत्री होते हैं —

(१) कैबिनेट-मन्त्री (Cabinet Ministers),
(२) राज्य-मन्त्री (Minister of State),
(३) उप-मन्त्री (Deputy Minister),

इन तीन श्रेणियो के मन्त्रियों के अतिरिक्त एक श्रेणी ससदीय सचिवों (Parliamentary secretaries) की भी होती है।

केबिनेट-मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य तीन श्रेणियों के सदस्यों को मन्त्रिपरिषद् की बैठकों मे भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है। इनका काम अपने-अपने सबधित केबिनेट-मन्त्रियों को उनके विधान मडल एव शासन के कार्यों में सहायता करना होता है।

सभी राज्यों में केबिनेट-मत्री, राज्य-मत्री, उपमत्री और संसदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) एक ही साथ नही पाये जाते। भिन्न-भिन्न राज्यों में मन्त्रियों की सख्या भी भिन्न भिन्न ही है। इसी प्रकार, सविधान द्वारा बिहार, मध्यप्रदेश और उडीसा में जन जातियो के कल्याण के लिए एक मन्त्री का होना आवश्यक है।

वेतन तथा भत्ते :—मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों का वेतन तथा भत्ता निश्चित करने का अधिकार राज्य विधान-मडल को है। इस सम्बन्ध में भी सभी राज्यों में एकरूपता (Uniformity) नहीं है। बिहार राज्य के केबिनेट मन्त्रियों को १५०० रु० मासिक वेतन तथा अन्य भत्ते दिये गये हैं।

कार्य-पद्धति—नियुक्ति के पश्चात्, प्रत्येक मन्त्री राज्यपाल के समक्ष अपने कर्त्तव्य के प्रति ईमानदारी तथा गोपनीयता की शपथ लेकर अपना पद ग्रहण करता है। मन्त्रिपरिषद् की बैठक प्राय सप्ताह मे एक बार होती है, पर आवश्यकता पड़ने पर मुख्य मन्त्री कभी भी इसकी बैठक बुला सकता है। बिहार-राज्य-मन्त्रिपरिषद् की बैठक प्रत्येक मंगलवार को हुआ करती है। प्रत्येक मन्त्री के जिम्मे एक या एक से अधिक विभाग दिये जाते है। अपने जिम्मे के विभाग या विभागों से सम्बद्ध सभी कार्यो के लिए प्रत्येक मन्त्री व्यक्तिगत रूप से जिम्मेवार होता है।

कार्यकाल —मन्त्रिपरिषद् का कोई निश्चित कार्यकाल नही है। जब कभी विधान-सभा के बहुमत का विश्वास इसे प्राप्त नहीं होगा, मंत्रिपरिषद् अपदस्थ कर दी जायगी।

फिर धारा ३५६ के अन्तर्गत सकटकाल मे भी राजकीय मन्त्रिपरिषद् को विघटित किया जा सकता है। राज्यपाल यदि स्वयं चाहे तो या मुख्यमंत्री की सलाह से, मन्त्रिपरिषद् को भंग कर सकता है। अपने सकटकालीन अधिकारों के प्रयोग द्वारा राष्ट्रपति भी किसी राज्य मे मन्त्रिपरिषद् को हटा सकता है। जैसे केरल राज्य की मन्त्रिपरिषद् का सन् १९५९ ई० में हटाया जाना।

इस सम्बन्ध में 'कामराज-योजना' का उल्लेख भी आवश्यक है। इस योजना के अनुसार सभी राज्यों की कॉंगरेसी मन्त्रिपरिषदों के मुख्य मन्त्रियों ने स्वर्गीय श्रीनेहरू के पास अपना-अपना त्याग-पत्र दाखिल कर दिया था। केन्द्रीय संसदीय समिति ने कुछ राज्यों के मुख्य मन्त्रियों का त्याग पत्र स्वीकार कर लिया, जिसका परिणाम हुआ कि उन राज्यों की मन्त्रिपरिषद् भग हो गई।

उपर्युक्त अवस्थाओं को छोड़कर साधारणत मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल ५ वर्षों का होना चाहिए। अर्थात् एक आम चुनाव से लेकर दूसरे आम चुनाव तक।

मन्त्रिपरिषद् के अधिकार और कार्य — संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद् का कार्य राज्यपाल को उसके कार्यों में परामर्श और सहायता देना है। लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि राज्य के प्रशासन-सम्बन्धी सभी कार्यों का सम्पादन मन्त्रिपरिषद् ही करती है और राज्यपाल का कार्य होता है मन्त्रिपरिषद् को परामर्श और सहायता प्रदान करना। जहाँ तक मन्त्रिपरिषद् द्वारा राज्यपाल को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्श देने की बात है, इस सम्बन्ध में धारा १६३ (१) कहती है कि जिन मामलों में राज्यपाल स्वयं या संविधान के अन्तर्गत स्वविवेक से कार्य करना आवश्यक समझे, उन्हें छोड़कर अन्य कार्यों के लिए मन्त्रिपरिषद् की रचना होगी। कुछ लोगों का कहना है कि धारा १६३ (१) की शब्दावली के कारण अन्य कार्यों में राज्यपाल को मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा बाध्यत रूप से माननी ही पड़ेगी। दूसरे लोगों का कहना है कि संविधान यह स्पष्ट नहीं करता है कि कौन कौन-से कार्यों में राज्यपाल स्वविवेक से कार्य करेगा और धारा १६३ (२) के अनुसार स्वविवेक से किये जानेवाले कार्यों का निर्णय करना राज्यपाल के हाथों में ही है।

अर्थात्, कुछ लोगों का कहना है कि राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद् के सम्बन्ध में राज्यपाल की स्थिति राष्ट्रपति की अपेक्षा दयनीय है, क्योंकि उसे एक-आध कार्यों को छोड़कर अन्य सभी बातों में मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा से ही चलना है। राष्ट्रपति के लिए ऐसा करना जरूरी नहीं है।

लेकिन दूसरे लोगों के विचार में स्वविवेक से कार्य करने का जो अधिकार राज्यपाल को दिया गया है, वह राष्ट्रपति को नहीं। लेखक की राय में इस प्रकार का विवाद निरर्थक है। राज्यपाल संवैधानिक प्रधान ही है। राज्य के प्रशासन का सारा चक्र मन्त्रिपरिषद् ही के इर्द-गिर्द घूमेगा। सुविधा के लिए मन्त्रिपरिषद् के अधिकारों एव कार्यों को हम निम्नलिखित चार श्रेणियों में बाँट सकते हैं —

(१) कार्यपालिका एवं प्रशासन-संबंधी;
(२) व्यवस्थापिका-सबधी,
(३) वित्त-संबंधी;
(४) न्याय-सबंधी।

(१) कार्यपालिका एवं प्रशासन-संबधी :—सविधान में राज्यपाल के नाम जो कार्यपालिका एवं प्रशासन-सबधी अधिकार एव कार्य उल्लिखित हैं, वे सभी वास्तविक रूप में मन्त्रिपरिषद् के ही हैं। मन्त्रिपरिषद् ही राज्य की वास्तविक तथा सर्वोच्च कार्यपालिका है।

कार्यपालिका एव प्रशासन संबधी सभी नीतियों का निर्धारण मन्त्रिपरिषद् ही करती है। राज्य के शासन सचालन का भार मन्त्रिपरिषद् पर ही रहता है।

राज्य के उच्च पदाधिकारियों, जैसे एडवोकेट-जेनरल तथा राजकीय लोकसेवा आयोग के सदस्यों आदि, की नियुक्ति मन्त्रिपरिषद् ही करती है। यहाँ तक कि राज्यपाल की नियुक्ति में भी मुख्य मंत्री की राय ली जाती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि इस श्रेणी के कार्यों के अन्तर्गत विधानमडल द्वारा निर्मित विधियों को कार्यान्वित करना, सरकारी विभागों की मुख्य नियुक्तियाँ करना, राज्य की प्रशासकीय नीति निर्धारित करना, राज्य में शांति एव सुरक्षा रखना इत्यादि सभी कार्यों का सम्पादन मंत्रिपरिषद् ही करती है।

(२) व्यवस्थापिका संबंधी —मन्त्रिपरिषद् के नेतृत्व और नियंत्रण मे ही राज्य-विधानमडल सभी कानून बनाता है। राज्य सूची में वर्णित विषयों पर कौन और कैसा कानून बने। इसका निर्णय मंत्रिपरिषद् ही करती है। विधान-मडल की बैठक की तिथि तथा कार्यक्रम का निर्धारण भी इसके द्वारा ही होता है। किस विधेयक पर कितने समय तक विधान मडल में विचार होगा, इसका भी निर्णय मन्त्रिपरिषद् के ही हाथों में है। मन्त्रिपरिषद् अगर चाहे तो राज्यपाल को सलाह देकर विधान-मडल को भंग भी करा सकती है। इस प्रकार मन्त्रि-परिषद् के व्यवस्थापिका-सबधी बहुत ही व्यापक अधिकार हैं। इसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी कानून नहीं बन सकता है।

(३) वित्त-संबंधी —राज्य-प्रशासन-संबंधी सारी वित्तीय शक्तियाँ मंत्रिपरिषद् को ही प्राप्त है। वार्षिक बजट एव अन्य वित्तीय प्रस्तावो को तैयार कर विधान-मंडल से पास करना मन्त्रिपरिषद् का ही कार्य है।

(४) न्याय-सम्बंधी —संविधान के अनुसार राज्यपाल को कुछ न्यायिक अधिकार दिये गये हैं, जैसे क्षमा-प्रदान का अधिकार। इस अधिकार का वास्तविक प्रयोग मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही होता है। यद्यपि कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबध में संविधान राज्य-सरकार को कोई अधिकार नहीं देता है, फिर भी व्यवहार में राज्य-सरकार की राय ली जाती है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् को कुछ न्यायिक अधिकार भी प्राप्त हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि राज्य-शासन में मन्त्रिपरिषद् का सर्वाधिक महत्त्व का स्थान है। राज्य के प्रशासन का कोई भी अंग नहीं है, जिसपर मन्त्रिपरिषद् का नियंत्रण नहीं हो। राज्य-शासन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जो मंत्रिपरिषद् के कार्य और प्रभाव-क्षेत्र से अछूता हो।

मन्त्रिपरिषद् और विधान-मंडल :

राज्य-शासन की प्रणाली संसदीय है। अतएव, मन्त्रिपरिषद् और विधान मंडल में पारस्परिक निकट-संबध होना स्वाभाविक है। मंत्रिपरिषद् के सदस्यों का विधान-मंडल का सदस्य होना अनिवार्य है। मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी रहती है। मन्त्रिपरिषद् अपने पद पर तभी तक रह सकती है जबतक कि विधान सभा के बहुमत का विश्वास और समर्थन प्राप्त रहे।

विधान-सभा जब भी चाहे, मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर या सरकारी विधेयकों को अस्वीकृत करके, या बजट में कटौती कर या निन्दा का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिपरिषद् को पदच्युत कर दे। इसके अतिरिक्त 'काम रोको' प्रस्ताव द्वारा, वाद-विवाद के दौरान आलोचनाओं द्वारा, प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछकर, राज्यपाल के अभिभाषण की आलोचना करके भी विधान-मंडल मंत्रिपरिषद् पर नियंत्रण रखता है।

इस प्रकार ऊपर से देखने से तो ऐसा लगता है कि मंत्रिपरिषद् विधान-मंडल के हाथों की कठपुतली है, पर वास्तविक स्थिति ऐसी है नहीं।

व्यावहारिक रूप में मंत्रिपरिषद् का विधान-मंडल पर कम नियंत्रण नहीं है। दलबन्दी-प्रथा (Party system) के कारण विधान-मंडल मन्त्रिपरिषद् का अनुचर बन जाता है। बहुमत-दल की मन्त्रिपरिषद् जो भी कार्य कराना चाहेगी, विधान-मंडल को करना ही होगा। यदि विधान मंडल और मंत्रिपरिषद् में मतभेद हो जायगा तो ऐसी स्थिति में मुख्य मन्त्री राज्यपाल को परामर्श देकर विधान-मंडल को ही विघटित करा देगा।

इस प्रकार हम पाते हैं कि विधान-मंडल और मंत्रिपरिषद् दोनों परस्परावलम्बी हैं।

मुख्य मंत्री
(Chief Minister)

भारत-संघ के राज्यों की शासन-व्यवस्था में मुख्य मन्त्री का स्थान सर्वाधिक महत्त्व का है। संघीय सरकार में जो स्थान प्रधान मन्त्री का है, वही स्थान राज्य-सरकार में मुख्य मन्त्री का है।

राज्य-मन्त्रिपरिषद् का मुख्य होने के कारण उसे मुख्य मन्त्री कहा जाता है। संविधान के अनुसार मुख्य मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है। लेकिन जैसा कि मन्त्रिपरिषद् की रचना के वर्णन के प्रसंग में कहा जा चुका है, इस कार्य में राज्यपाल को स्वतन्त्रता या छूट नहीं है।

मुख्य मन्त्री के पद पर राज्यपाल को उसी व्यक्ति को नियुक्त करना होगा, जिसके दल या दल-समूह को विधान-सभा में बहुमत प्राप्त हो। ऐसा इसलिए कि मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। सारांशत, विधानसभा के आम चुनाव में जो दल या दल-समूह बहुमत प्राप्त करेगा, उसका नेता मुख्य मंत्री होगा।

कुछ असामान्य परिस्थितियों—जैसे, विधान-सभा में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होने, या बहुत-से दलों को लगभग समान सीटें मिल जाने, या बहुमत-प्राप्त दल में एक सर्वमान्य नेता के नहीं रहने आदि—में राज्यपाल को मुख्य मन्त्री की नियुक्ति में थोड़ा अधिक अधिकार हो जाता है। लेकिन फिर भी ऐसा कभी नहीं हो सकता कि राज्यपाल जिसे चाहे मुख्य मन्त्री नियुक्त कर दे।

उसी प्रकार सिद्धान्ततः मुख्य मंत्री अपने पद पर राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त ही रहेगा, परन्तु व्यवहार में वह तबतक पदारूढ़ रहेगा जबतक कि उसे विधान सभा के बहुमत का समर्थन तथा विश्वास प्राप्त है।

मन्त्रिपरिषद् की रचना का वर्णन करते समय बताया जा चुका है कि दलगत प्रथा के कारण किस प्रकार केन्द्रीय संसदीय समिति का हस्तक्षेप और नियन्त्रण मुख्य मन्त्री की नियुक्ति में बढ़ गया है। उसी प्रकार 'कामराज-योजना' ने भी मुख्य मन्त्रियों द्वारा त्याग-पत्र दिये जाने के सम्बन्ध में भी नये अभिसमय को जन्म दिया है।

उड़ीसा के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री श्री वीरेन मित्र तथा पंजाब के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री स्वर्गीय श्री कैरों को उनके पदों से उस समय हटाया गया जबकि उनके दल को ही नहीं, वरन् उनको व्यक्तिगत बहुमत भी प्राप्त था।

उस समय से एक विचारधारा निकल पड़ी है कि प्रधान मन्त्री चाहे तो मुख्य मन्त्री को अपदस्थ कर सकता है। हमारे वर्तमान शिक्षा-मन्त्री श्री एम० सी० छागला का तो मत है कि संविधान उपर्युक्त अधिकार प्रधान मन्त्री को देता है।

इस लेखक की राय में श्री छागला के मत की पुष्टि संवैधानिक प्रावधानों द्वारा नहीं की जा सकती है। चूँकि एक ही दल की सरकार संघ तथा राज्य में हो और प्रधान मंत्री उस दल का अखिलभारतीय नेता होने के कारण अपने दल के किसी राजकीय नेता को मुख्य मंत्री-पद से त्याग-पत्र देने का आदेश दे, यह दूसरी बात है, किन्तु यह संवैधानिक प्रावधान नहीं है।

उसी प्रकार प्रधान मंत्री राष्ट्रपति को परामर्श देकर संकटकालीन अधिकारों के प्रयोग द्वारा विधान-मंडल में बहुमत-प्राप्त किसी मुख्य मंत्री को अपदस्थ करा दे, यह भी भिन्न स्थिति है।

मुख्य मंत्री के अधिकार और कार्य—राज्य का वास्तविक राजनीतिक शासक मुख्य मंत्री ही होता है। उसे 'राज्य-शासन का आधार-स्तम्भ' तथा 'राज्य मंत्रि-परिषद्-रूपी मेहराब के बीच के पत्थर' की उपमा ठीक ही दी गई है। राज्य-शासन-रूपी जहाज का वास्तविक चालक मुख्य मंत्री ही है।

मुख्य मंत्री के अधिकार और कार्य बहुत ही व्यापक और विस्तृत हैं—

१ मुख्य मंत्री राज्य-मंत्रिपरिषद् का केन्द्र-बिन्दु होता है। मंत्रिपरिषद् की रचना वही करता है। संविधान में ही कहा गया है कि मुख्य मंत्री की राय से ही राज्यपाल अन्य मंत्रियो को नियुक्त करेगा। मुख्य मंत्री द्वारा दी गई अन्य मन्त्रियों की सूची में राज्यपाल मुख्य मंत्री की दृढ इच्छा के विपरीत कोई अदल-बदल नहीं कर सकता।

इसी प्रकार मुख्य मंत्री जब भी चाहे, अपनी मंत्रिपरिषद् के किसी अन्य मंत्री को त्याग-पत्र देने को कह सकता है। वह राज्यपाल को परामर्श देकर किसी भी अन्य मंत्री को अपदस्थ करा सकता है। उपर्युक्त तरीकों से अगर मुख्य मंत्री सफल नहीं हो सके तो वह स्वयं अपना त्याग पत्र देकर समूची मंत्रिपरिषद् को ही भंग करा देगा और नई मंत्रिपरिषद् में उस व्यक्ति को सम्मिलित नहीं करेगा, जिसे वह हटाना चाहता था। इस प्रकार मंत्रिपरिषद् का जन्म और मरण दोनों मुख्य मंत्री के ही हाथों हैं।

२ मंत्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों के बीच कार्यों का विभाजन भी असल में मुख्य मंत्री ही करता है यद्यपि कि संविधान के अनुसार यह कार्य राज्यपाल का है। मंत्रियों तथा अन्य विभागों के बीच के गतिरोधों तथा मतभेदों को भी वही दूर करता है। राज्य के सभी विभागों पर उसकी सामान्य देख-रेख रहती है।

३. मुख्य मंत्री मंत्रिपरिषद् की बैठकों का सभापतित्व करता है तथा उन बैठकों का समय और कार्यक्रम निश्चित करता है।

४ मन्त्रिपरिषद् द्वारा नीति-निर्धारण मुख्य मंत्री की इच्छा से ही होता है। सभी नीतियों की घोषणा करने का अधिकार उसी का है। वह चाहे तो अकेले भी किसी विषय पर निर्णय ले सकता है। इस प्रकार के निर्णय से असहमत होनेवाले मंत्री त्याग पत्र देकर मंत्रिपरिषद् से निकल जा सकते हैं।

५ मुख्य मंत्री राज्यपाल तथा मन्त्रिपरिषद् के बीच की कड़ी का काम करता है। मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों की सूचना राज्यपाल को देना उसी का काम है।

६ मुख्य मंत्री विधान-मण्डल का नेता होता है। विधान-मण्डल में वह सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है। विधान मण्डल का कार्यक्रम, उसकी अवधि इत्यादि सभी बातों का निर्णय मुख्य मंत्री की राय से होता है। विधान-मण्डल में महत्त्वपूर्ण सरकारी नीतियों की घोषणा करना, विरोधी दल के प्रस्तावों को मानना या न मानना मुख्य मंत्री की ही इच्छा पर निर्भर करता है।

ठीक ही कहा गया है कि विधान-मण्डल रूपी अखाड़े का वह सर्वशक्तिमान् योद्धा है। यदि विधान-मण्डल मुख्य मन्त्री द्वारा चाहे गये विधेयक को पारित नहीं करना चाहे तो वह राज्यपाल द्वारा विधान-मण्डल को विघटित करा दे सकता है।

विधान-मण्डल के जो सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जाते है, उनके मनोनयन में मुख्य मंत्री का ही हाथ रहता है।

७ राज्यपाल द्वारा की जानेवाली नियुक्तियाँ व्यवहार में मुख्य मंत्री द्वारा ही की जाती हैं।

८ संघ-सरकार के हेतु मुख्य मंत्री ही राज्य-शासन का प्रतिनिधि है।

इस प्रकार हम पाते है कि राज्य का वास्तविक प्रशासक मुख्य मन्त्री ही है। राजकीय स्तर पर शक्ति तथा प्रतिष्ठा दोनों मिलाकर, मुख्य मन्त्री का मुकाबिला कोई नहीं कर सकता। राज्य-शासन-व्यवस्था का संवैधानिक प्रधान राज्यपाल होता है, लेकिन वास्तविक प्रधान मुख्य मंत्री।

यदि मुख्य मंत्री के दल का स्पष्ट बहुमत विधान-सभा में हो और उस दल के स्पष्ट बहुमत का विश्वास और समर्थन मुख्य मंत्री को प्राप्त हो, तो राज्य के वास्तविक सर्वोच्च शासक और विजयी दल के अग्रगण्य नेता होने के कारण, उस राज्य में ही नहीं वरन् भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर भी मुख्य मंत्री की शक्ति तथा प्रतिष्ठा अद्वितीय हो जाती है। ऐसे मुख्य मंत्री को देखकर भारत के प्रधान मंत्री को छोड़कर अन्य सभी लोग ईर्ष्या करने लग जाते हैं।

प्रश्न

१ राज्य-मन्त्रिपरिषद् की रचना कैसे होती है ? राज्य-मन्त्रिपरिषद् के अधिकारों एवं कृत्यों का वर्णन कीजिए।
How is the Council of Ministers in a State formed ? Describe its powers & functions

२ अपने राज्य के मुख्य मंत्री के अधिकारों का वर्णन कीजिए। आपकी सम्मति में, राज्यपाल और मुख्य मंत्री, इन दोनों में से किसका पद अधिक महत्त्व-पूर्ण है ?
Describe the powers of the Chief Minister of your State. In your opinion, which one of the two, the Governor and the Chief Minister occupies a greater position ?

३ अपने राज्य की मन्त्रिपरिषद् की रचना का परिचय दीजिए। राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद् के बीच क्या सम्बन्ध है ?
Show your acquaintance with the formation of the Council of Ministers of your State. What are its relations with the Governor ?

४. राज्य-मन्त्रिपरिषद् की रचना कैसे होती है ? राज्य के विधान-मण्डल से इसका क्या सम्बन्ध है ? सामूहिक उत्तरदायित्व से आप क्या समझते हैं ?
How is the Council of Ministers of a State formed ? What are its relations with the State legislature ? What do you understand by Collective Responsibility ?

८ राज्य-व्यवस्थापिका
(State Legislature)

भारत-संघ के अन्तर्गत राज्यों की शासन-व्यवस्था में व्यवस्थापिका का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि संघ-सरकार की ही भाँति राज्य-सरकारें भी संसदीय पद्धति पर ही आधारित हैं। राज्य-शासन की वास्तविक संचालिका, राज्य-मंत्रिपरिषद्, व्यवस्थापिका के ही प्रति उत्तरदायी होती है।

भारत-संघ के अन्तर्गत सभी सोलह राज्यों में एक समान विधानमंडल नहीं है। कुछ राज्यों में एकसदनात्मक विधानमंडल (Unicameral Legislature) पाये जाते हैं और कुछ राज्यों में द्विसदनात्मक (Bicameral)। जिन राज्यों में विधान-मंडल का एक ही सदन है, उन राज्यों के विधान-मंडल को विधान-सभा (Legislative Assembly) की संज्ञा दी जाती है। जिन राज्यों में विधान-मंडल के दो सदन होते हैं, उन राज्यों के विधान-मंडल के उच्च सदन (Upper House) को विधान-परिषद् (Legislative Council) और निम्न सदन (Lower House) को विधान-सभा (Legislative Assembly) कहा जाता है।

प्रश्न उठता है कि भारत संघ के अन्तर्गत सभी राज्यों में एक समान विधान-मंडल क्यों नहीं हैं ? अर्थात्, क्यों कुछ राज्यों में सिर्फ एक सदन है और कुछ राज्यों में दो सदन ?

राज्यों के विधान-मंडलों में दो सदन रखे जायँ या सिर्फ एक ही, इस प्रश्न पर भारतीय संविधान-सभा की प्रान्तीय संविधान-समिति (Provincial Constitution Committee) के सदस्यों में बहुत ही तीव्र मतभेद था। समिति लगभग समान शक्तिवाली दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं में बँटी हुई थी। अत, समिति ने यह सिफारिश की थी कि राज्यों के विधान-मंडल एकसदनात्मक हों या द्विसदनात्मक इस सम्बन्ध में संविधान द्वारा कोई जड़ (Rigid) नीति नहीं अपनाई जाकर प्रान्तों को ही इस बारे में निर्णय करने का अधिकार दे दिया जाय। संविधान-सभा ने प्रान्तीय संविधान-समिति की इस सिफारिश को मान लिया, क्योंकि इस प्रश्न पर संविधान-सभा के सदस्यों

के बीच भी तीव्र मतभेद था। अत, किस राज्य मे एकसदनात्मक विधान मडल हो और किस राज्य मे द्विसदनात्मक विधान-मडल, इसका निर्णय विभिन्न राज्यों के उन प्रतिनिधियों पर छोड दिया, जो संविधान-सभा के सदस्य थे।

उपर्युक्त प्रकार के निर्णयों के अनुसार सन् १९५१ ई० मे विहार, वम्वई, मद्रास, पंजाव, उत्तर-प्रदेश और पश्चिम वगाल के विधान मडलों को द्विसदनात्मक रखा गया। आसाम, उडीसा और मध्यप्रदेश के विधान-मडलो मे सिर्फ एक ही सदन रखा गया।

जब सन् १९५६ ई० में राज्यों का पुनरसघटन किया गया, तब इस स्थिति मे भी, परिवर्त्तन हुआ और विहार, वम्वई, मद्रास, पजाव, उत्तर-प्रदेश, मसूर, मध्यप्रदेश, पश्चिम-वंगाल और आन्ध्र-प्रदेश मे दो सदन हुए ओर आसाम, उडीसा, केरल एव राजस्थान में सिर्फ एक सदन। जम्मू-कश्मीर-राज्य के सविधान में भी दो सदनों की व्यवस्था की गई है। १ मई, १९६० ई० को वम्वई राज्य के दो भागों में बँटने के फलस्वरूप जो गुजरात और महाराष्ट्र नामक दो नये राज्य वने, उन दोनों में भी दो सदन हैं। नागालैंड राज्य मे भी एक ही सदन है।

कहा जा चुका है कि इस विषय पर सविधान-निर्माता कोई अपरिवर्त्तनशील नीति राज्यों पर थोपना नहीं चाहते थे, अतएव इस सम्बन्ध मे सविधानिक सशोधनों के लिए सामान्य विधि-प्रक्रिया को ही अपनाया गया है। संविधान की १६९ वीं धारा के अनुसार यदि किसी भी राज्य की विधान-सभा अपने कुल सदस्यों के वहुमत से और उपस्थित तथा वोट देनेवाले सदस्यों के दो-तिहाई वहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा ससद् से अपने राज्य के विधान मडल में विधान-परिषद् की स्थापना (यदि तवतक एक ही सदन रहा हो) या उत्सादन (Abolition (यदि पहले ही से विधान-परिषद् स्थापित रही हो) की माँग करे, तो ससद् कानून द्वारा उस राज्य की विधान-सभा की माँगों की पूर्त्ति करेगी।

संविधान की धारा १६८ के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक विधान मडल होगा, जो उस राज्य के राज्यपाल तथा राज्य के विधान-मडल के सदन (जहाँ सिर्फ विधान-सभा ही होगी या सदनों (जहाँ विधान-सभा और विधान-परिषद् दोनों होंगी) से मिलकर वनेगा। इस प्रकार, राज्यपाल को भी राज्य-विधान मडल का अन्यतम अग वनाया गया है। राज्यपाल के व्यवस्थापिका सम्वन्धी अधिकारों की चर्चा की जा चुकी है। अत:, अव हम राज्य विधानमडलो के दोनों सदनो की वनावट, शक्तियों और कृत्यों का अध्ययन करेंगे। पहले हम राज्य-विधानमडलों के उच्च सदनो यानी विधान-मण्डलों के उच्च सदनो यानी विधान-परिषदों का अध्ययन करेंगे।

विधान-परिषद् (Legislative Council)

राज्य-विधानमंडल के उच्च या द्वितीय (Upper or Second) सदन को विधान परिषद् कहा जाता है। भारत-संघ के अन्तर्गत सभी राज्यों में विधान-परिषदें नहीं हैं। विधान परिषदें सदैव ही विवाद की वस्तु रही हैं। भारतीय शासन और राजनीति के इतिहास में ब्रिटिश प्रान्तों[1] में द्विसदनात्मक विधान-मंडल का प्रारंभ सन् १९३५ के भारत-सरकार अधिनियम के लागू होने के बाद हुआ और वह भी कुछ ही प्रान्तों में, सबमें नहीं। इस अधिनियम के लागू होने के पहले ब्रिटिश-प्रान्तों में एकसदनात्मक विधान-मंडल ही होते थे।

विधान-परिषद् की बनावट—संविधान (सप्तमसंशोधन) कानून, १९५६ के अनुसार विधान परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या उस राज्य की विधान-सभा (निचला सदन) के सदस्यों की कुल संख्या के तीसरे भाग से अधिक और किसी भी हालत में ४० (चालीस) से कम नहीं हो सकती। इसके पहले, संविधान की मूल धारा १९१ के अनुसार, किसी राज्य की विधान-परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या, सम्बन्धित राज्य की विधान-सभा के चौथे भाग १/४ से अधिक नहीं हो सकती थी, लेकिन किसी अवस्था में परिषद् की समस्त सदस्य-संख्या ४० से कम भी नहीं होती।

किसी राज्य की विधान-परिषद् की बनावट, जबतक संसद् कानून द्वारा कोई अन्य प्रबन्ध न करे, निम्नलिखित प्रकार से होगी—

(१) जहाँ तक सम्भव हो, कुल सदस्य-संख्या का करीब तीसरा भाग, उस राज्य की नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों या अन्य ऐसी स्थानीय संस्थाओं के, जैसा संसद् कानून द्वारा निश्चित करे, सदस्यों से मिलकर बने निर्वाचक मण्डलों द्वारा चुना जायगा।

(२) जहाँ तक सम्भव हो, कुल सदस्य-संख्या का करीब बारहवाँ भाग, उस राज्य में निवास करनेवाले ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए निर्वाचक-मण्डलों द्वारा निर्वाचित होगा, जो भारत के किसी विश्वविद्यालय के कम-से-कम तीन वर्ष पुराने स्नातक (Graduate) हों या संसद् द्वारा निर्धारित योग्यता की पूर्ति करते हों।

(३) जहाँ तक सम्भव हो, कुल सदस्य-संख्या का करीब बारहवाँ भाग, ऐसे निर्वाचक-मण्डलों द्वारा चुना जायगा, जो उस राज्य में माध्यमिक शिक्षालयों या इससे उच्च शिक्षालयों में तीन वर्ष से अधिक समय से अध्यापन-कार्य कर रहे हों।

(४) जहाँ तक सम्भव हो, कुल सदस्य-संख्या का करीब तीसरा भाग, राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा, जो विधान-सभा के सदस्य नहीं हैं।

---

१ अँगरेजी राज्य के दिनों में ब्रिटिश भारत के गवर्नर-केप्रान्त, जिन्हें नये संविधान के लागू होने पर 'क' वर्ग (Part A) के राज्यों की संज्ञा दी गई।

(५) शेष सदस्य (अर्थात् परिषद् की कुल सदस्य संख्या का छठा भाग) राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों को ही मनोनीत करेगा, जो साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन या सामाजिक सेवा के विषयों का विशेष ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव रखते हों।

पहले तीन प्रकार के निर्वाचनों के लिए (नगरपालिकाओं आदि स्थानीय संस्थाओं, स्नातकों और शिक्षकों द्वारा चुने जानेवाले विधान परिषद् के सदस्यों के चुनाव के लिए) प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों (Territorial Constituencies) का निर्माण भारतीय संसद् द्वारा बनाये गये कानून के अधीन किया जायगा। चौथे प्रकार का निर्वाचन (विधान-सभा के सदस्यों द्वारा परिषद् के सदस्यों का चुनाव) अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति के आधार पर एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा।

सन् १९५६ ई० के राज्य-पुनस्संगठन के बाद भारत संघ के अन्तर्गत राज्यों में से जिन राज्यों के विधान मंडल में दो सदनों की व्यवस्था की गई थी, उनकी विधान परिषदों की सदस्य संख्या निम्नोक्त थी[1] —

बिहार	७२	मैसूर	५२
बम्बई	७२	पंजाब	४०
मध्य-प्रदेश	७२	उत्तर-प्रदेश	७२
मद्रास	४८	पश्चिम-बंगाल	५१

सन १९५७ ई० में भारतीय संसद् ने कानून द्वारा इन राज्यों की विधान-परिषदों की सदस्य-संख्या में कुछ वृद्धि कर दी। इसके अनुसार वर्तमान समय[2] में विविध राज्यों की विधान परिषदों की सदस्य-संख्या निम्नलिखित है—

बिहार	९६	आन्ध्र-प्रदेश	९०
बम्बई	१०८	पंजाब	५१
मध्यप्रदेश	९०	उत्तर-प्रदेश	१०८
मद्रास	६३	पश्चिम-बंगाल	७५
मैसूर	६३	जम्मू-कश्मीर	३६

१. राज्य पुनस्संघटन के पूर्व मैसूर तथा मध्यप्रदेश के विधान-मंडल एक-सदनात्मक ही थे।

२. आन्ध्र-प्रदेश और जम्मू कश्मीर में सन् १९५७ ई० के कानून द्वारा विधान-परिषदों की स्थापना की गई।

१ मई, १९६० को बम्बई राज्य गुजरात और महाराष्ट्र नामक दो नये राज्यों में बँट गया। गुजरात की विधान-परिषद् की सख्या ३६ हुई और महाराष्ट्र विधान-परिषद् की ७२।

जम्मू और कश्मीर-राज्य की विधान परिषद् की सदस्य-संख्या ३६ में से २१ का चुनाव विधान-सभा द्वारा होगा, ६ का स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं द्वारा, ३ का शिक्षक-वर्ग द्वारा और ६ राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे।

विभिन्न राज्य-परिषदों की बनावट को देखने से पता चलता है कि इस सम्बन्ध में निर्धारित प्रक्रिया को ठीक से लागू नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, जम्मू-काश्मीर राज्य में स्नातकों (Graduates) द्वारा चुने जानेवाले सदस्यों का कोई जिक्र ही नहीं है और ३६ सदस्यों में से २२ सिर्फ विधान सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। इसी प्रकार, भूतपूर्व बम्बई-परिषद् की कुल सदस्य संख्या १०८ मे ४२ सदस्य विधान-सभा द्वारा निर्वाचित किये जाते थे।

बिहार-विधान-परिषद्

(The Legislative Council of Bihar)

बिहार राज्य में संविधान लागू होने के समय से ही विधान-परिषद् मौजूद रही है। शुरू में इसकी संख्या ७२ थी, लेकिन भारतीय ससद् के १९५७ ई० के कानून द्वारा इसकी संख्या ७२ से बढाकर ९६ कर दी गई है। आजकल इसकी सख्या ९६ ही है।

अब हमें देखना है कि बिहार विधान-परिषद् की रचना कैसे की गई है—

कुल सदस्य-सख्या	विधान सभा द्वारा निर्वाचित	स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित	स्नातको द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	राज्यपाल द्वारा निर्वाचित
९६	३४	३४	८	८	१२

विधान-परिषद् की बनावट की प्रक्रिया के अनुसार विधान सभा और स्थानीय संस्थाओ द्वारा निर्वाचित सदस्यो की संख्या ३२-३२ होनी चाहिए थी और राज्यपाल द्वारा मनोनीत सदस्यों की सख्या १६।

विधान-परिषद् की अवधि—विधान-परिषद् एक स्थायी संस्था है। अत, विधान-सभा की भाँति इसकी कोई अवधि निश्चित नही है। विधान-परिषद् का विघटन कभी नहीं होगा। लेकिन प्रत्येक दो वर्ष के बाद इसके एक तिहाई सदस्य अपना स्थान रिक्त करेंगे और उन रिक्त स्थानों की पूर्ति नये सदस्यों द्वारा होगी। पहली बार जो विधान परिषद् बनी थी उसमें कौन-से सदस्य दो वर्ष

बाद और कौन-से सदस्य चार वर्ष बाद हटाये जायेंगे, इसका निर्णय लॉटरी (Lottery) द्वारा किया गया था। इसके बादवाले प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल ६ वर्ष का होगा।

सदस्यता के लिए योग्यताएँ—विधान-परिषद् का सदस्य होने के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक हैं—

(१) वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो।

(२) उसकी आयु ३० वर्ष या उससे अधिक हो।

(३) ऐसी अन्य योग्यताएँ, जो संसद् के किसी कानून द्वारा निर्धारित की जायँ।

इस प्रकार के एक संसदीय कानून लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम (Peoples Representation Act), १९५१ के अनुसार विधान-परिषद् का निर्वाचित सदस्य होने के लिए यह आवश्यक होगा कि वह उस राज्य की विधान-सभा के किसी क्षेत्र का मतदाता हो। मनोनीत सदस्य होने के लिए उस व्यक्ति को साधारणतः उस राज्य का निवासी होना चाहिए। ऐसे सदस्यों के लिए विधान-सभा के किसी निर्वाचन क्षेत्र का मतदाता होना आवश्यक नहीं है। विधान-परिषद् की सदस्यता के लिए उपर्युक्त योग्यताओं के अलावा निम्नलिखित अयोग्यताएँ नहीं होनी चाहिए —

(१) संघ-सरकार या राज्य-सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण किये हों। मंत्रियों का पद ऐसा नहीं माना जाता है।

(२) पागल हो।

(३) अनुन्मुक्त दिवालिया हो या राज्य द्वारा दण्डित हो।

(४) भारत का नागरिक न हो अथवा किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से प्राप्त कर चुका हो।

निर्वाचन-सम्बन्धी अयोग्यता का निर्णय राज्यपाल निर्वाचन-आयोग की राय से करेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा।

सदस्यों के स्थानों की रिक्तता—कोई भी व्यक्ति एक ही समय (१) किसी राज्य के विधान-मण्डल के दोनों सदनों का (२) किन्हीं दो राज्यों के विधान-मण्डलों का और (३) एक ही साथ संघीय संसद् तथा राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य नहीं हो सकता है।

यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त तीन दशाओं में से किसी एक भी दशा में आ पड़े, तो उसे राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार एक निश्चित समय के भीतर किसी एक स्थान (Seat) को छोड़कर अन्य सभी स्थानों को खाली करना पड़ेगा। इस निश्चित

अवधि के भीतर यदि वह व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा, तो सभी सदनों की उसकी सदस्यता समाप्त हो जायगी और उसके सभी स्थान रिक्त हो जायेंगे।

अगर कोई सदस्य अपने सदन की आज्ञा के बिना उसके अधिवेशनों से लगातार ६० दिनों[1] तक अनुपस्थित रहे, तो उसका स्थान भी रिक्त घोषित कर दिया जायगा। मृत्यु या त्याग पत्र द्वारा भी किसी सदस्य का स्थान रिक्त हो सकेगा।

परिषद् की कार्य-विधि—प्रतिवर्ष कम-से-कम दो अधिवेशन होंगे। परिषद् के पहले सत्र (Session) की अन्तिम बैठक और दूसरे सत्र की पहली बैठक के बीच छह महीने का अन्तर नहीं होगा। विधान-परिषद् की बैठकों के लिए सदन की कुल सदस्य-संख्या का दसवाँ हिस्सा या १० सदस्य, इन दोनों में जो संख्या अधिक हो, की उपस्थिति (Quorum) आवश्यक है।

परिषद् के पदाधिकारी—विधान-परिषद् के दो पदाधिकारी होंगे - (१ सभापति (Chairman) और (२) उप-सभापति (Deputy Chairma·)। इन दोनों पदाधिकारियों का निर्वाचन परिषद् अपनी बहुमत संख्या द्वारा अपने सदस्यों में से ही करेगी। इन दोनों पदाधिकारियों को विधान-मण्डल द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ते मिलेंगे।

इन दोनों पदाधिकारियों के कार्य, उनकी पदावधि तथा अपदस्थता आदि के सम्बन्ध में वही व्यवस्थाएँ हैं, जो संघीय राज्य-सभा के पदाधिकारियों के सम्बन्ध में हैं। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि राज्य-सभा का सभापति भारत का उपराष्ट्रपति अपने पदेन (Ex-officio) अधिकार से होता है और राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में जब स्थानापन्न राष्ट्रपति का कार्य करता है, तब राज्य-सभा का सभापतित्व नहीं करता। राज्य-विधान-परिषद में वैसा नहीं होता है, क्योंकि राज्य-शासन में उपराष्ट्रपति की भाँति उप-राज्यपाल का प्रावधान नहीं किया गया है।

विधान-परिषद् के अधिकार और कार्य[2]—अधिकारों और कार्यों की दृष्टि से विधान-परिषद् संघीय राज्य-सभा से भी अधिक निर्बल और शक्तिहीन है।

जहाँ तक कार्यपालिका या प्रशासन-सम्बन्धी और वित्त-सम्बन्धी अधिकारों एवं कार्यों का प्रश्न है, राज्य सभा और राज्य-विधानपरिषद् दोनों की स्थिति एक समान ही है।

---

१ ६० दिनों की इस कालावधि की गणना में सदन की सभावसित या ४ दिनों से अधिक के लिए स्थगित की गई अवधि नहीं सम्मिलित की जायगी।

२ पाठक इस सम्बन्ध में संघ-व्यवस्थापिका के अन्तर्गत राज्य-सभा के अधिकारों एवं कार्यों के वर्णन को अवश्य पढ़ें।—लेखक

कानून-निर्माण सम्बन्धी अधिकारों और कार्यों मे जहाँ तक धन विधेयकों का प्रश्न है, वहाँ भी दोनों (राज्य-सभा और विधान-परिषद्) की स्थिति समान ही है।

साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में भी राज्य-विधान-परिषद् की स्थिति दयनीय ही है और राज्य सभा की अपेक्षा और भी अधिक गई-गुजरी हुई है।

विधान सभा द्वारा पारित किसी साधारण विधेयक को विधान परिषद् तीन महीने से अधिक समय के लिए नहीं रोक सकती है। साथ-ही-साथ विधान-परिषद् द्वारा दिये गये सुझावों या किये गये सशोधनों को मानना या न मानना भी विधान-सभा की इच्छा पर ही निर्भर करता है। विधान परिषद् द्वारा, सिफारिशों के साथ, एक बार लौटाये गये साधारण विधेयक जब दूसरी बार विधान-सभा द्वारा पारित होकर विधान परिषद् के पास फिर पहुँचते हैं, तब इस बार विधान-परिषद् उन्हे विधान-सभा के पास लौटा नहीं सकती है। इस बार विधान-परिषद् अधिक-से-अधिक एक महीना विलम्ब कर सकती है। इस बार विधान-परिषद् जो करे, उस विधेयक को अस्वीकार कर दे, या वैसे सशोधनों के साथ पारित करे, जो विधान सभा को मान्य नहीं हों या १ महीने तक कुछ करे ही नहीं, इनका कुछ भी प्रभाव नहीं होगा और वह विधेयक उसी रूप मे दोनों सदनों द्वारा पारित माना जायगा, जैसा कि विधान-सभा द्वारा दूसरी बार पारित हुआ था।

इस प्रकार, साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में भी विधान परिषद् प्राय सर्वथा नि शक्त ही है। यह इन विधेयकों को एक बार विधान-सभा के पास लौटा सकती है और कुल मिलाकर अधिक-से अधिक ४ महीने (३ महीना पहली बार और १ महीना दूसरी बार) की देरी कर सकती है, अन्यथा कुछ नहीं।

राज्य-विधान परिषद् के अधिकारों और कार्यों के पूर्ण ज्ञान के लिए राज्य सभा के अधिकारों और कार्यों का अध्ययन करते समय पाठक इसे नहीं भूलेंगे कि राज्य सभा को सविधान मे संशोधन, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की अपदस्थता, सकटकालीन उद्घोषणा, राज्य-सूची के विषयों का समवर्ती सूची में हस्तान्तरण इत्यादि सम्बन्धी जो व्यायिक और अन्य अधिकार हैं, वे सब विधान-परिषद् को नहीं हैं।

विधान-परिषद् की स्थिति और उसकी उपयोगिता—विधान-परिषद् के कार्यो एवं अधिकारो के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्टत विदित है कि विधान-परिषद् को कोई भी प्रभावी या मूल अधिकार प्राप्त नहीं है। विधान-परिषद् राज्य-व्यवस्थापिका का सर्वथा शक्तिविहीन तथा निर्बल सदन है। विधान-सभा के सामने विधान-परिषद् की कोई हस्ती ही नहीं है। विधान-परिषद् विधान-सभा पर किसी प्रकार

की रोक (Check) या नियंत्रण (Control) लगा सकने में पूर्णतः निःशक्त है। विधान-सभा को कभी इस बात की चिन्ता नहीं रहती है कि उसकी राह में विधान परिषद् किसी प्रकार की अड़चन पैदा कर सकेगी।

संघीय व्यवस्थापिका में लोक-सभा और राज्य-सभा के बीच, किसी साधारण विधेयक को लेकर उत्पन्न गतिरोध को दूर करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा इन दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाये जाने का प्रावधान है। राज्य-व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में ऐसा प्रावधान भी नहीं है। अतः, विधान परिषद् एक बिलकुल ही गौण सभा होती है। इसका मुख्य और केवल एक कार्य विधान सभा द्वारा पास किये गये विधेयकों का परिमार्जन करना है। विधान परिषद् द्वारा दिये गये सुझावों या प्रस्तावित संशोधनों का महत्त्व तभी होता है, जबकि विधान-सभा ने सचमुच ही कोई भूल-चूक की हो या विधान-सभा में किसी विधेयक के पास होते समय वैसा प्रश्न ही नहीं उठा हो। विधान सभा को विधान परिषद् के प्रति तो इस हद की प्राथमिकता (Preference) और प्रधानता दी गई है कि वह विधान परिषद् के उत्सादन (Abolition) के लिए संसद् से अनुरोध कर सकती है।

विधान-परिषदें क्यों न उठा दी जायँ ?— प्रश्न उठता है कि जब विधान-परिषद् को कोई प्रभावी या व्यावहारिक शक्ति है ही नहीं, तो फिर ऐसे सदन को रखने से लाभ ही क्या ? जबकि विधान परिषद् की स्वीकृति या अस्वीकृति का कोई भी प्रभाव कानून-निर्माण पर पड़ता ही नहीं है, तो ऐसे सदन पर व्यर्थ का धन और समय क्यों व्यय किया जा रहा है ? अर्थात् विधान-परिषदों को उठा क्यों नहीं दिया जाय ?

उठा देने के पक्ष में विधान-परिषद् के विपक्षियों का कहना है कि संघीय स्तर पर भारत-संघ की इकाइयों के प्रतिनिधित्व के नाम पर राज्य-सभा का समर्थन तो किया भी जा सकता है, लेकिन राज्यों के विधान-मंडलों में दो सदनों की क्या आवश्यकता है ? विधान-परिषद् में राज्य के विभिन्न भागों या क्षेत्रों (Territories) का प्रतिनिधित्व तो होता नहीं है। इनका कहना है कि जहाँ तक अन्य संघात्मक देशों के अन्तर्गत राज्यों में भी द्विसदनात्मक विधान-मंडल पाये जाने की बात है, वह उदाहरण भी भारत के लिए मौजूद नहीं है, क्योंकि भारत-संघ बहुत ही शक्तिशाली केन्द्रवाला संघ है, जिसके अन्तर्गत राज्यों के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) में सिर्फ गौण विषय ही दिये गये हैं।

विधान परिषद् को उठा देने के पक्ष में सबसे महत्त्वपूर्ण और सैद्धान्तिक तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि यह अप्रजातांत्रिक, प्रतिक्रियावादी और रूढ़िवादी संस्था होती है। अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित तथा मनोनीत सदस्यों के सम्मिलन

से संगठित होने के कारण यह जनतान्त्रिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल तो है ही, साथ-ही-साथ इसके कारण विशेष लोगों को असमान प्रतिनिधित्व (Inequal Representation) मिल जाता है। कोई ही व्यक्ति स्थानीय संस्था के सदस्य के रूप में, स्नातक होने के कारण, शिक्षक होने पर और विधान-सभा की सदस्यता के आधार पर, बार बार वोट दे सकता है। इस प्रकार का असमान प्रतिनिधित्व सर्वथा अनुचित तथा अवाञ्छनीय है।

आलोचकों का कहना है कि विधान-परिषद् अलोकप्रिय, रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी व्यक्तियों का विश्रामागार है। इसकी सदस्यता, सत्तारूढ़ दल के लिए एक माध्यम का कार्य करती है, जिसके द्वारा अकर्मण्य तथा अप्रिय राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं तथा पदलोलुप और धनप्रेमी प्रभावशाली व्यक्तियों को सरकारी समर्थक बनाया जा सकता है। विधान-परिषद् एक पिछले दरवाजे (Back Door) के समान है, जिससे होकर जनता द्वारा उपेक्षित, निरस्कृत और अस्वीकृत व्यक्ति भी विधान-मंडल में ही नहीं, वरन् मन्त्रिपरिषद् में भी प्रवेश कर सकता है और सिर्फ एक साधारण मन्त्री ही नहीं, वरन् मुख्यमन्त्री भी बन जा सकता है।

इस मत के समर्थन में यह भी कहा जाता है कि विधेयकों के संशोधन और परिमार्जन में भी विधान-परिषद् की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है। विधान-सभा में तो प्रत्येक विधेयक पर तीन-तीन बार विचार और वाद-विवाद होता ही है, पूरी मन्त्रिपरिषद् प्रत्येक विधेयक पर सभी दृष्टिकोणों से विचार करती ही है। राज्यपाल, अपनी सम्मति देने के पूर्व, विधेयकों की जाँच करवा ही लेते हैं। इतनी प्रक्रियाओं के बाद भी अगर किसी विधेयक के सम्बन्ध में कोई सन्देह यदि रह जाता है, तो राज्यपाल उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित कर ही सकता है।

इस प्रकार विधान-परिषद् का रहना कोई आवश्यक नहीं है। इसके बिना भी कानून-निर्माण के कार्य में कोई विशेष अन्तर नहीं आयगा। उल्टे, विधान-परिषद् की उपस्थिति कानून-निर्माण के कार्य को अनावश्यक ही दुगुना अधिक विस्तार करती है। विधान-परिषद् में दिये गये भाषणों में भी जनता कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेती है; क्योंकि वे भाषण विधान-सभा में गाये हुए गीतों को बेसुरे और ऊबानेवाले (Boaring) राग में दुहराने के अलावा और कुछ नहीं होते हैं।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह दावा किया जाता है कि विधान-परिषद् वर्त्तमान समय में संवैधानिकता के क्षेत्र में प्रचलित द्विसदनात्मक विधानमंडल के फैशन की पूर्तिमात्र है। यह एक व्यर्थ की सजावट संस्था है, जो राज्य की निधी पर एक भार-स्वरूप है।

इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि पचवर्षीय योजनाओं को सफलीभूत बनाने के लिए देश को धन की आवश्यकता है और भारत बेशुमार विदेशी कर्ज (Foreign Loan) लेता जा रहा है। ऐसी दशा में विधान-परिषद् जैसी अनावश्यक और अनुपयोगी संस्था पर अपव्यय करना कहाँ की बुद्धिमानी है?

विधान-परिषद् को रखने के पक्ष मे—एक ओर यदि विधान-परिषदों को उठा देने के पक्ष में उपर्युक्त जोरदार तर्क उपस्थित किये गये हैं, तो दूसरी ओर बहुत-से लेखकों और आलोचकों द्वारा इसको कायम रखने के पक्ष में भी तर्क उपस्थित किये गये हैं।

विधान-मडलों में ऊपरी सदन को भी रखने की उपयोगिता के सम्बन्ध में जो सामान्य तर्क उपस्थित किये जाते हैं, उनकी चर्चा पहले की जा चुकी है।[1] उच्च सदन के औचित्य के समर्थन मे कहा जाता है कि यह निम्न सदन द्वारा जल्दीबाजी में और सकीर्ण दलगत दृष्टिकोण से बनाये गये विधेयकों को कानून का रूप धारण कर सकने में देरी और बाधा उपस्थित कर सकता है। इस सदन के प्रावधान से कानून-निर्माण-कार्य में वृद्ध, अनुभवी तथा विशेषज्ञों की सेवा उपलब्ध होती है।

इन सामान्य तर्कों के अतिरिक्त भारत-सघ के अन्तर्गत राज्यों की विधान-परिषदों के पक्ष में सबसे बडी दलील यह दी जाती है कि इसके माध्यम से कानून-निर्माण-कार्य में शिक्षक, स्नातक, स्थानीय सस्थाएँ आदि महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली पेशों और वर्गों के प्रतिनिधियों का सहयोग प्राप्त होता है।

अर्थात् विधान-परिषद्, व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) के आधार पर सगठित होने के कारण एक महत्त्वपूर्ण पूरक (Supplement) का कार्य करती है और विधान-मडल के उन दोषों को दूर करती है, जो 'प्रादेशिक प्रतिनिधित्व' (Territorial Representation) के आधार पर निर्वाचित विधान-सभा के ही रहने से होते हैं।

इसी प्रकार, यह भी कहा जाता है कि एक स्थायी सदन होने के कारण, राज्यपाल के अध्यादेश जारी कर सकने के अधिकार के दुरुपयोग पर, विधान-परिषद् एक प्रभावी नियन्त्रक के रूप मे कार्य कर सकती है।

निष्कर्ष—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह सदन सिर्फ एक सम्मति प्रदान करनेवाली (Ratifying) और परामर्शदात्री (Advisory) सस्था है। आवश्यक या अनावश्यक, उपयोगी या अनुपयोगी, सभी सस्थाओं में एक-आध गुण तो होते ही है, इसलिए विधान-परिषद् के भी एक-आध गुणों और लाभो

१. देखिए, 'राज्यसभा की उपयोगिता', अध्याय १२।

के आधार पर इसकी स्थापना और स्थायित्व के औचित्य का समर्थन नहीं किया जा सकता, तभी तो संविधान-निर्माताओं को भी इसकी उपयोगिता पर सन्देह था। इस लेखक की सम्मति में यदि विधान-परिषद् को उठा दिया जाय तो, कोई संवैधानिक क्षति नहीं होगी।

लेकिन साथ ही इस लेखक का यह भी दृढ़ विश्वास है, कि हमारे देश का जो वर्तमान राजनीतिक वातावरण है, उसको मद्देनजर रखते हुए, निकट भविष्य में विधान-परिषदों के उत्सादन (Abolition) की सम्भावना नहीं के बराबर है। इसका कारण यह है कि विधान-परिषदों की संवैधानिक उपयोगिता या गुणकारिता हो या न हो, इसकी राजनीतिक आवश्यकता और उपयोगिता अवश्य है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से हमारे देश में प्रभुता-प्राप्ति और पद-लोलुपता की नशीली तथा विपली भावना से उत्पन्न घोर असन्तोष को, विधान-परिषदों की स्थापना और स्थायित्व से कुछ अंशों में अवश्य दूर किया जा सका है। यही कारण है कि विधान-परिषदों की संख्या घटने के बजाय बढ़ती जा रही है।

(२) विधान-सभा

(Legislative Assembly)

भारत संघ के अन्तर्गत राज्यों के शासन में निर्णयात्मक शक्ति का स्थान ग्रहण करनेवाली विधान-सभा राज्य-विधानमंडल की प्रमुख या प्रथम सभा होती है। जिन राज्य-विधानमंडलों में दो सदन (उच्च तथा निम्न) होते हैं, उनमें विधान-सभा प्रथम या निम्न (First or Lower) सदन का स्थान ग्रहण करती है। एक सदनवाले राज्य-विधानमंडलों में तो विधान-सभा ही सब कुछ होती है और विधान-सभा से ही विधान-मंडल का तात्पर्य निकाला जाता है।

राज्य-शासन में विधान-सभा का इतना महत्त्वपूर्ण और प्रभावी स्थान इसलिए होता है कि यह सभा सम्बद्ध राज्य की जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों के सम्मिलन से गठित होती है। सभी राज्यों के व्यवस्थापन-विभाग में विधान परिषदों (उच्च सदन) का होना आवश्यक नहीं है, लेकिन विधान-सभाओं का होना अनिवार्य ही नहीं, वरन् अवश्यम्भावी है।

संघ-शासन में राज्य-सभा की जो स्थिति है, वही स्थिति राज्य-शासन में विधान-परिषद् की हो या नहीं हो, लेकिन संघ-शासन में जो स्थिति लोक सभा की है, वही स्थिति राज्य-शासन में विधान-सभा की निस्सन्देह रूप में है। लोक-सभा

की ही भाँति विधान-सभाओं को भी राज्यों के शासन और राजनीति का मुख्य और प्रभावी केन्द्र कहा जाना चाहिए।

गठन— विधान-सभा राज्य की जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करती है। इसके सदस्य वयस्क-मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होते हैं। इसका एकमात्र अपवाद यह है कि यदि राज्यपाल के विचार मे आम चुनाव में एंग्लो-इण्डियन समुदाय का विधान-सभा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ हो, तो राज्यपाल उस समुदाय के एक या अधिक व्यक्ति को उस राज्य की विधान-सभा का सदस्य मनोनीत कर सकेगा।

विधान-सभा के सदस्यों की संख्या प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न होती है, क्योंकि किस राज्य की विधान-सभा में कितने सदस्य होंगे, इसका निश्चय उस राज्य की जन-सख्या के आधार पर होगा। फिर भी, सविधान के अनुसार प्रत्येक राज्य की विधान-सभा की सख्या कम-से-कम ६० और अधिक-से-अधिक ५०० होगी और उनके चुनाव के लिए प्रत्येक राज्य मे बहुत-से प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण किया जायगा।

सविधान की मूल धारा १७० (२) के अनुसार इन प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए था कि प्रत्येक ७५००० व्यक्तियों पर एक-एक सदस्य चुना जाता। लेकिन सविधान (सप्तम) सशोधन-अधिनियम के अनुसार इस निश्चित जन-सख्या को उठा लिया गया है और इतना ही कहा गया है कि जहां तक सम्भव हो, सम्पूर्ण राज्य में निर्वाचन-क्षेत्र की जन-सख्या और प्रतिनिधित्व का अनुपात समान ही हो। इसके अतिरिक्त और सब व्यवस्थाएँ[1] वही हैं, जो लोक-सभा के सदस्यों के निर्वाचन के निमित्त बनाये जानेवाले निर्वाचन-क्षेत्रों के सम्बन्ध में हैं।

जिस प्रकार, लोक-सभा के सदस्यों के चुनाव के लिए कुछ पिछडी और अछूत समझी जानेवाली जातियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जाने की व्यवस्था[2] की गई है, उसी प्रकार का प्रावधान विधान-सभा के लिए भी किया गया है। सविधान की धारा ३३२ के अनुसार प्रत्येक राज्य की विधान-सभा में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित आदिम जातियों (आसाम के आदिवासी-क्षेत्रों को छोड़कर) के लिए उनकी जनसख्या के अनुपात मे स्थान सुरक्षित रखे जायेंगे। प्रारंभ में इस तरह की व्यवस्था २५ जनवरी १९६० ई० तक के लिए ही की गई थी, लेकिन दिसम्बर १९६० में हुए सविधान के अष्टम संशोधन के अनुसार इस अवधि को २५ जनवरी, १९७० ई० तक के लिए बढा दिया गया है।

---

१ और २ देखिए, अध्याय १३।

जिस प्रकार लोक-सभा के सुरक्षित स्थानों के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों की अपेक्षा संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था की गई है[1], उसी प्रकार का प्रावधान विधान-सभा के सुरक्षित स्थानों के लिए भी किया गया है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों को उठा दिये जाने का निर्णय देश की सत्तारूढ़ पार्टी द्वारा कर लिया गया है। लगभग निश्चित है कि अगले चुनावों में एक सदस्यात्मक निर्वाचन-क्षेत्र Single-Member Constituency) ही रहेंगे।

राज्यों की विधान-सभाओं के गठन के सम्बन्ध में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि राज्यपाल द्वारा एंग्लो-इण्डियन समुदाय के कितने व्यक्ति विधान-सभा के सदस्य मनोनीत किये जायेंगे, इसकी संख्या संविधान द्वारा निश्चित नहीं की गई है। लोक-सभा के सम्बन्ध में भी ऐसा प्रावधान है, लेकिन वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि राष्ट्रपति ऐसे सिर्फ दो सदस्यों को ही मनोनीत कर सकेगा। कुछ आलोचकों का कहना है कि राज्य-मन्त्रिपरिषद् द्वारा इस अधिकार का दुरुपयोग भी किया जा सकता है। कहा जाता है कि सत्तारूढ़ पार्टी की मन्त्रिपरिषद् राज्यपाल द्वारा कुछ अधिक संख्या में ऐसे सदस्यों को मनोनीत कराकर अपना बहुमत सुरक्षित कर सकती है।

उपर्युक्त आशंका सिर्फ सैद्धान्तिक है। राज्यपाल कभी ऐसा नहीं करेगा कि उस राज्य में बसनेवाली एंग्लो-इण्डियन जाति की जनसंख्या को बिना ध्यान में रखे उस जाति के अधिक लोगों को विधान-सभा का सदस्य मनोनीत कर दे। इस लेखक की राय में ऐसे सदस्यों की संख्या इसलिए निर्दिष्ट नहीं की गई है कि राज्यपाल परिस्थितिवश उचित ढंग से कार्य कर सके।

वयस्क-मताधिकार—वयस्क-मताधिकार का अर्थ यह है कि वही स्त्री-पुरुष विधान-सभा के सदस्यों के निर्वाचन में वोट दे पायेंगे, जो भारत के नागरिक हों, २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुके हों और निवास-स्थान, पागलपन, अपराध या भ्रष्टाचार या गैर-कानूनी कार्यों के आधार पर अयोग्य नहीं ठहराये गये हों।

विधान-सभा की सदस्यता के लिए योग्यताएँ और अयोग्यताएँ—विधान-सभा की सदस्यता के लिए वही योग्यताएँ और अयोग्यताएँ हैं, जो कि विधान-परिषद् की सदस्यता के लिए। सिर्फ एक अन्तर है कि विधान-परिषद् का सदस्य होने के लिए कम-से-कम ३० वर्ष की उम्र चाहिए, लेकिन विधान-सभा की सदस्यता के लिए सिर्फ २५ वर्ष की उम्र पूरी होनी चाहिए।

---

१. देखिए, अध्याय १३।

आजकल विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं की सदस्य-संख्या निम्नलिखित रूप में है—

क्रम-संख्या	राज्य	सदस्यों की संख्या	अछूत जाति के लिए सुरक्षित स्थान	कबायली जाति के लिए सुरक्षित स्थान
१	आन्ध्र-प्रदेश	३६१	४३	११
२.	आसाम	१०८	५	२६
३.	बिहार	३१८	४०	३२
४.	गुजरात	१३२	१४	१०
५	केरल	१२६	११	१
६.	मध्यप्रदेश	२८८	४३	५०
७.	मद्रास	२०५	३७	१
८	मसूर	२०८	२८	१
९.	महाराष्ट्र	२६४	२६	२१
१०	उड़ीसा	१४०	२५	२६
११.	राजस्थान	१७६	२८	२०
१२.	पजाब	१५४	३३	
१३	उत्तर-प्रदेश	४३०	८६	.
१४	पश्चिमी बगाल	२५२	४५	१५
१५	जम्मू-कश्मीर	७५		

विधान-सभा की अवधि—चूँकि विधान-सभा के सदस्यों का निर्वाचन पाँच वर्षों के लिए ही होता है, अतएव विधान-सभा की अवधि भी पाँच वर्ष की ही होगी। इस अवधि की गणना प्रथम अधिवेशन की पहली बैठक की निश्चित तिथि से की जाती है। इस अवधि के समाप्त होने पर विधान-सभा आप-से-आप भग हो जाती है।

पाँच वर्ष की अवधि के भीतर भी विधान-सभा राज्यपाल द्वारा भंग की जा सकती है। सकटकालीन अवस्था में विधान-सभा की अवधि को संघ-ससद कानून बनाकर बढा सकती है। परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी ससद् विधान-सभा की अवधि को एक बार में एक वर्ष तक के लिए ही बढा सकती है।

जबतक आपात की उद्घोषणा लागू रहेगी, तबतक एक-एक बार में एक-एक साल करके विधान सभा की अवधि ससदीय कानून द्वारा बढाई जा सकती है। लेकिन आपात-उद्घोषणा के समाप्त होने के बाद ऐसी अवधि ६ महीने से अधिक समय के लिए नहीं बढाई जा सकती।

विधान-सभा के पदाधिकारी—विधान-सभा के दो पदाधिकारी होते हैं, अध्यक्ष (Speaker और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker)। इनका निर्वाचन विधान-सभा द्वारा अपने सदस्यों में से ही किया जाता है। इनके लिए वेतन, भत्ते व अन्य सुविधाओं को विधान-मडल ही निश्चित करता है।

विधान-सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के कार्यों, अधिकारों और उन्हें अपदस्थ करने की प्रक्रिया आदि वही हैं, जो लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के हैं। अत पाठकों से अनुरोध है कि वे लोक-सभा के पदाधिकारी का वर्णन[1] पढ लें।

विधान-सभा के सदस्यों के विशेषाधिकार और विमुक्तियाँ— राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्यों को कुछ विशेषाधिकार (Privileges) और विमुक्तियाँ (Immunities) प्राप्त हैं। संविधान की धाराओं और विधान-मडल के नियमों के अन्दर, सदन के भीतर उन्हें भाषण की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है। सदन में, या सदन की समितियों में दिये गये भाषणों के लिए या विधान-मडलों की ओर से प्रकाशित रिपोर्टों में उनके द्वारा व्यक्त किये गये विचारों आदि के लिए उनपर किसी अदालत में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। जिन दिनों विधान-सभा का अधिवेशन हो रहा हो, उन दिनों में या उनसे ४० दिन पहले और ४० दिन बाद के लिए किसी सदस्य को दीवानी कानून के अधीन, और दिवालियेपन के मामले को छोड़कर, गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।

शपथ—विधान-सभा के प्रत्येक सदस्य के निर्वाचित होने के बाद राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी पदाधिकारी के सामने संविधान के प्रति श्रद्धा, निष्ठा तथा अपने पद की कर्त्तव्यपरायणता की शपथ लेनी पडती है।

सदस्यों के वेतन, भत्ते आदि—विधान-मडल द्वारा निर्धारित किये गये वेतन, भत्ते और अन्य सुविधाएँ भी विधान सभा के सदस्यों को दिये जाते हैं। वर्तमान समय में बिहार के विधान मडल के सदस्यों को २५० रु० मासिक वेतन मिलता है और सदनों की बैठक होने के काल में १५ रु० प्रतिदिन के हिसाब से भत्ता दिया जाता है। जब वे विधान-सभा या उसकी किसी समिति में सम्मिलित होने के लिए आयें या जायें तब उन्हें प्रथम श्रेणी के रेल-भाड़े की डेढ़गुनी राशि दी जाती है, चाहे वे यात्रा किसी भी श्रेणी में क्यों न करें।

विधान-सभा की कार्य-विधि—विधान-सभा की कार्य-विधि भी बिलकुल उसी तरह की है जिस प्रकार की लोक-सभा की कार्य-विधि।

---

१ देखिए, अध्याय १३।

गणपूर्त्ति (Quorum,—विधान-सभा की जिस बैठक में दस सदस्य या समस्त संख्या का दसवाँ भाग, जो भी इनमें से अधिक हो, उपस्थित न हो, बैठक वैध नहीं समझी जायगी। यदि किसी बैठक में यह गणपूर्त्ति नहीं हो, तो बैठक स्थगित या विसर्जित कर दी जा सकती है।

विधान-सभा के अधिकार और कार्य—विधान-सभा के अधिकारों और कार्यों को हम निम्नलिखित तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—

(१) विधायिनी, (२) वित्तीय और (३) कार्यपालिका पर नियंत्रण।

प्रत्येक का वर्णन हम बारी-बारी से करेंगे।

१ विधायिनी (Legislative) —विधान-सभा को राज्य-सूची में वर्णित ६६ विषयों पर कानून बनाने का अधिकार तो है ही, साथ-ही-साथ वह समवर्त्ती सूची में वर्णित ४७ विषयों पर भी कानून बना सकती है। हम जानते हैं कि समवर्त्ती सूची के विषयों पर ससद् को भी कानून बनाने का अधिकार है, अतएव ससद् और विधान-सभा द्वारा बनाये गये दोनों कानून में विरोध होने पर ससद् का ही कानून वैध माना जायगा।

विधान-सभा की विधायिनी शक्तियों के सम्बन्ध में हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि विधान-सभा अकेले ही कानून नहीं बना सकती है। इस काम में विधान-परिषद का भी समवर्त्ती अधिकार है। लेकिन धन-विधेयकों के सम्बन्ध में विधान-परिषद् अधिक-से-अधिक १४ दिनों की देर कर सकती है। इसी प्रकार, साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में भी विधान-सभा की इच्छा ही निर्णायक होगी। विधान-परिषद् अधिक-से-अधिक ४ महीनों की देर कर सकती है। धन-विधेयक १४ दिनों के बाद और साधारण विधेयक ४ महीनों के बाद विधान-परिषद् के नहीं चाहने पर भी विधान-सभा द्वारा पारित रूप में ही दोनों सदनो द्वारा पारित माना जायगा।

इस प्रकार, यथार्थ विधायिनी शक्ति तो विधान-सभा को ही प्राप्त हुई। यह भी कहा जा सकता है कि राज्य-विधानमंडल का एक तीसरा अन्यतम अंग होता है—राज्यपाल। बिना राज्यपाल की अनुमति के विधान-मंडल के एक या दोनों सदनो द्वारा पारित विधेयक कानून नहीं बन सकते।

सिद्धान्तत यह बात ठीक है, लेकिन राज्यपाल भी विधान-सभा के समक्ष निःशक्त ही होता है। पहली बार राज्यपाल अवश्य, विधान-मंडल द्वारा पारित और उसके पास अनुमति के लिए भेजे गये, विधेयकों को स्वीकार नहीं कर अपने सशोधनों या सुझावो के साथ विधान-मडल के पास पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। लेकिन अगर राज्य-विधानमंडल इन विधेयकों को दुबारा संशोधनों-

सहित या बिना संशोधनों के पास कर राज्यपाल के पास भेज दे, तो इस बार राज्यपाल को स्वीकृति देनी ही होगी।

इस तरह से हम पाते हैं कि यद्यपि राज्य-विधानमंडलों के तीन अंग होते हैं, तथापि इन तीनों अंगों में विधान-सभा ही यथार्थ विधायिनी शक्तियों की स्वामिनी होती है।

(२) वित्तीय शक्तियाँ—विधान-सभा को बहुत से वित्तीय अधिकार प्राप्त हैं। धन-विधेयक तो पहले विधान-सभा में ही पेश किये जायेंगे। विधान-परिषद् ऐसे विधेयकों को सिर्फ १४ दिन तक रोक सकती है।

वार्षिक बजट पर विधान-सभा का पूर्ण नियन्त्रण है। बजट भी राज्य के वित्त-मंत्री द्वारा पहले विधान-सभा में ही उपस्थित किया जाता है। राज्य के वित्त पर विधान-सभा का नियंत्रण रहता है क्योंकि राज्य के लोगों पर किसी नये कर का लगाया जाना, पुराने कर का घटाया जाना विधान-सभा की स्वीकृति पर ही निर्भर करता है।

(३) कार्यपालिका पर नियन्त्रण—राज्य-सरकार की वास्तविक कार्यपालिका, अर्थात् मंत्रिपरिषद् पर भी विधान-सभा का ही नियन्त्रण रहता है। संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधान-सभा के ही प्रति उत्तरदायी ठहराई गई है। मन्त्रिपरिषद्, राज्य-विधानमडल के अन्य दो अंग, विधान-परिषद् या राज्यपाल, के प्रति उत्तरदायी नहीं है। अत जहाँ तक राज्य-कार्यपालिका पर राज्य-व्यवस्थापिका के नियन्त्रण का प्रश्न है, विधान-सभा को ही यह शक्ति भी प्राप्त है।

विधान-सभा भी उन्हीं उपायों से मन्त्रिपरिषद् पर नियंत्रण रखती है, जिनके द्वारा लोक-सभा संघ-मन्त्रिपरिषद् पर नियंत्रण रखती है।[1] अत उन उपायों को फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती।

राज्य-व्यवस्थापिका की शक्तियों पर सीमाएँ

(Limitations on the powers of the State Legislature)

संघात्मक शासनों में दो प्रकार की सरकारें होती हैं, एक संघ-सरकार और दूसरी राज्य-सरकार। दोनों सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में प्राय स्वतन्त्र हुआ करती हैं। चूँकि, भारत में भी संघात्मक शासन की ही व्यवस्था की गई है, अतएव राज्य-सूची में वर्णित विषयों पर तो राज्य-विधानमंडलों को असीमित अधिकार होना चाहिए।

१. देखिए, अध्याय ८।

लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। भारत-संघ के अन्तर्गत राज्यों के विधान-मडलों को जो शक्तियाँ दी गई हैं, उनके मामलों मे भी वे संपूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं हैं।

राज्य-विधानमंडल अप्रभु सस्थाएँ हैं; क्योंकि उनको संविधान में संशोधन करने का कोई अधिकार नही है। अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary powers) राज्यों के हाथ में न होकर सघ के हाथ में हैं।

राज्य-विधानमडलों को सघ-सूची के विषयों पर कभी कानून बनाने का अधिकार नहीं है। समवर्ती सूची पर वे कानून बना सकते हैं, लेकिन यदि इनका कानून ससद् के कानून का विरोधी है, तो ससद् का कानून लागू किया जायगा, इनका कानून उस हद तक रद्द समझा जायगा, जहाँ तक वह संसद् के कानून का विरोधी होगा।

सघ-सूची और समवर्ती सूची की बात को अगर हम छोड़ भी हम पाते हैं कि राज्य-सूची में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में भी राज्य-विधानमंडल के अधिकार कुछ अंश में सीमित या मर्यादित हैं।

(क) राज्य-विधानमंडलों द्वारा बनाये गये कतिपय कानूनों के लिए राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त कर लेना आवश्यक है। ऐसे कानूनों को राज्यपाल राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिए रक्षित (Reserve) कर लेता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी विधेयक का सम्बन्ध राज्य द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति को हस्तगत करने या संसद् द्वारा लोगों के जीवन के लिए आवश्यक (Essential) घोषित की गई वस्तुओं पर टैक्स लगाने या समवर्ती सूची पर बनाये हुए ऐसे कानूनों से हो, जो संसदीय कानून का विरोध करता हो।

(ख) कुछ विषय ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध मे यदि राज्यों के विधान-मंडल कानून बनाना चाहें, तो उन्हें राष्ट्रपति की पूर्व सहमति (Previous consent) प्राप्त कर लेनी चाहिए। जैसे, ऐसे विधेयक, जिनका सम्बन्ध दूसरे राज्यों अथवा राज्य के भीतर व्यापार, वाणिज्य और समागम पर रोक-रुकावट डालने से हो।

(ग) यदि राज्य (संघ-व्यवस्थापिका का उच्च सदन) दो-तिहाई बहुमत से यह पास कर दे कि राज्य-सूची में परिगणित किसी भी विषय पर, राष्ट्रीय हित में संघ-व्यवस्थापिका को कानून बनाना चाहिए, तो राज्य-विधानमंडल वैसे विषय या विषयों पर कानून नहीं बना पायेंगे।

(घ) आपात-उद्घोषणा-काल में राज्य-सूची में वर्णित विषयों पर भी संघ-संसद् द्वारा कानून बनाये जायेंगे, न कि राज्य-विधानमंडल द्वारा।

(ङ) राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को भेजी जानेवाली रिपोर्ट में यदि कहा जाय कि उस राज्य का संवैधानिक यंत्र असफल हो गया है और संविधान के अनुसार

उस राज्य का शासन चलाया जाना असंभव है, तो राष्ट्रपति आपात की घोषणा करेंगे। वैसी दशा में भी संसद् को राज्य-सूची पर कानून बनाने का अधिकार हो जाता है।

(च) सर्वोच्च या उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के ऐसे कार्यों पर, जो कि उन्होंने अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए किये हों, विधान-मंडल को विचार कर सकने का अधिकार नहीं है।

(छ) राज्यपालों को भी संविधान द्वारा कुछ विवेक-शक्तियाँ दी गई हैं। इन शक्तियों के कारण भी राज्य-विधानमंडलों की स्वतंत्रता कुछ दूर तक सीमित हो ही जाती है।

राज्य-विधानमंडल में कानून बनाने की प्रक्रिया

(Procedure of Law-making in State Legislature)

राज्य-विधानमंडल में कानून बनाने की वही प्रक्रिया है, जो संघ-व्यवस्थापिका में है। उसका सविस्तर उल्लेख पहले[1] किया जा चुका है, अतएव उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। पाठकों को, इस सम्बन्ध में, यह ध्यान में रखना चाहिए कि साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में विधान-सभा और विधान-परिषद् की संयुक्त बैठक नहीं होती, विधान-परिषद् सिर्फ चार महीने तक ही साधारण विधेयकों को रोक सकती है और राज्यपाल के अधिकार राष्ट्रपति के अधिकारों से कम हैं। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना है कि संघ-व्यवस्थापिका में राष्ट्रपति के ऊपर और कोई नहीं है, इसलिए संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयकों को राष्ट्रपति ही स्वीकार [illegible] करेगा। लेकिन राज्य-विधानमंडलों के सदनों द्वारा पारित विधेयकों को राज्यपाल राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित कर सकता है।

राष्ट्रपति, राज्यपाल को निर्देशित कर उस विधेयक को पुन विधान-सभा में पुनर्विचार के लिए उपस्थित करवा सकता है। विधान-सभा को ६ महीने के अन्दर उसपर विचार करना होगा। ऐसे बिल विधान-सभा द्वारा दुबारे पास होने पर राष्ट्रपति के पास भेजे जायेंगे और उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति की इच्छा पर ही निर्भर करेगा।

इस प्रकार राज्य-विधानमंडलों द्वारा पारित विधेयकों को राष्ट्रपति कानून नहीं बनने दे सकता है।

---

[1] देखिए, अध्याय १५।

विधान-सभा और विधान-परिषद् में सम्बन्ध

सिद्धान्ततः, विधान-सभा और विधान-परिषद् दोनों ही राज्य विधानमडल के अन्यतम अंग हैं। जिन राज्य-विधानमडलों मे विधान-परिषदें हैं ही नहीं, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, नहीं तो जहाँ भी द्विसदनात्मक विधानमडल है वहाँ बिना दोनों सदनों से पारित हुए कोई भी विधेयक कानून बन ही नहीं सकता है।

लेकिन वस्तुत विधान-परिषद् की स्थिति समान नहीं है। व्यवहार में दोनों की स्थिति में बहुत अन्तर है। विधान-सभा के सामने विधान-परिषद् एक बिलकुल गौण सस्था है। विधान-परिषद् की स्थापना, स्थायित्व और उत्सादन (Creation, continuation and abolition) विधान-सभा पर ही निर्भर करता है; क्योंकि सविधान के अनुसार विधान-सभा के बहुमत से समर्थित प्रस्ताव द्वारा इन प्रकारों की मॉग करने पर ही ससद् कोई कानून बना पायगी।

धन-विधेयकों के मामले में विधान-सभा और विधान-परिषद् में वही सम्बन्ध है, जो कि लोकसभा और राज्यसभा के बीच इस विषय[1] पर है। अर्थात् विधान-सभा द्वारा पारित किसी भी धन-विधेयक को विधान-परिषद् अधिक-से-अधिक १४ दिनों के लिए रोक सकती है या उसके सम्बन्ध में कुछ सुझाव दे सकती है, जिसे मानना या न मानना विधान-सभा की स्वेच्छा पर सर्वथा निर्भर करता है। धन-विधेयक विधान-परिषद् में पहले पेश भी नहीं किये जा सकते हैं।

साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में विधान-परिषद् की स्थिति राज्य-सभा से भी गई-गुजरी हुई है।

साधारण विधेयक विधान-परिषद् में पहले पेश तो किये जा सकते है, लेकिन इस सम्बन्ध में विधान-सभा की ही इच्छा निर्णायक होगी। विधान सभा द्वारा पारित साधारण विधेयक जब विधान-परिषद् के यहाँ भेजे जाते हैं, तब प्राप्ति की तारीख से ३ महीने के भीतर ही विधान-परिषद् को इस विधेयक के सम्बन्ध में निर्णय लेना पडता है। यदि तीन महीना बीत जाय और विधान-परिषद् कोई निर्णय नहीं ले या इस बीच में ही विधान-परिषद् उस साधारण विधेयक को अस्वीकार कर या अपने संशोधनों तथा सुझावों के साथ विधान-सभा को लौटा दे, तो वैसी दशा में भी विधान सभा को पूर्ण अधिकार है कि जिस रूप में चाहे, उस विधेयक को दुबारा पास करे। वह विधेयक जिस किसी भी रूप में विधान-सभा द्वारा दुबारा पास किया जायगा, विधान-परिषद् के पास भेज दिया जायगा।

---

१. देखिए, अध्याय १२।

इस बार विधान-परिषद् को एक महीना के भीतर ही उस विधेयक पर निर्णय लेना होगा। यदि एक महीना बीत जाय और विधान-परिषद् उस विधेयक पर कोई निर्णय न ले, या फिर ऐसा सुझाव दे या संशोधन उपस्थित करे, जो विधान-सभा को मान्य नहीं है, तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में, जिसमें विधान-सभा ने दुबारा पारित किया था, पास समझा जायगा और राज्यपाल के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेज दिया जायगा। इस प्रकार विधान-परिषद् किसी साधारण विधेयक को भी अधिक-से-अधिक ४ महीने तक ही (३ महीना पहली बार और १ महीना दूसरी बार) रोक सकती है।

अतः, साधारण विधेयकों के मामले में भी विधान-परिषद् को कोई प्रभावी अधिकार प्राप्त नहीं है। संघ-व्यवस्थापिका में साधारण विधेयकों के मामले में राज्य-सभा को ६ महीना तक रोकने का अधिकार है और यदि किसी साधारण विधेयक को लेकर राज्यसभा और लोकसभा के बीच गतिरोध उत्पन्न हो जाय, तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाकर इस गतिरोध को दूर करायगा। इस प्रकार की संयुक्त बैठक का प्रावधान राज्य-व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में नहीं है।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में दोनों सदनों के अधिकार ऊपर से देखने में समान लगते हैं। चूँकि संविधान राज्य-मन्त्रिपरिषद् को विधान सभा के ही प्रति उत्तरदायी ठहराता है, अतएव विधान-परिषद् के अधिकार इस क्षेत्र में भी अत्यधिक सीमित हो जाते हैं।

विधान-परिषद् के सदस्यों में से मन्त्री अवश्य हो सकते हैं और प्रशासकीय कार्यों के सम्बन्ध में विधान परिषद् में भी मन्त्रियों से प्रश्न पूछे जा सकते हैं, लेकिन इनके अतिरिक्त मन्त्रिपरिषद् पर विधान-परिषद् का और कुछ भी नियन्त्रण नहीं रहता। अविश्वास या निन्दा का प्रस्ताव पास कर विधान परिषद् मन्त्रिपरिषद् को अपदस्थ नहीं कर सकती है।

वित्तीय मामलों में तो विधान-परिषद् के अधिकार बिलकुल ही नगण्य हैं।

अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि विधान-परिषद्, विधान सभा के लिए सिर्फ एक परामर्शदात्री संस्था है। इसका कार्य विधान सभा द्वारा किये गये कार्यों पर स्वीकृति प्रदान करना है। विधान-परिषद् स्वप्न में भी विधान सभा से टकराने की बात नहीं सोच सकती है; क्योंकि यह जब कभी विधान-सभा की राह में बाधा उपस्थित करेगी, तब विधान-सभा इसे समाप्त कर देगी।

प्रश्न

१. बिहार-राज्य की विधान-परिषद् के गठन और अधिकारों का वर्णन कीजिए। क्या इसे उठा देना चाहिए ?

Describe the composition and powers of the Bihar Legislative Council. Should it be abolished ?

२. अपने राज्य की विधान-परिषद् के सगठन का वर्णन कीजिए। विधान-सभा और विधान परिषद् के पारस्परिक सम्बन्धों की परीक्षा कीजिए।

Describe the composition of the Legislative Council of your State. Examine the mutual relations between the Legislative Council and the Legislative Assembly.

३. अपने राज्य की विधान-सभा के गठन, अधिकारों तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।

Describe the composition, powers and functions of the Legislative Assembly of your State.

४. राज्य-व्यवस्थापिका का निर्माण कैसे होता है ? उसकी शक्तियों पर लगाई गई सीमाओं की चर्चा कीजिए।

How is a State Legislature composed ? Discuss the limitations upon its powers.

५ ‖ राज्य-न्यायपालिका : उच्च न्यायालय
(State Judiciary · High Court)

उच्च न्यायालय की स्थिति—साधारणत अधिकांश संघ-राज्यों मे राज्य-न्यायपालिका की जो स्थिति रहती है, वह भारत-संघ के अन्तर्गत राज्यों की न्याय-पालिकाओं की नहीं है,। भारत का संविधान संघ तथा राज्यों, दोनों के लिए दोहरी कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका की स्थापना तो करता है, लेकिन दोहरी न्यायपालिका की नहीं। संघ-न्यायपालिका का वर्णन करते समय कहा जा चुका है कि भारत-संघ के समस्त क्षेत्र मे एक ही शृंखलाबद्ध न्याय-व्यवस्था की स्थापना की गई है और राज्यों के उच्च न्यायालय, संघीय सर्वोच्च न्यायालय के अधीन रखे गये हैं।

इस प्रकार राज्यों के उच्च न्यायालय सम्बद्ध राज्यों के विधान-मडलों से अनिज्ञात नहीं होते हैं और न ही राज्यों के विधान मंडलो द्वारा बनाये गये कानूनों से सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों मे उनका फैसला अन्तिम होना है।

संविधान के अनुसार भारत-संघ के प्रत्येक राज्य मे एक उच्च न्यायालय (High Court of Judiciary) होगा। लेकिन, संसद् को यह अधिकार प्राप्त है कि वह कानून बनाकर एक से अधिक राज्यों के लिए भी एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना कर सके।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि संविधान, संघ-क्षेत्रों (Union Territories) के लिए अलग उच्च न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था नहीं करता है। लेकिन, संसद् को यह अधिकार दिया गया है कि वह (१) किसी संघ-क्षेत्र के लिए अलग उच्च न्यायालय की स्थापना कर सके या (२) उसी क्षेत्र में मौजूद किसी न्यायालय को उच्च न्यायालय की स्थिति प्रदान कर सके या (३) किसी संघ-क्षेत्र को किसी राज्य के उच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र मे ही सम्मिलित कर दे या उसके बाहर रख सके। इसी प्रावधान के अनुसार केरल-राज्य के उच्च-न्यायालय के अधिकार क्षेत्र मे लच द्वीपसमूहों को रखा गया है और अंडमन-निकोबार द्वीप समूह को कलकत्ता उच्च न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में।

भारत का वर्त्तमान संविधान जिस समय (२६ जनवरी, १९५० ई०) लागू किया गया, उस समय 'क' और 'ख' वर्ग के राज्यों में जो उच्च-न्यायालय थे, उन्हीं न्यायालयों को सम्बद्ध राज्यों का उच्च न्यायालय बना दिया गया। इस

प्रकार संविधान के आरम्भ होने के समय हमारे देश में १८ उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई।

सन् १९५६ ई० के राज्य-पुनस्संघटन-अधिनियम के फलस्वरूप इस संस्था में परिवर्त्तन हो गया और चूँकि अब १४ राज्य ही रह गये, इसलिए १९५६ ई० के बाद से केवल १४ उच्च-न्यायालय ही रहे हैं। १ मई, १९६० ई० से बम्बई राज्य के गुजरात तथा महाराष्ट्र दो अलग राज्यों में बँट जाने के कारण अब १५ उच्च-न्यायालय हो गये हैं।

उच्च न्यायालय का संगठन—प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय की सत्ता रहती है। प्रत्येक राज्य का उच्च न्यायालय सामान्यतः उस राज्य की राजधानी (State Capital) में स्थित होता है और उसके नाम के पहले उस राज्य का नाम नहीं, वरन् उस राज्य की राजधानीवाली जगह का नाम होता है। जैसे, बिहार-राज्य का उच्च न्यायालय, बिहार की राजधानी, पटना में स्थित है और उसका नाम 'बिहार उच्च न्यायालय' (Bihar High Court) नहीं होकर 'पटना उच्चन्यायालय' (High Court of Judicature, Patna) है। उत्तरप्रदेश का उच्च न्यायालय इलाहाबाद में स्थित है और इसका नाम इलाहाबाद हाईकोर्ट है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice) होता है और अन्य अनेक न्यायाधीश (Judges)। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या कितनी हो, इसका निश्चय संविधान द्वारा नहीं किया गया है। संविधान यह अधिकार राष्ट्रपति को देता है, जो प्रत्येक राज्य की आवश्यकतानुसार, समय-समय पर, अपने आदेशों द्वारा उस राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या निर्धारित करता रहेगा। इस कार्य में राष्ट्रपति सम्बद्ध राज्य के क्षेत्रफल, जनसंख्या और कार्यों की मात्रा आदि को अपने ध्यान में रखेगा।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति में राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के मुख्य न्यायाधिपति (The Chief Justice of India) और सम्बद्ध राज्यपाल का परामर्श लेता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति और सम्बद्ध राज्य के अलावा, उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का भी परामर्श लेता है।

राष्ट्रपति को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह एक उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को, भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श पर, भारत राज्य-क्षेत्र

में विद्यमान किसी दूसरे उच्च न्यायालय में कार्य करने के लिए स्थानान्तरित कर सकता है।

उच्च न्यायालय के उपर्युक्त संगठन में किसी प्रकार का परिवर्तन करने का अधिकार सम्बद्ध राज्य के विधानमंडल को नहीं है।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किया जा सकता है, जिसमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों—(१) वह भारत का नागरिक हो; (२) वह भारत के राज्य-क्षेत्र में कम-से-कम १० वर्ष तक किसी न्याय पद (Judicial office) पर रह चुका हो। (३) किसी एक या दो से अधिक उच्च न्यायालय में कम-से-कम दस वर्ष तक निरन्तर अधिवक्ता (Advocate) के रूप में कार्य कर चुका हो।

इस सम्बन्ध में हमें स्पष्ट रूप में यह जान लेना चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति न्याय-पद (Judicial office) और अधिवक्ता (Advocate) इन दोनों कार्यों को मिलाकर कम से-कम निरन्तर दस वर्षों की आवश्यकता की पूर्ति करता हो तो उसे उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह किसी प्रसिद्ध कानून-वेत्ता (Distinguished Jurist को भी सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त कर सके। लेकिन उच्च न्यायालयों के सम्बन्ध में ऐसा अधिकार राष्ट्रपति को नहीं है, अर्थात् सिर्फ एक प्रसिद्ध कानून-वेत्ता होने की हैसियत से कोई भी व्यक्ति उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त नहीं किया जा सकता।

न्यायाधीशों की पदावधि—उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने पद पर ६२ वर्ष[1] की आयु तक आसीन रह सकेंगे। इसके बाद वे कार्य-निवृत्त (Retire) हो जायेंगे। इन न्यायाधीशों की आयु के सम्बन्ध में यदि कोई मतभेद होगा तो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की राय से राष्ट्रपति उसपर निर्णय देगा और वह निर्णय अन्तिम होगा।

संविधान की मूल धारा २२० के अनुसार, कोई भी व्यक्ति, जिसने संविधान लागू होने के बाद, किसी भी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण किया हो भारत के राज्य-क्षेत्र के अन्दर किसी भी न्यायालय में या किसी अधिकारी के सामने वकालत या अन्य तरह के कोई कार्य नहीं कर सकता था।

---

१. मूल संविधान में यह कार्यकाल ६० वर्ष की आयु तक ही था। लेकिन मई, १९६३ ई० में हुए पन्द्रहवें संशोधन के अनुसार अब ६२ वर्ष हो गया है।

इस प्रावधान के कारण अच्छे-अच्छे वकील या अधिवक्ता न्यायाधीश होना नही चाहते थे, क्योंकि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश-पद पर कुछ समय तक भी रहने के बाद या ६२ वर्ष की उम्र के बाद उनके भविष्य पर एक बहुत बडा प्रतिबन्ध लग जाता था। एक बार न्यायाधीश-पद को स्वीकार कर लेने के बाद वे उसे जब चाहते, नहीं छोड सकते थे।

अत, सविधान (सप्तम) सशोधन-अधिनियम के द्वारा इस धारा को सशोधित कर दिया गया है। अब न्यायालयों के न्यायाधीशों को सिर्फ उन्ही उच्च न्यायालयों में वकालत करने की मनाही है, जिनमें वे न्यायाधीश रह चुके हों। अर्थात्, सर्वोच्च न्यायालय में या अन्य ऐसे उच्च न्यायालयों में, जिनके न्यायाधीश वे नही रहे हों, अब वे वकालत कर सकते हैं।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की पदावधि के सम्बन्ध मे अन्य वे सभी बातें हैं, जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के सम्बन्ध में हैं और जिनकी चर्चा पहले[1] ही की जा चुकी है। कोई भी न्यायाधीश अपने पद से तभी हटाया जा सकता है जबकि ससद् के दोनों सदन बहुमत द्वारा तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से किसी न्यायाधीश के विरुद्ध अयोग्यता तथा भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर उसको हटाने की प्रार्थना राष्ट्रपति से करें और राष्ट्रपति वैसी प्रार्थना को स्वीकार कर ले।

न्यायाधीशों का वेतन और भत्ता आदि—केरल, मैसूर और राजस्थान को छोड़कर अन्य राज्यों के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों को ४००० रु० मासिक वेतन और अन्य न्यायाधीशों को ३५०० रु० प्रतिमास वेतन मिलता है। केरल, मैसूर और राजस्थान के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों को ३००० रु० प्रतिमास और अन्य न्यायाधीशों को २५०० रु० प्रतिमास वेतन मिलता है। उपर्युक्त मासिक वेतन के अलावा इन्हें भत्ते, पेन्शन, छुट्टी और मुफ्त में रहने के लिए घर भी मिलते हैं।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि के सम्बन्ध में भी ठीक वही उपबन्ध[2] हैं, जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के सम्बन्ध मे हैं।

शपथ-ग्रहण—उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को पद ग्रहण करते समय राज्यपाल या राज्यपाल द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के सामने इस आशय की शपथ लेनी पड़ती है कि वह निष्पक्षता, ईमानदारी और बिना किसी भय के अपने कार्य का सम्पादन करेगा।

---

१. और २ देखिए, अध्याय १६।

उच्च न्यायालय के अधिकार और कार्य

उच्च न्यायालय राज्य-स्तर पर सबसे ऊँचा न्यायालय होता है। प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत अन्य अधीनस्थ न्यायालयों के ऊपर उच्च न्यायालय ही होता है। देश की शृंखलाबद्ध न्याय-व्यवस्था में यह दूसरी चोटी पर, अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय के नीचे, स्थित होता है। सन् १६३५ ई० के भारत-सरकार-अधिनियम के अनुसार उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध लंदन-स्थित प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी। नये सविधान के लागू होने के बाद उच्च न्यायालयों की अपीलें सर्वोच्च न्यायालय में ही की जाने लगीं।

सविधान के अनुसार प्रत्येक उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय (Court of Record) होता। इस हैसियत से उच्च न्यायालयों के भी वही अधिकार होंगे, जो सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त हैं।[1]

उच्च न्यायालय के अधिकारों और कार्यों को निम्नलिखित ४ वर्गों में बाँटा गया है—

(१) प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र (Original Judrisditcion)
(२) अपीलीय अधिकार-क्षेत्र (Appellate Jurisdiction)
(३) अन्य अधिकार-क्षेत्र (Other Jurisdiction)
(४) अधीक्षण की शक्ति (Power of Superintendence)

(१) प्रारंभिक अधिकार-क्षेत्र—उच्च न्यायालयों का मुख्य अधिकार-क्षेत्र तो अपीलीय है, लेकिन इन्हें कुछ विषयों में प्रारंभिक अधिकार-क्षेत्र भी प्राप्त हैं।

उच्च न्यायालयों के प्रारंभिक अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में हमें यह जान लेना चाहिए कि मौजूदा संविधान लागू होने के पहले सिर्फ कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के उच्च न्यायालयों को ही प्रारंभिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। अन्य उच्च न्यायालयों को सिर्फ अपीलीय अधिकार था, प्रारंभिक अधिकार नहीं।

नये सविधान के अनुसार भी उच्च न्यायालयों के अधिकार लगभग वही रखे गये हैं, जो इस सविधान के लागू होने के पहले थे। लेकिन नये सविधान के अनुसार उच्च न्यायालयों के अधिकारों में कुछ वृद्धि हो गई है और अब सभी उच्च न्यायालयों को कुछ प्रारंभिक अधिकार-क्षेत्र मिल गया है।

एक निश्चित राशि के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सभी दीवानी मुकदमे, जिन्हें जफीफा या लघुवाद न्यायालय (Small Cause Court) नहीं सुन सकते, अब सीधे उच्च

---

१. देखिए, अध्याय १६।

न्यायालयों में पेश किये जा सकते हैं। इसी प्रकार कुछ विशिष्ट शर्तों के अधीन कुछ फौजदारी मुकदमे (जिनकी सुनवाई अन्य जगहों में सेशन्स कोर्ट में होती है) भी सीधे उच्च न्यायालयों में पेश किये जा सकते हैं।

राजस्व तथा उसकी वसूली से सम्बन्धित मामले भी उच्च न्यायालयों के प्रारंभिक अधिकार-क्षेत्र में आ गये हैं। संविधान लागू होने के पहले इन न्यायालयों को यह अधिकार नही था।

इसी प्रकार नौकाधिकरण (Admiralty) इच्छापत्र या वसीयत (Will), विवाह-विच्छेद (Divorce), विवाह-विधि (Marriage Law), कम्पनी-विधि (Company Laws) और उच्च न्यायालयों के अपमान (Contempt of the High Court) के विषय में भी उच्च न्यायालयों को प्रारंभिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। स्मरण रहे कि सैनिक-न्यायाधिकरण (Military Tribunals) उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में नहीं आते हैं।

(२) **अपीलीय अधिकार-क्षेत्र**—अपनी क्षेत्रीय सीमा के अन्तर्गत स्थित, दीवानी (Civil), फौजदारी (Criminal) और माल (Rexenue) इन तीनों प्रकार के अधीनस्थ न्यायालयों के फैसलों के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपीलें की जा सकती हैं।

खफीफा या लघुवाद (Small Cause Court) के निर्णयों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के दीवानी मुकदमों के निर्णयों के विरुद्ध उच्च न्यायालय मे अपील की जा सकती है। ५००० रु० की रकम से कमवाले दीवानी मुकदमों के सम्बन्ध मे अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों की अपील उच्च न्यायालय में नहीं हो सकती।

जब किसी अभियुक्त को सेशन्स कोर्ट द्वारा ४ वर्ष से अधिक दण्ड दिया जाता है तब वैसे फौजदारी मुकदमों के निर्णयों के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। यदि सेशन्स कोर्ट द्वारा किसी अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दिया जाय तो भी उसकी पुष्टि (Confirmation) उच्च न्यायालय द्वारा होना अनिवार्य है।

अँगरेजी राज्य के दिनों में माल सम्बन्धी मुकदमों की अपीलें सुनने का अधिकार उच्च न्यायालयों को नहीं था। वह कार्य उन दिनों 'बोर्ड ऑफ रेवेन्यु' (Board of Revenue) करता था। स्वतंत्र भारत के उच्च न्यायालयों को अब माल सम्बन्धी मुकदमों की सुनवाई का भी अधिकार प्राप्त हो गया है।

आय कर (Income Tax), बिक्री-कर (Sales Tax) आदि के मुकदमों के लिए जो विविध ट्रिब्युनल स्थापित हैं, उनके फैसलों के विरुद्ध भी उच्च न्यायालयों में अपीलें की जा सकती हैं।

उच्च न्यायालयों को पेटेन्ट और डिजाइन (Patent and Design), उत्तराधिकार (Heritage), भूमि-प्राप्ति (Land Acquisition), दिवालियापन (Bankruptcy) और सरक्षकता (Guardianship) इत्यादि अभियोगों में भी अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है।

(३) अन्य अधिकार-क्षेत्र—(क) उच्च न्यायालयों को यह अधिकार प्राप्त है कि राज्य-विधान-मंडलों द्वारा बनाये गये किसी कानून को यदि वे सविधान के उपबन्धों के विरुद्ध समझें तो उन्हे अवैध घोषित कर सकें।

(ख) यदि किसी उच्च न्यायालय को इस बात का समाधान हो जाय कि उसके अधीनस्थ किसी न्यायालय मे कोई ऐसा मामला पेश हो, जिसका निर्णय करने में संविधान की व्याख्या या उसके अभिप्राय को स्पष्ट करने का तात्त्विक प्रश्न उपस्थित हो सकता है और बिना वैसा किये उस मुकदमे का फैसला नहीं हो सकेगा, तो उच्च न्यायालय वैसे मुकदमे को अपने यहा विचारार्थ मँगवा ले सकेगा। ऐसा होने के लिए या तो अधीनस्थ न्यायालय या उस मुकदमे का कोई पक्ष उच्च न्यायालय के सामने उस प्रश्न को उपस्थित करे।

ऐसे मामलों में उच्च न्यायालयों को स्वयं भी फैसला देने का अधिकार प्राप्त है। उच्च न्यायालय यह भी कर सकता है कि सविधान की व्याख्या या अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हुए फैसले के लिए वैसे मामलों को उस अधीनस्थ न्यायालय के पास ही लौटा दे।

(ग) सविधान मे परिगणित मूल अधिकारों की रक्षा करने के निमित्त उच्च न्यायालयों को भी लेखों को जारी करने का अधिकार है। स्मरण रहे कि यह कार्य सर्वोच्च न्यायालय का भी है और लेखों को जारी करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय—इन दोनों का समवर्ती अधिकार है।

इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि नये संविधान के लागू होने के पहले सिर्फ कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के उच्च न्यायालयों को ही इन सभी लेखों को जारी करने का अधिकार प्राप्त था। अन्य उच्च न्यायालय तो सिर्फ बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus के ही लेख जारी कर सकते थे। अब सभी राज्यों के उच्च न्यायालयों को बन्दी-प्रत्यक्षीकरण के अलावा परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (Quo-Warranto) और उत्प्रेषण (Certiorari) आदि लेखों को भी जारी कर सकने का अधिकार दिया गया है।

चूँकि मूल अधिकारों के अध्याय में 'सवैधानिक उपचारों के अधिकारों' की चर्चा करते समय हम इन सभी लेखों का सविस्तर वर्णन[1] कर चुके हैं, इसलिए इन्हें यहाँ नही दुहराया जा रहा है।

इस अधिकार के कारण राज्य-विधानमडल द्वारा बनाये गये ऐसे कानून, जो मूल अधिकारों के विरुद्ध हों, उच्च न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित किये जा सकते हैं।

उच्च न्यायालय इन लेखों का प्रयोग सिर्फ मूल अधिकारों की रक्षा के लिए ही नहीं, वरन् सरकार के अन्यायपूर्ण और अवैध कार्यों से नागरिकों की रक्षा करने के लिए भी कर सकता है।

(४) **अधीनस्थ न्यायालयों पर अधीक्षण का अधिकार**—उपर्युक्त तीन प्रकार के अधिकार-क्षेत्रों के अतिरिक्त उच्च न्यायालयों को, सविधान की धारा २२७ के अनुसार, अपने अधीनस्थ न्यायालयों एवं न्यायाधिकरणों (Tribunals) पर अधीक्षण (Superintendence) का भी अधिकार है। कहा जा चुका है कि सैनिक न्यायाधिकरण (Military Tribunals) इस अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत नही आते हैं।

इस अधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय निम्नलिखित कार्य कर सकता है—(क) अधीनस्थ न्यायालयों से कार्यों का विवरण (Call for returns) मँगा सकता है। (ख) अधीनस्थ न्यायालयों की कार्य-प्रणाली तथा कार्यवाहियो को निश्चित करने के लिए नियम बना सकता है। (ग) अधीनस्थ न्यायालय अपने रेकर्ड—पुस्तकों, प्रविष्टियों और लेखाओं आदि—को किस ढंग से रखे, इसकी व्यवस्था कर सकता है। (घ) किसी मुकदमे को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में विचार या निर्णय के लिये भेज सकता है। (ङ) अपने अधीनस्थ न्यायालयों के शेरिफ (Sherif), क्लर्क (Clerk) व अन्य कर्मचारियों तथा वकीलो आदि की फीस निश्चित करता है।

उच्च न्यायालयों के उपर्युक्त अधिकार-क्षेत्रों में वृद्धि या कमी करने का अधिकार भारतीय ससद् को है।

उच्च न्यायालय के सम्बन्ध में कभी-कभी प्रश्न पूछे जाते हैं कि वह नागरिकों के मूल अधिकारो की रक्षा कैसे करता है और उसकी स्वतन्त्रता कैसे रक्षित की गई है?

---

१ देखिए, अध्याय ३।

इस सम्बन्ध में वही प्रावधान हैं, जो कि सर्वोच्च न्यायालय के सम्बन्ध मे। दोनों प्रश्नों के उत्तर सर्वोच्च न्यायालय के वर्णन करते समय[1] दिये जा चुके हैं, अत स्थानाभाव के कारण उन्हें पुन दुहराने की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती।

प्रश्न

१ अपने राज्य के उच्च न्यायालयों के गठन, अधिकार एव कृत्यों का वर्णन कीजिए।

२ उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कैसे होती है? उच्च न्यायालय की स्वतत्रता कैसे रक्षित की गई है?

३ अपने राज्य के उच्च न्यायालय के सगठन का वर्णन कीजिए। उच्च न्यायालय किस भाँति नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करता है?

---

१. देखिए, अध्याय १६, पृष्ठ २२२ से २२४।

बिहार में स्थानीय स्वशासन

Local Self-Government in Bihar

भूमिका

पिछले अध्यायों में हमने भारतीय सविधान की मुख्य विशेषताओं, नागरिकों के मूलभूत अधिकारो और राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों, तथा सघीय और राज्य-सरकारों का अध्ययन किया है। आगे आनेवाले तीन अध्यायों मे हमें बिहार में स्थानीय स्वशासन का अध्ययन करना है।

सघीय और राज्य-सरकारो के अलावा स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था इसलिए की जाती है कि सघीय तथा राज्य-सरकारो के लिए देश के सुदूर गाँवो तथा छोटे-बडे शहरो की सभी आवश्यकताओं तथा समस्याओ और कठिनाइयों को दूर करना संभव नहीं है। सभव नही होने के अतिरिक्त यह उचित भी नहीं है कि स्थानीय समस्याओं का निदान उन लोगों के द्वारा हो, जिन्हे उन समस्याओं की पूरी जानकारी भी नही हो। यदि सघीय या राज्य-सरकारें इन समस्याओ की पूरी जानकारी हासिल करना भी चाहे, तो उसमे बहुत अधिक समय लगेगा और व्यर्थ ही समय और धन का भी अपव्यय होगा।

इन्ही सब कारणो से देश के सरकारी शासन-सूत्रो से अलग स्थानीय स्वशासन की भी व्यवस्था की जाती है। ठीक ही कहा गया है कि भारतीय शासन प्रणाली का सघीय और राजकीय ढाँचा अपने-आप में अपूर्ण है और इसकी पूर्णता स्थानीय स्वशासन के द्वारा ही प्राप्त की जाती है।

प्रजातन्त्रात्मक देशों के लिए तो स्थानीय सस्थाओं को अनिवार्य सा माना जाने लगा है। कहा गया है कि प्रजातन्त्र की आत्मा स्थानीय स्वशासन द्वारा ही सुरक्षित रखी जा सकती है और स्थानीय स्वशासन की नींव पर ही एक भव्य और सफल प्रजातान्त्रिक शासन सगठन का निर्माण किया जा सकता है।

हमने ऊपर लिखा है कि स्थानीय स्वशासन को राज्य के शासन-सूत्र से अलग रखा जाता है। इसका अर्थ यह तो नही है कि स्थानीय सस्थाएँ राज्य-सरकारों से सर्वथा पृथक् रहती हैं और उनपर सरकारों का कोई नियत्रण या अधिकार नहीं होता।

इस सम्बन्ध मे हमें सदव ध्यान रखना चाहिए कि स्थानीय सस्थाओं की रचना राज्य-सरकारों के कानूनो के आधार पर ही होती है और उनपर राज्य-सरकारों का

ही अन्तिम नियंत्रण रहता है। इस प्रकार, राज्य-सरकारों द्वारा दिये गये अधिकारों के आधार पर अपने-अपने क्षेत्रों में ये संस्थाएं स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य-संपादन करती हैं।

स्थानीय स्वशासन के निमित्त संगठित की गई संस्थाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—(१) नगरों या शहरों के लिए, (२) गाँवों या देहाती क्षेत्रों के लिए।

(१) शहरी क्षेत्रों के निमित्त पाई जानेवाली स्थानीय संस्थाओं में तीन मुख्य हैं—नगर-निगम या कारपोरेशन, नगरपालिका या म्युनिसिपैलिटी तथा विकास समिति या इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट (Improvement Trust)। कुछ शहरों में नोटिफायड एरिया कमिटी (Notified Area Committee) भी पाई जाती है, जिसे आगे चलकर नगरपालिका, यानी म्युनिसिपैलिटी में परिणत कर दिया जाता है। जिन शहरों में मिलिटरी रहती है, यानी कैंटोनमेंट रहता है, उनमें एक कैंटोनमेंट बोर्ड भी होता है। बन्दरगाहवाले शहरों में पोर्ट-ट्रस्ट (Port Trust) नामक स्थानीय संस्था भी पाई जाती है।

(२) देहाती या ग्रामीण क्षेत्रों में जिला बोर्ड, लोकल बोर्ड तथा ग्राम-पंचायतें मुख्य हैं। कभी-कभी शहर के सबसे नजदीकवाले देहाती क्षेत्रों में यूनियन बोर्ड नामक संस्था भी पाई जाती है। परन्तु पंचायतराज अधिनियम के पास हो जाने पर जिला-बोर्ड को समाप्त करके उनके स्थान पर जिला परिषद् की स्थापना हो रही है। साथ ही ब्लॉक या प्रखंड-स्तर पर पंचायत समिति की भी स्थापना हो रही है।

स्थानीय स्वशासन के रूप तथा उपर्युक्त वर्गीकरण की एक तालिका (Chart) हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं

स्थानीय स्वशासन के स्वरूप की तालिका
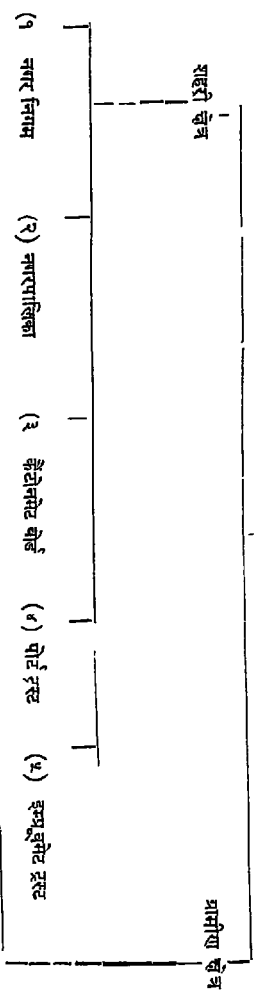
नोट —वैसे क्षेत्रों में, जो न तो पूर्णतया शहरी कहे जा सकते हैं और न जिन्हें ग्रामीण क्षेत्रों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, नोटिफायड एरिया कमिटी (Notified Area Committee) की स्थापना की जाती है।

---

१ बिहार मे यह सस्था समाप्त होने पर है तथा इसका स्थान जिला-परिषद् ले रही है।

१५ सितम्बर, १६५८ को, बिहार के जिला-बोर्डों के इतिहास में, एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना घटी। उस दिन बिहार के राज्यपाल ने एक अध्यादेश (Ordinance) जारी करके इस राज्य के सभी जिला बोर्डों को भग (dissolve) कर दिया। बाद में बिहार-विधानसभा ने इस अभिप्राय का एक कानून भी बना दिया। इस कानून के फलस्वरूप, वर्त्तमान में, बिहार के जिला-बोर्ड स्थानीय स्वशासन (Local Self-Governmenrt) की सस्था न होकर सिर्फ स्थानीय शासन (Lccal Government) की एक इकाई-मात्र के रूप में विद्यमान हैं।[१]

संगठन

(Organisation)

स्थापना—सविधान के अनुसार[२], जिला-बोर्डों की स्थापना 'राज्य सूची' के विषयों के अन्तर्गत पड़ती है। अतएव जिला बोर्डों की स्थापना राज्य सरकारों के कानूनों द्वारा ही होती थी। किसी राज्य के किन-किन जिलों मे जिला-बोर्डों की स्थापना हो या न हो इसका निर्णय उस राज्य की सरकार ही करती थी। यदि किसी राज्य-सरकार ने अपने क्षेत्र मे जिला-बोर्डों की स्थापना का निर्णय किया हो तो भी इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि उस राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत सभी, यानी प्रत्येक जिले में जिला बोर्डों की स्थापना होगी ही। हो सकता है कि वह राज्य-सरकार कुछ ही जिलों मे इनकी स्थापना करे और अन्य जिलों मे नहीं। उदाहरणार्थ, उत्तर-प्रदेश के रामपुर तथा टेहरी-गढ़वाल जिलों में जिला बोर्डों की अनुपस्थिति थी जबकि उस राज्य मे अन्य ४६ जिला-बोर्ड स्थापित थे।

क्षेत्र (Area) प्रत्येक जिला-बोर्ड का क्षेत्र साधारणत उस राज्य के एक जिले के क्षेत्रफल के बराबर हुआ करता था। स्मरण रहे कि जिला बोर्ड के क्षेत्र का निश्चय किसी विशिष्ट अभिप्राय या अध्ययन का परिणाम नहीं है। अँगरेजी राज्य के दिनों मे हमारे विदेशी शासकों ने ब्रिटिश भारत के प्रत्येक प्रान्त Province) को जिला (District) नामक कई स्थानीय क्षेत्रों मे पुलिस-शासन और राजस्व (Revenue) वसूलने के निमित्त बाँट दिया था। जब देश में स्थानीय स्वशासन की सस्थाओं की स्थापना होने लगी तब वो इन्हीं जिलों को इकाई मान लिया गया और प्रत्येक जिले के क्षेत्रफल को एक जिला बोर्ड का क्षेत्र मान लिया गया।

---

१. इस कानून के फलस्वरूप जिला-बोर्डों की वर्त्तमान स्थिति का पूरा वर्णन आगे किया गया है।

२ भारतीय सविधान, सातवीं अनुसूची, राज्य सूची, सख्या ५।

जिला-बोर्ड
(District-Board)

६

जिला-बोर्ड

(District Board

हम लोगों के देश में स्थानीय स्वशासन (Local Self-Government) की जो संस्थाएँ आजकल पाई जाती हैं, उन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) शहरों या नगरी इलाकों (Urban Areas) के लिए और (२) गाँवों या देहाती क्षेत्रों (Rural Areas) के लिए। इनमें से दूसरे वर्ग की संस्थाओं, अर्थात् ग्रामीण क्षेत्रों के लिए काम करनेवाली स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं, में जिला-बोर्ड[1] बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था।

जिला बोर्ड ग्राम्य स्थानीय स्वशासन की सर्वोच्च संस्था माना जाता था, क्योंकि इस क्षेत्र की अन्य स्थानीय संस्थाएँ जैसे लोकल बोर्ड, यूनियन बोर्ड आदि, इसके अधीन और नियन्त्रण में रहती थीं। स्मरण रहे कि हमारे देश के सभी राज्यों में उपर्युक्त अन्य स्थानीय संस्थाएं नहीं होती हैं, वरन् सिर्फ जिला-बोर्ड ही होते हैं जैसे पंजाब और उत्तर-प्रदेश में।

भारतवर्ष में जिला-बोर्डों की स्थापना सर्वप्रथम सन् १८७० ई० में हुई। बिहार-राज्य में, सन् १८८५ ई० में 'बिहार उडीसा स्थानीय स्वशासन कानून' (Bihar and Orissa Local Self-Government Act, 1885) द्वारा जिला-बोर्डों की स्थापना हुई थी। इस कानून द्वारा संस्थापित प्रारंभिक जिला-बोर्डों के संगठन तथा अधिकारों में बाद में चलकर, विशेषकर सन् १९२३ ई० और १९३२ ई० में, बहुत से संशोधन और परिवर्तन किये गये। सन् १९४८, १९५० और १९५४ ई० में भी इनके संगठन में कुछ संशोधन किये गये और इस प्रकार जिला-बोर्ड ग्रामीण स्थानीय स्वशासन की सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में कार्य करता रहा।

---

१ किसी किसी राज्य में इस संस्था को जिला बोर्ड की अपेक्षा अन्य संज्ञाएँ दी गई हैं, जैसे आसाम में तालुक बोर्ड (Taluk Board) और मध्यप्रदेश में जिला-कौंसिल (District Council)।

किसी-किसी लेखक ने जिला-बोर्ड के स्थान पर जिला-परिषद् का प्रयोग किया है। जिला परिषद् नाम कुछ अंशों में भ्रमात्मक है, क्योंकि प्रत्येक जिला बोर्ड में एक कौंसिल (Council) होती है, जिसे परिषद् कहा जाता है।

बिहार-राज्य में जिला-बोर्डों की स्थापना सन् १८८५ ई० के बिहार-उड़ीसा स्थानीय स्वशासन अधिनियम के अनुसार हुई।

जिला-बोर्ड के क्षेत्र को लेकर स्थानीय स्वशासन के विद्वानों में काफी मत-विषमता पाई जाती है। कुछ लेखकों का मत है कि इसका क्षेत्र बहुत ही बड़ा है, जिसके कारण इसके उद्देश्यों की पूर्त्ति ठीक से नहीं हो पाती है। डॉ० ज्ञानचन्द ने अपनी पुस्तक 'Local Finance in India' में कहा है कि जिला बोर्ड अपने आकार में बड़ा होने के कारण स्वायत्त शासन की इकाई की एकरूपता, दक्षता एवं कार्यकुशलता प्राप्त करने में असमर्थ है। इन लेखकों के अनुसार जिला-बोर्ड के वर्तमान बड़े क्षेत्रों में स्वायत्त शासन का स्वस्थ एवं पूर्ण विकास पूर्णतः असंभव है। लेकिन कुछ ऐसे भी लेखक हैं, जो जिला बोर्ड के वर्त्तमान क्षेत्र के समर्थक ही नहीं, प्रशंसक भी हैं। जैसे डॉ० एम० पी० शर्म्मा ने अपनी पुस्तक 'Local Self-Government in India' में कहा है कि जिला बोर्ड ही ग्रामीण इकाइयों के उच्च स्तर पर स्वायत्त शासन का उद्देश्य निबाह सकता है।

उपर्युक्त परस्पर-विरोधी मतों की निष्पक्ष जाँच के फलस्वरूप हमें डॉ० ज्ञानचन्द के ही कथन में अधिक सत्यता दीख पड़ती है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिला-बोर्डों के वर्त्तमान क्षेत्र बहुत बड़े हैं। क्षेत्रों के बड़े होने की वजह से उनकी सभी समस्याओं का सफल निदान तो कठिन हो ही जाता है, साथ-ही-साथ उनमें 'स्थानीयपन' (Localism) की भावना भी नहीं रह जाती है। सितम्बर' १९५८ ई० में बिहार के जिला बोर्डों को भंग करने में इस तर्क का भी आश्रय लिया गया था।

परिषद् (Council) —प्रत्येक जिला-बोर्ड की एक परिषद् (Council) होती है। परिषद् जिला-बोर्ड की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था होती है, क्योंकि जिला-बोर्ड के समस्त अधिकार इसी को प्राप्त रहते हैं। इस परिषद् की सदस्य-संख्या तथा अवधि राज्य-सरकार के कानून द्वारा निश्चित की जाती है।

बिहार के जिला बोर्डों की परिषदों[1] की अवधि पाँच साल की होती थी। लेकिन राज्य सरकार विशेष परिस्थिति में इस अवधि को बढ़ा सकती थी।

पहले बिहार के जिला-बोर्ड की परिषद् के सदस्यों की अधिकतम संख्या कुल ४० निर्धारित की गई थी। परिषद् के सदस्य दो प्रकार के होते थे — निर्वाचित और मनोनीत। अधिकांश सदस्य निर्वाचित ही हुआ करते थे और कुछ राज्य सरकार

---

१ स्मरण रहे कि सितम्बर १९५८ ई० से बिहार के जिला बोर्डों की परिषदों को खत्म कर दिया गया है।

द्वारा मनोनीत। सन् १९५० और १९५४ ई० में विहार-सरकार ने जिला-बोर्ड-सम्बन्धी कानूनों में कुछ संशोधन किये, जिनके अनुसार परिषदों की अधिकतम सदस्य संख्या ४० से बढ़ाकर ५० कर दी गई और राज्य सरकार द्वारा कुछ सदस्यों के मनोनयन किये जाने की व्यवस्था का भी अन्त कर दिया गया। सन् १९५४ ई० से मनोनयन की जगह पर सवाचन (Co-option) की व्यवस्था अपनाई गई और परिषद् के दूसरे प्रकार के सदस्य (अनिर्वाचित सदस्य) अब राज्य-सरकार द्वारा मनोनीत नहीं होकर प्रथम प्रकार के सदस्यों (निर्वाचित सदस्यों) द्वारा ही सवाचित कर लिये जाते थे।

इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पहले परिषद् के निर्वाचित सदस्यों के मतदाताओं की सख्या भी सीमित ही थी, क्योंकि सम्पत्ति और शिक्षा के आधार पर ही कोई निर्वाचक हो सकता था। इतना ही नहीं, जिला-बोर्डों के चुनाव में भी पृथक् निर्वाचन की प्रथा अपनाई जाती थी। बाद में चलकर जो नई प्रजातान्त्रिक प्रणाली अपनाई गई, उसके अनुसार इन सभी बाधाओं तथा मर्यादाओं का अन्त किया गया।

सितम्बर, १९५८ ई० में भग होने के पहले, परिषद् के निर्वाचित सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष ढग से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता था। प्रत्येक जिला-बोर्ड के क्षेत्र के अन्तर्गत सभी बसे निवासी, जिनके नाम उस राज्य की विधान सभा के निर्वाचकों की सूची में दर्ज हो, अपने परिषद्-प्रतिनिधि के चुनाव में भाग ले सकते थे। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं निम्न वर्गों और पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधित्व के लिए, लोक-सभा तथा राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन-क्षेत्रों की भाँति ही, जिला-बोर्ड की परिषदों के निर्वाचन क्षेत्रों में भी दो प्रतिनिधित्ववाले निर्वाचन-क्षेत्रों (Double Member Constituency) की व्यवस्था पाई जाती थी।

इस प्रकार हम पाते हैं कि परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन प्रजातान्त्रिक पद्धति से ही होता था। फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ लेखकों का यह सुझाव था कि उत्तर-प्रदेश की भाँति विहार में भी परिषद् की अवधि को ५ वर्ष से घटाकर - वर्ष कर दिया जाता।

दूसरा सुझाव था कि इसकी सदस्यता के सम्बन्ध में इगलैंड के समान Alderman की प्रथा अपनाई जाती। भारतीय वातावरण के सर्वथा अनुकूल नहीं होने के कारण, इस सुझाव को अपनाया नहीं जा सका था।

परिषद् की सदस्यता के लिए उसके मतदाता होने के अतिरिक्त (१) सरकारी अथवा स्थानीय सस्थाओं का वेतनिक कर्मचारी और (२) जिला-बोर्ड का ठेकेदार नहीं होना आवश्यक माना गया था।

कहा जा चुका है कि जिला-बोर्ड के प्राय' सभी कार्यों का सचालन परिषद् के द्वारा ही होता था। परिषद् को जिला-बोर्ड की व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों अधिकार प्राप्त थे। व्यवस्थापिका के रूप में यह कार्यकारिणी (अध्यक्ष) और बजट पर नियन्त्रण रखती थी। अपने सदस्यों में से अध्यक्ष (Chairman) और उपाध्यक्ष (Vice-Chairman) को निर्वाचित करने के साथ साथ उनके कार्यों की देख रेख भी परिषद् ही करती थी। बोर्ड की विभिन्न समितियों का निर्माण भी परिषद् के ही द्वारा होता था। कार्यपालिका के रूप में, परिषद्, जिला बोर्ड के विभिन्न कर्मचारियों के वेतन और उनकी सेवा की शर्तों को निश्चित करनी थी। ५०० रुपये से अधिक के ठीके देने का अधिकार परिषद् को ही था। अतः, हम कह सकते है कि जिला बोर्ड के शासन में शक्ति-विभाजन (Separation of Powers), के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया था। साधारणत परिषद् की बैठक महीने में कम-से-कम एक बार होती थी, लेकिन आवश्यकता होने पर, इसकी विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती थी।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष (Chairman and Vice-Chairman)— प्रत्येक जिला-बोर्ड में एक उपाध्यक्ष होते थे[1], जो बोर्ड के प्रमुख पदाधिकारी होते थे। बहुत पहले जिला का कलक्टर (District Magistrate) ही अपने पदेन अधिकार (Ex-Officio) से जिला-बोर्ड का सभापति होता था। पीछे चलकर इस व्यवस्था का अन्त हु । और परिषद् के सदस्यों में से ही उन्ही के द्वारा अध्यक्ष और उपाध्यक्ष निर्वाचित होने लगे।

बिहार के जिला-बोर्डों के इन पदाधिकारियों का चुनाव परिषद् के सदस्यो के चुनाव के ३० दिनों के अन्तर्गत होना चाहिए था। इसी अवधि के भीतर परिषद् के सदस्य अपने में से ही ५ वर्षों के लिए एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को निर्वाचित करते थे।[2] अगर ऐसा नहीं होता, तो राज्य सरकार अध्यक्ष को अपने मन से नियुक्त कर सकती थी। परिषद् की विशेष बैठक के २/३ बहुमत से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को पदच्युत किया जा सकता था।

---

१ स्मरण रहे कि सितम्बर, १९५८ में भग होने के बाद से बिहार के जिला-बोर्डों के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष अपने पदों से हटा दिये गये हैं।

२ उत्तर-प्रदेश और मध्यप्रदेश म अध्यक्ष का निर्वाचन परिषद् के सदस्यों द्वारा न होकर आम निर्वाचको द्वारा ही प्रत्यक्ष ढग से होता ह। उत्तर-प्रदेश मे परिषद् अपने सदस्यों में से दो उपाध्यक्ष, एक सीनियर और दूसरा जूनियर, एक वर्ष के लिए निर्वाचित करती हैं।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों का पद अवैतनिक होता था, लेकिन उन्हें कुछ आवश्यक भत्ते आदि अवश्य मिलते थे।

अध्यक्ष का स्थान जिला-बोर्ड में बहुत महत्त्वपूर्ण था। इनके बहुत-से अधिकार थे—(१) परिषद् की साधारण तथा विशेष बैठकें बुलाना तथा उनकी अध्यक्षता करना, (२) बोर्ड की कार्यकारिणी का प्रधान होना, (३) बोर्ड के सभी कार्यों की देखभाल करना, (४) बजट पेश करना, (५) ५०० रुपये से कम का ठीका देना, (६) कुछ पदों को छोड़कर बोर्ड के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करना, (७) जिला बोर्ड की अधीनस्थ संस्थाओं पर नियन्त्रण रखना, (८) जिला-परिषद् में बहुमत दल का नेतृत्व करना, (९) परिषद् द्वारा पास किये गये प्रस्तावों को कार्यान्वित करना आदि।

जिला-बोर्डों के संचालन में अध्यक्ष का सर्वोच्च स्थान इसलिए भी हो जाता है कि नगर-निगम (Municipal Corporation) या विकास-विन्यास (Improvement Trust) की भाँति बोर्ड में एक प्रमुख शासकीय पदाधिकारी की व्यवस्था नहीं रहती है। बोर्ड की परिषद् तथा राज्य सरकार के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कड़ी (link) का कार्य भी अध्यक्ष ही करता था। बोर्ड की वार्षिक रिपोर्ट तैयार करके जिलाधीश तथा कमिश्नर के पास भेजने का कार्य भी अध्यक्ष को ही करना पड़ता था।

अध्यक्ष के हाथों में इन विविध तथा बहुमुखी अधिकारों के केन्द्रीभूत रहने के फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि बहुत-कुछ अंशों में अध्यक्ष का स्थान राज्य सरकार के मुख्य मंत्री और केन्द्रीय सरकार के प्रधान मंत्री से मिलता-जुलता था।

उपाध्यक्ष का काम अध्यक्ष की सहायता करना होता था और वह अध्यक्ष की अनुपस्थिति में अध्यक्ष के सभी काम करता था। उपाध्यक्ष अध्यक्ष की उपस्थिति में वे सब काम कर सकता था, जिन्हें अध्यक्ष उसको हस्तगत (Delegate) कर देता था।

अन्य कर्मचारी—प्रत्येक जिला बोर्ड में कुछ और वैतनिक पदाधिकारी तथा कर्मचारी रहते हैं जो व्यावहारिक रूप से बोर्ड के कार्यों को सँभालते हैं[1]। इन वैतनिक पदाधिकारियों में सेक्रेटरी का स्थान सबसे ऊँचा है, क्योंकि अन्य सभी कर्मचारी उसी के निरीक्षण में काम करते हैं। सेक्रेटरी के अतिरिक्त इंजीनियर, शिक्षा-अध्यक्ष, हेल्थ ऑफिसर, सफाई-निरीक्षक आदि के स्थान उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बोर्ड कार्यालय में भी अन्य वैतनिक कर्मचारी होते हैं।

---

१ जिला-बोर्डों के विघटन के बाद भी ये वैतनिक कर्मचारिगण अपने पदों पर कायम हैं।

समितियाँ – जिला-बोर्ड अपने दिन-प्रतिदिन की शासन-व्यवस्था को सँभालने के लिए विभिन्न समितियों का निर्माण करता है। जिला बोर्ड में साधारणतया ये समितियाँ पाई जाती ह –(१) शिक्षा समिति, (२) वित्त-समिति, (३) औषधि एव सफाई समिति, (४) लोक निर्माण-समिति, (५। पचायत-समिति, (६) स्वास्थ्य-समिति, (७) कार्यकारिणी समिति आदि।

प्रत्येक नये चुनाव के बाद होने वाली परिषद् की पहली बेठक में इन समितियों का निर्माण होता था। ये समितियो लगभग स्थायी होती थीं और प्रत्येक में ३ या ४ सदस्य होते थे। इनकी बेठकों में बाहरी विशेषज्ञ और सरकारी पदाधिकारी भी भाग ले सकते थे। उपर्युक्त समितियों में कार्यकारिणी समिति सर्वप्रधाम समिति होती थी और स्वय अध्यक्ष इसका सभापति हुआ करता था।

इन समितियों के अलावा, मौका आ जाने पर, किसी खास काम के लिए, अस्थायी समितियो का भी निर्माण किया जा सकता था।

इन समितियों की बेठक समय समय पर होती थीं और ये विभिन्न समितियो अपने-अपने नाम से ताल्लुक रखनेवाले कार्यों का प्रशासन करती थीं, जो इन्हें परिषद् द्वारा सौंपी जाती थीं। कुछ विद्वानों का यह आरोप है कि जिला-बोर्ड की समितियो सुव्यवस्थित ढग से अपना काम नहीं सॅभालती थीं। इसका प्रमुख कारण यह था कि समितियों को जो काम करने को दिया जाता था, उसके हेतु उन्हें पूरा उत्तरदायित्व नहीं सौंपा जाता था, क्योंकि परिषद् एव अध्यक्ष हमेशा कुछ-न-कुछ हस्तक्षेप करते रहते थे। परिणाम-स्वरुप समितियाँ अपने उत्तरदायित्व को निभाने में सक्रिय उत्साह (Creative interest) नहीं दिखलाती थीं।

जिला-बोर्ड के कार्य

जिला-बोर्ड के कामों को हम दो भागों में बॉट सकते है—आवश्यक (Obligatory) और ऐच्छिक (Optional)। आवश्यक कार्य उसे कहते है, जो जिला-बोर्ड को अधिनियम के अन्तर्गत, अनिवार्य रूप से करना ही पडता है। ऐच्छिक कार्य उसे कहते कहते हैं, जिसे जिला बोर्ड अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार स्वेच्छा से, लेकिन राज्य-सरकार की अनुमति लेकर, करता है।

अनिवार्य कार्य—जिला बोर्ड के अनिवार्य कार्यों को हम (१) लोक-निर्माण, (२) शिक्षा, (३) जन स्वास्थ्य एव सफाई और (४) चिकित्सा नामक चार प्रमुख शीर्षकों से अन्दर बॉट सकते हैं।

१) लोक निर्माण के अन्दर सड़कों का निर्माण, उनकी मरम्मत और उनके किनारे वृक्षों का लगवाना, पुलों का निर्माण और उनकी मरम्मत, चिकित्सालय-भवनों तथा डाक-बगलों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत, पुराने कुएँ और तालाबों आदि की मरम्मत

तथा नये कुएँ बनवाना आदि काम आते हैं। बोर्ड के अन्तर्गत शिक्षण-संस्थाओं के भवनों का निर्माण, उनकी मरम्मत तथा नदियों में घाटों तथा नावों की व्यवस्था को भी हम इसी मद में गिन सकते हैं।

(२) शिक्षा के अन्तर्गत प्रारंभिक शिक्षा के हेतु प्राइमरी तथा मिडिल स्कूलों की स्थापना और उनका प्रबंध।

(३) संक्रामक बीमारियों के फैलने से बचाव, टीका और सूई देने के कार्य, सड़ी-गली चीजों के क्रय-विक्रय पर नियंत्रण, हानिकारक व्यापारों पर प्रतिबन्ध आदि कार्य जन स्वास्थ्य एवं सफाई शीर्षक के अन्तर्गत आते हैं।

(४) मनुष्यों तथा पशुओं के लिए चिकित्सालयों की स्थापना और उनके प्रबंध के कार्य, जिला बोर्ड के अनिवार्य कार्य की चौथी श्रेणी में आते हैं।

(५) उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त हाट और बाजार का प्रबन्ध और काजी हाउसों (मवेशी-फाटकों) की व्यवस्था आदि भी जिला बोर्ड के अनिवार्य कार्यों में ही परिगणित किये जाते हैं।

ऐच्छिक कार्य जिला-बोर्डों के ऐच्छिक कार्यों में निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(१) जनगणना तथा जन्म-मृत्यु के आंकड़े रखना।

(२) लघु सिंचाई-योजना के अन्दर नहर, कुएँ, तालाब आदि का निर्माण और उनकी मरम्मत और उनके द्वारा कृषि की उन्नति।

(३) ग्राम या बस-सर्विस सदृश यातायात के साधनों का प्रबन्ध करना।

(४) वयस्क शिक्षा का प्रबन्ध।

(५) मनोरंजन-गृहों, पार्कों, अनाथालयों आदि की स्थापना।

(६) प्रदर्शनी तथा मेलों का प्रबन्ध तथा अकाल और संकट के समय जनता की सहायता आदि।

लोक-निर्माण के अन्तर्गत जिला बोर्ड पहले अपने क्षेत्र में सभी सड़कों की व्यवस्था करता था, लेकिन अब सड़कों का वर्गीकरण तीन भागों में कर दिया गया है जैसे राष्ट्रीय पथ, राज्य-पथ और स्थानीय पथ। जिला बोर्ड अब केवल तीसरे प्रकार की सड़कों की व्यवस्था करता है। राज्य-सरकार ने बहुत-सी सड़कें लोक निर्माण-विभाग (Public Works Department) को सौंप दी हैं। अत, अब जिला बोर्ड का लोक निर्माण-सम्बन्धी कार्य बहुत ही कम हो गया है।

पहले, शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों में जिला-बोर्ड प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था करता था, परन्तु सन् १९५४ ई० से माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध पूर्णतया जिला-बोर्ड के हाथों से ले लिया गया और उसपर राज्य सरकार का नियंत्रण हो गया। प्रारम्भिक शिक्षा जिला-बोर्ड के हाथ में छोड़ दी गई है, लेकिन भ्रष्टाचार

के कारण राज्य-सरकार ने जिला-शिक्षा-अधीक्षक (District Superintendent of Education के द्वारा इस क्षेत्र में भी नियंत्रण की जंजीर कड़ी कर दी है। इन स्कूलों के शिक्षकों की नियुक्ति का अधिकार तो बोर्ड को है, लेकिन उन शिक्षकों के विरुद्ध, बिना जिला शिक्षा-अधीक्षक की अनुमति के, कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती है। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में बोर्ड का नाममात्र का नियंत्रण रह गया है।

पहले चिकित्सा के क्षेत्र मे जिला-बोर्ड अस्पतालों की स्थापना और उनका प्रबन्ध करता था, परन्तु पिछले कुछ सालों में अस्पतालों की व्यवस्था मे गड़बड़ी आ जाने के कारण राज्य-सरकार ने बहुत-से अस्पतालों का प्रान्तीयकरण कर लिया है।

आय के साधन

(Sourtces of Income)

जिला-बोर्डों के उपरिवर्णित कार्यों के विश्लेषण से हम पाते हैं कि ऐच्छिक कार्यों की बात तो दूर रही, अनिवार्य कार्यों को भी बोर्ड समुचित तथा सफल रूप से सम्पादित नहीं कर पाया है। भोर-आयोग (Bhore Commission) के अनुसार जिला-बोर्ड के बहुत-से कामो का प्रान्तीयकरण हो गया है और जो बचे खुचे काम हैं, उनमें काफी भ्रष्टाचार एवं आर्थिक न्यूनता के कारण यह (जिला-बोर्ड) सफल नहीं हो सका है, इन्हीं सब कारणों का परिणाम हुआ कि सितम्बर, १९५८ ई० में बिहार के जिला-बोर्डों की स्वायत्तता जाती रही।

किसी भी सस्था की कार्य-क्षमता जाँचने के लिए हमें उसकी आय के साधन पर ध्यान देना अत्यन्त ही आवश्यक है। अत', जिला-बोर्ड की आय (Income) को मद्देनजर रखते हुए हम इसकी आय के ये प्रमुख साधन पाते हैं—(१) सड़क-कर (Road cess), (२) सहाय्य-अनुदान (Grants-in aid), (३) टौल (Toll), (४) कर्ज (Loan), (५) रजिस्ट्रेशन फीस (Registration Fees), (६) जुर्माना (Fine), (७) विविध आदि।

(१) जिला बोर्ड की आमदनी का मुख्य जरिया सड़क-कर (Road cess) है। सभी जिलों में सड़क कर जमीन की मालगुजारी पर रुपये में दो आने के हिसाब से लगाया जाता है। इसका मुख्य दोष यह है कि जमीन की मालगुजारी जो सैकड़ों वर्ष पूर्व तय की गई थी, वही आज भी कर का आधार मानी जाती है, अत न्याय नहीं हो पाता है। यह कर राज्य-सरकार मालगुजारी के साथ वसूलती है और बाद में जिला-बोर्ड को दे देती है। जमींदारी-उन्मूलन के बाद से यह आमदनी बहुत ही कम हो गई है।

(२) जिला-बोर्ड की आय का दूसरा साधन सरकारी अनुदान (Grants-in-aid) है। सरकारी अनुदान देने का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं अपनाया गया है, बल्कि हरएक कार्य के लिए आवश्यकतानुसार यह अनुदान दिया जाता है। जिला बोर्ड की आय में कमी के कारण सरकारी अनुदान की मात्रा बढा दी गई है, फिर भी उनकी आर्थिक अवस्था दयनीय है। सरकारी अनुदान देने में कोई खास नियम नहीं रहने के कारण पक्षपात की सम्भावना ज्यादा बनी रहती है। अनुदान के सम्बन्ध में यह कहते हुए कि भारतीय अनुदान की प्रणाली सन्तोषजनक नहीं है, डॉ० ज्ञानचन्द ने यह सुझाव दिया है कि किसी भी संस्था को अनुदान उसकी क्षमता (According to capacity) और आवश्यकता (according to need) के अनुसार दी जाय।

(३) जिला-बोर्ड की आमदनी का तीसरा जरिया टॉल (Toll) है। अगर कोई जिला-बोर्ड किसी नदी पर पुल बनवाता है, जिसकी लागत २५०० रु० से ज्यादा है, तो उस पुल पर यातायात-कर (Toll) लगाया जाता है। ऐसा कर मुख्यतः उत्तर-बिहार में लगाया जाता है। नदियों में घाटों तथा नावों की व्यवस्था से भी बोर्ड को कुछ आमदनी हो जाती है।

(४) जिला बोर्ड राज्य-सरकार या जनता से निश्चित सूद की दर पर निश्चित समय के लिए कर्ज (Loans) भी ले सकता है, परन्तु साधारणतया कर्ज रचनात्मक (Constructive) कार्यों के लिए ही लिया जाता है।

(५) जिला-बोर्ड की आमदनी का जरिया बैलगाड़ी, तांगा आदि पर लगाई गई रजिस्ट्रेशन-फीस (Registration Fees) है।

(६) पशु-शालाओं से जुर्माने के रूप में कुछ आमदनी हो जाती है।

(७) उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त जिला-बोर्डों को बाजार, मेला आदि से भी कुछ आय इकट्ठी हो जाती है।

अपने अधीनस्थ स्कूलों से प्राप्त फीस भी जिला-बोर्ड की आमदनी के साधन हैं। इसी तरह बोर्डों के अन्दर डाक-बंगलों में ठहरनेवालों से प्राप्त ठहराव-फीस (Halting Charge) और जिला-बोर्ड की सड़कों के किनारे के वृक्षों तथा उनके फलों के विक्रय से भी बोर्ड को कुछ आमदनी हो जाती है। जिला बोर्ड सिंचाई एवं सामूहिक विकास के कार्यों के लिए भी कुछ शुल्क वसूल कर सकता है।

आय के उपरिलिखित प्रमुख स्रोतों के रहते हुए भी जिला बोर्ड सतत गरीबी का शिकार रहा है। सभी विद्वान् लेखकों ने जिला बोर्ड के आर्थिक अभाव को स्वीकार किया है। Local Finance Enquiry Committee ने तो इसकी आर्थिक न्यूनता दूर करने के लिए कई सुझाव भी दिये।

राजकीय नियंत्रण

(State Control)

१५ सितम्बर, १९५८ ई० से तो बिहार के सभी जिला बोर्डों का शासन पूर्णतया राज्य-सरकार के हाथों में चला ही आया है और आजकल प्रत्येक जिला-बोर्ड का शासन उस जिले का जिलाधीश (District Magistrate) एक स्पेशल ऑफिसर की सहायता से चल ही रहा है, लेकिन इस तिथि के पहले भी बिहार के जिला-बोर्डों पर राजकीय नियन्त्रण की अनुपस्थिति नहीं थी। अर्थात्, जिन दिनों बिहार के जिला-बोर्ड स्थानीय स्वशासन की एक इकाई के रूप में कार्य करते थे उन दिनों भी उनके कार्यों की देखरेख राज्य-सरकार का स्वायत्त शासन विभाग (Local-Self Government Department) करता था, जो एक मन्त्री के अधीन रहता है। जिला-बोर्ड पर राजकीय नियन्त्रण को हम मुख्यतः चार भागों में बाँट सकते हैं—

(१) विधायिनीय नियन्त्रण (Legislative control),
(२) प्रशासकीय नियन्त्रण (Administrative control),
(३) वित्तीय नियन्त्रण (Financial control),
(४) न्यायिक नियन्त्रण (Judicial control),

१) जिला-बोर्ड का निर्माण, उसके अधिकार एवं कर्त्तव्य सभी राज्य सरकार की व्यवस्थापिका सभा के कानून द्वारा निश्चित किये जाते हैं। जिला-बोर्ड के अधिकारों को घटाना या बढाना व्यवस्थापिका सभा के हाथों में रहता है। व्यवस्थापिका सभा के द्वारा जिला-बोर्ड के Charter में संशोधन किया जा सकता है।

(२) राज्य-सरकार जिला-बोर्ड के कार्यों पर जिलाधीश और कमिश्नर के द्वारा नियन्त्रण करवाती है। जिला-बोर्ड के नाजायज कामों को जीलाधीश रद्द कर सकता है। जिला-बोर्ड अगर कोई काम, जो जनता के हित के लिए अत्यन्त आवश्यक है, नहीं करता है, तो जिलाधीश उस काम को जिला-बोर्ड से करवा सकता है या स्वयं कर सकता है और उस काम का खर्च जिला-बोर्ड को ही देना पड़ेगा। राज्य-सरकार इसपर भी ध्यान रखती है कि अनुदान जिस काम के लिए जिला-बोर्ड को दिया गया है, वह उसी काम पर सुव्यवस्थित रूप से खर्च होता है या नही।

(३) जिला-बोर्ड का सालाना बजट (Budget) राज्य-सरकार के द्वारा मंजूर किया जाता है। इसके अलावा राज्य सरकार जिला-बोर्ड को किसी निश्चित योजना पर कम या ज्यादा खर्च के लिए आदेश दे सकती है। पुन, राज्य-सरकार अपने लेखा-परीक्षक (Auditor) के द्वारा जिला-बोर्ड के आय-व्यय की जाँच

करवाती है। दिन-प्रतिदिन ज्यों-ज्यों अनुदान देने की मात्रा बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों राज्य-सरकार का नियंत्रण भी जिला-बोर्ड पर बढ़ता जाता है। राजकीय कर्ज-भार से दबे हुए जिला बोर्ड पर सरकारी नियंत्रण की कड़ी और भी जकड़ी रहती है।

(४) अगर जिला-बोर्ड अपने अधिकार की सीमा का उल्लंघन करता है; तो न्यायालय के द्वारा जिला-बोर्ड पर नियंत्रण की बागडोर कसी जाती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि बिहार के जिला-बोर्डों पर राजकीय नियंत्रण प्रचुर मात्रा में पहले से ही रहा है। राज्य-सरकार ने नियंत्रण के इस अधिकार का काफी प्रयोग भी किया था। स्मरण रहे कि सन १९५८ ई० में विघटित होने के पूर्व लगभग १० वर्षों से कितने बोर्डों का चुनाव तक नहीं कराया गया था।

प्रश्न उठता है कि जिला-बोर्डों पर राजकीय नियंत्रण रहे या नहीं? लेखक डॉ० ज्ञानचन्द के इस मत से सर्वथा सहमत है कि "स्थानीय स्वशासन के समुचित विकास और उसे रचनात्मक कामों की ओर प्रेरित करने के लिए कुछ-न-कुछ मात्रा में राजकीय नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक है।" लेकिन नियंत्रण की मात्रा इतनी प्रचुर न हो जाय कि स्थानीय संस्था का स्वायत्त गुण ही नष्ट हो जाय और न इतनी कम हो कि भ्रष्टाचार और दोष बढ़ते जायँ और राज्य सरकार देखती रहे, लेकिन हस्तक्षेप नहीं कर सके। डा० एम० पी० शर्मा ने ठीक ही कहा है कि राजकीय नियंत्रण रचनात्मक हो न कि संहारात्मक।

जिला-बोर्ड के विघटन का प्रश्न

जिला-बोर्ड, स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में, रहे या नहीं रहे, इस सम्बन्ध में शुरू से ही विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों, जैसे डा० एम० पी० शर्मा और श्री डी० पी० मिश्र आदि, ने अपने विचार जिला-बोर्ड के रहने के पक्ष में प्रकट किये हैं, क्योंकि उन लोगों की समझ से जिला-बोर्ड में हानि से लाभ की मात्रा ज्यादा पाई जाती है। उनकी राय में जिला-बोर्ड ही अन्य अधीनस्थ स्थानीय संस्थाओं पर नियंत्रण के साथ साथ तारतम्य (Co-ordination) सुचारु रूप से कायम रखता है। परन्तु, दूसरे पक्ष के विद्वान, जैसे डा० ज्ञानचन्द, ने जिला बोर्ड के रहने का घोर विरोध किया है, क्योंकि यह संस्था अच्छाई की अपेक्षा बुराई से ज्यादा भरी हुई है। बिहार के जिला-बोर्ड इस कथन के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। जिला बोर्डों को हटा देने के पक्ष में निम्न-लिखित तर्क दिये गये हैं—

सर्वप्रथम जिला-बोर्ड का क्षेत्र बहुत ही दोषपूर्ण है। बड़ा क्षेत्र होने के कारण जिला-बोर्ड स्वायत्त शासन की सफल एवं सुदृढ़ इकाई नहीं हो सकता है।

डा० ज्ञानचन्द ने भी क्षेत्र-सम्बन्धी दोषों पर तीव्र आक्षेप किया है। कुछ जिले, जैसे दरभंगा, इतने बड़े हैं कि जिला-बोर्ड के सदस्यों और साधारण नागरिकों के बीच सहयोग (Co-operation) की भावना, जो सफल प्रजातंत्र की पहचान है, नही पाई जाती है।

राजनीतिक चेतना के अभाव में व्यक्तिगत लाभ की भावना इस मात्रा में जिला-बोर्ड के अध्यक्ष और सदस्यों मे पाई जाती है कि वे लोक-कल्याण की बात सोचते ही नहीं हैं। बलवतराय मेहता-कमिटी ने भी इस ओर ध्यान आकृष्ट कराया है कि अध्यक्ष बहुमत दल का नेता होता है, जिसके फलस्वरूप अध्यक्ष का बोलवाला सम्पूर्ण जिला-बोर्ड मे पाया जाता है। जो नियुक्तियाँ अध्यक्ष के द्वारा होती हैं, उनमें केवल सगे सम्बन्धियों की बहाली की जाती है, ठीका इत्यादि भाई-बन्धुओं को दिये जाते हैं। अध्यक्ष अपने को राजनीति का पंडित बतलाते हुए स्वार्थ-साधन मे लगे रहते हैं। विपक्षी दल के बारे मे कभी कुछ नही सोचा जाता है।

एक ओर जिला-बोर्ड के ऊपर बृहत् कार्य का भार है और दूसरी ओर आर्थिक न्यूनता पाई जाती है। आर्थिक के न्यूनता रहते हुए भी कर्मचारी आय का दुरुपयोग करते हुए पाये गये हैं। पहले हजार-के-हजार जल-नल (water-pipe) जिला-बोर्ड मे पड़े रहने पर भी जनता को नही दिये जाते थे। लेखा-परीक्षा मे पूर्णतया अपव्यय घोषित करने पर भी अपव्यय करनेवाले कर्मचारी से हरजाना नहीं वसूला जाता था। इगलेंड के स्थानीय स्वशासन मे भ्रष्टाचार की कमी का एक कारण यह भी है कि अपव्यय कर्मचारी से वसूला जाता है। दुर्भाग्यवश, बिहार के जिला-बोर्ड भी इन दोषों से मुक्त नही थे।

इन तर्कों के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि जिला-बोर्डों के कार्यकरण सतापप्रद नही होने के कारण इनके अधिकाश कार्यों को राज्य सरकार ने अपने हाथों में ले लिया है और इस वजह से भी जिला-बोर्डों की अब कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह गई है।

भारतीय संविधान की ४०वीं धारा मे राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वो के अन्तर्गत यह कहा गया है कि राज्य ग्राम पंचायतों को बढावा देगी और उनकी स्थापना करेगी, जिससे वे स्थानीय स्वशासन की सच्ची इकाई हो सकें। अस्तु, बिहार सरकार ने भी 'ग्राम-पचायतराज ऐक्ट' पास किया और बहुत जोरों से ग्राम-पचायतो की स्थापना हो रही है। इन अधिनियमों के द्वारा ग्राम-पचायतो को अधिकार एवं कर्त्तव्य दिये गये है, यदि ग्राम-पंचायतें उन अधिकारो और

कर्त्तव्यों को निभाना शुरू कर दें, तो जिला-बोर्ड बेकार हो जायगा; क्योंकि दोनों के कार्य बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। अर्थात् देहाती क्षेत्रों के लिए स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में ग्राम-पंचायतों की स्थापना और प्रगति का अवश्यम्भावी परिणाम है जिला-बोर्डों की निस्सारता तथा अनुपयोगिता।

जिला-बोर्ड का स्थान ग्राम-पंचायत से उच्च स्तर पर है। परिणामस्वरूप जिला-बोर्ड ग्राम-पंचायत के दिन-प्रतिदिन के कामों का निरीक्षण और नियंत्रण करता है। परन्तु दोनों संस्थाओं के काम समान होने के कारण जिला-बोर्ड में प्रतिद्वन्द्विता की भावना जग उठती है। अतः जिला-बोर्ड ग्राम-पंचायत की उन्नति देखने को तैयार नहीं है। ऐसी हालत में जिला-बोर्ड का विघटन भी आवश्यक हो जाता है।

जिला-बोर्डों के पक्ष और विपक्ष में उपर्युक्त तर्क-वितर्क चल ही रहे थे कि बिहार के जिला-बोर्डों की शासन-व्यवस्था में भ्रष्टाचार, अयोग्यता तथा पक्षपात इस प्रकार बढ़ गये कि उनमें सुधार लाने के बजाय १५ सितम्बर, १९५८ ई० को राज्यपाल के अध्यादेश के अनुसार उनका विघटन ही कर दिया गया है। इसके लिए बिहार व्यवस्थापिका-सभा द्वारा एक कानून भी पास कर दिया गया है और एक समिति बनाई गई है, जो जिला-बोर्ड के भविष्य के बारे में अपने सुझाव रखेगी। तत्काल प्रत्येक जिला-बोर्ड के लिए एक स्पेशल ऑफिसर की बहाली हुई है, जो इसकी देख-भाल करता है। यहाँ यह बतला देना उचित है कि जिला-बोर्ड के विघटन का अर्थ जिला-बोर्ड का पूर्ण विघटन नहीं है; वरन् जिला-बोर्ड की स्वायत्तता यानी प्रजातांत्रिक गुण, जैसे परिषद् एवं अध्यक्ष का चुनाव आदि, नष्ट कर दिये गये हैं। कहा जा चुका है कि बिहार के जिला-बोर्ड अब स्थानीय स्वायत्त शासन की इकाई न होकर स्थानीय शासन की इकाई हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या जिला-बोर्ड का पूर्ण विघटन कर देना चाहिए? इसे कतई अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि असंतोषप्रद कार्यकरण के अतिरिक्त जिला-बोर्डों के महत्त्वपूर्ण कार्यों के राज्य-सरकार द्वारा स्वयं किये जाने तथा इसके बचे-खुचे काम ग्राम-पंचायतों द्वारा किये जाने की पृष्ठभूमि में जिला-बोर्डों की कोई विशेष उपयोगिता रह नहीं जाती है। फिर भी, यह लेखक जिला-बोर्डों के 'शीघ्र तथा पूर्ण विघटन' के पक्ष में नहीं है। ठीक ही कहा गया है कि जिला-बोर्ड के दोष, उसके कार्यों और उत्तरदायित्वों के दोष हैं, संस्था के नहीं। इस तरह के दोषों से हमारे देश की अन्य शासन-संस्थाएँ भी तो मुक्त नहीं हैं।

अतः जिला-बोर्डों का पूर्ण विघटन नहीं कर उनमें प्रभावी सुधार शीघ्र करना चाहिए। इसके उच्च शासकीय पदाधिकारियों की नियुक्ति स्वतंत्र रूप से होनी चाहिए, इसकी आमदनी बढनी चाहिए, परिषद् के सदस्यों के निर्वाचन में दलबन्दी की प्रवृत्ति कम होनी चाहिए तथा सरल कार्यभार ही जिला बोर्ड को दिया जाना चाहिए।

जिला बोर्ड के भविष्य के सम्बन्ध में सुझाव देने के हेतु विहार सरकार द्वारा स्थापित २५ सदस्यों की एक समिति ने जिला बोर्डों के पूर्ण विघटन के पक्ष में अपनी राय दे दी है। इस समिति की सम्मति में जिला-बोर्डों को इसलिए उठा दिया जाना चाहिए कि इसकी कोई उपयोगिता अब रह नहीं गई है और ये वर्तमान काल की आवश्यकताओं को पूरा कर सकने में असमर्थ हैं।

इस समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं —

जिला-बोर्डों को उठा दिया जाय और उनके बदले प्रत्येक प्रखण्ड (Block) के लिए एक प्रखण्ड-समिति और प्रत्येक जिला के लिए एक जिला-परिषद् की स्थापना की जाय।

प्रखण्ड-समिति—प्रत्येक प्रखण्ड, यानी (Block) के लिए एक प्रखण्ड-समिति होगी। इस समिति में निम्नलिखित सदस्य होंगे—

(१) सहकारिता-समितियों के तीन प्रतिनिधि,

(२) उस क्षेत्र के विशेष हितों के दो प्रतिनिधि,

(३) दो स्त्रियाँ,

(४) अनुसूचित जातियों के दो प्रतिनिधि,

(५) उस क्षेत्र के राज्य विधानमण्डल तथा संसद् के सभी सदस्य,

(६) एस० डी० ओ०, बी० डी० ओ० और प्रखण्ड-स्तर के सभी अफसर।

इस समिति के एक सभापति तथा एक उप-सभापति भी होंगे, जो समिति के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होंगे।

समिति की कृषि, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, अर्थ, कुटीर-उद्योग इत्यादि सम्बन्धी स्थायी समितियाँ भी होंगी। इस समिति को खादी-बोर्ड के समान राज्य, केन्द्र तथा अन्य निकायों से आर्थिक अनुदान मिला करेगा।

प्रखण्ड समिति ब्लॉक स्तर पर जिला परिषद् का प्रतिरूप (Counter part) होगी और अपने स्तर पर तथा अपने क्षेत्र में कुछ परिवर्तनों के साथ लगभग वही सब कार्य

करेगी, जो जिला-स्तर पर जिला परिषद् करेगी। प्रखण्ड-समितियों के प्रस्तावों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व बी० डी० ओ० पर रहेगा।

जिला-परिषद्—जिला-बोर्डों के बदले में जिला-परिषदों की स्थापना होगी। जिला परिषद् के निम्नलिखित सदस्य होंगे—

(१) जिलान्तर्गत सभी प्रखण्ड-समितियों के सभापति,
(२) उस जिले के सभी संसदीय तथा राज्य-विधानमंडल के सदस्य,
(३) अनुसूचित जातियों के दो प्रतिनिधि,
(४) यदि उस क्षेत्र में अनुसूचित जनजातियाँ (Tribes) हों, तो उनके दो सदस्य,
(५) सहकारिता-समितियों के दो निर्वाचित सदस्य
(६) विकासात्मक कार्यक्रमों से सम्बन्धित जिला-स्तरीय सभी अफसर लोग। इन लोगों को वोट देने का हक नहीं होगा।

जिला मजिस्ट्रेट यानी कलक्टर भी इस समिति के पदेन (Ex-officio) सदस्य होंगे, लेकिन उन्हें भी वोट देने का अधिकार नहीं होगा।

प्रत्येक जिला परिषद् की अवधि पाँच वर्षों की होगी और जिला विकास-अफसर (District Development Officer) परिषद् के मंत्री होंगे।

जिला परिषद् एक परामर्शदात्री निकाय (Advisory body) के रूप में वहीं सब कार्य करेगी, जो अनपूर्व जिला-बोर्ड किया करते थे।

अपने क्षेत्र की सभी प्रखण्ड-समितियों के बजट की छानबीन करना, उनके बीच वित्त-विभाजन, उनके कार्यों की समीक्षा तथा उनके बीच सामञ्जस्य स्थापित करना जिला परिषदों के मुख्य कार्य होंगे। जिला-मजिस्ट्रेट को विशेषाधिकार रहेगा कि वह जब और जैसे आवश्यक समझे, जिला परिषदों को भंग कर दे। राज्य-सरकार को भी यह अधिकार रहेगा कि वह यदि समझे कि जिला-परिषद् अपने अधिकारों के कार्यान्वयन में असफल रही है या अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर रही है या अपनी अधिकार-सीमा से बाहर जा रही है, तो वह भी जिला-परिषदों को स्थगित (suspend) कर सकती है।

तत्पश्चात् बलवन्तराय मेहता-समिति के सुझाव और बिहार-सरकार द्वारा संगठित समिति के सुझाव के आधार पर १५ सितम्बर, १९५८ ई० को राज्यपाल के अध्यादेश द्वारा जिला-बोर्डों को समाप्त कर दिया गया। बाद में बिहार सरकार द्वारा उस अध्यादेश

को कानून का रूप दे दिया गया। अब पचायतराज कानून के मुताबिक जिला-स्तर पर जिला-परिषद् तथा प्रखण्ड-स्तर पर पचायत-समिति की स्थापना हो रही है।

प्रश्न

१ बिहार के जिला बोर्डों के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
Describe the structure and workings of the District Boards in Bihar

२ बिहार के जिला-बोर्डों के कार्यकरण में क्या दोष हैं? उन्हे दूर करने के सुझाव दीजिए।
Discuss the defects in the functioning of the District Boards in Bihar. Suggest remedies for the removal of these defects.

३ बिहार के जिला बोर्डों के कौन-कौन-से कार्य हैं? उन्हें पूर्णतः समाप्त करने के सम्बन्ध में आपका क्या मत है?
What functions are performed by the District Boards in Bihar? What is your opinion regarding their complete abolition?

४. क्या आपकी सम्मति में बिहार के जिला-बोर्डों की आय के साधन उनके कार्यों के सपादन के लिए पर्याप्त हैं? यदि नहीं, तो सुझाव दीजिए।
Do you think the financial resources of the District Boards in Bihar are sufficient for executing the duties imposed upon them? If not, suggest remedies.

❀

७

नगरपालिका

(Municipality)

हमारे देश म शहरी क्षेत्रों (Urban Areas) के लिए पाई जानेवाली स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं[1] में नगरपालिका या म्युनिसिपैलिटी (Municipality) का एक महत्वपूर्ण स्थान है। नगरपालिका स्थानीय शहरी स्वशासन की सर्वोच्च संस्था नहीं होती है, क्योंकि इस क्षेत्र में नगर-निगम या कारपोरेशन (Corporation) का दर्जा नगरपालिका से ऊँचा होता है। लेकिन कारपोरेशन तो हमारे देश के सिर्फ बड़े-बड़े और इने गिने शहरों[2] में ही पाये जाते हैं। अतः स्थानीय स्वशासन की दृष्टि से सामान्यतः भारत के नगरों या शहरों की देख-रेख नगरपालिका ही करती है। नगरपालिकाएं अपने देश के प्रायः सभी शहरों में पाई जाती हैं

स्थापना—संविधान के अनुसार नगरपालिकाओं की स्थापना 'राज्य-सूची' के अन्तर्गत है। हमारे मौजूदा संविधान के लागू होने के पहले भी नगरपालिकाओं की स्थापना राज्य-सरकार द्वारा ही होती थी।

बिहार में नगरपालिकाओं की स्थापना का इतिहास सन १८६४ ई० से शुरू होता है, क्योंकि इसी वर्ष सर्वप्रथम दरभंगा, मुजफ्फरपुर, भागलपुर, मुंगेर, छपरा आदि स्थानों में नगरपालिकाएँ संगठित हुई। बाद में चलकर सन १९२२ ई०में एक म्यूनिसिपल ऐक्ट बनाया गया और तब से बिहार की नगरपालिकाओं का संगठन इसी ऐक्ट के अनुसार होता रहा है। फिलहाल बिहार में कुल नोटिफाइड एरिया सहित नगरपालिकाओं की संख्या ६८ है।

---

१. नगर-निगम या कारपोरेशन (Corporation), नगरपालिका या म्युनिसिपैलिटी (Municipality), नोटिफायड-एरिया कमिटी आदि।

२. जब किसी शहर की नगरपालिका के लिए वहाँ के कार्यों का संभालना मुश्किल हो जाता है तभी उस शहर में नगर निगम (Corporation) स्थापित किया जाता है।

सगठन —बिहार-राज्य के किसी भी शहरी क्षेत्र में नगरपालिका को स्थापित या सगठित करने का अधिकार बिहार-सरकार को ही है।

मौजूदा कानून के अनुसार बिहार के किसी भी शहर में नगरपालिका की स्थापना तभी की जा सकती है जबकि (१) उसकी जनसंख्या कम-से-कम ५००० हो, (२) वहाँ प्रति वर्गमील जनसख्या का घनत्व १००० हो और (३) वयस्क निवासियों की जनसख्या का कम-से-कम तीन चौथाई भाग कृषि के अतिरिक्त जीविका के अन्य साधनों में लगा हो।

फिर भी, यदि राज्य-सरकार चाहे तो अन्य किसी ऐसे शहर में भी जहाँ उपर्युक्त दशाएँ नहीं पाई जाती हों, नगरपालिका की स्थापना कर सकती है। इस विशेषाधिकार के प्रयोग की बात तो दूर रही, बिहार राज्य के बहुत-से शहरों, जैसे शेखपुरा, तेघड़ा, झरिया, बरौनी आदि, की आबादी ५००० से ज्यादा रहने पर भी वहाँ नगरपालिकाओं की स्थापना अबतक नहीं हो सकी है।

प्रत्येक नगरपालिका की सीमा या क्षेत्र राज्य-सरकार ही निर्धारित करती है और उस क्षेत्र को घटाने-बढ़ाने का अधिकार भी राज्य-सरकार को ही है।

नगरपालिका के अग

लगभग भारत के सभी भागों में नगरपालिका के चार अग होते हैं—

(१) म्युनिसिपल कौंसिल या नगरपालिका-परिषद्

(२) कमिटियाँ,

(३) अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष,

(४) नगरपालिका के कर्मचारिगण।

नगरपालिका-परिषद् (Municipal Council) —प्रत्येक नगरपालिका के कार्यों के सचालन के लिए एक परिषद् (Council) होती है, जिसे नगरपालिका-परिषद् की सज्ञा दी जाती है। इस परिषद् के सदस्यों को म्युनिसिपल कमिश्नर कहा जाता है। बिहार म्युनिसिपल ऐक्ट के सशोधन (१६५५) के अनुसार किसी भी परिषद् की सदस्य-सख्या १० से कम और ४० से ज्यादा नहीं हो सकती है। प्रत्येक परिषद् की सदस्य सख्या राज्य सरकार उस नगरपालिका की जनसंख्या के आधार पर निर्धारित करती है।

नगरपालिका-परिषद् के सदस्यगण दो प्रकार के होते हैं—(१) निर्वाचित सदस्य और (२) राज्य-सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य[1]।

मौजूदा कानून के अनुसार बिहार राज्य की नगरपालिका-परिषदों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या परिषदों की कुल सदस्य-संख्या का कम-से-कम ⅘ भाग यानी ८० प्रतिशत होनी चाहिए। किसी भी परिषद् में मनोनीत सदस्यों की संख्या २० प्रतिशत यानी ⅕ भाग से अधिक नहीं होगी।

परिषद् के निर्वाचित सदस्य सम्बन्धित नगरपालिका के क्षेत्र में बसनेवाले लोगों द्वारा निर्वाचित होते हैं। म्युनिसिपल कमिश्नरों के चुनाव में वोट देनेवालों के लिए पहले शिक्षा, सम्पत्ति आदि की कुछ विशेष योग्यताएँ निर्धारित थीं। लेकिन बिहार म्युनिसिपल ऐक्ट (संशोधन १९५५) के अनुसार अब बालिग मताधिकार (Adult franchise) के आधार पर ही चुनाव होता है। कमिश्नरों का चुनाव ५ साल के लिए होता है।

नगरपालिका के चुनाव में उस क्षेत्र के सभी वयस्क स्त्री और पुरुष वोट दे सकते हैं, बशर्ते कि—(क) उनकी उम्र २१ वर्ष की हो, (ख) वे भारत के नागरिक हों और उस शहर में कम-से-कम छह महीनों से रह रहे हों, (ग) पागल या दिवालिया न हों, (घ) चोरी-डकैती आदि के अपराध में दंडित न हुए हों, और (ङ) निर्वाचक सूची में उनके नाम दर्ज हों।

इसी प्रकार नगरपालिका-परिषद् की सदस्यता के लिए प्रत्येक उम्मीदवार के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक हैं—

(क) कम-से-कम एक भाषा का ज्ञान अच्छी तरह हो,

(ख) राज्य-सरकार के अधीन वेतनभोगी कर्मचारी न हो,

(ग) नगरपालिका का कर्मचारी या ठेकेदार न हो,

(घ) किसी अपराध में दण्डित नहीं हुआ हो।

परिषद् के निर्वाचित सदस्यों के चुनाव के लिए सम्बन्धित नगरपालिका के समूचे क्षेत्र को कई हिस्सों या वार्डों (Wards) में बाँट दिया जाता है। जनसंख्या के आधार पर प्रत्येक वार्ड के प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित कर दी जाती है। मतदान गुप्त रूप से होता है। प्रत्येक वार्ड से बहुमत से चुने गये उम्मीदवार ही म्युनिसिपल कमिश्नर या कौंसिलर कहलाते हैं और नगरपालिका-परिषद् के निर्वाचित सदस्य होते हैं।

---

१. कुछ राज्यों में राज्य-सरकार द्वारा मनोनयन की जगह परिषद् के निर्वाचित सदस्यों के ही द्वारा सवाचन (Co-option) की प्रणाली अपनाई गई है।

म्युनिसिपल कमिश्नरों का चुनाव पाँच वर्षों के लिए होता है। लेकिन राज्य-सरकार किसी भी म्युनिसिपल कमिश्नर को अयोग्यता, दुराचरण या अकुशलता, जैसे ठेका, नियुक्ति में अनुचित लालच, दिवालियापन आदि, का दोष लगाकर पाँच वर्षों के भीतर भी हटा दे सकती है। इसके अतिरिक्त उन्हें निम्नलिखित दशाओं में भी अपदस्थ किया जा सकता है —

(क) यदि परिषद् की एक विशेष बैठक $\frac{2}{3}$ बहुमत से किसी सदस्य को अपदस्थ करने का प्रस्ताव पास कर दे,

(ख) यदि कोई सदस्य लगातार बिना सूचना दिये चार बैठकों में अनुपस्थित रहे,

(ग) यदि किसी वार्ड के मतदाताओं का $\frac{2}{3}$ भाग अपने द्वारा निर्वाचित कमिश्नर को, जो कम-से-कम एक साल तक अपने पद पर रह चुका हो, वापस बुलाने (recall) के आशय का प्रस्ताव राज्य-सरकार के समक्ष उपस्थित करे और राज्य-सरकार इसपर जाँच करने के बाद अपनी सहमति दे दे।

नगरपालिका-परिषद् की अवधि ५ वर्ष की होती है, लेकिन राज्य-सरकार समूची परिषद् को भी इस अवधि के भीतर ही भंग कर सकती है।

परिषद् के दूसरे प्रकार के सदस्यों, अर्थात् राज्य-सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों, तथा इसकी ५ वर्ष की अवधि की आलोचना की गई है। कहा गया है कि मनोनीत सदस्यों की प्रणाली अप्रजातान्त्रिक है। साथ ही मनोनीत सदस्य परिषद् की दलबन्दी में सक्रिय भाग लेते हैं। अतः मनोनयन के बदले सवाचन (Co-option) की प्रथा को अपनाने का सुझाव दिया गया है। इसी प्रकार आलोचना की गई है कि ५ वर्ष की अवधि होने के कारण म्युनिसिपल कमिश्नर लोग बहुत दिनों के लिए मतदाताओं के बिना किसी डर के अपने-अपने स्वार्थ में रत होकर तथा जनता की इच्छाओं की परवाह किये बिना भी अपने पदों पर कायम रहते हैं। डा० एम० पी० शर्मा का कहना है कि "५ वर्ष की अवधि बहुत लम्बी है, जिससे जनतान्त्रिक नियंत्रण की लगाम ढीली पड़ जाती है। दूसरे, ३ से ४ वर्ष का समय काफी सतोषप्रद है, जो पाश्चात्य देशों में भी पाया जाता है।" अतः, इन आलोचकों के अनुसार परिषद् की अवधि ५ वर्ष से कम कर देनी चाहिए ताकि कमिश्नरों को पुनः निर्वाचन का डर सदैव बना रहे और वे मतदाताओं की इच्छाओं और सुविधाओं की उपेक्षा नहीं कर सकें।

परिषद् की कार्यविधि—परिषद् अपने सदस्यों में से एक को सभापति (President) निर्वाचित करती है। राज्य-सरकार किसी नगरपालिका को

इस व्यवस्था से छूट भी दे सकती है। सभापति का काम परिषद् की बैठकों में सभापतित्व करना होता है। इस स्थल पर यह साफ साफ जान लेना आवश्यक है कि म्युनिसिपल-कौंसिल के सभापति (President) से म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष (Chairman) का अर्थ नहीं लगाना चाहिए। परिषद का सभापति म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष से भिन्न होता है। वह परिषद् का नागरिक प्रधान भी नहीं होता है, वरन केवल नाममात्र का प्रधान, सिर्फ उनकी बैठकों का सभापतित्व करने के लिए और उनमें, आवश्यकता आ पड़ने पर, निर्णायक मत देने के लिए।

परिषद् की दो प्रकार की बैठक होती है—(१) साधारण और (२) विशेष। साधारणतया परिषद् की बैठक महीने में एक बार होती है। आवश्यकता पड़ने पर विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है। परिषद् की बैठकों में किसी प्रस्ताव पर समान मत होने से सभापति निर्णायक मत दे सकेंगे।

परिषद् के अधिकार—नगरपालिका-परिषद् एक विचार-विमर्श करनेवाली (Deliberative) संस्था है। यह एक विधायिका सभा के समान काम करती है। अधिनियम के द्वारा दिये गये नगरपालिका के सभी कार्यों के सम्पादन का उत्तरदायित्व इसी के ऊपर है। नगरपालिका के विधायिनी और कार्यकारिणी-सम्बन्धी अधिकारों के विभाजन (Separation) नहीं होने के फलस्वरूप इन दोनों प्रकार के अधिकारों का उपयोग परिषद् ही करती है। अतः ठीक ही कहा गया है कि परिषद् बिहार-राज्य की नगरपालिका की पूर्ण अधिकार-प्राप्त संस्था (Sole repository of powers) है।

समितियाँ—दिन प्रतिदिन के कार्यों के सफल और सहज सम्पादन के हेतु नगरपालिका की कई समितियाँ भी होती हैं। इन समितियों की स्थापना परिषद् करती है। इन समितियों में कम-से-कम तीन और अधिक से-अधिक छह सदस्य रह सकते हैं। परिषद् के सदस्यों के अतिरिक्त, बाहर के व्यक्ति को भी इन समितियों के सदस्य के रूप में सवाचित किया जा सकता है। लेकिन इस प्रकार के बाहरी व्यक्तियों की संख्या किसी समिति की कुल सदस्य-संख्या के १/३ भाग से ज्यादा नहीं हो सकती है। समिति के इन बाहरी व्यक्ति-सदस्यों को म्युनिसिपल कौंसिलर्स (Municipal Councillors) ही सवाचित करेंगे।

नगरपालिका के पदाधिकारी

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष (Chairman & Vice Chairman)—प्रत्येक नगरपालिका का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता है। परिषद् के निर्वाचित सदस्यों

के चुनाव और शेष सदस्यों के मनोनयन की घोषणा राज्य-सरकार के गजट में होने के बाद, नगरपालिका-परिषद् के सदस्यगण, अपने ही बीच से, एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष को निश्चित करते हैं। बिहार म्युनिसिपल ऐक्ट के अनुसार अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव नगरपालिका के आम चुनाव के २१ दिनों के अन्दर ही हो जाना चाहिए। दोनों ही पदाधिकारी ५ वर्षों के लिए निर्वाचित होते हैं, लेकिन नगरपालिका-परिषद् अपने किसी विशेष अधिवेशन में अपनी कुल सदस्य-संख्या के दो-तिहाई बहुमत से इन्हें पदच्युत भी कर सकती है।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को साधारण बोलचाल की भाषा में चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन कहा जाता है। ये दोनों ही अवैतनिक पदाधिकारी होते हैं।

अध्यक्ष अर्थात् चेयरमैन नगरपालिका की कार्यकारिणी का प्रधान होता है। नगरपालिका के सभी प्रशासकीय अधिकार उसे प्राप्त रहते हैं। परिषद् द्वारा प्रतिपादित सभी आदेशों तथा निर्णयों को कार्यान्वित करना उसी का उत्तरदायित्व रहता है। नगरपालिका का बजट तैयार करना तथा परिषद् से उसे पारित कराना उसी का काम होता है। नगरपालिका के उन सभी पदाधिकारियों, जिनका मासिक वेतन ५० रु० से कम होता है, की बहाली अध्यक्ष ही करता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी नियुक्तियों और ठेकों के कार्यों की अन्तिम स्वीकृति परिषद् ही देती है, लेकिन इन कार्यों में भी अध्यक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है, क्योंकि बहुमत-दल का नेता होने के कारण वह बहुत ही शक्तिशाली होता है। म्युनिसिपल कर्मचारियों के कार्यों का नियन्त्रण अध्यक्ष द्वारा ही होता है और वही राज्य-सरकार तथा नगरपालिका के बीच तथा परिषद् और विभिन्न समितियों तथा संस्थाओं के बीच सम्पर्क तथा सामंजस्य बनाये रखता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि अध्यक्ष के अधिकारों एवं कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत और व्यापक होता है। नगरपालिका के प्रशासन की सफलता या निष्फलता उसी की कार्य-दक्षता पर आश्रित रहती है। प्रत्येक शहर के नागरिक जीवन में नगरपालिका के अध्यक्ष के इसी महत्त्व को ध्यान में रखकर ही तो उसे नगरपिता (City father) की संज्ञा दी गई है। कुछ विद्वानों के अनुसार नगरपालिका में अध्यक्ष का वही स्थान होता है, जो संघ-सरकार में प्रधान मन्त्री तथा राज्य-सरकार में मुख्य मन्त्री का होता है।

Bihar Municipal Bill, 1957 के द्वारा अध्यक्ष के पद तथा अधिकार में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किया जानेवाला है।

(१) इस विधेयक के द्वारा बिहार की प्रत्येक नगरपालिका के प्रशासनिक तथा नीति निर्धारण के कार्यों का पृथक्करण कर दिया गया है। प्रशासनिक कार्यों के लिए प्रत्येक नगरपालिका में एक Executive officer की नियुक्ति की व्यवस्था है। इस प्रकार अध्यक्ष नगरपालिका की कार्यकारिणी का प्रधान नहीं रह जायगा।

(२) वर्तमान समय में कौंसिल की अध्यक्षता के लिए एक प्रेसिडेन्ट चुना जाता है। प्रस्तावित विधेयक के द्वारा प्रसिडेन्ट का पद उठा दिया जायगा। उसके स्थान पर चेयरमैन ही कौंसिल का सभापतित्व करेगा। वही नगरपालिका की समितियों का अध्यक्ष हुआ करेगा।

(३) नये विधेयक के अनुसार प्रथम तीन वर्षों के लिए चेयरमैन की राय से ही Executive officer की नियुक्ति हुआ करेगी।

(४) नगरपालिका के अन्य कर्मचारियों पर नियन्त्रण तथा अनुशासन की जिम्मेवारी भी Executive officer पर रहेगी तथा अध्यक्ष इस भार से मुक्त हो जायगा।

उपाध्यक्ष अर्थात् वाइस-चेयरमैन का स्थान अध्यक्ष के समान महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष अध्यक्ष का सम्पूर्ण अधिकार व्यवहार में लाता है। अन्य समयों में अध्यक्ष द्वारा हस्तगत किये गये अधिकारों और कार्यों को ही उपाध्यक्ष कार्यान्वित कर सकता है।

अन्य पदाधिकारी— प्रत्येक नगरपालिका के, उपर्युक्त दो अवैतनिक तथा अस्थायी पदाधिकारियों (अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, के अतिरिक्त, कुछ और स्थायी और वैतनिक पदाधिकारी और कर्मचारी भी होते हैं। बिहार की नगरपालिकाओं के इन अधिकारियों और कर्मचारियों में एक्जिक्यूटिव सेक्रेटरी, हेल्थ या मेडिकल अफसर, सब-ओवरसियर, वाटर-वर्क्स इंजीनियर, टैक्स दारोगा, शिक्षा निरीक्षक आदि प्रमुख हैं। प्रत्येक नगरपालिका अपनी आवश्यकतानुसार कर्मचारियों की नियुक्ति करती है। स्मरण रहे कि ५० रु० से ज्यादा मासिक वेतनवाले कर्मचारियों की नियुक्ति एवं बरखास्तगी में चेयरमैन को परिषद् की स्वीकृति लेनी पड़ती है। साधारण तथा १०० रु० से ज्यादा मासिक वेतनवाले कर्मचारियों की बहाली और बरखास्तगी में राज्य-सरकार की अनुमति लेनी पड़ती है। कर्मचारियों के पेन्शन, छुट्टी, बहाली, बरखास्तगी, वेतन सम्बन्धी आदि सभी विषयों के नियमों के बनाने का अधिकार परिषद् को है, लेकिन इन नियमों पर राज्य सरकार से अन्तिम स्वीकृति लेना आवश्यक है।

नगरपालिका के कार्य—हमारे देश में नगरपालिका के कार्यों के लिए, इंगलैंड में प्रचलित 'स्पष्ट रूप से प्रदत्त' (Specific Grant) सिद्धान्त की प्रणाली को

अपनाया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार नगरपालिका सिर्फ वही कार्य कर सकती है, जिसे सम्पादित करने की अनुमति राज्य-सरकार विधिवत् स्पष्ट रूप से दे। अत, बिहार की नगरपालिका वे ही कार्य कर सकती है, जिनकी अनुमति बिहार-सरकार अपने कानून द्वारा उसे दे।

बिहार में नगरपालिकाओ के कार्यों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अनिवार्य या आवश्यक (Obligatory) और (२) ऐच्छिक (Optional)।

अनिवार्य कार्य (Obligatory functions) —नगरपालिका के अनिवार्य या आवश्यक कार्यों का मतलब उन कार्यों से है, जिन्हें प्रत्येक नगरपालिका को आवश्यक रूप से करना ही होगा। वैसे कार्यों में निम्नलिखित आते हैं—

(१) शहर की सफाई का प्रबन्ध,
(२) शहर की सड़कों पर और गलियों में रोशनी का प्रबन्ध,
(३) शहर में जल-व्यवस्था ;
(४) नालियों की सफाई ;
(५) शहर की स्वच्छता और सुरक्षा,
(६) शहर में सड़कों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत,
(७) सार्वजनिक स्वास्थ्य की देख-रेख,
(८) प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था,
(९) नगर में जन्म मरण का लेखा-जोखा रखना,
(१०) सार्वजनिक श्मशान का प्रबन्ध,
(११) सार्वजनिक बाजारों तथा बूचड़खानों के प्रबन्ध,
(१२) आग से सुरक्षा का प्रबन्ध,
(१३) मनुष्यों और पशुओं के लिए अस्पतालों एव अन्य चिकित्सालयों की व्यवस्था,
(१४) टीका लगाने तथा महामारियों से बचने का प्रबन्ध,
(१५) खतरनाक वस्तुओं के व्यापार पर नियन्त्रण,
(१६) सार्वजनिक हित में बाधक कार्यों पर प्रतिबन्ध आदि।

ऐच्छिक कार्य (Optional functions) —उपर्युक्त आवश्यक कार्यों के अतिरिक्त नगरपालिकाओं के कुछ अन्य ऐसे कार्य भी होते हैं, जिन्हें करना या न करना नगरपालिकाओं की स्वेच्छा और उनकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। ऐसे कार्यों

को ऐच्छिक कार्य कहते हैं। नगरपालिकाओं के ऐच्छिक कार्यों के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं—

(१) नई गलियों तथा सड़कों का निर्माण,
(२) अस्वास्थ्यकर तथा गन्दे क्षेत्रों को अधिकृत कर रहने लायक बनाना,
(३) बिजली का प्रबन्ध,
(४) दूध का प्रबन्ध,
(५) सार्वजनिक मनोरंजन के साधनों, जैसे पार्क, बगीचा या फुलवारी आदि बनवाना;
(६) सार्वजनिक हित की चीजों, जैसे पुस्तकालय, वाचनालय, आराम घर, स्नान-घर, तालाबों, स दालयों, अजायब घर, पागलखाना आदि का निर्माण तथा उनकी व्यवस्था,
(७) यातायात के साधनों, प्रदर्शनी आदि का प्रबन्ध
(८) अकाल, बाढ़ जैसी दुःपरिस्थितियों में नागरिकों की सहायता,
(९) नये मकानों के निर्माण, नियन्त्रण तथा उनके लिए जमीन का इन्तजाम,
(१०) गरीब व्यक्तियों, विशेषकर मजदूरों, के लिए मकान आदि का निर्माण।

नगरपालिकाओं के आय-व्यय

अपने कार्यों के सफल सम्पादन के लिए नगरपालिका आय और व्यय दोनों करती है।

आय के साधन (Sources of Income) —बिहार में नगरपालिकाओं की आय के साधनों को हम मुख्यतः पाँच भागों में बाट सकते हैं—(१) चुंगी, (२) कर, (३) शुल्क या फीस, (४) सरकारी अनुदान या सहायता और (५) कर्ज।

(१) चुंगी —नगरपालिका के सीमा-क्षेत्र के बाहर से लाई जानेवाली क्रय विक्रय की वस्तुओं पर नगरपालिका द्वारा लगाये गये टैक्स को चुंगी कहा जाता है। इसे 'सीमा-कर' कहा जाता है।

(२) कर —बिहार की नगरपालिकाएँ साधारणतया पाँच प्रकार के कर लगाती हैं—

(क) मकान-कर, (ख) जल-कर, (ग) रोशनी-कर, (घ) सफाई-कर और (ङ) बाजार-कर।

बिहार-सरकार के १६५८ ई० के ऐक्ट के अनुसार नगरपालिकाओं को पेशा-कर (Professional Tax) लगाने का अधिकार दिया गया है।

(क) मकान-कर—मकान-कर (Taxes on Holdings) नगरपालिका की आय का प्रमुख साधन है। यह कर नगरपालिका की सीमा के अन्दर बने हुए सभी मकानों पर लगाया जाता है। परन्तु, सार्वजनिक व्यवहार के मकानों, जैसे धर्मशाला, स्कूल, मन्दिर आदि, पर यह कर नहीं लगाया जाता है। गरीबों और सरकारी कार्यालयों के मकानों को भी इस कर से छूट रहती है।

यह कर मकान मालिक पर मकान की वार्षिक आय के आधार पर लगाया जाता है। यह कर मकान की वार्षिक आय के १२½ प्रतिशत से ज्यादा नहीं हो सकता है। मकान-कर का निर्धारण करने का अधिकार नगरपालिका की कौंसिल को है, जो कुछ पदाधिकारियों की नियुक्ति कर मकान-कर का रेट निश्चित करती है। कभी-कभी राज्य-सरकार कर-निर्धारण के लिए नगरपालिका को एक असेसर बहाल करने का आदेश दे सकती है। यह कर साल में एक या दो किश्तों में वसूल किया जाता है। प्रत्येक १० या १५ वर्षों पर मकानों का नये सिरे से मूल्यांकन कराकर नगरपालिका इस कर की दरों में हेर-फेर करती है।

(ख) जल-कर—जो नगरपालिकाएँ अपने क्षेत्र में नलों द्वारा पानी मिल सकने का प्रबन्ध करती हैं, वे जल-कर (Water-Tax) भी वसूल करती हैं। यह कर मकान की वार्षिक आय के ७½ प्रतिशत से अधिक नहीं लगाया जा सकता है। जल-प्रबन्ध के लिए नगरपालिका को जितना खर्च पड़ेगा, उसी के हिसाब से यह कर लगाया जाता है। जल-कर से हुई आमदनी को केवल जल-प्रबन्ध के कार्यों में ही लगाया जायगा।

(ग) रोशनी-कर—यह कर भी जल-कर के समान इस मद में किये गये खर्च के आधार पर लगाया जाता है। इस कर से हुई आमदनी को भी केवल इसी मद में खर्च किया जाता है। यह कर मकान की वार्षिक आय के ३ प्रतिशत से ज्यादा नहीं लगाया जायगा।

(घ) सफाई-कर—इस शीर्षक के अन्तर्गत पाखाना कर और नाली-कर आते हैं। नाली-कर राज्य-सरकार के कुछ विशेष नियन्त्रण के अन्तर्गत लगाया जाता है। लेकिन इस कर से हुई आमदनी असंतोषजनक है। बहुत सी नगरपालिकाएँ नालियों की सफाई की सुविधा प्रदान करके भी नाली-कर नहीं लगाती हैं।

'खाना कर भी इस मद में हुए खर्च से अधिक नहीं लगाया जाता है। यह कर भी मकान की वार्षिक आय के हिसाब से ही लगाया जाता है और इसकी आमदनी को भी केवल इसी मद में लगाया जाता है।

(ङ) बाजार-कर—बहुत-सी नगरपालिकाएं अपने क्षेत्र में बाजार बैठाती है और बाजारों की दुकानों से किराया वसूल करती है।

(३) शुल्क—बिहार की नगरपालिका कुत्ते, घोड़े आदि मवेशियों और हाट, बूचड़खाने आदि पर लाइसेंस-फीस और रिक्शा, साइकिल, बैलगाड़ी, टमटम, ठेला आदि पर रजिस्ट्रेशन फीस लगाती है, जिनसे उसे आमदनी होती है। नगरपालिकाएँ खतरनाक व्यापार के सम्बन्ध में अनुमति देने के लिए भी शुल्क लेती है।

(४) सरकारी अनुदान—राज्य सरकार खास खास कामों के लिए नगरपालिकाओं को अनुदान देती है। सरकारी सहायता थोक या आंशिक रूप में दी जाती है। सरकारी सहायता देने का कोई कानूनी आधार नहीं है। सरकारी अनुदान साधारणतया शिक्षा, जन स्वास्थ्य, सड़कों की मरम्मत, हरिजनों के मकान आदि बनाने के लिए दिया जाता है।

सरकारी सहायता से नगरपालिकाओं की आमदनी का लगभग एक चौथाई भाग हो जाता है। मोटरों के रजिस्ट्रेशन से जो आमदनी सरकार को होती है, उसका कुछ भाग भी नगरपालिकाओं को सड़कों की मरम्मत के लिए दे दिया जाता है।

(५) कर्ज—वैसे तो कर्ज से हुई आय को आमदनी नहीं कहा जा सकता है, फिर भी साधारणतया यह नगरपालिकाओं की आय का प्रमुख साधन बन गया है। आवश्यक या आकस्मिक कार्यों के लिए, या पहले का लिया गया कर्ज चुकाने के लिए भी नगरपालिकाएँ राज्य सरकार से कर्ज ले सकती है। राज्य-सरकार कम सूद की दर पर उत्पादक कार्यों के लिए लगभग २० से ३० साल के लिए नगरपालिकाओं को कर्ज देती है। नगरपालिकाएँ, राज्य सरकार की अनुमति से, किसी अन्य जरिये से भी कर्ज ले सकती है।

व्यय की मदें (Items of Expenditure)—उपर्युक्त साधनों से प्राप्त आमदनी नगरपालिकाएँ अपने कार्यों के सम्पादन में खर्च करती है। चूँकि नगरपालिकाओं के जो अनिवार्य और ऐच्छिक कार्य हैं, वही उसके व्यय की मदें भी हैं, अतः लम्बी लम्बी सूची यहाँ पुनः देने की अपेक्षा पाठकों से अनुरोध है कि वे नगरपालिका के कार्यों के विषयों को देख लें।

आय की पर्याप्तता (Adequacy of Income) :—प्रश्न पूछा जाता है कि क्या बिहार की नगरपालिकाओं की आय पर्याप्त है या नहीं ?

नगरपालिका के कार्यों की लम्बी सूची पर ध्यान देने के फलस्वरूप हम कह कह सकते हैं कि उपर्युक्त वर्णित आय के साधन पर्याप्त नहीं हैं। आय की कमी के कारण बहुत-से शहरों की अवस्था दयनीय हो गई है। गन्दगी और महामारी का प्रकोप आजकल की नगरपालिकाओं के क्षेत्रों में अत्यधिक पाया जाता है। वर्त्तमान आय के साधन का भी, कर्मचारियों में भ्रष्टाचार घुसने के कारण, दुरुपयोग होता है।

पर्याप्त बनाने का सुझाव—प्रश्न उठता है जब नगरपालिकाओं की आय के साधन पर्याप्त नहीं हैं तब उन्हें संतोषजनक बनाने के लिए कौन-से उपाय किये जायँ ?

इसके पहले कि नगरपालिकाओं की आमदनी की पर्याप्तता के लिए नये साधनों के सुझाव दिये जायँ, पहले तो हमें वर्त्तमान में उपलब्ध साधनों की त्रुटियों और खामियों को दूर करना चाहिए ; जैसे वर्त्तमान कर-निर्धारण की प्रणाली भी दोषपूर्ण है। मकान-कर का निर्धारण, कौंसिल के नियन्त्रण में म्युनिसिपल कर्मचारियों द्वारा होने से, उचित रूप से नहीं हो पाता है। दलबन्दी के प्रभाव के कारण यह कर जिसे ज्यादा लगना चाहिए, उसे कम लगता है और जिसे कम लगना चाहिए, उसे ज्यादा लगाया जाता है। अतः, लोकल फाइनान्स इनक्वायरी कमिटी ने यह सुझाव दिया है कि कर-निर्धारण के लिए एक 'केन्द्रीय कर-निर्धारण-समिति' (Central Valuation Committee) का निर्माण हो। डॉ० ज्ञानचन्द ने सुझाव दिया है कि मकान-कर मकान की 'लागत रकम' (Capital value) पर लगाया जाय।

जहाँ तक सरकारी अनुदान का प्रश्न है, यह कोई खास निश्चित नियम के अनुसार नहीं दिया जाता है। जिस नगरपालिका का बोलबाला राज्य-सरकार में रहता है, उसे काफी अनुदान दिया जाता है और जिसका बोलबाला कम रहता है, उसे तो सरकारी अनुदान नहीं के बराबर दिया जाता है। लोकल फाइनान्स इनक्वायरी कमिटी ने भी यह आक्षेप किया है कि सन् १९२१ ई० से स्थानीय शासन के सभी पहलुओं में प्रगति होने के बावजूद वर्त्तमान सरकारी अनुदान की प्रथा असंतोषजनक है। सरकारी अनुदान के सम्बन्ध में सुझाव देते हुए डॉ० ज्ञानचन्द का कहना है कि सरकारी अनुदान कानूनी तौर पर निश्चित नियम के आधार पर

दिया जाय। सरकारी सहायता नगरपालिका की क्षमता (Capacity) और आवश्यकता (Needs) को ध्यान में रखते हुए दी जाय।[1]

नगरपालिकाओं की आय बढ़ाने के लिए लोकल फाइनान्स इनक्वायरी कमिटी ने यह सुझाव दिया है कि अखबार छोड़कर अन्य सभी प्रकार के प्रचार-कार्यों पर नगरपालिका को कर लगाने का अधिकार हो। रेल, समुद्र अथवा वायुयान से आनेवाले यात्रियों और सामानों पर टरमिनल टैक्स लगे। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा है कि नगरपालिका कुछ साधारण व्यापार, जैसे सिनेमा आदि, चलाकर अपनी आय बढ़ा सकती है।

नगरपालिकाओं के कार्यकरण

(Functioning of Municipalities)

हमारे शहरी क्षेत्रों (Urban Areas) के लिए नगरपालिकाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं। नगरपालिकाओं की योग्यता और कार्यकुशलता पर हमारे शहरी क्षेत्रों की उन्नति निर्भर करती है।

लेकिन हमें खेद के साथ इसे स्वीकार करना ही पड़ता है कि बिहार की नगरपालिकाएँ अपने कर्त्तव्यों को ठीक-ठीक और सफलतापूर्वक निभा नहीं रही हैं। वे तो अपने दोषपूर्ण कार्यकरण के लिए विख्यात या कुख्यात हैं। नगरपालिकाओं के असन्तोषजनक कार्य, कुप्रबन्ध और भ्रष्टाचार की कहानियों से कौन अवगत नहीं है? कौन नहीं जानता है कि वे राजनीतिक गुटबन्दियों का अखाड़ा और शिकार बन गई हैं?

नगरपालिकाओं के कार्यकरण के उपर्युक्त दोषों के आधार पर इनके ऊपर राजकीय नियंत्रण की जंजीर दिन-प्रति-दिन जकड़ती ही जा रही है और इसके कुछ कार्यों का ही नहीं, वरन् सभी नगरपालिकाओं के प्रान्तीयकरण के सुझाव भी दिये गये हैं।

पहले हम नगरपालिकाओं के कार्यकरण में दोषों, त्रुटियों या बाधाओं पर प्रकाश डालेंगे और बाद में उन्हें दूर करने के सुझावों की चर्चा करेंगे।

---

१. *Dr. Gyanchand*. "Grants in-aid should really be a levelling up device by which each local authority has to contribute according to its capacity and receive according to its needs."

नगरपालिकाओं के कार्यकरण में दोष (Defects in the functioning of the Municipalities) :—

(१) नगरपालिका-परिषद् का दोषपूर्ण गठन—नगरपालिका-परिषद् जो नगरपालिका की पूर्ण अधिकार-प्राप्त संस्था होती है, योग्य और ईमानदार व्यक्तियों से गठित नहीं होती है। इसके निर्वाचित सदस्य, कुछ इने-गिने अपवादों को छोड़कर, धन, चापलूसी, गुटबन्दी तथा राजनीतिक दलबन्दियों के आधार पर निर्वाचित होते हैं न कि अपनी योग्यता, समाज-सेवा या ऊँचे आदर्शों के आधार पर। ये सदस्य व्यक्तिगत स्वार्थ, पद-लोलुपता, राजनीतिकप्रभुता या यश तथा धन-प्राप्ति की भावनाओं से प्रेरित होकर चुनाव लड़ते हैं। इन्हें किसी प्रकार का वेतन भी नहीं मिलता है। इन सब बातों का परिणाम होता है कि निर्वाचित हो जाने के बाद ये लोग नगरपालिका के कार्यों को कुशलता और ईमानदारी से नहीं कर अपने व्यक्तिगत आर्थिक तथा राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए नगरपालिका-पद को ही अपना साधन बना लेते हैं।

नगरपालिका-परिषद् के २० प्रतिशत जो मनोनीत सदस्य रहते हैं, वे नगरपालिका के कार्यों में कुछ दिलचस्पी ही नहीं लेते हैं, क्योंकि वे अपने को आम लोगों के प्रति जिम्मेवार ही नहीं समझते हैं।

परिषद् की पाँच वर्षों की अवधि भी बहुत अधिक है। इतनी लम्बी अवधि होने के कारण म्युनिसिपल कमिश्नर लोग, एक बार चुना जाने के बाद, बहुत दिनों के लिए निश्चिन्त होकर अपनी स्वार्थ-साधना और जनता के हितों की उपेक्षा कर सकने में समर्थ हो जाते हैं।

(२) दोषपूर्ण समितियाँ—नगरपालिका की विभिन्न समितियों[1], जिन्हें ही नगरपालिका के कार्यों को करना रहता है, में बहुत-सी बुराइयाँ पाई जाती हैं। अध्यक्ष, बहुमत-दल के नेता होने के कारण, दलगत आधार पर न कि सम्बन्धित कार्यों के ज्ञान के आधार पर, समितियों के सदस्यों का चुनाव करता है। इसके अलावा इन समितियों के कामों में अध्यक्ष सदैव ही कुछ-न-कुछ हस्तक्षेप करता ही रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि समितियों में काम करने की प्रेरणा और दिलचस्पी नष्ट हो जाती है।

---

१. स्मरण रहे कि इंगलैंड के स्थानीय शासन की सफलता बहुत अंशों में समितियों की सफल कार्यकुशलता का ही परिणाम है। तभी तो Warren ने उन्हें स्थानीय शासन का 'वास्तविक कारखाना (Real workshop)' कहा है।

(३) अध्यक्ष की असन्तोषजनक स्थिति—नगरपालिकाओं के दोषपूर्ण कार्यकरण के लिए अध्यक्ष की स्थिति भी कुछ अंशों में उत्तरदायी है। परिषद् के सदस्यों द्वारा बहुमत से चुने जाने के कारण तथा परिषद् के किसी भी विशेष अधिवेशन में कुल सदस्य-संख्या के दो-तिहाई बहुमत से किसी भी समय अपदस्थ किये जा सकने के कारण, अध्यक्ष के लिए दलगत राजनीति के फंदे से निकल सकना असंभव है। अध्यक्ष को अपने पद की स्थिरता में विश्वास नहीं रहता है। हाल ही हुई गया नगरपालिका के अध्यक्ष की हत्या से हम इस पद पर दलबन्दी तथा गंदी राजनीति के भयंकर प्रभाव का अन्दाज लगा सकते हैं।

अध्यक्ष की निर्वाचन-पद्धति के अतिरिक्त उसके अवैतनिक होने के कारण भी नगरपालिका के कामों में बाधा पहुँचती है। अध्यक्ष-पद पर आसीन व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कोई-न-कोई धंधा या कार्य करना ही पड़ता है। इसका नतीजा होता है, कि विरले अपवादों को छोड़कर, सभी अध्यक्ष अपना पूरा समय नगरपालिका के कार्यों के सम्पादन में ही नहीं दे सकते हैं। आर्थिक दृष्टि से इस पद का लाभदायक नहीं होना, अध्यक्षों की स्वार्थपरता और भ्रष्टाचार का एक कारण बन जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि अध्यक्ष, जो नगरपालिका का सर्वोच्च पदाधिकारी तथा प्रमुख प्रबन्धकर्त्ता होता है, की स्थिति अत्यन्त ही असन्तोषजनक रहती है।

(४) कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का एकीकरण—नगरपालिका के कार्यकारिणी एवं विधायिनी अधिकारों का पृथक्करण (Separation) नहीं किया गया है। नगरपालिका के कार्यों को सम्पादित करने के हेतु निर्णयों तथा आदेशों का दिया जाना, परिषद् का कार्य है। लेकिन इन निर्णयों एवं आदेशों को कार्यान्वित कौन करता है? अध्यक्ष और विभिन्न समितियों के सदस्य ही, न कि उनसे अलग कोई अन्य अधिकारिगण। ये सभी लोग अस्थायी और अवैतनिक रहते हैं। नगरपालिका की विधायिनी और कार्यकारिणी शक्तियों एवं कार्यों का एक ही वर्ग के लोगों द्वारा सम्पादित होना और उसके लिए एक वैतनिक तथा स्थायी उच्च पदाधिकारी का नहीं होना भी नगरपालिका के दोषपूर्ण कार्यकरण की एक वजह है।

(५) अयोग्य, निष्प्राण एवं भ्रष्ट कर्मचारिगण—निर्वाचित, अस्थायी और अवैतनिक उच्च प्रशासकीय अधिकारियों के रहने के कारण नगरपालिकाओं के कार्यों के सम्पादन का गुरुतर भार वास्तविक रूप में निम्न पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों

की योग्यता और कर्मठता पर ही निर्भर करेगा। वारेन (Warren) के कथनानुसार "इंगलैंड के स्थानीय स्वशासन की सफलता स्थानीय समितियों और स्थानीय कर्मचारियों की कार्यकुशलता पर ही निर्भर करती है।"

बिहार की नगरपालिकाओं के स्थायी कर्मचारियों की जो हालत है वह भी किसी से छिपी हुई नहीं है। नगरपालिका-सेवा में काफी दोष पाये जाते हैं। इसमें अध्यक्ष तथा अन्य प्रभावशाली म्युनिसिपल कमिश्नरों के सगे सम्बन्धियों तथा दलगत समर्थकों की ही अधिकांशतः नियुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त उनके वेतन, पेंशन, नियुक्ति और बरखास्तगी आदि सम्बन्धी नियमों की निश्चितता नहीं रहने के कारण भी योग्य व्यक्ति नगरपालिका के कर्मचारी बनना नहीं चाहते हैं। इन कर्मचारियों का अल्प वेतन भी इनकी घूसखोरी और निष्प्राणता की एक वजह है।

(६) **अपर्याप्त आय और शोचनीय आर्थिक स्थिति**—हमारे राज्य की नगरपालिकाओं की आर्थिक स्थिति भी तो अच्छी नहीं ही रहती है, जिसकी वजह यह होती है कि उनकी आमदनी के साधन सीमित होते हैं। नगरपालिका के कार्यों की लिस्ट जितनी लम्बी है, उस अनुपात में उसकी आमदनी के साधन पर्याप्त नहीं हैं।

अध्यक्ष और अन्य म्युनिसिपल कमिश्नरों का दलगत राजनीति पर निर्भर रहना, हमारे देशवासियों में नागरिक भावना की कमी होने के कारण कर देने में इधर-उधर करने की प्रवृत्ति (Tax-evasion mentality) के कारण और नगरपालिका के कर्मचारियों में घूसखोरी और भ्रष्टाचार की प्रथा की मौजूदगी के कारणों से नगरपालिकाओं का वर्तमान आय के जो साधन हैं, उनका भी ठीक से उपयोग नहीं हो रहा है। अपनी आय बढ़ाने के लिए जब कभी भी नगरपालिकाएँ कोई नया कर लगाने का प्रस्ताव रखती हैं कि सत्तारूढ़ पार्टी के विरोधी राजनीतिक दल इस प्रस्तावित नये कर के विरोध में आवाज उठाकर लोकप्रियता हासिल करने का नाजायज फायदा उठाने लगते हैं।

(७) **नकारात्मक राजकीय नियन्त्रण**—हमारी नगरपालिकाओं के दोषपूर्ण कार्यकरण के लिए राजकीय नियन्त्रण भी कुछ अंशों में उत्तरदायी है। बिहार की नगरपालिकाओं पर राजकीय नियंत्रण की मात्रा तो अधिक रहती ही है, साथ-ही-साथ यह नियन्त्रण रचनात्मक और सकारात्मक नहीं होकर विध्वंसात्मक, मनमानी तथा नकारात्मक सिद्ध हुआ है। इसके फलस्वरूप नगरपालिकाएँ आत्मविश्वास और साहस खो बैठी हैं और निष्क्रिय तथा राज्य सरकार पर आश्रित हो गई हैं और अपनी प्रेरणा से निर्भर होकर कोई कार्य नहीं कर पाती हैं।

(८) विविध—उपर्युक्त प्रमुख कारणों के अतिरिक्त, म्युनिसिपल कमिश्नरों की सकीर्णता तथा सकुचित भावनाएँ, उनका निम्न नैतिक स्तर, नगरपालिका के मतदाताओं की अशिक्षा, उदासीनता आदि विविध कारण हैं, जिनके फलस्वरूप हमारी नगरपालिकाओं के कार्यकरण वर्त्तमान समय में दोषों तथा त्रुटियों से भरे-पड़े हैं।

इन दोषों को कैसे दूर किया जाय ?—प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त दोषों को दूर कैसे किया जाय ? इनमें से बहुत-से दोष तो तभी दूर किये जा सकेंगे जबकि हमारे देशवासियों का भौतिक और नैतिक धरातल ऊँचा उठे, उनमें शिक्षा का प्रसार हो तथा नागरिकता की भावना और भी मजबूत जड़ बनावे।

फिर भी, यदि नगरपालिका-परिषद् के कुछ सदस्यों को राज्य द्वारा मनोनीत नहीं कर निर्वाचित सदस्यों द्वारा संचालित कर, परिषद् की अवधि को ५ वर्षों से कम कर, समितियों का भलीभाँति गठन कर और उन्हें यथोचित स्वतन्त्रता प्रदान कर, अध्यक्ष के पद को वैतनिक बनाकर, नहीं तो कम-से-कम एक सवैतनिक और स्थायी उच्च प्रशासकीय अधिकारी की व्यवस्था कर, या उत्तरप्रदेश की भाँति बिहार की नगरपालिकाओं के अध्यक्षों को भी निर्वाचकों द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा निर्वाचित कर, नगरपालिका की आमदनी के साधनों में वृद्धि कर, उनकी विधायिनी और कार्यकारिणी शक्तियों को अलग कर, उनके कर्मचारियों की सेवा-शर्त्तों को सुधारकर और राजकीय नियंत्रण को सिद्धान्त पर आधारित कर तथा सकारात्मक बनाकर नगरपालिका के वर्त्तमान दोषपूर्ण कार्यकरण को बहुत अंशों तक (बिल्कुल नहीं) सुधारा जा सकता है।

राजकीय नियंत्रण

डॉ० ज्ञानचन्द्र के कथनानुसार स्थानीय शासन में क्षमता और आर्थिक एकरूपता लाने के लिए राज्य का नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक है।[१] नगरपालिका के ऊपर राजकीय नियन्त्रण को हम चार श्रेणियों में बाँट कर सकते हैं—(१) विधायक नियंत्रण, (२) प्रशासकीय नियंत्रण (३) न्यायिक नियंत्रण और (४) वित्तीय नियंत्रण।

१. *Dr. Gayanchand* "In the case of local bodies a certain measure of external control is necessary for the efficiency of administration and harmony and integrity of the financial system of the country."

विधायक नियंत्रण—नगरपालिका के संगठन एवं कार्य का निर्धारण राज्य के विधान-मंडल के कानूनों द्वारा होना है। राज्य का विधान-मंडल नगरपालिका के अधिकार एवं संगठन में संशोधन कर उसे घटा या बढ़ा सकता है। राज्य के विधान-मंडल को ही नगरपालिका के मतदाताओं की सूची, कर-निर्धारण का नियम, चुनाव का दिन आदि निश्चित करने का अधिकार है।

प्रशासकीय नियंत्रण—राज्य की कार्यपालिका द्वारा भी नगरपालिका पर नियंत्रण की जंजीर जकड़ी जाती है। यदि नगरपालिका के शासन में कुव्यवस्था की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है, तो राज्य की कार्यपालिका को नगरपालिका को भंग करने का अधिकार प्राप्त है। इसके अलावा राज्य की कार्यपालिका जिलाधीश और कमिश्नर के द्वारा भी नगरपालिका को नियंत्रित करती है। नगरपालिका की कौंसिल की सदस्य-संख्या भी कार्यपालिका निश्चित करती है। दो या दो से अधिक नगरपालिकाओं के बीच मतभेद का निपटारा राज्य की कार्यपालिका ही करती है।

न्यायिक नियंत्रण—यदि कोई नगरपालिका अपने कार्यों का सम्पादन अनुचित तरीके से करती है, तो उन कार्यों को अमान्य घोषित करने का अधिकार न्याय-पालिका को है। स्थानीय असंतोषजनक उपनियम को अवैध घोषित करने का अधिकार न्यायपालिका को प्राप्त है।

वित्तीय नियंत्रण—ऋणग्रस्त नगरपालिकाओं के बजट पर सरकारी अनुमोदन अत्यन्त आवश्यक है। सरकारी सहायता जिन-जिन कामों के लिए दी जाती है, उन-उन कामों पर राजकीय नियंत्रण विशेष रूप से किया जाता है। राज्य-सरकार समय-समय पर नगरपालिकाओं के आय-व्यय का अंकेक्षण कराती है। सभी प्रकार के कर्जों के लिए राज्य-सरकार की अनुमति लेना परमावश्यक है।

राजकीय नियंत्रण में काफी बुराइयाँ पाई जाती हैं। राजकीय नियंत्रण का दुरुपयोग होता है। डॉ० एम० पी० शर्मा का कहना है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में राजकीय नियंत्रण की परम्परा रचनात्मक न होकर विध्वंसात्मक एवं नकारात्मक सिद्ध हुई है। इंगलैंड में स्थानीय संस्थाओं पर राजकीय नियंत्रण को कार्यान्वित करनेवाले अफसर बुराइयों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उन बुराइयों को दूर करने का सुझाव देते हैं, जिससे भविष्य में उन बुराइयों की पुनरावृत्ति की संभावना नहीं रहती है। परन्तु, बिहार क्या सम्पूर्ण भारतवर्ष में नियंत्रण के समय

केवल बुराई ही ढूँढ़ी जाती है। इसके अलावा जिस नगरपालिका का अध्यक्ष राज्य-सरकार के गुट में रहता है, उस नगरपालिका में बुराई की मात्रा ज्यादा रहने पर भी नियन्त्रण नाममात्र का होता है। लेकिन, जिस नगरपालिका का अध्यक्ष राज्य-सरकार के गुट में नहीं रहता है, उस नगरपालिका पर बिना सिर-पैर के नियन्त्रण की जंजीर जकड़ दी जाती है, जैसे कुछ वर्ष पूर्व दरभंगा-नगरपालिका के आय-व्यय का बार-बार अंकेक्षण (Auditing) होता था। इन बुराइयों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि नियन्त्रण करनेवाले अफसर बुराइयों को दिखलाते हुए उन्हें दूर करने के सुझाव पेश करें। नियन्त्रण की मात्रा इतनी अधिक न हो जाय कि स्वायत्त शासन के गुण नष्ट हो जायँ और न इतनी कम हो कि स्थानीय संस्था कुश हो जाय।

निष्कर्ष —अन्त में हम कह सकते हैं कि बुराइयों की मात्रा ज्यादा रहने पर भी नगरपालिका का स्थान स्थानीय संस्थाओं में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका संचालन सुचारु रूप से नहीं होने पर राष्ट्रीय जीवन पर भी बुरा असर पड़ता है; क्योंकि राज्य की विधान-परिषद् में कुल सदस्य-संख्या का $\frac{1}{3}$ भाग स्थानीय संस्थाओं, जैसे नगरपालिका, जिला-बोर्ड आदि के द्वारा निर्वाचित होता है। स्थानीय संस्था प्रजातन्त्र के लिए प्रशिक्षण-विद्यालय का काम कर सकती है, यदि इसका संचालन एवं संगठन प्रशंसनीय एवं सुचारु रूप से हो।

यह लेखक कुछ विद्वानों के इस मत से, कि नगरपालिकाओं का प्रान्तीय-करण कर दिया जाय, सर्वथा सहमत नहीं है। सी० डी० बर्फीवाला ने ठीक ही कहा है कि "जहाँ तक सम्भव हो, नियन्त्रण की जंजीर भले हो और भी अधिक जकड़ी जाय, लेकिन प्रान्तीयकरण न हो।" यदि स्थानीय संस्थाओं को सचमुच प्रजातन्त्र का प्रशिक्षण केन्द्र बनाना है, तो आवश्यक है कि नगरपालिकाओं को सार्वजनिक कार्य-भार निभाने दिया जाय, ताकि वे निकट भविष्य में 'जनता को जन्म से मृत्यु तक, (From cradle to grave) सुविधाएँ प्रदान कर सकें।

प्रश्न

१. बिहार-राज्य की नगरपालिकाओं के संगठन का वर्णन कीजिए। उनके कार्यकरण में क्या दोष हैं? उन्हें दूर करने के सुझाव दीजिए।
Discuss the organisation of the Municipalities in Bihar. What are the defects in their functioning and how can they be removed?

२. क्या आपकी सम्मति में बिहार-राज्य की नगरपालिकाएँ सुचारु रूप में कार्य कर रही हैं ? उनकी कार्यकुशलता को बढ़ाने के सुझाव दीजिए।
Are the Municipalities in Bihar, in your opinion, functioning properly ? Give suggestions for increasing their efficiency.

३. बिहार की नगरपालिकाओं के आय व्यय के मुख्य स्रोतों का वर्णन कीजिए। क्या वे पर्याप्त हैं ? नहीं, तो सुझाव दीजिए।
Discuss the main sources of income and expenditure of the Municipalities in Bihar. Are they adequate ? If not suggest remedies.

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से अपने देश में जितना अधिक महत्त्व ग्राम पंचायतों को दिया गया है, उतना शायद ही किसी दूसरी संस्था को। प्रायः सभी विभिन्न मतों के नेताओं ने एकमत से ग्राम-पचायतों की सफलता को ही भारतीय प्रजातंत्र के सफल, सुन्दर और सुखद भविष्य का साधन माना है। ग्राम-पंचायत को 'प्रजातंत्र की प्रयोगशाला और आधारशिला' कहा गया है। श्रीनेहरू के कथनानुसार 'उच्च शिखर पर प्रजातंत्र तभी सफलीभूत हो सकता है जब इसकी नींव मजबूत हो', और ग्राम-पचायतें ही तो वह नींव है, क्योंकि भारत तो गाँवो का देश है और हमारे देश के ८० प्रतिशत से भी ऊपर लोग गाँवों में ही रहते हैं। स्वर्गीय राष्ट्र-पिता पूज्य बापू भी तो ग्राम-पचायतो को भारतीय संविधान का अविभाज्य अंग बनाना चाहते थे; क्योंकि 'जनता-जनार्दन की आवाज ग्रामों में ही गूँजती है'।

इन्हीं धारणाओं को ध्यान में रखते हुए हमारे संविधान-निर्माताओं ने, संविधान में 'राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व' वाले अध्याय के अन्तर्गत ४०वीं धारा में स्पष्ट रूप से यह कह दिया है कि राज्य ग्राम-पंचायतो का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों। अतः, ग्राम-पचायत ही मात्र स्थानीय संस्था है, जिसको एक प्रकार से संवैधानिक स्थिति प्राप्त है।

उपर्युक्त विवरण से यह अर्थ कतई नहीं लगाना चाहिए कि भारत के नये संविधान के बनने तथा लागू होने के बाद से ग्राम-पंचायतो को विशिष्ट महत्त्व दिया जाने लगा है। वस्तुस्थिति तो यह है कि १५ अगस्त, १९४७ ई० को कौन कहे, १९४६ ई० से ही जब देश में 'अन्तरिम सरकार' की स्थापना हुई, ग्राम-पचायतों के पुनर्स्संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ग्राम-पंचायतों की योजना भारत के लिए कोई नया आदर्श नहीं है। ग्राम-पचायतें हमारे देश की अति प्राचीन संस्थाएँ हैं।[१]

१. ग्राम-पंचायतो का उल्लेख तो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थो में मिलता है; जैसे, वेद में 'ग्रामणी' और महाभारत मे 'ग्रामसंघ'। इतिहास साक्षी है कि 'लिच्छवी',

बिहार की ग्राम-पंचायतें

स्थापना—बिहार में स्थानीय स्वशासन के ढाँचे पर दृष्टिपात करने के फलस्वरूप हम पाते हैं कि देहाती क्षेत्रों (Rural areas) के लिए पाई जानेवाली इन संस्थाओं की शृंखला में सबसे ऊपर जिला-बोर्ड[1] है और सबसे नीचे ग्राम-पंचायतें। लेकिन ग्राम्य स्थानीय स्वशासन की सबसे छोटी इकाई होने पर भी ग्राम-पंचायतों का महत्त्व इस क्षेत्र में पाई जानेवाली सभी संस्थाओं से अधिक है।

बिहार-राज्य में ग्राम-पंचायतों की स्थापना का आधार सन् १६४७ ई० का 'बिहार पंचायतराज अधिनियम' है। यद्यपि बिहार-विधानमंडल ने इस अधिनियम को सन् १६४७ ई० में ही पास कर दिया था, किन्तु इसपर राज्यपाल का हस्ताक्षर १६४८ ई० में हुआ और इसका कार्यान्वयन १६४६ ई० से प्रारंभ हुआ।

इस अधिनियम के छोटानागपुर डिवीजन और संथाल परगना जिले के क्षेत्रों में लागू किये जाने के प्रश्न को लेकर कुछ कानूनी बाधाएँ उठाई गई जिन्हें दूर करने के लिए सन् १६५७ ई० में बिहार-पंचायतराज (वैलिडेटिंग) ऐक्ट बनाया गया।

'मल्ल' आदि राजघरानों के समय ग्राम-पंचायतें काफी फलीं और फूलीं। तभी तो सर चार्ल्स मेटकॉफ ने कहा है कि प्राचीन भारतवर्ष के पंचायत 'लघुगणतंत्र' (Little Republic के समान थे।

भारत में ग्राम-पंचायतों का ह्रास तो यहाँ अँगरेजी राज्य की स्थापना के समय से शुरू हुआ। भारत में अपना एक सुदृढ और केन्द्रित शासन स्थापित करने के उद्देश्य से हमारे अँगरेज शासकों ने ग्राम-पंचायत को जान बूझकर अवहेलना की दृष्टि से देखना शुरू किया और अन्त में उसका नाश करके ही दम लिया। ग्राम-पंचायतों के पुनरुत्थान का सारा श्रेय गांधीजी को ही है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम के सिलसिले में उन्होंने ही ग्राम-पंचायतों की महत्ता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराया और उनके पुनरुद्धार के लिए भगीरथ-प्रयत्न किये। बाद में चलकर जब और जैसे-जैसे काँगरेस पार्टी के लोगों के हाथों में देश के शासन की बागडोर आती गई, तब और तैसे तैसे ग्राम-पंचायतों के जीर्णोद्धार तथा पुनस्संघटन की दिशा में कदम उठाये जाने लगे।

१. १५ सितम्बर, १६५८ ई० से जिला-बोर्ड स्थानीय स्वशासन की इकाई न रहकर सिर्फ स्थानीय शासन की इकाई बन गये हैं। सन् १६६१ ई० के पंचायती राज अधिनियम के मुताबिक जिला-बोर्ड के स्थान पर जिला परिषद् की स्थापना हो रही है।

जून, १९५९ ई० में इस 'बिहार-पंचायतराज अधिनियम' के मूल रूप में बहुत-से संशोधन किये गये। सन् १९५९ ई० के इस व्यापक संशोधन के फलस्वरूप ग्राम-पंचायतों के संगठन आदि के मूल रूप में काफी परिवर्त्तन हो गये हैं। बिहार की ग्राम-पंचायतों का जो विवरण नीचे दिया जा रहा है, वह सन् १९५९ ई० के संशोधित रूप के आधार पर।

सन् १९५९ ई० के बिहार-पंचायतराज (संशोधन) कानून के अनुसार पंचायतों के कार्यों की देख-रेख के लिए और उन्हें सलाह देने के लिए दो महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ स्थापित की गई हैं—(१) क्षेत्रीय ग्राम-पंचायत परामर्शदात्री समिति (Regional Gram Panchayat Committee); और (२) राज्य ग्राम-पंचायत-परिषद् (State Gram Panchayat Board)। चूँकि इन संस्थाओं को पंचायतों के गठन से परे रखा गया है, अतः, यहाँ उनके सम्बन्ध में विशद वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं दीख पड़ती है।

संगठन—पूरे बिहार-राज्य में, सिर्फ ऐसे इलाकों को छोड़कर, जो बिहार और उड़ीसा म्युनिसिपल ऐक्ट, १९२२ की व्यवस्थाओं के अधीन नगरपालिका या अनुसूचित क्षेत्र (Municipality or Notified Area) अथवा कैन्टोन्मेंट्स ऐक्ट, १९२४ की व्यवस्थाओं के अधीन छावनी बनाया गया हो या इसके बाद बनाया जा सके, ग्राम-पंचायतों की स्थापना की जा सकती है। ग्राम-पंचायतों की स्थापना राज्य-सरकार द्वारा ही हो सकती है और राज्य-सरकार ही पंचायतों के नाम, क्षेत्र एवं कार्यों और अधिकारों को निश्चित करेगी।

बिहार-पंचायतराज कानून के अनुसार बिहार-सरकार को अधिकार है कि वह प्रत्येक ग्राम या विभिन्न ग्रामों के भागों में अधिसूचना द्वारा ग्राम-पंचायतों की स्थापना कर सके। सरकार यदि उचित समझे तो, सटे हुए कई ग्रामों के समूह के लिए एक ही ग्राम-पंचायत अथवा अनेक टोलों से बने एक ही बड़े ग्राम के लिए एक से अधिक ग्राम-पंचायत स्थापित कर सकेगी। ऐसा करते समय सरकार को यह ध्यान में रखना होगा कि सम्बन्धित गाँवों की अपनी विशिष्टता नष्ट नहीं हो।

राज्य-सरकार को यह भी अधिकार है कि वह किसी स्थापित ग्राम-पंचायत के क्षेत्राधिकार की स्थानीय सीमाओं में किसी बाहरी ग्राम या उस ग्राम के हिस्से को शामिल कर दे या उससे हटाकर अलग कर दे। ऐसे परिवर्तित ग्राम-पंचायतों

के नामों को भी राज्य-सरकार बदल सकती है। लेकिन उपर्युक्त हेर-फेर करने के पहले सरकार विहित रीति से ऐसे हेर-फेर द्वारा प्रभावित इलाके की जनता के विचार मालूम करेगी।

वैसे तो बिहार-पंचायतराज कानून, पंचायतों की स्थापना के हेतु गाँवों की समुचित आबादी के प्रश्न पर मौन है, लेकिन राज्य-कार्यपालिका ने वर्त्तमान में ग्राम-पंचायत की स्थापना के लिए उत्तर-बिहार में ५००० और छोटानागपुर के इलाकों में २५०० की औसत जन-संख्या निर्धारित की है। कम-से-कम १००० की आबादी के आधार पर एक ग्राम-पंचायत की स्थापना हो सकती है।

सन् १६५६ ई० के बिहार-पंचायतराज (संशोधन) कानून के अनुसार बिहार की ग्राम-पंचायतों को, प्रथम, द्वितीय और तृतीय नामक तीन वर्गों में बाँट दिया गया है। जिस रीति और सिद्धान्तों के अनुसार पंचायतों का वर्गीकरण किया जायगा, उस सम्बन्ध में राज्य-सरकार द्वारा बनाये गये नियम और किये गये निर्णय मान्यकारी होंगे और उस सम्बन्ध में किसी न्यायालय में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है।

उपर्युक्त तीन वर्गों की पंचायतों के अधिकार और उनके पदाधिकारियों के कार्यकाल में कुछ विभिन्नताएँ निर्धारित की गई हैं, जिनकी चर्चा हम यहाँ अलग से नहीं कर उपयुक्त स्थान पर ही करेंगे।

सभी ग्राम-पंचायतें, वे किसी भी वर्ग की क्यों न हों, निगम-निकाय (Body Corporate) होती हैं। अर्थात्, उनका अपना स्वतंत्र कानूनी अस्तित्व होता है, उन्हें स्थावर तथा जंगम दोनों प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार रहता है और वे न्यायालयों में एक पार्टी के रूप में उपस्थित हो सकती हैं।

ग्राम-पंचायत की सदस्यता—ग्राम-पंचायत के क्षेत्राधिकार के भीतर मौजूद भवन या भवन के भाग में, ग्राम-पंचायत स्थापित होने की तारीख से, या उस समय से, जब से कोई सदस्य बनने का दावा करे, ठीक पहलेवाले पंचाग-वर्ष में कुल मिलाकर १८० दिनों तक निवास करनेवाले, सभी वयस्क स्त्री और पुरुष, जो २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुके हों, ग्राम पंचायत[1] के सदस्य होंगे। ऐसे व्यक्ति ग्राम-पंचायत के आजीवन सदस्य बने रहेंगे। ३० जुलाई,

१ बहुत से लेखकों ने ग्राम-पंचायत के इस स्वरूप को 'ग्राम सभा' कहकर पुकारा है। 'ग्राम-सभा' शब्द का उल्लेख कानून में नहीं रहने के कारण हमने 'ग्राम-पंचायत' शब्द का ही प्रयोग किया है। —लेखक

१९६३ ई० के एक संशोधन के अनुसार राज्य की व्यवस्थापिका सभा के मतदाता अपने क्षेत्र की ग्राम-पंचायत के सदस्य मान लिये जाते हैं। लेकिन यदि कोई उस ग्राम-पंचायत के क्षेत्राधिकार में रहना छोड़ दे या पागल, दिवालिया, अभियुक्त करार दिया जाय या नैतिक दुराचार के लिए दंडित हो, तो उसे ग्राम-पंचायत की सदस्यता से वंचित किया जा सकता है।

प्रत्येक ग्राम-पंचायत के सभी सदस्यों का नाम एक रजिस्टर में दर्ज रहता है और समय-समय पर सदस्यों की इस सूची में उपयुक्त संशोधन होता रहता है।

ग्राम-पंचायत की बैठकें—प्रत्येक ग्राम-पंचायत क्रमशः खरीफ तथा रब्बी की फसलों के बाद एक वार्षिक तथा एक अर्द्धवार्षिक साधारण बैठक करेगी। इन दो साधारण बैठकों के अलावा ग्राम-पंचायत की असाधारण बैठक, किसी भी समय (१) मुखिया के अपने चाहने पर अथवा (२) ग्राम-पंचायत के कुल सदस्यों के कम-से-कम पंचमांश की माँग पर, मुखिया द्वारा बुलाई जा सकती है। किसी भी बैठक के लिए कुल सदस्य-संख्या का आठवाँ हिस्सा कोरम निश्चित किया गया है।

ग्राम-पंचायत की इन बैठकों में गाँव की व्यवस्था और शासन के हेतु भविष्य में किये जानेवाले कार्यों की प्रस्तावना पर विचार-विमर्श कर कार्यक्रम तैयार किया जाता है। वार्षिक बैठक में प्रत्येक वर्ष के आय-व्यय के ब्यौरे (बजट) की स्वीकृति और अर्द्धवार्षिक बैठक में विगत वर्ष के आय-व्यय की जाँच-पड़ताल की जाती है।

ग्राम-पंचायत की इन बैठकों में—जिनके द्वारा गाँव के सभी बालिग स्त्री-पुरुष को, प्रतिवर्ष कम से-कम दो बार, एक जगह जमा होकर अपनी समस्याओं पर स्वयं विचार-विमर्श कर निर्णय लेने का अवसर मिलता है— हम प्राचीन ग्रीस तथा स्विट्जरलैंड के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) या अमेरिका के न्यू इंगलैंड (New England) शहर की व्यवस्थाओं का आभास पाते हैं।

ग्राम-पंचायत का संगठन या स्वरूप

ग्राम-पंचायत के विभिन्न भाग हैं, जिनके निम्नलिखित स्वरूप हैं—

१. ग्राम-सभा
२. मुखिया और उसकी कार्यकारिणी समिति
३. ग्राम-कचहरी
४. ग्राम-रक्षा-वाहिनी

कार्यपालिका समिति (Executive Committee)—ग्राम-पचायत की साधारण या असाधारण बैठकों में लिये गये निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए एक कार्यपालिका समिति होगी। ग्राम-पचायत के कार्यपालिका-कार्य यही समिति करेगी। इस समिति का प्रधान मुखिया होगा, जो ग्राम-पचायत के सदस्यों द्वारा प्रत्यक्ष ढग से निर्वाचित होगा।

सन् १९५९ ई० के सशोधन के पहले ग्राम-पचायत की कार्यपालिका समिति में ८ से लेकर १५ सदस्य हो सकते थे और समिति के सभी सदस्यों को मुखिया ही मनोनीत करता था। सन् १९५९ ई० के सशोधन के फलस्वरूप कार्यपालिका समिति के सदस्यों की सख्या निश्चित कर दी गई है। अब इस समिति में मुखिया-सहित कुल ९ सदस्य होंगे—(क) मुखिया, (ख) मुखिया द्वारा मनोनीत चार व्यक्ति और (ग) ग्राम-पचायत द्वारा निर्वाचित चार व्यक्ति।

मुखिया को समिति के चार सदस्यों को मनोनीत करते समय अनुसूचित जन-जातियों, महिलाओं आदि वर्गों के प्रतिनिधित्व को ध्यान में रखना होगा। ग्राम-पंचायत द्वारा निर्वाचित चार सदस्यों के चुनाव के लिए ग्राम-पचायत के समूचे क्षेत्र को चार बराबर वार्डों में बाँटा जायगा और प्रत्येक वार्ड से एक-एक व्यक्ति निर्वाचित होंगे। मुखिया या कार्यपालिका समिति के सदस्य वही व्यक्ति हो सकेंगे, जो भारत के नागरिक हों, २५ वर्ष की उम्र के हों, ग्राम-पचायत और केन्द्रीय या राज्य-सरकार के अधीन वैतनिक पद या लाभ के स्थान पर नहीं हो, और पागल, दिवालिया, अपराधी आदि घोषित नहीं हुए हों, और कोढ़ या यक्ष्मा से पीड़ित नहीं हों।

बिहार-पचायतराज अधिनियम की मूल धाराओं के अनुसार सभी पचायतों की कार्यपालिका समिति (मुखिया-सहित) की अवधि तीन वर्षों की होती थी। सन् १९५९ ई० के सशोधित रूप के अनुसार पचायतों के वर्गीकरण हो जाने के फलस्वरूप अब प्रथम वर्ग की पचायतों की कार्यपालिका समिति के सदस्यों का कार्यकाल पाँच वर्ष, द्वितीय वर्ग का चार वर्ष और तृतीय वर्ग का तीन वर्ष होगा। कार्यपालिका समिति के सदस्यगण (मुखिया-सहित) व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपों में, कुछ दशाओं में पदच्युत किये जा सकते हैं। यदि ग्राम-पचायत से सम्बन्धित और विहित सरकारी पदाधिकारी, कार्यपालिका-समिति के किसी सदस्य को, कदाचार, असामर्थ्य या कर्त्तव्य-उपेक्षा के कारण, अपदस्थ करने की सिफारिश राज्य-सरकार से करे, तो उस सदस्य को अपनी सफाई देने का मौका देने के बाद, राज्य-सरकार उसे समिति की सदस्यता से हटा सकती है।

कार्यपालिका समिति द्वारा अक्षमता, चूक या शक्तियों के दुरुपयोग की दशाओं में, राज्य-सरकार उस समूची समिति को ही भंग या छह महीने के लिए क्रियाहीन बना सकती है। ऐसी दशाओं में समूची समिति (मुखिया-सहित) खत्म हो जायगी और नये सिरे से उस समिति का गठन होगा। इस विघटन या क्रियाहीनता की अवधि में उस ग्राम-पंचायत के कार्यों की देख-रेख सरकारी पदाधिकारी द्वारा, क्षेत्रीय ग्राम पंचायत सलाहकार-समिति की मदद और सलाह से होगी।

किसी कार्यपालिका समिति के अवधि-काल में ही यदि मुखिया का पद किसी कारण से स्थायी तौर पर खाली हो जाय और उसके स्थान में नया मुखिया निर्वाचित हो, तो उस समिति के उन सदस्यों का (अधिक-से-अधिक ४), जो भूतपूर्व मुखिया द्वारा मनोनीत रहेंगे, पद खाली माना जायगा और उनके बदले में नव-निर्वाचित मुखिया नियुक्ति करेगा।

कार्यपालिका समिति के अवधि-काल में किसी सदस्य के बदले में जो दूसरे नये सदस्य निर्वाचित या मनोनीत होंगे, उनका कार्यकाल पुराने सदस्य की अवधि के शेष अंश तक ही होगा।

कार्यपालिका समिति के सदस्य अपने में से एक सदस्य को उप-मुखिया भी निर्वाचित करेंगे।

कार्यपालिका समिति ग्राम-पंचायत का महत्त्वपूर्ण अंग होती है। अधिनियम के अनुसार ग्राम-पंचायत को जिन-जिन कामों की जिम्मेवारी मिली है, उनको कार्यान्वित करने का अधिकार और उत्तरदायित्व समिति को ही रहता है। समिति को एक स्वयंसेवक-दल संगठित करने का भी अधिकार है।

सन् १९५९ ई० के पहले कार्यपालिका समिति मुखिया के हाथों की कठपुतली होती थी, लेकिन १९५९ ई० के संशोधनों के फलस्वरूप समिति के गठन पर मुखिया का पहले जैसा सर्वाधिकार नहीं रह गया है।

मुखिया —मुखिया ग्राम-पंचायत का प्रधान होता है। ग्राम-पंचायत के सभी सदस्यों द्वारा प्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होने के कारण वह ग्राम पंचायत का सर्वश्रेष्ठ सम्मान-प्राप्त एवं सर्वोपरि सदस्य होता है। ग्राम-पंचायत की समस्त कार्यकारिणी शक्तियों का प्रयोग वस्तुतः उसी के द्वारा होता है, तभी तो अधिनियम के अनुसार कार्यपालिका समिति का भी प्रधान उसे ही बनाया गया है।

सन् १९५९ ई० के संशोधन के पहले तक तो मुखिया कार्यपालिका समिति का जन्मदाता ही होता था, लेकिन अब वह इसके केवल चार सदस्यों को ही मनोनीत कर सकता है। कार्यपालिका समिति के सदस्यों के बीच कामों का बँटवारा मुखिया ही करता है और वही समिति की बैठकों का सभापतित्व भी करता है।

मुखिया ग्राम-पचायत का वास्तविक शासक होता है। अधिनियम द्वारा ग्राम-पंचायत को दिये गये अधिकारों का कार्यान्वयन मुखिया अपनी कार्यपालिका समिति के सहयोग से करता है। मुखिया की अनुमति से ही ऐच्छिक कामों को अनिवार्य रूप से ग्राम-पचायत अपने ऊपर ले सकती है। गाँव में आये हुए राज्य-कर्मचारियों के समक्ष, मुखिया पचायत का प्रतिनिधित्व करता है। यदि राज्य-कर्मचारियों के कामों में अवगुण पाये जाते हैं, तो उनकी शिकायत राज्य-सरकार के पास मुखिया द्वारा ही की जाती है। मुखिया का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह गाँव में शांति एवं सुव्यवस्था कायम रखे। कुछ मामलों में मुखिया कार्यपालिका समिति की राय से जुर्माना वसूल सकता है। राज्य-सरकार के कर वसूलने का ठीका, जो पचायत के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत पड़ता है, कार्यपालिका के सहयोग से मुखिया अपने ऊपर ले सकता है। लेकिन सरकारी कर वसूलने के लिए पंचायत को पारिश्रमिक-मूल्य मिलता है।

भारतवर्ष के राष्ट्रपति के समान मुखिया को कुछ संकटकालीन अधिकार (Emergency Powers) मिले हुए हैं। बिहार-पंचायतराज अधिनियम की २६ वीं धारा में उल्लिखित आग लगना, डकैती होना, बाँधों का टूटना, सक्रामक रोगों का फैलना आदि आकस्मिक घटनाओं का सामना करने के लिए, मुखिया ग्राम-स्वयंसेवक-दल की सहायता से कोई भी काम कर सकता है—जैसे, हैजा फैलने पर मुखिया नालियों एवं पोखरों को साफ करने का हुक्म दे सकता है। यदि किसी व्यक्ति ने ऐसी जगह पर मकान बनवा लिया हो, जिससे सार्वजनिक हित को क्षति पहुँचने की आशंका हो तो मुखिया उसको तुड़वा सकता है। यदि कोई व्यक्ति मुखिया के कामों में बाधा उपस्थित करे तो मुखिया उसको अपनी राह से बलपूर्वक हटा सकता है।

मुखिया को निम्नलिखित दशाओं में अपदस्थ भी किया जा सकता है—(१) यदि ग्राम-पचायत, इसी प्रयोजन के लिए विशिष्ट रूप से बुलाई गई, अपनी किसी बैठक में उपस्थित तथा मतदान करनेवाले सदस्यों के बहुमत से उसे पदच्युत करने का प्रस्ताव पास कर दे।

(२) यदि राज्य-सरकार के पास कार्यपालिका समिति के सदस्य कम-से-कम अपने दो तिहाई बहुमत से मुखिया के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर भेजें।

(३) यदि ग्राम-पंचायत-सम्बन्धी कोई विहित सरकारी पदाधिकारी, किसी मुखिया की अयोग्यता, दुराचार आदि के कारण सरकार से उसे हटा देने को

सिफारिश करे। इस हालत में अन्तिम निर्णय लेने के पहले सरकार मुखिया को अपनी सफाई देने का मौका देगी और कार्यपालिका समिति की भी राय लेगी।

(४) यदि ग्राम-पंचायतराज (संशोधन) कानून की धारा ७६ क के अनुसार क्षमता, चूक या शक्तियों के दुरुपयोग की दशा में कार्यपालिका समिति भंग या क्रियाहीन कर दी जाय।

जब मुखिया का पद उसके हटाये जाने, पदत्याग, मृत्यु या दूसरे कारण से खाली हो जाय तब दूसरा मुखिया निर्वाचित होगा। नवनिर्वाचित मुखिया भूतपूर्व मुखिया के बचे हुए कार्यकाल के लिए ही मुखिया-पद पर रहेगा न कि पूरी नई अवधि के लिए।

उप-मुखिया—कार्यपालिका समिति के सदस्य अपने में से एक सदस्य को उप-मुखिया भी निर्वाचित करेंगे। उप-मुखिया को मुखिया, कार्यपालिका समिति की सहमति से, अपने सभी या आंशिक कर्त्तव्यों और शक्तियों को सौंप सकेगा और किसी भी समय वापस भी लौटा सकेगा। मुखिया की अनुपस्थिति में उप-मुखिया मुखिया के सभी दायित्वों को पूरा करेगा और कार्य-भार उठायगा।

पंचायत-सेवक—प्रत्येक ग्राम-पंचायत के लिए एक पंचायत-सेवक नियुक्त होता है। पंचायत-सेवक एक स्थायी और वैतनिक कर्मचारी होता है और उसकी नियुक्ति राज्य-सरकार द्वारा होती है। वह पंचायत के कार्यालय का सचिव कहला सकता है; क्योंकि पंचायत-कार्यालय के कागज-पत्रों को सुरक्षित रखने की जिम्मेवारी उसी पर रहती है। वह प्रत्येक वर्ष के प्रारंभ में पंचायत के अनुमानित कार्यों की योजना बनाकर ग्राम-पंचायत की कार्यपालिका समिति के सामने रखता है। पंचायत-सेवक कार्यपालिका समिति के निर्णयों को कार्य-रूप में परिणत करता है। एक तरफ वह कार्यपालिका के सलाहकार के रूप में प्रमुख प्रशासकीय सहायक है, तो दूसरी तरफ वह राज्य-सरकार का एजेण्ट है। यदि विहित प्राधिकारी के आदेश देने के बाद भी कार्यपालिका समिति कोई योजना या कार्य नियत समय में कार्यान्वित करने में असमर्थ पाई जायगी, तो वैसी दशा में वह विहित प्राधिकारी पंचायत-सेवक या सहायक पंचायत सेवक के द्वारा पंचायत के खर्च से करा सकेगा।

पंचायत-सेवक की बहाली हो जाने पर उसे आठ सप्ताह का प्रशिक्षण (Training) लेना पड़ता है। इसके लिए राँची में एक स्थायी प्रशिक्षण-विद्यालय की व्यवस्था सरकार द्वारा की गई है। इन आठ सप्ताहों के अन्दर पंचायत-सेवक को

पशु-पालन, कृषि, ग्राम-पुनर्निर्माण, जन-स्वास्थ्य, कम्पोस्ट खाद बनाने, नाली एवं पाखाना बनाने आदि की शिक्षा दी जाती है।

ग्राम-रक्षा-दल—ग्राम-पंचायतराज अधिनियम की २६वीं धारा के अनुसार प्रत्येक ग्राम-पंचायत को अपनी सीमा के भीतर सार्वजनिक अमन-चैन बनाये रखने के लिए तथा ग्राम पहरा और आकस्मिक घटनाओं (अगलगी, चोरी-डकैती आदि) का सामना करने के लिए एक ग्राम-रक्षा-दल का संगठन करना पड़ता है। गाँव के १८ से ३० वर्षों तक के सभी योग्य पुरुष इस दल के सदस्य होंगे। इस दल का संगठन पंचायत में आत्मनिर्भरता तथा स्वावलम्बन की भावना को जन्म देता है। यह दल एक मुख्य पदाधिकारी (Chief Officer) के अधीन रहता है, जिसकी नियुक्ति मुखिया करता है। मुखिया को गाँव में शान्ति-व्यवस्था कायम रखने में सहायता पहुँचाना इस दल का मुख्य कार्य होता है। साथ ही इस दल का यह भी कर्त्तव्य है कि संकटकालीन अवस्थाओं—जैसे आग लगने, डकैती होने, बाँधों के टूटने, संक्रामक रोगों के फैलने आदि के समय लोगों की सहायता करे। दल के मुख्य पदाधिकारी को गाँव के भीतर घटनेवाली आकस्मिक घटनाओं की जड़ तथा वजहों का पता लगाकर उसकी सूचना सब डिविजनल मैजिस्ट्रेट को देनी पड़ती है। इस रिपोर्ट की एक कॉपी उसे मुखिया को भेजनी होगी। मुख्य पदाधिकारी को अपने कामों में चतुर बनाने के लिए राज्य-सरकार ने उसे प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध किया है। विकट संकट के समय एक पंचायत के ग्राम-रक्षा-दल को दूसरी पंचायतों की सहायता भी करनी होती है। ऐसे दलों के निर्माण भारत में अनिवार्य सैनिक शिक्षा की प्रणाली के नहीं होने की कमी को पूरा करते हैं। बिहार-सरकार ने हाल ही में पंचायत-पुलिस-व्यवस्था जारी करने का निश्चय किया है। शाहाबाद जिले के हाजीपुर तथा मुंगेर जिले के खगरिया नामक ग्रामों की दो ग्राम-पंचायतें इस पंचायत-पुलिस-व्यवस्था के लिए चुनी गई हैं।

ग्राम-कचहरी[1]—ग्राम-पंचायतों की तीसरी संस्था को ग्राम-कचहरी या ग्राम-अदालत कहा जाता है। बिहार ग्राम-पंचायतराज (संशोधन) कानून के अनुसार ग्राम-कचहरी में अब ९ पंच होते हैं। इनमें एक सरपंच और ८ पंच कहलाते हैं। सरपंच ग्राम-पंचायत के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होता है। अन्य ८ पंचों में से ४ का निर्वाचन भी ग्राम-पंचायत के सदस्यों द्वारा ही होता है। शेष ४ पंचों का

---

१ ग्राम-कचहरी का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में आगे चलकर किया गया है।

मनोनयन चार निर्वाचित पंचों, सरपंच और कार्यपालिका समिति के सभी निर्वाचित सदस्यों (मुखिया को छोड़कर) की संयुक्त बैठक द्वारा होता है। सरपंच और अन्य पंचों का कार्यकाल प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ग की पंचायतों के लिए क्रमश. ५, ४ और ३ वर्षों का होगा।

ग्राम-पंचायत के कार्य —ग्राम-पंचायत के कार्यों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं (१)—अनिवार्य और (२) ऐच्छिक। अनिवार्य कार्य का सम्पादन पंचायत को आवश्यक रूप से करना ही पड़ता है, परन्तु ऐच्छिक कार्य उस हालत में पंचायत अपने ऊपर लेती है, जब कि पंचायत और कार्यपालिका समिति बहुमत से ऐसी इच्छा प्रकट करे।

अनिवार्य कार्य —ग्राम-पंचायत के अनिवार्य कामों में १२ विषयों का उल्लेख है, जिनमें स्वास्थ्य सुधार और मल-मूत्र की सफाई, चिकित्सा-साहाय्य तथा प्राथमिक सहायता, महामारी और संक्रामक रोगों का नियंत्रण, अकाल, आग, चोरी-डकैती के विरुद्ध व्यवस्था करना, राज्य-सरकार की ग्रामविकास-योजनाओं को कार्यान्वित करना, सिंचाई की व्यवस्था करना; चरागाह, कब्र, श्मशान का जमीन का प्रबन्ध करना आदि प्रमुख हैं।

ऐच्छिक कार्य —ऐच्छिक कामों में २८ काम शामिल हैं, जिनमें प्राथमिक-शिक्षा का प्रबन्ध करना, पुस्तकालयों की स्थापना करना; मातृ तथा शिशु-कल्याण-केन्द्र खोलना, कृषि-उद्योग एवं व्यवसाय के विकास में सहायता करना; जानवरों की नस्ल सुधारना, गलियों में रोशनी का प्रबन्ध करना; जन्म-मृत्यु और विवाह की रजिस्ट्री करवाना, मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था करना, पागल कुत्तों को खतम करना, खतरनाक व्यापारों को रोकना, घरों का निर्माण योजना के अनुसार करवाना; धर्मशाला एवं सराय की व्यवस्था करना, सामूहिक खेती को बढ़ावा देना आदि महत्त्वपूर्ण काम हैं। पंचायतराज-अधिनियम की १८वीं धारा में कहा गया है कि दो या दो से अधिक ग्राम-पंचायतें मिलकर संयुक्त आयुर्वेदिक या होमियो-पैथिक या एलोपैथिक या यूनानी अस्पताल खोल सकती हैं।

उपर्युक्त कार्यों के अलावा अन्य कार्य भी राज्य-सरकार पंचायतों को दे सकती है। १६५६ के संशोधन के अनुसार जंगलों की सुरक्षा का दायित्व भी इन्हें ही सौंपा गया है। साथ ही सड़कों के निर्माण और सिंचाई के लिए नाले आदि के निर्माण का भी काम सौंपा गया है। कहीं-कहीं पंचायतों को मालगुजारी वसूलने का भी काम दिया गया है।

ग्राम-पचायतों के उपर्युक्त कामों के विवरण को देखकर कोई भी कह सकता है कि ग्राम-पचायत का कार्य बहुत वृहत् है। ग्राम-पचायत के ऊपर इतना ज्यादा कार्य-भार सौंपने में यह रहस्य छिपा है कि ग्राम पचायत को आत्मनिर्भर (Self-sufficient) बनाया जाय, क्योंकि हमारे सविधान-निर्माताओं का सदा यही उद्देश्य रहा है कि भारतीय प्रजातन्त्र की आधारशिला ग्राम पंचायत हो।

ग्राम-पचायत की आय के साधन—ग्राम-पंचायत को अपने कार्यों के सम्पादन के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता है। अतः ग्राम-पंचायतों को आमदनी के कुछ साधन उपलब्ध कराये गये हैं। इन साधनों में (१) कर, (२) प्रान्तीय सरकार द्वारा अनुदान, (३) जिला बोर्ड द्वारा मदद आदि मुख्य हैं।

कर—बिहार को ग्राम पंचायतों को दो प्रकार के कर लगाने का अधिकार प्राप्त है—(१) अनिवार्य कर और (२) अनुपूरक कर। अनिवार्य कर वह नगद कर होगा, जो पचायत के क्षेत्राधिकार की स्थानीय सीमाओं के भीतर अचल सम्पत्ति के स्वामियों पर लगाया जायगा। सन् १९५९ ई० के संशोधन के पहले गाँव के सभी १८ से ५० वर्ष तक के स्वस्थ और समर्थ पुरुषों से वर्ष में ४८ घंटों का अनिवार्य श्रम, कर या उसके बदले में उचित मजदूरी की रकम ली जाती थी।

अनुपूरक कर के अन्तर्गत गाँव में बिकनेवाले जानवरों की रजिस्ट्री फीस, यदि पंचायत जल, पाखाना, नाली, रोशनी की व्यवस्था करती है, तो जल-कर, पाखाना-कर, नाली-कर, रोशनी-कर, सवारी-कर, तीर्थकर, पथकर, कृषि छोड़कर अन्य व्यवसायों पर पेशा-कर, पंचायत के अन्दर पड़नेवाले बाजारों एवं हाटों के सामानों की बिक्री पर कर, दलालों, एजेन्टों पर लाइसेन्स-फीस आदि से हुई आमदनी प्रमुख हैं। परन्तु, यदि जिला-बोर्ड उपर्युक्त कर पहले लगा चुका है, तो ग्राम-पचायतें वे कर नहीं लगा सकती हैं। ग्राम-पंचायत की कार्यपालिका समिति राज्य-सरकार या विहित प्राधिकारी को रिपोर्ट कर किसी संकट के समय संकट-कर भी तबतक के लिए लगा सकती है जब तक की मंजूरी इसे प्राप्त हो।

साथ ही, बुरे दिनों (बाढ, प्राकृतिक प्रकोप आदि) में, विहित प्राधिकारी की सहमति से, कार्यपालिका समिति उपर्युक्त सभी या किन्हीं करों के पूरे या उनके अंश की छूट दे सकेगी।

सरकारी अनुदान—राज्य सरकार द्वारा दिया हुआ अनुदान भी पचायत की आय का महत्त्वपूर्ण साधन है। पंचायत की आय का आधे से अधिक हिस्सा सरकारी

अनुदान द्वारा पूरा किया जाता है। जिला-बोर्ड भी पंचायतों को गाँव की विकास-योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए निश्चित रकम की सहायता करता है। इसके अलावा पंचायत के क्षेत्राधिकार में सरकार द्वारा लगाये जानेवाले करों की वसूली का भार पंचायत अपने ऊपर लेकर कुछ पारिश्रमिक आय इकट्ठा कर सकती है। बिहार की ग्राम-पंचायत इस प्रकार के सरकारी कर वसूलने का भार अपने ऊपर धीरे-धीरे ले रही है।

ग्राम-कचहरी

प्रत्येक ग्राम-पंचायत अपने ऊपर सौंपे गये न्याय-सम्बन्धी कार्यों का पालन करने के लिए एक ग्राम कचहरी या ग्राम-अदालत की स्थापना करती है। अर्थात्, ग्राम-कचहरी ग्राम-पंचायत की न्यायपालिका होती है। बिहार-राज्य में ग्राम-पंचायत की कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक दूसरे से अलग रखा गया है। मुखिया या कार्यपालिका समिति के अन्य कोई भी सदस्य ग्राम-कचहरी के सदस्य नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार हम ग्राम-कचहरी को एक स्वतंत्र ग्राम-न्यायपालिका कह सकते हैं।

संगठन —बिहार ग्राम-पंचायतराज (संशोधन) कानून के अनुसार अब प्रत्येक ग्राम-कचहरी में ६ सदस्य यानी पंच होते हैं। इनमें एक सरपंच और ८ पंच कहलाते हैं। सरपंच ग्राम पंचायत के सभी सदस्यों द्वारा प्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होता है। अन्य ८ पंचों में से ४ पंचों का निर्वाचन भी ग्राम-पंचायत के सदस्यों द्वारा होता है। शेष ४ पंच; सरपंच, ४ निर्वाचित पंच और मुखिया को छोड़कर कार्यपालिका समिति के सभी निर्वाचित सदस्यों की एक संयुक्त बैठक द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। पंचों के निर्वाचन या मनोनयन में, पिछड़े वर्ग के प्रतिनिधित्व के लिए, उस वर्ग की जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित रखा जायगा। सरपंच और पंचों का कार्यकाल प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ग की पंचायतों के लिए क्रमशः ५, ४ और ३ वर्षों का होगा।

सन् १९५९ ई० के संशोधन के पूर्व ग्राम कचहरी में १५ सदस्य होते थे और वे सभी ग्राम पंचायत द्वारा ३ वर्षों की अवधि के लिए निर्वाचित होते थे। ये पंच ही अपने में से एक को सरपंच चुनते थे।

सरपंच ग्राम-कचहरी का अध्यक्ष होगा। मुकदमों को दर्ज करना तथा मुकदमे के दोनों पक्षों के लोगों और गवाहों को कचहरी के सम्मुख लाने की व्यवस्था करना उसी

का काम होता है। सन् १९५६ ई० के संशोधन के अनुसार, ग्राम-कचहरी के पंच अपने बीच में एक उप-सरपंच को निर्वाचित कर लेते हैं। सरपंच की अनुपस्थिति या अयोग्यता की दशा में उप-सरपंच ही उसका कार्यभार सँभालता है।

राज्य-सरकार क्षेत्रीय ग्राम-पंचायत सलाहकार-समिति की सिफारिश पर अयोग्यता, व्यभिचार और उत्तरदायित्व में विफल रहने के आधार पर सरपंच, उप-सरपंच या पंच को हटा सकेगी। लेकिन ऐसा करने के पहले उसे अपनी सफाई देने का मौका दिया जायगा। सरकार, पंचों की कुल संख्या के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से पंच या सरपंच के विरुद्ध पास किये गये अविश्वास के प्रस्ताव के आधार पर भी उन्हें पदच्युत कर सकती है। सरपंच, उप-सरपंच या पंच मुखिया को लिखित सूचना देकर पदत्याग कर सकते हैं, लेकिन उसकी स्वीकृति कार्यपालिका समिति देगी।

कोई भी पंच, उप-सरपंच या सरपंच अपने पद से हटाये जाने पर, हटाये जाने की तारीख से पाँच वर्षों की अवधि के भीतर, मुखिया, उप-मुखिया या कार्यपालिका समिति के सदस्य के रूप में पुनः निर्वाचित या पुनः नियुक्ति के योग्य नहीं होंगे।

सरपंच, उप-सरपंच या पंच, ग्राम-कचहरी की ऐसी किसी कार्यवाही में, जिसमें व्यक्तिगत रूप से उनका हित जुड़ा हुआ हो, भाग नहीं लेगा।

अधिकार —ग्राम-कचहरी को फौजदारी और दीवानी दोनों तरह के मुकदमों को देखने का अधिकार है। फौजदारी मामलों के अन्तर्गत उसे भारतीय पेनल कोड की कुछ खास धाराओं के अन्तर्गत (एक तृतीय श्रेणी के मेजिस्ट्रेट की अधिकार-सीमा तक) ही मुकदमा देखने का अधिकार है। फौजदारी मुकदमों में प्रथम और द्वितीय वर्ग की ग्राम-कचहरी को अधिक-से-अधिक १०० रु० तक जुर्माना और एक माह की साधारण कैद देने का अधिकार है। तृतीय वर्ग की कचहरी अधिक-से-अधिक ५० रु० जुर्माना या ७ दिनों की साधारण कैद की सजा दे सकती है। १०० रु० से लेकर ५०० रु० तक के दीवानी मुकदमे ग्राम-कचहरी के क्षेत्राधिकार में आ सकते हैं—प्रथम वर्ग की कचहरी को ५०० रु० तक, द्वितीय वर्ग की कचहरी को २०० रु० तक और तृतीय वर्ग की कचहरी को सिर्फ १०० रु० तक की लागत की नालिश सुनने का अधिकार है। ग्राम-कचहरी अगर अपने निर्णयों को खुद नहीं लागू कर सके तो उन्हें अपने क्षेत्र के मुंसिफ के सुपुर्द कर सकती है।

कार्य-पद्धति—ग्राम-कचहरी में प्रत्येक मुकदमे की सुनवाई पाँच पंचों (सरपंच-सहित) के बेंच के द्वारा होती है। इस बेंच में (क) सरपंच, (ख) सरपंच के द्वारा मनोनीत २ पंच और (ग) मुकदमे के दोनों पक्षों के एक-एक प्रतिनिधि, अर्थात् २ और पंच (कुल मिलाकर ५ पंच) रहते हैं। अगर कोई पक्ष अपनी ओर का पंच नहीं चुने तो सरपंच को उस पक्ष के लिए एक पंच चुन देने का अधिकार है। यदि किसी मुकदमे में पंच या सरपंच व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित हों तो उनके बदले दूसरे पंच उस मुकदमे की सुनवाई करेंगे।

कचहरी के समक्ष लाये गये मुकदमों में समझौता कराने की कोशिश करना पंचों का प्रथम कर्त्तव्य होगा। सुलह कराने की कोशिश व्यर्थ हो जाने पर मुकदमे की उचित कार्रवाई की जाती है। पंचों का निर्णय, जो लिखित होगा, बहुमत से होगा।

उपर्युक्त बेंच के फैसलों की अपील एक महीने के अन्दर ग्राम-कचहरी की पूरी बेंच (६ पंचों) के समक्ष हो सकती है। साधारण स्थिति में पूरी बेंच का फैसला अन्तिम फैसला होता है। विशेष स्थिति में पूरी बेंच के फैसलों के विरुद्ध फौजदारी मामलों के लिए एस० डी० ओ० और दीवानी मामलों के लिए मुन्सिफ की अदालत में अपील की जा सकेगी।

ग्राम-कचहरी में किसी भी कानूनी पेशेवाले व्यक्ति को बहस करने का अधिकार नहीं है, किन्तु संशोधित कानून के अनुसार कैद की सजा पानेवाला व्यक्ति वकील से सलाह ले सकता है और उसे अपनी रक्षा करने के लिए नियुक्त कर सकता है।

राजकीय नियंत्रण

ग्राम-पंचायतों के समुचित कार्यकरण के लिए कुछ बाह्य नियंत्रण की अत्यन्त आवश्यकता है। ग्रामीण जीवन का सम्बन्ध राष्ट्रीय जीवन से भी है। ऐसी हालत में ग्राम पंचायत पर नियंत्रण रखना इसलिए आवश्यक है कि ग्रामीण जीवन निन्दनीय न हो जाय और राष्ट्रीय तथा ग्रामीण कल्याण के बीच प्रतिस्पर्द्धा की भावना न जन्म ले ले। बिहार की ग्राम पंचायतों पर दोहरा नियंत्रण करने की प्रथा अपनाई गई है। पहला, राज्य-सरकार के द्वारा और दूसरा, जिला-बोर्ड के द्वारा।

राज्य सरकार ने सन् १९५३ ई० में एक ग्राम-पंचायत-विभाग की स्थापना की है, जिसमें एक मंत्री और एक उपमंत्री रहते हैं। इस विभाग का स्थायी अधिकारी

निदेशक (Director) कहलाता है। ग्राम-रक्षा दलों की देखभाल करने के लिए एक राज्य-आयोजक (State Organiser) को नियुक्त किया गया है। प्रत्येक जिले में ग्राम-पंचायत-अफसर तथा प्रत्येक सबडिवीजन में ग्राम-पर्यवेक्षक (Supervisor) को नियुक्त किया गया है। जिलाधीश एवं जिला-जज पंचायत के आवश्यक कागजात का निरीक्षण कर सकते हैं। पंचायत के दिन-प्रति-दिन के कामों का नियंत्रण पंचायत-सेवक, जो सरकार के प्रति वफादार है, करता है। ग्राम पंचायत-सम्बन्धी नियम, उपनियम बनाने तथा उनमें संशोधन करने का अधिकार राज्य-सरकार को प्राप्त है। मुखिया का निर्वाचन करने की पद्धति निश्चित करना, पंचायत के आय-कर की जाँच-पड़ताल करना आदि सरकार के अधिकार में है।

राज्य ग्राम-पंचायत बोर्ड —सन् १९५६ ई० के संशोधन के आधार पर, राज्य-स्तर पर एक और संस्था स्थापित की गई है, जिसे राज्य ग्राम-पंचायत् बोर्ड (State Gram-Panchayat Board) कहा गया है। इस बोर्ड का काम होता है कि वह पंचायत-सम्बन्धी सभी विषयों पर राज्य-सरकार को नीतिनिर्धारित करने में सलाह दे और पंचायतों के कार्यों की प्रगति की जाँच करे या सरकार द्वारा सौंपे गये अन्य विषयों पर विचार-विमर्श करे।

राजकीय नियंत्रण के अतिरिक्त जिला बोर्ड भी ग्राम पंचायत पर अपना नियंत्रण रखता है। प्रत्येक जिला-बोर्ड एक ग्राम पंचायत-समिति नियुक्त करता है, जिसमें जिले के स्वास्थ्य-पदाधिकारी तथा जिला-अभियन्ता (Engineer) तथा बोर्ड के अधिक से-अधिक ३ सदस्य रहते हैं। पाँच सौ रुपये से अधिक खर्च होनेवाली योजना को अपने हाथ में लेने के लिए ग्राम-पंचायत को ग्राम-पंचायत समिति की अनुमति लेनी पड़ती है। जिला-बोर्ड किसी काम का भार ग्राम-पंचायत पर सौंप सकती है और ऐसे कामों का सम्पादन ग्राम-पंचायत जिला-बोर्ड के एजेण्ट के रूप में करती है। जिला-बोर्ड को ग्रामीण स्वास्थ्य की रक्षा एवं समृद्धि के लिए नियम अथवा उपनियम बनाने का अधिकार है। ग्राम-पंचायत द्वारा लोक-निर्माण एवं जन-स्वास्थ्य-सम्बन्धी कामों को करने के लिए जिला-बोर्ड की स्वीकृति आवश्यक है। इसके अलावा जिला-बोर्ड ग्राम-पंचायत के आवश्यक कागजात या दस्तावेज की जाँच-पड़ताल कर सकता है।

क्षेत्रीय ग्राम-पंचायत परामर्शदात्री समिति (Regional Gram Panchayat Advisory Committee) —सन् १९५६ ई० संशोधन के अनुसार

एक क्षेत्रीय ग्राम-पचायत परामर्शदात्री समिति की भी व्यवस्था की गई है। ग्राम-पचायतों को विभिन्न मामलों में सलाह देना, पचायत के कार्यों की देखरेख करना तथा गाँवों की योजना के बारे में सलाह देना आदि इस समिति के कार्य होंगे।

ग्राम-पंचायत के कार्यकरण

विगत बारह वर्षों में बिहार की ग्राम-पचायतों के कार्यकरण पर ध्यान देने से हम पाते हैं कि इसका रेकर्ड (Record) बहुत अच्छा नहीं रहा है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि हमारे राज्य की कुछ पंचायतों ने बहुत ही प्रशसनीय कार्य किये हैं, लेकिन अधिकाश पंचायतो का इतिहास असफलता और अयोग्यता की कहानी रहा है। कहीं-कहीं तो पंचायत के मामलों को लेकर आपस में मार-पीट, खून-खराबी तक हो गई है। ग्राम-पंचायतें, राजनीतिक, जातीय तथा अन्य सकीर्ण गुटबन्दियों का अखाड़ा बन गई हैं। ग्राम-कचहरी भी पक्षपात का घर बन गई है। कहीं-कहीं मुखिया लोग डकैती करते या गाँजा-भाँग चुराकर ले जाते हुए पकड़ाये हैं।

ग्राम-पंचायत के कार्यकरण के उपर्युक्त दोषो की जड़ में ग्राम-पंचायत का अपना दोष नहीं, वरन् बाहरी वातावरण का है, जिसमे ग्राम-पंचायत अपने को पाती है। इन दोषों का उत्तरदायित्व तो गाँव में बसनेवाले लोगों की अशिक्षा, पुरानी परम्पराएँ, गरीबी आदि पर है। ग्रामवासियों में राजनीतिक शिक्षा और चेतना तथा कर्त्तव्यपरायणता की कमी के कारण ये सब दोष पाये जाते हैं। लेकिन कुछ अंशों में पंचायत का अपना सगठन और शासन भी दोषपूर्ण है। हम उनकी चर्चा नीचे करेंगे—

ग्राम-पंचायत के शासन मे दोष—ग्राम-पंचायत के सगठन में भी हम काफी दोष पाते हैं। सर्वप्रथम पंचायत के क्षेत्र-सम्बन्धी नियम दोषपूर्ण हैं। उत्तर-विहार में यदि किसी गाँव की आबादी ५००० से ज्यादा है, तो उस गाँव का विभाजन करके एक से अधिक ग्राम-पंचायत की स्थापना की जाती है। और, यदि किसी गाँव की आबादी ५००० की नहीं है, तो दो चार गाँवों को मिलाकर एक पंचायत की स्थापना की जाती है। यह प्रणाली दोषपूर्ण है; क्योंकि दो-चार गाँवों को मिलाकर एक पंचायत कायम करने से गाँवों की अपनी खासियत (Peculiarity) नष्ट हो जाती है। इसी तरह एक ही गाँव में दो या दो से अधिक पंचायतों की स्थापना करने से प्रतिद्वन्द्विता की भावना बढ़ती है एव ग्रामीण जनता मे अपनत्व या एकता की भावना नहीं पनपती है। बलवन्त राय मेहता-कमिटी ने भी यह आरोप लगाया है कि एक गाँव में दो या दो से अधिक पचायत कायम करने अथवा दो-चार गाँवों

को मिलाकर एक पंचायत कायम करने से ग्राम-विकास-योजना का समुचित सम्पादन नहीं हो सकता है और एक गाँव के व्यक्ति - दूसरे गाँव के व्यक्ति से घृणा करने लगते हैं। सन् १९५९ ई० के संशोधन के अनुसार जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्गों में पंचायतों का वर्गीकरण किया गया है, उससे तो प्रतिद्वन्द्विता की भावना और भी बढ़ेगी।

गुप्त मतदान द्वारा मुखिया का निर्वाचन संतोषप्रद है। फिर भी, मुखिया केवल अपनी ही पार्टी की स्वार्थ-साधना में लगे रहते हैं। कोई खास योग्यता निर्धारित नहीं होने तथा पंचायत में गन्दी राजनीति का समावेश होने से अयोग्य व्यक्ति मुखिया बन जाते हैं। ऐसा देखा गया है कि ग्राम-रक्षादल से मुखिया आम जनता की सहायता न कर केवल अपने घर का काम करवाते हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वी को सताते हैं। यही कारण है कि कितने मुखिया जेल की हवा खा चुके हैं। इन दोषों के अतिरिक्त मुखिया को ग्राम-पंचायत की बैठकों में साधारण बहुमत से पदच्युत करने की प्रणाली दोषपूर्ण है; क्योंकि मुखिया किसी भी समय अपने विरोधी दल का शिकार बन सकता है।

पंचायत-सेवक की योग्यता के अनुसार उसपर कामों का भार अत्यधिक है। एक साधारण योग्यतावाले व्यक्ति से कम्पोस्ट खाद बनाना, जन स्वास्थ्य की देख-भाल करना, नाली एवं पाखाना बनवाना आदि कार्यभार, केवल आठ सप्ताह के शिक्षण से, नहीं सँभल सकता है। इसके अलावा पंचायत-सेवक का वेतन भी बहुत कम है, जिससे उसको अपने कामों में पूरी अभिरुचि नहीं होती है।

पुनः ग्राम-पंचायत अत्यधिक कार्यभार से दबी हुई है, जब कि इसकी आय के साधन बहुत ही कम हैं। पंचायत के कुछ आवश्यक काम ऐसे हैं, जिन्हें प्रान्तीय सरकार क्या, केन्द्रीय सरकार भी आसानी से कार्यान्वित नहीं कर सकती है—जैसे अकाल एवं संक्रामक रोगों को रोकना, सिंचाई का प्रबन्ध करना आदि। ऐसी परिस्थिति में पंचायत के ऊपर इन कार्यों को सौंपना आदर्शवाद (Idealism) की दुहाई देना है। जब पंचायत अपने अनिवार्य कामों को नहीं सँभाल सकती है, तब ऐच्छिक कामों की इतनी लम्बी सूची बनाने का कोई अर्थ नहीं है।

ग्राम-पंचायत की अर्थ-व्यवस्था भी संतोषजनक नहीं है। पंचायतों की आमदनी के साधन पर्याप्त नहीं हैं। साथ ही जो साधन उपलब्ध हैं, उनका भी पूरा उपयोग नहीं हो पाता है। करों की वसूली उचित ढंग से नहीं हो पाती है; क्योंकि मुखिया को पुनर्निर्वाचन और पदच्युत किये जा सकने का सदैव डर बना रहता है।

जहाँ तक पंचायत की कचहरी की कार्यवाही का सवाल है, ग्राम कचहरी मे भी दलबन्दी का प्रभाव बहुत जोर से जम गया है। फैसले पक्षपातपूर्ण होते हैं। यही कारण है कि ग्राम-कचहरी के फैसले की अधिकाश अपीलों मे ग्राम-कचहरी के विपरीत फैसले दिये जाते हैं। निर्वाचितन्यायपालिका से पूर्ण निष्पक्षता की उम्मीद करना कोरा आदर्शवाद है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि सरपंच या पंच निर्वाचित होने के लिए कोई निश्चित योग्यता नहीं रखी गई है। अन्त मे हम यह कह सकते हैं कि ग्राम-कचहरी के अधिकाश फैसलों की अपील एस० डी० ओ० एव मुन्सिफ के कोर्ट मे होने से ग्राम-कचहरी की सक्रियता की भावना नष्ट हो जाती है। ग्राम-कचहरी यह सोचती है कि आखिर उसके फैसलों की अपील होगी ही, अत फैसला देने में काफी छानबीन की क्या आवश्यकता है?

ग्राम-पंचायतों पर राजकीय नियंत्रण भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। सन् १९५९ ई० के सशोधन के बाद मे तो राजकीय नियंत्रण की जंजीर और भी कस दी गई है। राज्य-पचायत-बोर्ड और क्षेत्रीय परामर्शदात्री समिति, ये दो नई संस्थाएँ भी बन गई हैं।

ग्राम पंचायतों पर राजकीय नियंत्रण का होना तो आवश्यक भी माना जा सकता है, परन्तु जिला-बोर्ड का नियंत्रण हानिकारक ही सिद्ध हुआ है। डॉ० ज्ञानचन्द का कहना है कि ग्राम-पंचायत और जिला-बोर्ड के कार्य के समान रहने के कारण ग्राम-पचायत पर जिला-बोर्ड का नियंत्रण विनाशात्मक एव नकारात्मक साबित हुआ है। ग्राम-पचायत को स्वायत्त शासन की सफल इकाई बनाने का प्रयत्न जिला-बोर्ड के लिए असह्य है। राजकीय नियंत्रण के तरीके भी कुछ दोषपूर्ण हैं। जिले में एक पचायत-अफसर सभी पंचायतों की देख-भाल समुचित रूप से नहीं कर सकता है। राजकीय पदाधिकारी, जो 'प्रसार-सेवा-खण्ड' (National Extension Service) एवं 'सामुदायिक योजना' (Community Project) के फलस्वरूप ग्राम-पचयात के विकास एव समृद्धि के लिए बहाल किये गये हैं, वे भी श्रीनेहरू के शब्दों में 'साहबी मनोवृत्ति' (Collar Mentality) वाले रहे हैं, उन्हें ग्रामीण अवस्थाओं का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। तुरन्त कॉलेज छोड़कर प्रतियोगिता की परीक्षा में सफलीभूत हुए अफसर ग्रामीण हालत सही-सही नहीं समझ सकते हैं।

सन् १९५९ ई० के संशोधन के अनुसार अब कार्यपालिका समिति पर मुखिया का वह प्रभाव नहीं रहा, जो पहले था। यदि मुखिया और समिति के चारनिर्वाचित सदस्यों के बीच मतभेद रहा तो पंचायत के कार्यकरण में और भी गतिरोध और असफलता मिलेगी।

दोषों को दूर करने का सुझाव—जहाँ तक ग्राम-पंचायत के क्षेत्र-सम्बन्धी दोष को दूर करने का प्रश्न है, राज्य की कार्यपालिका को पंचायत का निर्माण करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि गाँवों की अपनी खासियत न नष्ट हो जाय। बलवन्त राय मेहता-कमिटि ने भी यह सुझाव किया है कि पंचायत की स्थापना करने में ग्रामवासियों की आत्मीयता-भावना को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न किया जाय। अतः एक गाँव में दो या दो से अधिक अथवा दो-चार गाँवों को मिलाकर एक ग्राम-पंचायत की स्थापना न हो। ऐसी परिस्थितियों में हम मद्रास की ग्राम-पंचायत की निर्माण-प्रणाली अपना सकते हैं। मद्रास में ५००० से १०००० तक और ५०० से ५००० तक आबादीवाले गाँवों में एक-एक पंचायत की स्थापना होती है।

पंचायत के मुखिया होने के लिए कोई निश्चित योग्यता रख दी जाय, ताकि अयोग्य व्यक्ति न चुने जायँ। साधारण बहुमत से नहीं, बल्कि पूर्ण (Absolute) बहुमत से मुखिया को पदच्युत किया जाय। ग्राम-पंचायत को दलबन्दी का अखाड़ा नहीं बनाया जाय। मुखिया ग्राम-रक्षादल की सहायता आम जनता के हित के लिए ही ले। ग्राम-रक्षादल साथी एवं पथ-प्रदर्शक का काम करे।

पंचायत-सेवक के ऊपर कार्यभार उतनी ही मात्रा में सौंपा जाय, जो उसकी योग्यता के अनुसार हो। यदि कार्यभार की मात्रा ज्यादा हो, तो उसके आठ सप्ताह के प्रशिक्षण की अवधि बढ़ा दी जाय। साथ ही पंचायत-सेवक का वेतन वस्तुओं की महँगी के हिसाब से निश्चित हो।

ग्राम-पंचायत को उन्हीं कामों को करने का अधिकार मिले, जिन्हें वह अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार कार्यान्वित कर सके। व्यर्थ में आदर्शवाद का नारा बुलन्द न किया जाय। डा० एम० पी० शर्मा ने भी यही सुझाव दिया है कि पंचायत को हल्के-हल्के कामों—जैसे पुस्तकालय की व्यवस्था, सफाई एवं रोशनी का प्रबन्ध आदि का अधिकार मिले। ज्यों-ज्यों पंचायत की आर्थिक शक्ति बढ़ती जाय, त्यों-त्यों शनैः-शनैः पंचायत के कामों की सूची भी लम्बी कर दी जाय। एकाएक पंचायत को ज्यादा कार्यभार स दबा देना उचित नहीं है।

आर्थिक अव्यवस्था दूर करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि करों की वसूली सरकारी अफसर की सहायता से की जाय, ताकि पक्षपात न हो। जिस प्रकार बंगाल की ग्राम-पंचायत सरकारी अफसर की सहायता से यूनियन-रेट वसूल करती है, उसी प्रकार की व्यवस्था बिहार में भी अपनाई जाय।

ग्राम-पंचायत की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ बनाने लिए यह भी आवश्यक है कि गृह-उद्योगों को बढ़ावा मिले। इसके लिए सरकारी अनुदान पर्याप्त मात्रा में दी जाय। आचार्य विनोबा भावे, श्रीजयप्रकाश नारायण है आदि विद्वान् भूदानी नेताओं का कहना है कि यदि ग्राम-पंचायत गांधीजी के चर्खा-माहात्म्य को विश्वास-पूर्ण भावना से अपनाय, तो बेकारी की समस्या दूर होने के साथ-साथ ग्राम-पंचायत की आर्थिक हालत अच्छी हो जायगी। कुछ लोगों ने तो यह सुझाव दिया है कि ग्राम-पंचायत सार्वजनिक दुकान खोलकर धन इकट्ठा कर सकती है। चुन्नीलाल चर्खेवाला का कहना है कि शादी-विवाह एवं अन्य उत्सव के समय ज्यादा खर्च करनेवालों पर कर लगाने का अधिकार ग्राम-पंचायत को प्राप्त हो। लोकल फाइनान्स इनक्वायरी कमिटी ने यह सिफारिश पेश की है कि १५ प्रतिशत से शुरू कर धीरे-धीरे ५० प्रतिशत तक भूमि-कर का हिस्सा पंचायत को मिले।

डॉ० ज्ञानचन्द ने पंचायत की आर्थिक हालत सुधारने के लिए यह सुझाव दिया है कि गाँवों में सामूहिक खेती का आन्दोलन शुरू हो। सामूहिक खेती से किसानों को अच्छे बीज, खेती करने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक मशीनें, जैसे ट्रैक्टर आदि, सुविधापूर्वक मिल जाती है, जिससे खेती अच्छी होती है और पैदावार बढ़ती है। सामूहिक खेती से लोगों में अपनत्व एवं एकता की भावना भी बढ़ती है। अतः, हम कह सकते हैं कि सामूहिक खेती की योजना दो पहियेवाली वह गाड़ी है, जिसपर धन-सम्पत्ति की देवी—लक्ष्मी—सवार होती है। हर्ष की बात है कि भारत-सरकार ने सामूहिक खेती की ओर सक्रिय कदम उठाया है। ग्राम-पंचायत के अन्दर ग्राम की मर्यादा बढ़ाने से आर्थिक हालत निश्चय ही अच्छी हो जायगी। ग्राम-पंचायत की आर्थिक अवस्था अच्छी हो जाने पर सम्पूर्ण राष्ट्र की आर्थिक हालत सुधर जायगी, क्योंकि भारत आखिर गाँवों का देश है।

ग्राम-कचहरी के दोष दूर करने का यह सुझाव है कि पंचों के लिए भी खास योग्यता निश्चित कर दी जाय। पुनः ग्राम-कचहरी के सभी फैसले की अपील एस० डी० ओ० और मुन्सिफ के कोर्ट में न हो; क्योंकि आखिर हमें आनेवाले पंचों

को भी प्रशिक्षित (Trained) करना है, ताकि आधुनिक गाँवों के साथ भी 'पंच-परमेश्वर' की कहानी सत्य साबित हो सके।

ग्राम-पंचायत को जिला-बोर्ड के नियंत्रण से कुछ मामलों में मुक्ति मिले। जिला-बोर्ड का नियत्रण सकारात्मक होना चाहिए। ग्राम-पंचायत और जिला-बोर्ड के कामों का साफ-साफ विभाजन एवं वर्गीकरण हो, जिससे जिला-बोर्ड ग्राम-पंचायत के कामों में हस्तक्षेप न कर सके। पुन राज्य-सरकार उन व्यक्तियों को ग्राम-पंचायत के विकास में पथ-प्रदर्शन करने के लिए बहाल करे, जिन्हें ग्रामीण अवस्थाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। मद्रास के समान बिहार में भी ग्राम-पंचायत-रजिस्ट्रार की नियुक्ति करने की व्यवस्था हो। अफसरों को ग्रामीण अवस्थाओं से अवगत कराने के लिए समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था हो। इसके अलावा जिला-पंचायत-अफसर की संख्या एक से अधिक हो।

ग्राम-पंचायतों का भविष्य—ग्राम-पंचायतों के कार्यकरण और उनके दोषों को देखने से ग्राम-पचायतों का निकट भविष्य अंधकारमय दीखता है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि ग्राम-पंचायतें अबतक सफल और सुचारु रूप में अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकी हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या आगे चलकर ग्राम-पंचायतें सर्वथा असफल सिद्ध होंगी? ग्राम-पचायतों के कार्यों के सम्बन्ध में वे ही सभी दोष पाये जाते हैं, जो जनतंत्रात्मक सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में। जब प्रजातंत्र ही ठीक ढंग से भारत में कार्य नहीं कर रहा है, तब ग्राम-पचायतो को ही दोषी ठहराना कहाँ तक ठीक है?

ग्राम-पचायतों का भविष्य भारतीय जनतत्र के भविष्य की डोर के साथ ही बँधा है। जब देश में राष्ट्रीय चेतना और जागरूकता दृढ होगी, शिक्षा बढ़ेगी और हमारा नैतिक एवं आध्यात्मिक धरातल ऊँचा उठेगा, तब आप-से-आप आज के सभी दोष दूर हो जायेंगे। आगे आनेवाले कुछ वर्षों के लिए ग्राम-पंचायतों का भविष्य भले ही अंधकारमय दीख पड़े, लेकिन इसका सुदूर भविष्य उज्ज्वल है, न कि अंधकारमय।

प्रश्न

१. बिहार की ग्राम-पंचायतो के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।

Describe the structure and workings of the Village Panchayat in Bihar.

२. बिहार की ग्राम-पंचायतों के कार्यकरण में क्या दोष हैं ? उन्हें दूर करने के सुझाव दीजिए।
Discuss the defects in the functioning of the Village Panchayats in Bihar and suggest remedies for the removal of these defects

३ बिहार की ग्राम-कचहरी के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
Describe the structure and powers of the Gram-Kutchhary in Bihar.

४ बिहार की ग्राम-पंचायतों की आय के कौन-कौन-से साधन हैं ? क्या उसकी आय पर्याप्त है ? यदि नहीं, तो सुझाव दीजिए।
What are the sources of income of the Village Panchayats in Bihar ? Are they adequate ? If not, suggest remedies.

९ पंचायत-समिति और जिला-परिषद्

१. पंचायत-समिति

भारत में पंचायती राज की स्थापना के निमित्त भारत-सरकार द्वारा बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति हुई थी। इस समिति ने पंचायती राज की स्थापना के लिए जनतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के सूत्र की सिफारिश की है। फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों के लिए त्रिस्तरीय प्राधिकारियों की व्यवस्था की गई है।

(अ) ग्राम-पंचायत —प्रथम स्तर।

(ब) पंचायत-समिति—द्वितीय स्तर।

(स) जिला-परिषद् —तृतीय अथवा उच्च स्तर।

बिहार-विधानमंडल ने 'बिहार-पंचायत समिति और जिला-परिषद् अधिनियम, १९६१' स्वीकृत करके बिहार के देहाती क्षेत्रों के लिए 'पंचायत-समिति' तथा जिला-परिषद्' नामक दो नवीन प्रशासनिक संस्थाओं का सृजन कर दिया है। वर्त्तमान समय में हमारे राज्य के भागलपुर तथा राँची जिलों में पंचायती राज का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इन जिलों में पंचायत-समिति तथा जिला-परिषद् ये दोनों संस्थाएँ काम कर रही हैं। अन्य जिलों में भी शीघ्र ही पंचायती राज की स्थापना होनेवाली है। अब हम दोनों के गठन तथा उनकी शक्तियों एवं कृत्यों का विश्लेषण करेंगे।

पंचायत-समिति

गठन —बिहार-विधानमंडल द्वारा पारित अधिनियम के अनुसार पंचायत समितियों की स्थापना का अधिकार राज्य-सरकार को है। वह सरकारी गजट में सूचना निकालकर किसी प्रखंड के लिए पंचायत समिति का निर्माण कर सकती है। इस प्रकार की पंचायत-समिति का वही नाम होगा, जो उस प्रखंड का होगा। यह पंचायत समिति एक स्थायी संस्था होगी, जिसकी अपनी मुहर होगी। राज्य-सरकार को यह अधिकार है कि वह पंचायत-समिति के क्षेत्र को घटा-बढ़ा सके।

पंचायत-समिति में निम्नांकित प्रकार के सदस्य होंगे —

(1) प्रखंड के अंदर सभी ग्राम-पंचायतों के मुखिया। मुखिया का स्थान रिक्त रहने पर उपमुखिया पंचायत-समिति का सदस्य होगा। यदि मुखिया और उपमुखिया दोनों का

स्थान रिक्त है, तो ग्राम-पंचायत की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों में से ही उनके द्वारा निर्वाचित एक व्यक्ति मुखिया तथा उपमुखिया के चुनाव तक उसका सदस्य रहेगा।

(ii) उस प्रखंड की सभी नगरपालिकाओं के अध्यक्ष तथा नोटिफायड कमिटियों के उपाध्यक्ष।

(iii) उस प्रखंड में स्थित सभी सहकारी समितियों के तीन प्रतिनिधि, जिनका निर्वाचन सहकारी समितियों के सेक्रेटरी करेंगे।

(iv) उस प्रखंड में स्थित केन्द्रीय सहकारी बैंक की व्यवस्थापिका समिति द्वारा निर्वाचित एक सदस्य।

(v) उपर्युक्त सदस्य निम्नांकित सदस्यों का सहयोजन करेंगे —

(क) प्रखंड में रहनेवाले ऐसे दो व्यक्तियों को, जिनके सार्वजनिक कार्य और ग्रामीण विकास के अनुभव से समिति को लाभ पहुँच सके।

(ख) अगर समितियों में अन्य प्रकार से स्त्रियों का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ हो तो दो स्त्रियों का।

(ग) अगर परिगणित जाति अथवा जनजाति के सदस्यों में से कोई पंचायत-समिति का सदस्य न हुआ हो तो उनमें से प्रखंड की कुल आबादी की दस प्रतिशत होने पर दो तथा पाँच प्रतिशत से दस प्रतिशत तक एक।

(vi) प्रखंड के अन्दर के चुनाव-क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित राज्य-विधान-सभा तथा संघीय लोकसभा के सभी सदस्य।

(vii) संघीय राज्य-सभा तथा राज्य-विधान-परिषद् के वे सभी सदस्य, जो उस प्रखंड के निवासी हैं।

(viii) इसके अतिरिक्त जिले का जिलाधीश, जिला-विकास-पदाधिकारी, अवर-प्रमंडल पदाधिकारी, जिन्हें सरकार आदेश द्वारा उल्लेखित करेगी, पंचायत-समिति के सदस्य हो सकते हैं।

कार्यकाल :—(१) पदेन सदस्यों के अतिरिक्त जो सहयोजित सदस्य होंगे, उनका कार्यकाल तीन वर्षों का होगा।

(२) पदेन सदस्यों का कार्यकाल उसी समय तक है जबतक कि वे अपने पद पर हैं, जैसे मुखिया, नगरपालिकाओं के चेयरमैन, केन्द्रीय सहकारी बैंक के प्रतिनिधि आदि।

सदस्यता की अयोग्यताएँ —

(क) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है।

(ख) यदि वह केन्द्रीय या राज्य-सरकार की सेवा में है।

(ग) यदि वह न्यायालय द्वारा पागल घोषित किया गया हो।

(घ यदि उसकी उम्र २५ वर्ष से कम है।

(ङ) यदि वह पंचायत-समिति के अंदर वेतनभोगी कर्मचारी है।

(च) यदि वह अदालत द्वारा दिवालिया घोषित किया गया हो।

(छ) यदि उसे राजनीतिक अपराधों को छोड़कर अन्य अपराधों के लिए छह महीने या उससे अधिक की सजा न्यायायालय द्वारा दी गई हो।

पचायत-समिति के अंग :

(१ साधारण समिति ,

(२) स्थायी समिति ;

(३) प्रमुख तथा उपप्रमुख ,

(४) प्रखंड-विकास-पदाधिकारी।

(५) स्थायी पदाधिकारी।

पचायत-समितियों के अधिकार एव कर्त्तव्य

बिहार-पंचायत-समिति एवं जिला-परिषद् ऐक्ट १९६१, के द्वारा पंचायत-समितियों को बहुत-से अधिकार दिये गये हैं। उसके निम्नांकित कार्य हैं —

(१) **चुनाव-सम्बन्धी कार्य** —प्रमुख और उपप्रमुख का निर्वाचन समिति का महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। समिति के सदस्य अपने में से किन्हीं दो व्यक्तियों को प्रमुख तथा उपप्रमुख चुनते हैं।

(२) **प्रखड-विकास-संबंधी अधिकार**—प्रखंड-विकास के सारे कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने एव उनके निरीक्षण का अधिकार पंचायत-समिति को है। इस कार्य मे समिति ग्राम-पंचायतों, सहकारी समितियों, ऐच्छिक संस्थाओं तथा जनता के सहयोग से कार्य करेगी, जिससे उत्पादन में वृद्धि हो तथा सर्वसाधारण को अधिक सुविधाएँ एव रोजगार मिल सके।

(३) **कृषि-सबधी अधिकार** —पंचायत-समिति कृषि-उत्पादन की वृद्धि तथा उसमे सुधार लाने के लिए निम्नांकित कार्य करेगी—

अच्छे बीजों की उत्पत्ति और वितरण, खादों का वितरण, कृषि के आधुनिक तरीकों का प्रचार, प्रदर्शन के लिए कृषि-फार्मों का सगठन, पौधों की रक्षा तथा उनका विकास,

भूमि-सरक्षण, किसानों के लिए ऋण की व्यवस्था तथा लघु सिंचाई की व्यवस्था । इस प्रकार खेती-बारी के विकास के संबंध में समितियों को इतने अधिकार दिये गये हैं कि अगर उनका उचित ढंग से प्रयोग हो तो कृषि में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाये जा सकते हैं।

(४) शिक्षा-सम्बन्धी कार्य —प्रारम्भिक स्कूल की स्थापना, विस्तार, सुधार और यथोचित प्रबन्ध, स्कूल-पुस्तकालय की स्थापना में सहयोग देना, प्रारम्भिक स्कूलों के भवनों का निर्माण तथा मरम्मत; वयस्क शिक्षा-केन्द्र तथा साक्षरता-केन्द्रों की स्थापना, वाचनालय तथा पुस्तकालय की स्थापना करना, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक वर्ग के छात्रों के लिए छात्रवृत्ति का प्रबंध करना आदि-आदि कार्य हैं।

(५) यातायात संबंधी कार्य —यातायात की सुविधा के लिए पंचायत समिति को यह अधिकार है कि वह यातायात की अधिक-से अधिक सुविधा का प्रबन्ध करे तथा सड़कों पर पुलों का निर्माण एवं मरम्मत करे।

(६) पशुपालन-सम्बन्धी कार्य —गाँव के पशुओं में नस्ल-सुधार करना, पशुओं की रक्षा के हेतु पशु-चिकित्सालयों तथा दवाखाना की स्थापना, पशुओं की छूत बीमारियों की रोक-थाम, पशुओं के लिए अच्छे चारों का प्रबन्ध करना तथा पशु-विकास के सम्बन्ध में जनता को शिक्षित करना ।

(७) जन-स्वास्थ्य तथा सफाई-सम्बन्धी कार्य —प्रारम्भिक स्वास्थ्य-केन्द्रों तथा मातृ-सेवा-केन्द्रों की स्थापना, महामारियों की रोकथाम, परिवार-नियोजन को प्रोत्साहन देना, शुद्ध जल की व्यवस्था, गाँवों में नालियों की व्यवस्था, आधुनिक पाखान तथा स्वास्थ्य एव सफाई के कार्यक्रमों को लागू करना तथा उनका उचित प्रबन्ध करना ।

(८) ग्रामीण कुटीर-उद्योग, कला तथा दस्तकारी-सम्बन्धी कार्य — गाँवों में कुटीर एवं लघु-उद्योगों का विकास, उस हेतु ऐसे विद्यालयों की स्थापना, जहाँ पर ऐसे कार्य हो सकें; नये औजारों को लोकप्रिय बनाना; व्यक्तियों तथा सहकारी समितियों को कुटीर-उद्योगों के विकास के लिए कर्ज देना आदि।

(९) सहकारिता-सम्बन्धी अधिकार —उसे ऋण देनेवाली सहकारी समितियों, औद्योगिक बहुद्देशीय सहकारी समितियों, ईख-उत्पादकों की सहकारी समितियों एवं किसानों की सहकारी समितियो को स्थापित करने का अधिकार दिया गया है, जिससे कि सारा ग्राम्य जीवन सहकारिता के आधार पर संगठित हो जाय।

इसके अतिरिक्त पंचायत-समितियों को अन्य बहुतेरे अधिकार दिये गये हैं, जैसे—ग्रामीण गृह-निर्माण-योजना को कार्यान्वित-करना, आपत्तिकाल में लोगों की सहायता करना, जिला-परिषदों तथा पचायत-समिति के हेतु आवश्यक आँकड़ों को एकत्र करना, जनकल्याण-कारी कार्यों को प्रोत्साहन करना, ग्राम-पचायतों का नियन्त्रण, उनका निर्देशन तथा उनके द्वारा योजनाओं का निर्माण, हाट-बाजार, मेला आदि का प्रबन्ध करना तथा बीमा और लघु बचत योजनाओं को प्रोत्साहन देना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पचायत समितियों को इतने अधिकार दिये गये हैं कि यदि उन अधिकारों का समुचित प्रबन्ध हो तो पंचायती राज का स्वप्न सकार बन सकता है।

पंचायत-समिति की स्थायी समितियाँ (Standing Committees of the Panchayat Samiti)—प्रत्येक पंचायत-समिति निम्नलिखित विषय-समूहों के लिए स्थायी समितियों का निर्माण करेगी—

१. कृषि, पशुपालन, सहकारिता और लघु सिंचाई योजनाएँ;
२. शिक्षा तथा समाज-शिक्षा, कुटीर-उद्योग और हस्तशिल्प, छोटी बचत-योजनाएँ;
३ सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई;
४ यातायात और निर्माण;
५. अर्थ तथा कर,
६. समाज-कल्याण तथा पिछड़ी जातियों, स्त्रियों तथा बच्चों के कल्याण की योजनाएँ।

इन समितियों के अतिरिक्त पचायत-समिति जिला-परिषद् की स्वीकृति से अन्य विषयों के लिए भी स्थायी समितियों का निर्माण कर सकती है।

हर स्थायी समिति में ५ से ७ तक सदस्य होंगे। इन सदस्यों का चुनाव पंचायत-समिति के सदस्य अपने ही बीच से करेंगे और यह चुनाव एकल हस्तान्तरणीय मत द्वारा किया जायगा। प्रमुख को छोड़कर कोई भी व्यक्ति दो समितियों से अधिक का सदस्य नहीं होगा।

प्रमुख अर्थ तथा कर-समिति का पदेन सदस्य होगा। यदि स्त्रियों की कल्याण-समिति में कोई स्त्री न हो या एक ही स्त्री हो तो पंचायत-समिति उस प्रखंड में रहने-वाली स्त्रियों में से किन्हीं दो को मनोनीत करेगी।

प्रत्येक स्थायी समिति के लिए समिति के सदस्यों के द्वारा एक अध्यक्ष निर्वाचित होगा। जिस समिति का प्रमुख सदस्य होगा, वह उस समिति का पदेन अध्यक्ष होगा।

प्रखंड-विकास-पदाधिकारी प्रत्येक स्थायी समिति एवं पंचायत-समिति का मंत्री होगा, परन्तु उसे मतदान का अधिकार नहीं होगा।

पचायत-समिति अपने सदस्यों के अतिरिक्त प्रत्येक स्थायी समिति मे उस विषय के विशेष ज्ञानी एव अनुभवी दो व्यक्तियों को मनोनीत कर सकती है। ये अतिरिक्त सदस्य सहायक सदस्य कहलायेंगे। ये अतिरिक्त सदस्य समिति की कार्यवाही में भाग लेंगे, परन्तु न उन्हें मतदान का अधिकार होगा और न वे स्थायी समिति के अध्यक्ष ही चुने जा सकते हैं।

यदि किसी स्थायी समिति की बैठक में अध्यक्ष उपस्थित न हो तो उपस्थित सदस्य अपने में से एक अध्यक्ष चुन लेंगे।

स्थायी समिति के सदस्यों की सदस्यता की अवधि वही होगी, जो पंचायत-समिति में उनकी सदस्यता की अवधि है। मनोनीत सदस्य तीन वर्ष के लिए मनोनीत किये जायेंगे।

कुछ सरकारी कर्मचारी, जैसे कलक्टर, जिला-विकास-पदाधिकारी या सरकार द्वारा नियत कुछ अधिकारी पंचायत-समिति और उसकी स्थायी समितियों की बैठकों मे भाग ले सकते हैं, लेकिन उन्हें मतदान का अधिकार नहीं होगा।

अधिनियम के द्वारा स्थायी समितियों को कुछ अधिकार भी सौंपे गये हैं। धारा १६ के अनुसार पंचायत समिति आदेश द्वारा प्रत्येक स्थायी समिति को पंचायत-समिति की जो शक्तियाँ और कार्य सौंपे तथा जिला-परिषद् की पूर्व स्वीकृति लेकर पचायत-समिति द्वारा जो अधिकार एवं कार्य सौंपे जायेंगे, उन सबका प्रयोग एवं सपादन स्थायी समिति करेगी। स्थायी समिति किसी भी समय बी० डी० ओ० से कोई भी कागज माँग सकती है तथा बी० डी० ओ० को ऐसी हर माँग को पूरा करना होगा। पर यदि बी० डी० ओ० सार्वजनिक हित मे कागज देना विरुद्ध समझे तो वह उस मामले को प्रमुख के सामने रखेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा।

वास्तव में पंचायत-समिति-कार्य के समितियों द्वारा ही संपादित होंगे। पंचायत-समिति वह वृहद सभा है, जहाँ निर्माण तथा विकास-योजना की नीति निर्धारित की जायगी।

स्थायी समिति पंचायत-समिति का सूक्ष्म रूप है, जहाँ निर्माण-योजना पर गंभीरतापूर्वक विचार होगा और उसको कार्यान्वित करने का उपाय किया जायगा।

प्रमुख और उप-प्रमुख

निर्वाचन —प्रत्येक पंचायत-समिति मे एक प्रमुख तथा एक उप-प्रमुख होगा, जिसका चुनाव पचायत-समिति के सदस्य अपने में से करेंगे। लेकिन कोई भी सह-सदस्य न तो इन पदों के लिए उम्मीदवार हो सकता है और न इस चुनाव में वोट ही दे सकता है।

प्रमुख पंचायत-समिति का अध्यक्ष होगा, जिसका चुनाव तीन वर्षों के लिए होगा। परन्तु राज्य-सरकार इसकी अवधि को छह महीने के लिए बढा भी सकती है। यदि तीन वर्ष के अन्दर प्रमुख या उप-प्रमुख का स्थान रिक्त हो जाय तो अवशिष्ट समय के लिए उपर्युक्त विधि से चुनाव होगा। यदि कोई मुखिया, उप-मुखिया या पंचायत-समिति की कार्यकारिणी समिति का सदस्य प्रमुख निर्वाचित हो जाय तो नये निर्वाचन के दिन से ही वह अपने पद से अलग समझा जायगा और प्रमुख के रूप में पंचायत-समिति का अतिरिक्त सदस्य होगा।

अधिकार

(१) पंचायत-समिति की बैठकों के बुलाना, उसका सभापतित्व करना तथा उसकी बैठकों का संचालन करना।

(२) पचायत-समिति तथा प्रखंड सम्बन्धी सभी कागज-पत्रों को प्राप्त करने का उसे अधिकार होगा।

(३) ग्राम-पंचायतों में उत्साह तथा कार्य प्रारम्भ करने की भावना को प्रोत्साहन देना, उनके कार्यक्रमों का निर्देशन करना तथा उनके बीच सहकारिता को प्रोत्साहन देना।

(४) प्रखंड विकास-पदाधिकारी पर प्रशासनिक नियंत्रण रखना, जिससे पंचायत-समिति के निर्णयों एवं उसके प्रस्तावों का कार्यान्वयन हो सके।

(५) प्रखंड की पंचायतों के कार्यों का मूल्यांकन करने के लिए वह समय-समय ग्राम-पंचायतों का निरीक्षण करेगा तथा उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों की देख-भाल करेगा और उनके कागज पत्रों की जाँच करेगा। आवश्यकता पड़ने पर पंचायत के विभिन्न पदाधिकारियों को आवश्यक सलाह भी देगा।

(६) इस प्रकार के निरीक्षण का एक प्रतिवेदन प्रमुख के द्वारा पंचायत समिति में रखा जायगा, जिसमें पंचायतों एवं उनके कार्यों के गुण-दोषों का विवरण रहेगा। इस प्रतिवेदन की एक प्रतिलिपि सम्बद्ध ग्राम-पंचायत के मुखिया को भी दी जायगी।

(७) प्रत्येक आर्थिक वर्ष के अन्त में प्रमुख बी० डी० ओ० के उस वर्ष के कार्य के संबंध में एक प्रतिवेदन कलक्टर के पास भेजेगा।

(८) आपत्तिकाल के समय में प्रमुख प्रखंड-विकास-पदाधिकारी की राय से ऐसे कार्यों को करवा सकता है, जिनके लिए पचायत-समिति या उसकी स्थायी समिति की स्वीकृति की आवश्यकता है, यदि उसकी राय में जनता की सेवा एवं रक्षा के हेतु वैसे कार्यों को करना अति आवश्यक हो। ऐसे कार्यों का एक प्रतिवेदन प्रमुख पंचायत-समिति या उसकी स्थायी समिति की अगली बैठक में प्रस्तुत करेगा। प्रमुख राज्य सरकार की आज्ञा के विरुद्ध इस प्रकार का कोई कार्य नहीं कर सकता है।

उप-प्रमुख

(१) उप-प्रमुख उन सभी कार्यों को करेगा और उन अधिकारों का उपयोग करेगा, जो समय समय पर प्रमुख उसे लिखित रूप में प्रदान करेगा।

(२) यदि प्रमुख का स्थान रिक्त है तो उप-प्रमुख नये प्रमुख के निर्वाचन तक प्रमुख के सारे अधिकारों और कर्त्तव्यों का उपयोग करेगा।

(३) यदि प्रमुख प्रखंड से १५ दिन से अधिक के लिए अनुपस्थित है या कार्य करने में असमर्थ है तो उप प्रमुख उसके कार्यों को करेगा।

प्रमुख और उप-प्रमुख के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव

इस प्रकार का प्रस्ताव तभी उपस्थित किया जा सकता है जबकि पंचायत-समिति के एक तिहाई सदस्यों ने लिखित रूप में इस आशय की माँग की हो।

इस प्रकार का प्रस्ताव तभी स्वीकृत समझा जायगा जबकि पचायत-समिति के उपस्थित तथा मत देनेवाले सदस्यों के दो तिहाई भाग ने इसे स्वीकृत किया हो।

यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत न हो सके या पंचायत समिति की वह बैठक गणपूर्ति के अभाव में स्थगित हो जाय तो उस तिथि से छह महीने के अन्दर प्रमुख या उप-प्रमुख के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता है।

प्रमुख और उप-प्रमुख को पदच्युत करने का राज्य सरकार का अधिकार :

यदि राज्य-सरकार की राय में किसी प्रमुख या उप-प्रमुख ने जान बूझकर राज्य-सरकार की आज्ञाओं और कानूनों का उल्लंघन किया हो तो राज्य-सरकार उसकी कैफियत

सुनने के बाद जिला-परिषद् की सलाह लेगी। जिला-परिषद् को इस प्रकार की सलाह ३० दिनों के अन्दर ही देनी होगी। राज्य-सरकार इस राय को ध्यान में रखते हुए प्रमुख या उप-प्रमुख को पदच्युत कर सकती है।

राज्य-सरकार को यह भी अधिकार है कि जब प्रमुख और उप-प्रमुख के विरुद्ध इस प्रकार की जाँच चल रही हो तब उसे कार्यच्युत कर दे। जिस प्रमुख या उप-प्रमुख को पदच्युत किया जायगा, वह पदच्युत होने की तिथि से दो वर्षों तक प्रमुख या उप-प्रमुख नहीं निर्वाचित होगा।

इस प्रकार से प्रमुख या उप-प्रमुख का स्थान रिक्त होने पर इन पदों पर नव-निर्वाचन होगा।

प्रखंड-विकास-पदाधिकारी :—

अधिनियम के अनुसार प्रखंड विकास-पदाधिकारी पंचायत-समिति का पदेन सेक्रेटरी होगा। प्रमुख के आदेश पर वह पंचायत-समिति की बैठक बुलायगा और सभा की कार्यवाही का रेकार्ड रखेगा। वह सभा की कार्यवाही में भाग लेगा पर मत नहीं देगा। वह पंचायत-समिति के वित्त का प्रबन्ध रखेगा। समिति के सारे खर्च उसी के आदेशानुसार होंगे। वह ग्राम-पंचायतों का निरीक्षण भी करेगा।

प्रखंड-विकास-पदाधिकारी को कुछ आपातकालीन अधिकार भी हैं। प्रमुख और उप-प्रमुख की अनुपस्थिति में यदि कोई संकटकालीन स्थिति जैसे अगलगी, बाढ़ या महामारी उत्पन्न हो जाय तो जनकल्याण हेतु कोई भी कदम उठा सकता है, परन्तु इससे संबंधित सारे कार्यों की सूचना जिलाधीश को देनी पड़ेगी।

२. जिला-परिषद्

बिहार-राज्य-पंचायत-समिति और जिला-परिषद् अधिनियम, १९६१ के अनुसार हमारे राज्य के प्रत्येक जिले में जिला-परिषद् होगी। प्रत्येक जिला-परिषद् का वही नाम होगा, जो उस जिले का है। यह एक स्थायी संस्था होगी तथा इसके अपने अधिकार होंगे।

जिला-परिषद् की बनावट

प्रत्येक जिला-परिषद् में निम्नलिखित सदस्य होंगे —

(१) उस जिले की पंचायत-समितियों के सभी प्रमुख। यदि किसी प्रखंड में पंचायत समिति का गठन नहीं हुआ है तो अंचल-कमिटी द्वारा निर्वाचित एक व्यक्ति। प्रमुख का

स्थान रिक्त रहने पर उप-प्रमुख परिषद् का सदस्य होगा, परन्तु यदि दोनों का स्थान रिक्त रहे तो पंचायत-समिति द्वारा उन्हीं में से निर्वाचित एक व्यक्ति जिला-परिषद् का तबतक सदस्य रहेगा जबतक कि प्रमुख या उप-प्रमुख का निर्वाचन न हो जाय।

(२) विधानसभा या लोकसभा के ऐसे सभी सदस्य, जिनका निर्वाचन-क्षेत्र पूर्ण या आंशिक रूप में उस जिले में पड़ता हो।

(३) विधान-परिषद् या राज्य-सभा के ऐसे सभी सदस्य, जो उस जिले के निवासी हों।

(४) यदि अन्य प्रकार से अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित कबीलों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं हुआ हो, और यदि इन जातियों की आबादी ५ प्रतिशत से अधिक हो तो जिला-परिषद् के अन्य सदस्यों द्वारा एक सदस्य अनुसूचित जाति का और एक सदस्य अनुसूचित कबीलों का मनोनीत किया जायगा।

(५) उस जिले में स्थित नगरपालिकाओं के सभी कमिश्नर तथा नोटिफायड एरिया कमिटियों के सभी सदस्यों द्वारा निर्मित एक चुनाव-मंडल के द्वारा अपने में से ही निर्वाचित तीन सदस्य।

(६) उस जिले में स्थित सभी पंजीकृत (Registered) केन्द्रीय सहकारी बैंकों की प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्यों द्वारा अपने में से ही निर्वाचित दो सदस्य।

(७) यदि महिलाओं का प्रतिनिधित्व किसी अन्य प्रकार से नहीं हुआ तो जिला-परिषद् के सदस्यों द्वारा मनोनीत तीन सदस्य।

(८) बिहार-पंचायतराज ऐक्ट, १९४७ के अनुसार निर्मित बिहार पंचायत-परिषद् द्वारा मनोनीत एक सदस्य।

सदस्यों का कार्य-काल :

सभी पदेन सदस्य जैसे प्रमुख, विधान-सभा, विधान परिषद्, लोकसभा तथा राज्य-सभा के सदस्य तभी तक जिला-परिषद् के सदस्य रहेंगे जबतक वे अपने पदों पर हों। सभी मनोनीत सदस्य तीन वर्षों के लिए अपने पद पर रहेंगे।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन

प्रत्येक जिला-परिषद् के लिए एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष होगा, जिसका निर्वाचन निश्चित विधि के अनुसार जिला-परिषद् के सदस्यों द्वारा अपने से ही होगा। लेकिन

कोई भी विधायक, नगरपालिका का कमिश्नर, नोटिफाइड एरिया कमिटी का सदस्य या बिहार-राज्य-पंचायत-परिषद् द्वारा मनोनीत सदस्य अध्यक्ष या उपाध्यक्ष नहीं हो सकता है।

यदि किसी पंचायत-समिति का प्रमुख जिला-परिषद् का अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुन लिया जायगा तो उस तिथि से उसका पद समाप्त समझा जायगा लेकिन वह जिला-परिषद् तथा पंचायत-समिति का सदस्य बना रहेगा।

अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का कार्यकाल चुनाव की तिथि से तीन वर्ष का होगा। यदि बीच में अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का पद रिक्त हो जाय तो निर्वाचन सिर्फ शेष काल के लिए होगा। राज्य-सरकार पर्याप्त कारण के लिए इस अवधि को छह महीने तक बढा सकती है। लेकिन यह बढाया हुआ काल नये अध्यक्ष के निर्वाचित होने के दिन समाप्त हो जायगा।

अध्यक्ष के अधिकार और कर्त्तव्य

(१) जिला-परिषद् की बैठकें बुलाना तथा उनका सभापतित्व करना।

(२) उसे जिला-परिषद् के सभी कागजातों को प्राप्त करने का अधिकार होगा।

(३) वह जिला-परिषद तथा उसकी समितियों द्वारा पास किये गये प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए जिला-परिषद् के मन्त्री (D D. O.) के ऊपर प्रशासनिक नियन्त्रण रखेगा।

(४) वह इस कानून के अन्तर्गत दिये गये सभी अधिकारों का उपयोग करेगा।

(५) जिले में पंचायत-समितियों के कार्यों का मूल्यांकन तथा उसके कार्यक्रमों के अध्ययन के लिए वह समय-समय पर प्रखंडों का निरीक्षण करेगा तथा उनके द्वारा किये गये कार्यों तथा कागजों की जाँच करेगा, जिससे वह पंचायत-समितियों के विभिन्न पदाधिकारियों को आवश्यक राय एवं निर्देशन दे सके। इस प्रकार के निरीक्षण से पंचायतों, पंचायत समितियों एवं जिला परिषद् में स्वच्छ संबंध बना रहेगा।

(६) अध्यक्ष इस प्रकार के निरीक्षणों के संबंध में जिला-परिषद् के समक्ष एक प्रतिवेदन उपस्थित करेगा, जिसमें वह उन दोषों की ओर संकेत करेगा, जिन्हें उसने देखा है। इस प्रकार के प्रतिवेदन की प्रतिलिपि वह प्रमुख तथा पंचायत-समिति को प्रेषित करेगा।

(७) प्रत्येक आर्थिक वर्ष के अंत में अध्यक्ष जिला-परिषद् के सचिव के वर्ष-भर के कार्यों के सम्बन्ध में एक प्रतिवेदन जिलाधीश के पास भेजेगा।

उपाध्यक्ष के अधिकार ·

(१) उपाध्यक्ष उन अधिकारों एवं कार्यों का संपादन करेगा, जो अध्यक्ष उसे लिखित रूप में समय-समय दें ,

(२) जब अध्यक्ष का पद रिक्त रहेगा तब नये अध्यक्ष के निर्वाचन तक उपाध्यक्ष अध्यक्ष के सभी कार्यों को करेगा तथा उसके सभी अधिकारों का प्रयोग करेगा।

(३) यदि अध्यक्ष १५ दिनों तक या उससे अधिक जिला से अनुपस्थित हो या किसी कारणवश कार्य न कर सकता हो तो उपाध्यक्ष अध्यक्ष के कार्यों का सपादन करेगा। यदि उपाध्यक्ष भी अनुपस्थित हो तो परिषद् के सदस्य अस्थायी अध्यक्ष का निर्वाचन अपने में से करेंगे। अस्थायी अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के निर्वाचन या लौटने के समय तक अध्यक्ष का काम करेगा।

अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के प्रति अविश्वास-प्रस्ताव या उनकी पदच्युति — अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के प्रति अविश्वास-प्रस्ताव लाने या पास करने में वही प्रक्रिया अपनाई जायगी जो, कि प्रमुख या उपप्रमुख के साथ अपनाई जाती है।

राज्य सरकार को यह अधिकार है कि जिस प्रकार वह पचायत-समितियों के प्रमुख या उप-प्रमुख को पदच्युत कर सकती है, उसी प्रकार वह जिला-परिषद् के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को भी पदच्युत कर सकती है। इन्हें पदच्युत करने में वही प्रक्रिया अपनाई जायगी जो प्रमुख या उप-प्रमुख को पदच्युत करने में अपनाई जाती है।

जिला-परिषद् के अधिकार और कर्त्तव्य

प्रत्येक जिला-परिषद् के निम्नांकित अधिकार होंगे—

(१) जिला-परिषद् के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का निर्वाचन करना।

(२) अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा स्थायी समितियों द्वारा ब्लॉक के विकास-कार्यों का [illegible] एवं निर्देशन।

(३, जिला के विकास कार्यों के सबंध में राज्य-सरकार को राय देना।

(४) राज्य सरकार द्वारा किसी विकास-कार्यक्रम के संबंध मे दिये गये अधिकारों का उपयोग।

(५) इस कानून द्वारा हस्तातरित जिलाबोर्डों के अधिकारों का उपयोग।

(६) किसी विशेष उद्देश्य के लिए दिये गये धरोहर को स्वीकृत करना।

(७) पंचायत-समितियों के आय-व्ययक की अपने अर्थ तथा कर की स्थायी समिति द्वारा जाँच तथा उसकी स्वीकृति ।

(८) केन्द्रीय तथा राज्य-सरकार द्वारा दिये गये अनुदान पंचायत-समितियों तथा प्रखंडों के बीच वितरण ।

(९) पंचायत-समितियों तथा ग्राम-पंचायतों के बीच कार्यों का सतुलन (Co-ordination) ।

(१०) विभिन्न पंचायत-समितियों द्वारा तैयार की गई योजनाओं का सतुलन और उनका एकीकरण ।

(११) यदि किसी प्रखंड में पचायत समिति न हो तो उसके कार्यों एवं अधिकारों का उपयोग ।

(१२) आवश्यक आँकड़ों को एकत्र करना तथा जिला के स्थानीय अधिकारियों के कार्यों के सबध में ऐसे आँकड़ों तथा सूचनाओं का प्रकाशन ।

(१३) राज्य-सरकार को ग्राम-पंचायतों तथा पंचायत-समितियों के बीच कार्य-विभाजन के संबन्ध में सलाह देना तथा ग्राम-पंचायतो के बीच और ग्राम-पंचायतों तथा पंचायत-समिति के बीच कार्यों का संतुलन ।

(१४) जिला में औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना तथा उनका विकास ।

(१५) स्थानीय अधिकारियों से उनके कार्यों के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्र करना ।

(१६) जिला-परिषद् के लिए योजनाएँ तैयार करना ।

(१७) जिस समय अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के खिलाफ अविश्वास का प्रस्ताव जिला-परिषद् में लाया गया हो, उस समय कोर्ट की नाईं कार्य करना ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिला-परिषद् के प्रधान कार्य सतुलनात्मक, निरीक्षणात्मक तथा एकीकरणात्मक हैं। पंचायत समितियों और राज्य-सरकार को विकास के कार्यों में राय देना भी इसका प्रधान कार्य है। इसे जितने अधिकार प्राप्त हैं, यदि उन अधिकारों का प्रयोग ठीक रूप से किया जाय तो वास्तव में जनता के बीच नवजीवन का सचार हो जायगा ।

जिला-परिषद् की स्थायी समितियाँ

प्रत्येक जिला परिषद् में निम्नलिखित विषय-वर्गों के लिए स्थायी समितियों का संगठन किया जायगा —

(१) योजना, यातायात और सार्वजनिक निर्माण;

(२) कृषि, सहकारिता, सिंचाई, शक्ति-उत्पादन एवं पशुपालन,

(३) उद्योग,

(४) शिक्षा, समाज-कल्याण तथा पिछड़ी जातियों, स्त्रियों या बच्चों के कल्याण कार्य।

(५) अर्थ तथा कर,

(६) सार्वजनिक स्वास्थ्य, दवा-दारू तथा दीन-साहाय्यता कार्यक्रम।

जिला परिषद् को यह भी अधिकार है कि वह राज्य-सरकार की अनुमति से अन्य विषयों के लिए भी स्थायी समितियों का निर्माण करे।

प्रत्येक स्थायी समिति में कम-से-कम ५ तथा अधिक-से-अधिक ७ सदस्य होंगे, जिनका निर्वाचन एकल संक्रमणीय मतदान द्वारा जिला-परिषद् के सदस्य अपने में से ही करेंगे।

अध्यक्ष को छोड़कर कोई भी परिषद् का सदस्य एक से अधिक स्थायी समिति का सदस्य नहीं होगा। जिस जिला परिषद् में सदस्यों की कमी होगी, उस परिषद् के सदस्य अधिक-से-अधिक दो स्थायी समिति के सदस्य होंगे। यदि शिक्षा, समाज-कल्याण, पिछड़े वर्ग आदि का सदस्य न हो तो जिला-परिषद् उस स्थायी समिति के लिए एक स्त्री, एक अनुसूचित जाति का सदस्य अनुसूचित कबीले के ऐसे व्यक्ति को, जो सदस्यता के लिए अयोग्य न हो तथा जो उसी जिले का निवासी हो, मनोनीत करेगी।

प्रत्येक स्थायी समिति के लिए एक अध्यक्ष होगा, जिसका निर्वाचन सबद्ध स्थायी समिति के सदस्य करेंगे। जिस स्थायी समिति का अध्यक्ष सदस्य है, वह उस समिति का पदेन अध्यक्ष का होगा। जिला विकास पदाधिकारी प्रत्येक स्थायी समिति का सचिव होगा लेकिन उसे मतदान का अधिकार नहीं होगा। स्थायी समिति के सदस्यों का कार्यकाल वही होगा जो जिला-परिषद् के सदस्यों का होगा। लेकिन सभी मनोनीत सदस्यों का कार्यकाल २ वर्ष होगा।

राज्य-सरकार के आदेशानुसार जिलाधीश तथा अन्य अधिकारी जिला-परिषद् की बैठकों तथा कार्यवाहियों में भाग ले सकते हैं, लेकिन उन्हें मतदान का अधिकार

नहीं होगा। जिला परिषद् किसी भी अधिकरी को १५ दिनों की पूर्व-सूचना देकर बैठक की कार्यवाही में भाग लेने के लिए जिले आमन्त्रित कर सकती है।

स्थायी समितियों के अधिकार और कर्त्तव्य

अपने संबधित विषयों के विषय मे प्रत्येक स्थायी समिति जिला-परिषद् के उन अधिकारों का उपयोग करेगी, जिन्हें जिला-परिषद् एक आज्ञा द्वारा उन्हे सुपुर्द करे। अर्थ और कर सम्बन्धी स्थायी समिति की सभी कार्यवाहियाँ जिला-परिषद् के समक्ष उपस्थित की जायेंगी तथा परिषद् उन विषयों के सम्बन्ध में आवश्यक आज्ञा देगी।

प्रत्येक जिला-परिषद् तथा उसकी स्थायी समिति अपनी कार्यवाहियों के लिए आवश्यक नियम बनायेगी।

स्थायी समिति को सभी प्रकार के कागजातों को प्राप्त करने का अधिकार होगा।

जिला परिषद् का मंत्री

जिला-विकास-पदाधिकारी जिला-परिषद् का मंत्री होगा तथा उसके अधिकार एवं कर्त्तव्य परिषद् तथा अध्यक्ष के प्रति वही होंगे जो कि बी० टी० ओ० का प्रमुख तथा पचायत-समिति के प्रति हैं।

यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष मुख्य कार्यालय मे अनुपस्थित हो तो आवश्यकता पड़ने पर सार्वजनिक कल्याण के हेतु ऐसे भी कार्यों को जिला-विकास-पदाधिकारी कर सकता है, जिनके लिए जिला-परिषद् या उसकी स्थायी समिति की अनुमति की आवश्यकता हो। बाद में वह उन अधिकारों के उपयोग का पूर्ण ब्योरा जिला-परिषद् के समक्ष उपस्थित करेगा।

प्रश्न

१ बिहार की पचायत समितियों के सगठन और कार्यो का वर्णन कीजिए। Describe the structure and functions of the Panchayat Samities in Bihar

२. प्रमुख के चुनाव तथा अधिकार एवं कर्त्तव्यो का वर्णन कीजिए। Describe the election, powers and functions of the Parishad.

३. जिला-परिषद् के गठन एवं अधिकारों तथा कार्यों की विवेचना करें।
Describe the organisation, powers and functions of the Zila Parishad.

४. जिला-परिषद् के अध्यक्ष के चुनाव एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
Describe the election and role of the Adhyaksh of the Zila Parishad.

*

१० पटना नगर-निगम

नगर-निगम को नगरपालिका का विकसित एव बड़ा रूप कहा जाता है। कार्य की दृष्टि से नगर-निगम तथा नगरपालिका में कोई विशेष अतर नहीं रहता है, लेकिन नगर-निगम का स्थान नगरपालिका से ऊँचा होता है, क्योंकि इसकी स्थापना राज्य के कुछ बड़े-बड़े शहरों में राज्य-व्यवस्थापिका के एक विशेष कानून द्वारा होता है तथा इसका क्षेत्र बड़ा होता है एव आर्थिक दृष्टिकोण से यह नगरपालिका से ज्यादा मजबूत रहता है। जिन नगरों में नगरपालिका अच्छी तरह से कार्य-भार नहीं सँभाल सके। उन नगरों मे नगर निगम स्थापित किये जाते हैं।

भारत मे इस समय, १२ नगर-निगम हैं। हमारे विहार राज्य मे केवल एक ही शहर, पटना मे नगर-निगम है। इसकी स्थापना सन् १९५२ ई० मे हुई थी। इसकी स्थापना के बहुत पहले पटना नगरपालिका के अधीन था। किन्तु उसके द्वारा स्थानीय कार्यों का सपादन भलीभाँति नहीं हो रहा था। इसलिए, बिहार-सरकार ने इसे अपने अधीन कर लिया। पटना-नगरपालिका का कार्य भार एक विशेष अफसर के जिम्मे सुपुर्द कर दिया गया था। फिर भी उसकी दशा में कोई सतोषजनक सुधार नहीं हुआ। उधर पटना के नागरिक शहर मे नगर-निगम की स्थापना की माँग कर रहे थे, धीरे-धीरे इसकी आवश्यकता बहुत ही बढ गई। अतएव, सन् १९५१ ई० में राज्य-विधानमडल द्वारा पटना म्युनिसिपल ऐक्ट पास किया गया और उसके अनुसार १५ अगस्त, १९५२ ई० को पटना-नगर-निगम की स्थापना हुई।

नगर-निगम के मुख्य अग —

पटना-नगर-निगम के तीन निम्नाकित प्रमुख अग हैं—

(१) निगम-परिषद्,

(२) स्थायी समिति,

(३) प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी।

निगम-परिषद्—इसमें ५२ सदस्य होते हैं, जिन्हें कौंसिलर कहा जाता है। इन सदस्यों में ५ तरह के सदस्य होते हैं—

(क) वार्डों के द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या ३७ होती है, जो वालिग-मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं।

(ख) चार सरकारी अफसर परिषद् के पदेन सदस्य होंगे जैसे—

१. बिहार के जन-स्वास्थ्य विभाग के निदेशक,

२ जन-स्वास्थ्य इन्जीनियरिंग विभाग के मुख्य अभियन्ता

३ लोक-निर्माण-विभाग के मुख्य अभियन्ता,

४ पटना इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के अध्यक्ष।

(ग) तीन सदस्य राज्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं, जिन्हें कि म्युनिसिपल शासन-क्षेत्र का विशेष ज्ञान रहता है।

(घ) तीन सदस्य ऐसे होते हैं, जो विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें एक बिहार चैम्बर ऑफ कॉमर्स का, दूसरा व्यापार-संघ का तथा तीसरा पटना-विश्वविद्यालय के Registered Graduates, जो कि पटना में निवास करते हों, का प्रतिनिधित्व करता है।

(ङ) पांच सदस्य Co-opted होते हैं, जिनका चुनाव निर्वाचित और नियुक्त सदस्य मिलकर करते हैं और इनमें से एक हरिजन होना है।

कौंसिल का चुनाव चार वर्ष के लिए होता है। प्रत्येक चार वर्ष पर ५७ जगहों के लिए चुनाव और नियुक्ति होती है।

मेयर तथा डिप्टी-मेयर—मेयर तथा डिप्टी-मेयर को कौंसिल का सदस्य होना चाहिए। इन्हें एक वर्ष के लिए निगम द्वारा उसकी पहली बैठक में ही चुना जाना है। यदि उसका स्थान बीच में ही किसी कारण से खाली हो जाय तो बचे हुए महीनों के लिए दूसरा मेयर या डिप्टी-मेयर चुना जायगा। मेयर निगम की बैठकों में सभापतित्व करना है तथा उसकी अनुपस्थिति में डिप्टी-मेयर सभापति का पद ग्रहण करता है।

स्थायी समिति—स्थायी समिति में मेयर तथा डिप्टी-मेयर के अलावा १३ सदस्य होते हैं। प्रत्येक दो वर्षों पर निगम इस समिति के लिए कौंसिलरों में से ही १३ सदस्यों को निर्वाचित करता है। मेयर ही स्थायी समिति का चेयरमैन होता है। यदि इस समिति का कोई सदस्य दो महीने तक बिना निगम की अनुमति के अनुपस्थित रहता है तो वह समिति से बर्खास्त कर दिया जाता है। यद्यपि इस समिति का गठन निगम के द्वारा ही होता है फिर भी इस समिति को ऐक्ट के द्वारा बहुत-से अधिकार मिले हुए हैं जिनके

मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी को भी बहुत-सी बातों में स्थायी समिति से स्वीकृति लेनी पड़ती है।

सलाहकारिणी समितियाँ—स्थायी समिति के अतिरिक्त निगम के ऐक्ट में चार सलाहकारिणी समितियों की भी व्यवस्था की गई है—

(१) शिक्षा समिति,
(२) जन-स्वास्थ्य, दवा-दारू और पशु-चिकित्सा से संबंधित समिति;
(३) जनकार्य समिति,
(४) बाजार और बाग-समिति।

हर समिति में ५ से ६ तक सदस्य होते हैं। इसका सदस्य वही हो सकता है, जो कि कौंसिलर हो। सदस्यों का निर्वाचन निगम द्वारा होता है। समितियों की अवधि १ वर्ष की होती है। आवश्यकता पड़ने पर समिति कुछ ऐसे अनुभवी व्यक्तियों को भी बैठक में भाग लेने के लिए बुला सकती है, जिन्हें किसी विशेष क्षेत्र में ज्यादा तजुर्बा हो। ऐसे व्यक्ति बैठक की कार्यवाही में भाग तो ले सकते हैं, परन्तु उन्हें मतदान का अधिकार नहीं है। समिति अपने सभापति का चुनाव स्वयं करती है।

इन समितियों का काम सलाह देना है। ये ऐसे विषयों पर विचार करती हैं, जिनपर इन्हें निगम द्वारा विचार करने तथा अन्वेषण करने का काम सौंपा जाता है। परन्तु इन समितियों की सलाह मानना या न मानना निगम की इच्छा पर निर्भर करता है।

मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी—पटना नगर-निगम का तीसरा प्रमुख अंग मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी होता है, जिसकी नियुक्ति राज्य-सरकार लोकसेवा-आयोग तथा मेयर से परामर्श लेकर ५ साल के लिए करती है। यह निगम का प्रमुख प्रशासकीय पदाधिकारी है और साधारणतः आइ० ए० एस० श्रेणी का सरकारी अधिकारी होता है। इसकी अवधि राज्य-सरकार बढ़ा भी सकती है। इसके वेतन और भत्ते का निर्धारण राज्य सरकार द्वारा होता है, जिसका वहन निगम को करना पड़ता है। इसके निर्धारित कार्यकाल में न इसके वेतन या भत्ते में कमी की जा सकती है और न इसे आसानी से पदच्युत ही किया जा सकता है। इसे अपदस्थ करने के लिए लोकसेवा आयोग की स्वीकृति लेना आवश्यक है।

निगम का सर्वोच्च प्रशासकीय अधिकारी होने की हैसियत से निगम के सभी कर्मचारी इसके अधीन काम करते हैं। वह उनके सभी कार्यों का निरीक्षण एवं नियन्त्रण करता है।

इसे निगम की बैठक तथा समिति की बैठक में भाग लेने का अधिकार है, परन्तु मतदान का अधिकार नहीं है। यह डेढ़ सौ से कम वेतनवाले कर्मचारियों की नियुक्ति भी कर सकता है, परन्तु उस संबंध में इसे स्थायी समिति को रिपोर्ट भेजनी पड़ती है।

इसे कुछ संकटकालीन अधिकार भी प्राप्त हैं। किसी संकटकाल में किसी विशेष घटना या परिस्थिति को हल करने के लिए यह अपनी इच्छानुसार कोई कार्य कर सकता है। परन्तु ऐसे कार्यों पर यह जो व्यय करेगा, उसकी सूचना इसे परिषद् या स्थायी समिति को देनी पड़ती है। यह अपने कार्यों के लिए राज्य-सरकार के प्रति उत्तरदायी है। निगम से संबंधित कोई सूचना यदि राज्य-सरकार माँगे तो मुख्य कार्यपालक-पदाधिकारी को इसकी सूचना शीघ्र देनी पड़ेगी।

मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी के अतिरिक्त एक उप-मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी भी होता है, जो उसके सहायक के रूप में कार्य करता है और जिसकी बहाली निगम लोकसेवा-आयोग की राय एवं राज्य-सरकार की स्वीकृति से करता है। इसके अतिरिक्त इंजीनियर, म्युनिसिपल हेल्थ-ऑफिसर आदि की बहाली भी निगम स्थायी समिति और लोकसेवा-आयोग की राय से करता है। इन अधिकारियों पर अनुशासन की कार्रवाई या इनके वेतन को घटाने का अधिकार निगम पर है, लेकिन इसके लिए राज्य-सरकार से अनुमति लेनी पड़ती है।

निगम के कार्य —

(१) **सफाई, रोशनी एवं जल-व्यवस्था** —नालियों, सार्वजनिक शौचालयों, पेशाबखानों इत्यादि के निर्माण, उनकी सफाई और उन्हें उचित अवस्था में रखने का कार्य, जल की व्यवस्था तथा गंदे मुहल्लों की सफाई।

(२) **जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा** —टीका लगवाना और बीमारियों की रोक-थाम का प्रबन्ध, अस्पतालों का प्रबन्ध, मातृ-सेवा-सदन एवं शिशु-कल्याण-केन्द्रों की स्थापना, शारीरिक व्यायाम की व्यवस्था, कुष्ठ-निरोध केन्द्र की स्थापना तथा सार्वजनिक सुरक्षा के अन्य प्रयास।

(३) **पशु-कल्याण** —पशु-चिकित्सालयों का निर्माण, चिकित्सकों की नियुक्ति एवं जानवरों की नस्ल की तरक्की।

(४) **शिक्षा और संस्कृति-संबंधी-कार्य** —प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था, पुस्तकालयों, अजायबघरों और कला-केन्द्रों का निर्माण और उनका संरक्षण।

(५) **व्यापार, उद्योग-धंधे, यातायात के साधन-सम्बन्धी कार्य**—बाजार और कसाईखानों का निर्माण और व्यवस्था, खतरनाक व्यापार का नियंत्रण, सिनेमा, मेलों एव प्रदर्शनियों का संगठन तथा सार्वजनिक यातायात की व्यवस्था।

(६) **गन्दी चालों तथा मुहल्लों का उद्धार तथा गृह-निर्माण**—गंदे मुहल्लों का उद्धार, आदर्श आवास-गृहों का निर्माण, कर्मचारियों के लिए घरों का निर्माण तथा गृह-निर्माण के लिए उन्हे अग्रिम ऋण देना।

(७) **मनोरंजन के साधन**—पार्कों एवं बगीचों की व्यवस्था, जलपान-गृहों की व्यवस्था, सार्वजनिक मनोविनोद की व्यवस्था, सामाजिक उत्सवों की व्यवस्था आदि।

(८) **संकट से रक्षा एवं सहायता**—आग बुझाने का प्रबन्ध, सभी प्रकार के फसादों को रोकना, खतरनाक मकानों की जप्ती तथा संकट के समय नागरिकों की सहायता।

(९) **रजिस्ट्रेशन, आँकडे आदि**—जन्म-मृत्यु का पंजीकरण, विवादों की रजिस्ट्री, गलियों और सड़कों का नामकरण तथा घरों की क्रम-संख्या निश्चित करना।

(१०) इसका एक प्रमुख काम यह भी है कि यह अपने मे से एक मेयर तथा एक डिप्टी-मेयर का निर्वाचन करता है।

आय के साधन—

निगम को अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं और उनको पूरा करने के लिए द्रव्य की आवश्यकता बिलकुल ही स्वाभाविक है। अतएव निगम भिन्न-भिन्न तरीकों से आय प्राप्त करता है। निगम की आय के प्रमुख तीन साधन हैं—

(१) सरकारी सहायता;
(२) पटना के नागरिकों पर कर; तथा
(३) कर्ज।

(१) **सरकारी सहायता**—राज्य-सरकार समय-समय पर निगम को आर्थिक सहायता दिया करती है।

(२) **कर से प्राप्त आय**—राज्य-सरकार से जो सहायता मिलती है, केवल उसी से खर्च पूरा नहीं होता। अतएव निगम सरकार से अनुमति लेकर नागरिकों पर तरह-तरह के कर लगाता है। वर्तमान समय मे पटना नगर-निगम निम्नलिखित कर लगाता है—

(१) मकानों पर होल्डिंग कर ;
(२) जलकर, रोशनी तथा पाखानों पर कर ;
(३) पेशा-कर ;
(४) साइकिल, रिक्शा तथा पटना शहर के भीतर भाड़े पर चलनेवाली अन्य सवारियों पर कर ;
(५) कुत्तों तथा बिल्लियों के पंजीकरण पर कर ,
(६) पटना के भीतर होनेवाले विज्ञापनों पर कर ;
(७) पटना में क्रय-विक्रय के लिए लाई जानेवाली वस्तुओं पर चुंगी ;
(८) वृचड़खानों तथा निगम-बाजारों पर कर ;
(९) पटना के घाटों पर लगाई जानेवाली नावों और स्टीमरों पर कर।

इनके अतिरिक्त निगम को प्रदर्शनी तथा सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था द्वारा भी आय की प्राप्ति होती है।

(३) कर्ज—यद्यपि कर्ज को आय का साधन कहना उचित नहीं है, तथापि आवश्यकता पड़ने पर निगम राज्य-सरकार की अनुमति प्राप्त करके कर्ज भी ले सकता है।

सरकारी नियंत्रण—मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी की स्थिति देखकर ही इस बात का साफ पता चल जाता है कि निगम पर सरकारी नियन्त्रण पूर्णरूपेण है। मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी की नियुक्ति, उसके वेतन, भत्ते आदि राज्य-सरकार द्वारा निश्चित किये जाते हैं। इस प्रकार राज्य-सरकार इस अधिकारी के जरिये निगम के दिन-प्रतिदिन के —— में हस्तक्षेप करती है। साथ ही यदि निगम का कोई कर्मचारी अपराध करे तो राज्य-सरकार उसे दंड दे सकती है।

राज्य-सरकार को यह भी अधिकार है कि वह किसी विशेष कार्य को करवाने के लिए निगम में किसी विशेष अधिकारी की नियुक्ति करे। ऐसे पदाधिकारी का वेतन, भत्ता आदि निगम को देना होगा।

राज्य-सरकार को निगम को पूर्णतया भंग कर देने का अधिकार है। यदि राज्य-सरकार को इस बात का पता चल जाय कि निगम का कार्य ठीक से नहीं चल रहा है तो वह उसे पूर्णतया भंग करके उसके संपूर्ण अधिकार को अपने हाथ में ले सकता है।

यदि निगम कोई प्रस्ताव पास करे और राज्य-सरकार उसको अनुचित समझे तो वह वैसे प्रस्तावों को कार्यान्वित करने से रोक सकती है।

राज्य-सरकार निगम को आवश्यक खर्च वहन करने के लिए और नये कर लगाने के लिए बाध्य कर सकती है।

इसके अतिरिक्त राज्य-सरकार मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी के द्वारा निगम के किसी भी कार्य का विवरण या सूचना प्राप्त कर सकती है।

पटना नगर-निगम की स्थिति—यह बात सही है कि जब पटना का कार्य नगरपालिका से ठीक से नहीं सभल पाया तब उसके स्थान पर पटना नगर-निगम की स्थापना सन् १९५२ ई० म हुई। परन्तु जिन-जिन उम्मीदों को लेकर इसकी स्थापना हुई थी उन उम्मीदों की पूर्ति में निगम बिल्कुल असफल रहा। पटना शहर की गंदगी ज्यों-की-त्यो बनी हुई है। जिस अनुपात में नागरिकों को कर चुकाना पड रहा है उस अनुपात मे उन लोगों को सुविधाएँ नहीं मिल रही हैं। इसके कार्यों से राज्य सरकार भी सतुष्ट नही है।

इसकी असफलता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि यह एक रा नीति का अखाडा बन गया है, अत इसके कौंसिलर राजनीति के फेरे मे पडकर नागरिकों की भलाई को ध्यान में कम रखते हैं। अक्सर-हाँ ऐसी भी स्थिति होती है कि निगम की बैठक कोरम के अभाव में स्थगित हो जाती है।

अत इसकी सफलता के हेतु निम्नांकित बातों को अगर प्रयोग में लाया जाय तो सर्वोत्तम होगा।

(१) राजनीतिक पार्टियों को इसके चुनाव मे दिलचस्पी न लेनी चाहिए।

(२) मेयर या डिप्टी-मेयर को पुन चुनाव लडने से प्रतिबंध लगा दिया जाय, जिससे वे अपनी अवधि में दिलोजान से निगम की सेवा करेंगे, क्योंकि वे पुनर्निर्वाचन के लोभ मे न पड़कर राजनीतिक झंझावातों मे नही फसेंगे।

प्रश्न

1 Describe the composition and functions of the Patna Municipal Corporation
पटना नगर-निगम के सगठन और कार्यों का वर्णन कीजिए।

2. Describe the procedure of appointment, powers and functions of the Chief Executive Officer.

   मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी की नियुक्ति की विधि तथा उसके अधिकार एवं कार्यों का वर्णन करो।

3. Describe the main sources of revenue of Patna Municipal Corporation.

   पटना नगर-निगम के मुख्य साधनों का विवरण प्रस्तुत करें।

4. Describe the nature of State control over Corporation

   निगम पर राज्य-सरकार के नियंत्रण की व्याख्या करें।

❀

११ पटना सुधार-न्यास

भारत सदियों से परतन्त्रता की बेडी में जकडा हुआ था। अत यहाँ पर किसी भी चीज का विकास किसी खास योजना के मुताबिक नहीं हुआ है। यही हालत हमारे देश मे शहरों की भी है। भारत मे विभिन्न कारणों से शहरों का विकास अनियंत्रित तथा अनियोजित ढग से हुआ है। फलस्वरूप प्रत्येक शहर में गंदे मुहल्ले, अस्वास्थ्यकर मकान तथा दूषित वातावरण पाया जाता है। हमारे देश में औद्योगीकरण विशाल सख्या मे शरणार्थियों के आगमन तथा युद्ध के बाद लोगों में गॉव छोडकर शहर में बसने की अधिकाधिक प्रवृत्ति के कारण शहरो की जन-संख्या काफी बढ गई है तथा बढती ही जा रही है। फलस्वरूप शहरों में आवास, स्वास्थ्यप्रद वातावरण, आमोदमय जीवन एव लोगों के सर्वांगीण विकास की समस्या उत्पन्न हो गई। अत इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए एक विशेष प्रकार की सस्था की आवश्यकता होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व, अपना आर्थिक साधन तथा इस प्रकार का सगठन हो कि वह इन कार्यों को शीघ्रता एव सफलतापूर्वक कर सके। भारत के शहरों में इन्हीं कार्यों के हेतु सुधार-न्यासों को स्थापित किया जाता है। सुधार-न्यासों का काम शहर का योजनात्मक ढग से विकास कर उसमें स्वर्गिक वातावरण उत्पन्न करना है।

सन् १९४८ ई० में सुधार-न्यासों तथा विकास समितियों के एक सम्मेलन मे तत्कालीन भारत के स्वास्थ्य-मन्त्री ने कहा था, "मेरे विचार मे सुधार-न्यासों के ऊपर बहुत बडी जिम्मेवारी है, क्योंकि उन्ही के सफल प्रयासो पर करोडों व्यक्तियों का सुख और कल्याण निर्भर है। उनका काम दिलचस्प भी है। ऐसे लोगों के जीवन में, जिन्हे मनहूस तथा गदे वातावरण में गर्मी सहन करना तथा दिन के कामो का बोझ ढोना होता है, एक बढिया घर का सौंदर्य, आराम तथा आनन्द, स्वास्थ्यकर वातावरण की स्वच्छता, फुलवारियों से आनेवाली स्वास्थ्यकर वायु इत्यादि प्रदान करने के लिए योजना बनाना तथा प्रयोग करना, ऐसे प्रयास हैं, जो स्वत परितोषिक भी हैं।"

अन्य शहरों की भाँति हमारे बिहार राज्य के शहरों में भी उपर्युक्त समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। बिहार के नगरों में अभीतक पटना तथा राँची मे सुधार-न्यास की स्थापना

हुई है। पटना सुधार-न्यास की स्थापना सन १६२२ ई० में बिहार व्यवस्थापिका सभा के एक ऐक्ट के मुताबिक हुई। यह एक अर्द्ध-सरकारी संस्था है। साथ ही यह अस्थायी संस्था भी है; क्योंकि जिन उद्देश्यों को लेकर इसकी स्थापना हुई है, उन उद्देश्यों की पूर्ति के बाद इसे विघटित किया जा सकता है।

पटना सुधार-न्यास का संगठन —

सुधार-न्यास के संचालन की सारी जिम्मेवारी 'Board of Trustees' पर रहती है, जो कि न्यास की सर्वोच्च कार्यकारिणी के रूप में कार्य करती है। इसमें निम्नलिखित ११ सदस्य हैं—

(१) सरकार द्वारा नियुक्त अध्यक्ष,
(२) जन-स्वास्थ्य विभाग का संचालक,
(३) पटना नगर निगम का मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी,
(४) बिहार-सरकार का नगर नियोजक;
(५) जन स्वास्थ्य विभाग का मुख्य अभियन्ता;
(६) पटना-निगम द्वारा निर्वाचित दो व्यक्ति,
(७) राज्य-सरकार द्वारा मनोनीत दो सरकारी तथा दो गैर-सरकारी व्यक्ति।

बोर्ड की साधारण बैठक मास में एक बार अवश्य होती है। यदि बोर्ड के दो-तिहाई सदस्य विशेष बैठक की माग करें तो अध्यक्ष को इसकी बैठक बुलानी होगी। अध्यक्ष चाहे तो इसकी विशेष बैठक स्वयं भी बुला सकता है। आवश्यकता पड़ने पर बोर्ड से बाहर विशेषज्ञों को भी बैठक की कार्यवाही में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जा सकता है, परन्तु उन्हें मतदान का अधिकार नहीं होगा।

अगर बोर्ड को आवश्यकता हो तो समितियों की नियुक्ति भी की जा सकती है, जिसमें तीन प्रकार के सदस्य होंगे—

(१) बोर्ड के सदस्य,
(२) ऐसे विशेषज्ञ जिनकी सलाह की जरूरत हो,
(३) ऐसे व्यक्ति, जिन्हें बोर्ड की सदस्यता में विशेष सलाह के लिए सम्मिलित किया गया हो।

इन समितियों में ३—५ तक सदस्य होंगे जिनका काम बोर्ड के द्वारा सौंपे हुए विषयों पर छानबीन कर निश्चित अवधि के भीतर अपना प्रतिवेदन बोर्ड के पास भेजना है। अंतिम निर्णय के लिए बोर्ड की स्वीकृति की आवश्यकता होती है।

पटना शहर के विकास के लिए एक वृहत्तर पटना योजना बनाई गई है, जिसके अंदर सपूर्ण पटना को आठ भागो में विभक्त किया गया है।

(i) वर्तमान विकास क्षेत्र,
(ii) व्यावसायिक क्षेत्र,
(iii) औद्योगिक क्षेत्र,
(iv) वर्तमान विश्वविद्यालय के क्षेत्र,
(v) विश्वविद्यालय के विकास-क्षेत्र,
(vi) प्रस्ताविक गृह-निर्माण-क्षेत्र,
(vii) प्रस्ताविक मुख्य सड़कें;
(viii) खुली जगहें तथा हरियाली के क्षेत्र।

इन संपूर्ण योजनाओं को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) अल्पकालीन योजनाएँ, जैसे बिजली और नाली की व्यवस्था, गंदे मुहल्लों की सफाई, नालों की सफाई, बिजली और नाली की व्यवस्था रेलवे स्टेशन, गांधी मैदान तथा बोरिंगरोड आदि क्षेत्रों मे विकास के कार्यक्रम को कार्यान्वित करना तथा (२) दीर्घकालीन योजनाएँ, जिनमें पटना शहर की गंदगी को दूर करने तथा पटना की प्रमुख सड़कों के अलावा एक केन्द्रीय सड़क के निर्माण तथा पटना के आस-पास शहर के विस्तार की योजनाएँ है।

इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान दिया जायगा—

(१) योजनात्मक ढंग से शहर के नये क्षेत्रों का निर्माण तथा पुराने क्षेत्रो का सुधार;
(२) शहर के वातावरण को शुद्ध रखने के लिए खुली जगहों तथा हरियाली के इलाकों की व्यवस्था,
(३) नीची सतह की जमीन को ऊँचा बनाकर काम लायक बनाना,
(४) गंदे मुहल्लों की सफाई,
(५) सड़कों और नालियो का समुचित प्रबंध तथा सुधार,
(६) शहर के सांस्कृतिक विकास हेतु सामाजिक केन्द्रों के लिए सुरक्षित स्थान की व्यवस्था करना,
(७) नगरवासियों के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए उद्योग धंधों वाले इलाके को आवास क्षेत्रों से अलग रखने की व्यवस्था करना,
(८) ऐतिहासिक स्मारकों, स्थानो तथा वस्तुओं की सुरक्षा तथा व्यवस्था।

सुधार-न्यास का आय-व्ययक

पटना सुधार-न्यास का आय-व्ययक बोर्ड के द्वारा स्वीकृत होता है। अध्यक्ष दिसम्बर के अंत में आगामी वर्ष आय-व्यय का ब्यौरा बोर्ड के सामने प्रस्तुत करता है। बोर्ड को इसमें परिवर्तन लाने का भी अधिकार है। बोर्ड से पास हो जाने पर उसे राज्य-सरकार की स्वीकृति के हेतु उसके पास भेजा जाता है। राज्य-सरकार को स्वीकृत करने, अस्वीकृत करने या संशोधित करने का अधिकार है। यदि राज्य-सरकार उसे संशोधित या अस्वीकृत करती है तो उस अस्वीकृत या संशोधित आय-व्ययक को बोर्ड के पास भेजा जाता है। बोर्ड आवश्यक सुधार के बाद फिर राज्य-सरकार के पास भेज देता है तथा उसकी स्वीकृति के बाद ही आय-व्ययक स्वीकृत समझा जायगा। स्वीकृत आय-व्ययक की एक प्रति पटना नगर निगम को भेज दी जाती है।

इसकी आय के मुख्य साधन अचल संपत्ति के हस्तांतरण पर मुद्रांक-शुल्क से आय, बेहतरी फीस, राज्य-सरकार के वार्षिक अनुदान तथा म्युनिसिपल निधि से अनुदान आदि हैं।

समीक्षा—यों तो पटना सुधार-न्यास की स्थापना पटना शहर के विकास हेतु हुई है, फिर भी अभीतक अधिक सफलता नहीं मिली है। इसका प्रधान कारण यह है कि पटना सुधार-न्यास का इतना बड़ा कार्य है कि उसके लिए विशाल धनराशि की आवश्यकता है। परन्तु आर्थिक स्थिति पूर्ण ठोस नहीं रहने के कारण शहर की उन्नति ठीक से नहीं हो रही है। फिर भी इसका कार्य सराहनीय है। इसके चलते शहर में काफी सुधार लाये गये हैं। इसके आर्थिक साधन को और भी मजबूत करने की आवश्यकता है।

प्रश्न

1. Describe the composition and functions of the Patna Improvement Trust.
   पटना सुधार-न्यास के संगठन तथा कार्यों का वर्णन करें।

१२ सामाजिक संगठन

(Social Organisation)

प्रत्येक देश का शासन और सामाजिक व्यवस्थाएँ परस्पर अवलम्बित हुआ करती है। हमारा देश भी इस नियम का अपवाद नहीं है। हमारे देश में अँगरेजी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप भारतवासियों के सामाजिक जीवन का जो ह्रास और अधःपतन हुआ, उससे कौन अवगत नहीं है? पिछले तीन-चार सौ वर्षों में भारत में मुसलमानों और अँगरेजों की शासन-व्यवस्था रहने के कारण हिन्दूकालीन सामाजिक सगठन और व्यवस्था में कितना अन्तर आ गया है, यह भारत के इतिहास से अवगत सभी लोगों को भलीभाँति मालूम है।

जिस प्रकार सामाजिक व्यवस्था शासन-व्यवस्था से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकती है, ठीक उसी प्रकार शासन-व्यवस्था पर सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव पड़े विना भी नहीं रहता। सविधान के अनुसार छुआछूत एक दंडनीय अपराध घोषित किया गया है, लेकिन छुआछूत की प्रथा भारत के सामाजिक जीवन में ऐसा घर कर गई थी कि कानून द्वारा इसे अवैध करार दिये जाने पर भी यह हमारे समाज में अभी भी विद्यमान है।

अतः वर्तमान भारतीय शासन-व्यवस्था की जानकारी हासिल करने के लिए अपने देश के सामाजिक जीवन का ज्ञान प्राप्त करना लाभदायक ही नहीं, वरन् आवश्यक भी है।

हमारे सामाजिक जीवन की विशेषताएं

(१) 'विभिन्नता में एकता'—भारत के सामाजिक जीवन की सबसे पहली और सामान्य विशेषता है 'विभिन्नता में एकता'।

भारत एक देश नहीं, वरन् एक महादेश है। भारत-संघ के अन्तर्गत बसनेवाले लोगों की भिन्न भिन्न जातियां हैं। देश के विभिन्न भागों या क्षेत्रों में अनेकों धर्मों के माननेवाले लोग हैं। इनकी भाषाएँ नाना प्रकार की हैं और इनके रीति-रिवाज, खान पान, चाल-चलन, वेश-भूषा आदि भी विभिन्न प्रकार के ही हैं। ठीक ही कहा गया है कि "हमारा देश एक राष्ट्र नहीं, वरन् विभिन्न जातियों एवं उपजातियों का अजायबघर है।"

उपर्युक्त विभिन्नताओं के आधार पर कुछ लोगों द्वारा यह शंका प्रकट की

जाती है कि क्या सचमुच भारतवासियों का एक सामाजिक जीवन है? इन लोगों के अनुसार भारत मे 'एक समाज नहीं होकर कई समाज है।' अत भारतवासियों का एक सामान्य सामाजिक जीवन होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार की धारणाएँ भ्रान्तिमूलक हैं; क्योंकि इस प्रकार के विचारक हमारे सामाजिक जीवन को वाह्य रूप से ही देखते हैं। इन आलोचकों की दृष्टि हमारे सामाजिक जीवन की वाह्य विभिन्नताओं एव अनेकताओं के नीचे छिपी हुई एक मौलिक और अनोखी एकता तक नहीं पहुच पाती है। ये लोग यह नहीं देख पाते हैं कि हमारे देश की सस्कृति में विभिन्न जातियों तथा धर्मों का समावेश होकर एक मिली जुली सस्कृति का निर्माण हो गया है। धर्म, जाति, भाषा, खान पान रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि की विभिन्नताओं और अनेकताओं के बावजूद समस्त भारतवासियों मे एक विशिष्ट और अवर्णनीय सामाजिक एकानुभूति है। इस सामाजिक एकानुभूति का पूर्ण और स्पष्ट आभास तब मिलता है, जबकि हम अपनी भौगोलिक सीमा से परे किसी विदेशी सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि मे उसे आकने की कोशिश करते हैं।

अत अनेक विभिन्नताओं के पीछे छिपी हुई एक मौलिक एकता हमारे सामाजिक जीवन की एक सामान्य विशेषता है। कुछ लेखकों के अनुसार "वे विभिन्नताएँ ही हमारे सामाजिक जीवन की पहली विशेषता हैं।"

(२) धर्म का व्यापक प्रभाव—धर्म को जैसा सर्वोपरि स्थान भारतीय जन-जीवन मे दिया गया, वैसा अन्यत्र नहीं। हमारे सामाजिक सगठनों और व्यवस्थाओं पर धर्म की अमिट और गहरी छाप पड़ी है। भारत का प्रत्येक सामाजिक वर्ग और प्रत्येक समुदाय धर्म को विशेष स्थान और महत्त्व देता है। ठीक ही कहा गया है कि "जिस प्रकार प्राचीन रोम ने अपनी नागरिकता के उच्च आदर्शों का जयनाद किया, प्राचीन यूनान ने अपने बुद्धि-वैभव से ससार को चकित किया, उसी प्रकार प्राचीन भारत ने अपने आध्यात्मिक आदर्शों का शख नाद किया।"

हमारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था धर्म की नींव पर ही आधारित थी और हमारे भारतवासियों के जीवन का प्रत्येक क्षण धर्म से प्रभावित रहता था। पाश्चात्य सस्कृति और सभ्यता तथा वैज्ञानिक भौतिकवाद होने के कारण यद्यपि आज हमारे सामाजिक जीवन मे धर्म का वह प्राचीन सर्वोपरि स्थान नहीं रह गया है, फिर भी जन्म से मृत्यु तक हमारे जीवन में किसी-न-किसी रूप मे धर्म का हाथ अवश्य ही रहता है।

(३) कृषि प्रधान समाज—गाँवों का देश होने के कारण भारतीय सभ्यता और सस्कृति कृषि-प्रधान है। हमारे देश मे लगभग छह लाख गाँव हैं और भारत

की जनता का ८० प्रतिशत, परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में, अपनी जीविका के लिए कृषि पर ही निर्भर करता है। तभी तो कहा गया है—'भारत माता ग्रामवासिनी'। भारत के सामाजिक जीवन में, भूत और वर्त्तमान दोनों में, गाँवों का एक निश्चित और निर्विवाद महत्त्व रहा है। गाँवों में निवास करनेवाली जनता ही तो भारत की आत्मा है और उसी जनता का जनजीवन तो भारतीय सामाजिक जीवन का तत्त्व है।

प्राचीन काल में ये गाँव छोटे-छोटे गणतन्त्र के रूप में कार्य करते थे। यह जानी हुई बात है कि ग्रामीण लोग रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रेमी हुआ करते हैं। औद्योगिक और शहरी जीवन से दूर रहने के कारण और आवागमन की कठिनाइयों में इन तक सुगमतापूर्वक पहुँचने की सम्भावना नहीं रहने के कारण, भारत के गाँवों तक आधुनिक सभ्यता और वैज्ञानिक अनुसंधान यथासमय पहुँच नहीं पाये। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा सामाजिक जीवन विश्व-प्रगति के साथ कदम मिलाकर आगे बढ़ नहीं सका। किन्तु, इसका एक लाभदायक पक्ष भी है। सांस्कृतिक सुरक्षा की दृष्टि से इन गाँवों ने सुरक्षात्मक दुर्गों का काम किया। इन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर विदेशी आक्रमणकारियों और राज्यों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ने दिया।

आज हमारे देश में भी औद्योगीकरण हो रहा है। इसके फलस्वरूप आगे आनेवाले दिनों में हमारा सामाजिक जीवन क्या रूप लेगा, कहना मुश्किल है, फिर भी फिलहाल और निकट भविष्य में भी कृषि की प्रधानता हमारे सामाजिक जीवन की एक विशेषता रहेगी ही।

(४) भारत के सामाजिक जीवन की चौथी और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि हमारे सामाजिक संगठन और जीवन की इकाई व्यक्ति नहीं, समूह रहा है। हमारे यहाँ प्राचीनकाल से लेकर अबतक सामाजिक जीवन के वैयक्तिक पक्ष पर जोर नहीं दिया जाकर सामूहिक पक्ष को ही महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टि से हमारा सामाजिक जीवन पाश्चात्य देशों के सामाजिक जीवन से भिन्न है। यूरोपीय दर्शन के इतिहास में हम व्यक्तिवादी दार्शनिकों की भरमार देखते हैं, लेकिन हमारे यहाँ के सभी चिन्तकों के दर्शन में समूह या समाज के लिए व्यक्तिगत आत्मत्याग की भावना की ही श्रेष्ठता प्रतिपादित है।

भारतीय सामाजिक जीवन की सामान्य विशेषताओं की उपर्युक्त चर्चा के पश्चात् हम अपने सामाजिक संगठनों अर्थात् अपने सामाजिक जीवन के मुख्य आधार स्तम्भों की समीक्षा करेंगे।

हिन्दुओं का सामाजिक संगठन

धर्मपरायण और समूहात्मक हिन्दू-समाज के सगठन के मुख्य दो आधार-स्तम्भ हैं—(१) जातीय एवं वर्ण-व्यवस्था और (२) सयुक्त कुटुम्बों की प्रथा।[२] हम इन पर क्रमश विचार करेंगे।

(१) जाति एव वर्ण-व्यवस्था—जाति एव वर्ण-व्यवस्था हिन्दू-समाज की एक अत्यन्त ही प्राचीन तथा परम्परागत विशेषता है। यह व्यवस्था हिन्दुओं के सामाजिक जीवन का ऐसा अभिन्न अंग है कि इसके बिना हिन्दू-समाज का समूचा ढाचा ही बिगड जायगा।

जाति एव वर्ण-व्यवस्था का अभिप्राय समाज को व्यवसाय तथा रग के आधार पर कई समूहों मे बाँट देना है। बी० ए० स्मिथ के अनुसार जाति परिवारो के उन समूहों को कहते है, जो विवाह और भोजन-सम्बन्धी कुछ सस्कारो की पवित्रता का पालन करने के लिए बनाये गये विशेष नियमों मे बँधे हो। वैसे तो 'वर्ण' शब्द का अर्थ रग है, किन्तु सामाजिक व्यवहार मे इसका प्रयोग एक समूह के अर्थ मे होता है। इस प्रकार जाति एव वर्ण व्यवस्था का अर्थ है विभिन्न पेशों और कार्यो के आधार पर समाज का वर्गीकरण।

उत्पत्ति—वर्ण एव जाति-व्यवस्था हिन्दू-समाज की अति प्राचीन प्रथा है। इस प्रथा के उत्पत्ति काल के सबध मे विद्वानो मे मतान्तर पाया जाता है। कुछ विद्वान लेखकों के अनुसार, जैसे जेल्मर और न्यूबर्ग (Gelmer and Neuberg) जाति-प्रथा का प्रचलन ऋग्वेदीय युग से ही पाया जाता है। ठीक इसके विपरीत म्योर, जिम्मर और वेबर (Muir, Zimmer and Weber) आदि विद्वान् लेखकों के अनुसार ऋग्वेदीय युग में जाति-भेद प्रचलित नहीं था। वैदिक युग मे वर्ण-भेद के सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध वेदालोचक डॉक्टर कीथ (Keith) ने 'भारत के कैम्ब्रिज इतिहास' मे लिखा है—"एक दृष्टि से देखने पर सत्य ही ऋग्वेद मे जाति

१ ऊपर कहा जा चुका है कि हम मे सामाजिक जीवन मे बहुत-सी विभिन्नताएँ हैं। यह भी कहा गया है कि इन विभिन्नताओं और अनेकताओं के पीछे एक मौलिक एकता छिपी हुई है। फिर भी, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता है कि हिन्दुओं, मुसलमानो और ईसाइयों के सामाजिक सगठनो मे कुछ मौलिक विभिन्नताएँ भी हैं। अतएव, हम इन तीनों प्रधान सामाजिक सगठनो की चर्चा, पाठको की सुविधा के लिए अलग-अलग करेंगे।

२ "These (Caste and Joint family) in fact are the distinguishing characteristics of Hindu-life" —*K. M. Panikkar*

भेद का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।" इस सम्बन्ध में स्वीकृत मत यह है कि ऋग्वैदिक काल में बहुत-से वर्ण तथा कर्म थे, लेकिन उनकी उत्पत्ति का आधार जन्म या वंश नहीं, वरन् कर्म और गुण था। अर्थात् वैदिक या पूर्व-वैदिककाल में ही वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति हो चुकी थी, लेकिन जाति-प्रथा की परिपक्वावस्था के कठोर नियमों और नियंत्रणों की उत्पत्ति बाद में चलकर हुई।

यद्यपि ऋग्वैदिक काल में जाति-प्रथा के होने या न होने पर वाद-विवाद है तथापि बाद के वैदिककाल में निश्चित रूप से चार वर्णों की उत्पत्ति हो चुकी थी। स्मृतियों में जाति-पाँति की प्रथा का स्पष्ट वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में लिखा है कि परमात्मा के मुख से ब्राह्मणों की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जाँघ से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई।[1] इस प्रकार परम्परागत विचारधारा के अनुसार ईश्वर ने ही समाज को चार वर्णों में विभाजित कर दिया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। हिन्दुओं के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के अनुसार जाति-प्रथा अर्थात् वर्ण-भेद ईश्वरीय कृति है और पुनर्जन्म के कर्मों के आधार पर यह दावा किया गया है कि अपने पूर्व कर्मों के फलानुसार व्यक्ति किसी जाति-विशेष में जन्म लेता है।

कुछ लेखकों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति भारत में आर्यों के आने के फलस्वरूप हुई। जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तब उन्हें द्रविड़ों से कठिन मुठभेड़ करनी पड़ी। जब आर्य लोग द्रविड़ों पर आधिपत्य स्थापित कर भारत में स्थायी रूप से बस गये और आर्यों तथा द्रविड़ों के बीच अन्तर्जातीय विवाह-सम्बन्ध कोई आसामान्य बात न रह गई, तब उन दोनों के समन्वय से एक विशिष्ट सभ्यता की उत्पत्ति हुई। आर्यों का रंग गोरा था और द्रविड़ों का काला, अतः आर्य अपने को द्रविड़ों से श्रेष्ठ तथा अच्छा मानते थे और उनकी यह आकांक्षा थी कि वे अपने और द्रविड़ों के बीच एक स्थायी विभेद कायम रखें। इस प्रकार इन लेखकों के अनुसार रंग-भेद के आधार पर, आर्यों और अनार्यों के बीच खींची गई स्थायी-सी विभाजक रेखा ने वर्ण-भेद को जन्म दिया।

इस मत के अनुसार सर्वप्रथम रंग (वर्ण) ने समाज को आर्यों और अनार्यों—इन दो श्रेणियों में विभक्त किया और बाद में चलकर पेशों, अर्थात् व्यवसायों ने स्वयं आर्यों को ही तीन समूहों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—में बाँटा। ब्राह्मण धार्मिक कृत्य सम्पादित करते थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा तथा राज्य

---

१ ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्य यद् वैश्य पद्भ्याम् शूद्रो अजायत्॥ ऋग्वेद १०।६०।१२

का शासन-प्रबन्ध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य में अनुरक्त रहते थे। शूद्रों को उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करनी पड़ती थी।

यद्यपि उपर्युक्त मत जाति एवं वर्ण-व्यवस्था की ऐतिहासिक व्याख्या के समान लगता है, फिर भी इसका कोई निश्चित और वास्तविक प्रमाण नहीं है और यह भी अधिकतर काल्पनिक मत ही है। इसी प्रकार जाति-प्रथा को ईश्वरीय कृति मान लेना भी भ्रान्तिमूलक होगा। श्री के० एम० पणिक्कर ने ठीक ही तो कहा है 'कि जब ब्राह्मणों ने अपने धर्मशास्त्रों को ईश्वरीय माना ही नहीं है तब उन धर्मशास्त्रों के आधार पर जातिप्रथा को ईश्वरीय मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है।'

प्रश्न उठता है कि आखिर वर्ण एवं जाति व्यवस्था की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसके उत्तर में यह कहा जाना चाहिए कि प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों तथा धार्मिक चिन्तकों ने धार्मिक रीति से तत्कालीन समाज का एक सुव्यवस्थित एवं सुदृढ संगठन करने के हेतु समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के माध्यम से, सम्पूर्णसमुदाय को चार वर्णों में विभक्त कर दिया और सभी व्यक्तियों के लिए निश्चित कर्म निर्धारित कर दिये। जो जिस वर्ण का कार्य करता था, वह उसी वर्ण की श्रेणी में गिना जाता था। अर्थात् कार्यों के आधार पर वर्ण एवं जाति-व्यवस्था की नींव डाली गई। उपर्युक्त मत तर्क तथा बुद्धिसंगत जान पड़ता है। वेदों के गृह्यसूत्र में भी कुछ इसी प्रकार के विभाजन का संकेत है। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि वेद पढ़ना, यज्ञ करना और कराना, दान लेना और देना—ये छह कर्म ब्राह्मणों के लिए नियत किये गये हैं। प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषयों में आसक्त न होना—ये क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं। पशु-पालन, दान-यज्ञ और वेदाध्ययन, वाणिज्य-व्यवसाय तथा महाजनी और खेती—ये कर्म वैश्यों के हैं। इन तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का कार्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है कि मैंने चार वर्णाश्रम गुण और कर्म की दृष्टि से उत्पन्न किये हैं।[1] इस प्रकार वर्ण एवं जाति व्यवस्था की उत्पत्ति गुण-कर्मानुसार या कार्य-विभाजन (Division of Labour) के सिद्धान्तों के अनुसार हुई—ऐसा मानना ही तर्कयुक्त तथा बुद्धि-संगत जान पड़ता है।

विकास— हमलोगों ने ऊपर देखा कि अपने प्राचीन तथा मौलिक रूप में जाति एवं वर्ण व्यवस्था कर्म और गुण पर आधारित थी और सामाजिक सुव्यवस्था के हेतु बनाई गई थी। जो जिस कार्य को करता था, वह उस वर्ण का माना

1 चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।—गीता

जाता था। विभिन्न वर्णों में (शूद्रों को छोड़कर) परस्पर विवाह-संबंध भी होता था। एक वर्ण के परिवार में जन्मे हुए व्यक्ति के लिए, दूसरे वर्ण में प्रविष्ट होने में कोई बाधा नहीं थी। प्रत्येक वर्ण की समाज के लिए उपयोगिता थी, अतः सभी का समाज में समान सम्मान था। वर्णों के आधार पर, समाज में ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं था। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा कि ज्ञानी मनुष्य को विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को समदृष्टि से देखना चाहिए।[1]

कालान्तर में यह व्यवस्था जटिल होने लगी। महाभारत और रामायण-काल में ही इसमें कुछ जटिलता आ गई थी, परन्तु फिर भी यह उतनी अधिक जटिल नहीं हुई थी कि वर्ण-परिवर्त्तन करना असम्भव हो गया हो। जैसे परशुराम जन्म से ब्राह्मण और कर्म से क्षत्रिय थे। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय और कर्म से ब्रह्मर्षि थे। महाभारत के रचयिता ऋषि वेदव्यास धीवर-स्त्री के पुत्र थे। ऋषि वसिष्ठ और पाराशर क्रमशः वेश्या तथा चाण्डाल-पुत्र थे।

वर्ण-व्यवस्था की अवाञ्छनीय जटिलता तथा इसके आधार पर उत्पन्न ऊँच-नीच तथा छुआछूत के भेद-भाव की उत्पत्ति बौद्धकाल में हुई। बौद्ध-युग में ही जाति-प्रथा का आधार कर्म और गुण नहीं, प्रत्युत जन्म हो गया। इतना ही नहीं, चार वर्णों के अतिरिक्त और भी कई उपजातियाँ उत्पन्न हो गई, जैसे—धोबी, तेली, लोहार, ग्वाला, चमार आदि।

बौद्ध-युग के बाद, मौर्यों के आदिकाल में यह प्रथा जटिलतर हो गई, क्योंकि हिन्दू राजा जन्म के सिद्धान्त को मान्यता देने लगे। अब जाति-भेद ने अपने आदिकालीन कर्मगत रूप को त्यागकर जन्मगत रूप धारण कर लिया। जन्म से ही जातियाँ निर्धारित होने लगी और उच्च कुल में जन्म लेनेवाला अपने को निम्न कुल में पैदा होनेवाले लोगों से बड़ा तथा ऊँचा मानने लगा।

इसके बाद मुस्लिम-काल आया। इस समय जाति-प्रथा अपनी परिपक्वावस्था को प्राप्त कर चुकी थी। अन्तर्जातीय विवाह को कौन कहे, व्यवसाय-परिवर्त्तन और सहभोज आदि के नियम और नियन्त्रण अत्यन्त ही कठोर हो गये। जाति-प्रथा के कारण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एक स्थायी और अमिट विभेद-दीवार खड़ी हो गई और दोनों एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। अँगरेजी राज्य के दिनों में इस अवस्था में थोड़ा बहुत सुधार हुआ, लेकिन कमोवेश पूर्व-स्थिति ही रह गई।

---

[1] विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन ॥ गीता अध्याय ५ श्लो० १८)

वर्तमान जाति एवं वर्ण-व्यवस्था—वर्तमान समय में भी जाति-प्रथा का आधार कर्मगत नहीं, जन्मगत ही है। साथ-ही-साथ यह विभाजन अपरिवर्तनशील है। अर्थात् ब्राह्मण के घर में उत्पन्न व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक ब्राह्मण समझा जाता है, भले ही वह अनपढ़ ही क्यों न हो और वेदों तथा धर्मशास्त्रों के पढ़ने की बात कौन कहे, उन्हें छुआ भी नहीं हो। इस प्रकार शूद्र के घर में उत्पन्न एक महान् पण्डित और विद्वान व्यक्ति जीवन-भर शूद्र ही रहेगा।

उच्च तथा निम्न कुल का भेद-भाव किया जाता है। छुआछूत की प्रथा जाति-प्रथा पर ही आधारित है।

एक जाति में उत्पन्न होनेवाले सभी लोग अधिकांशतः पारिवारिक कार्य-भार को वंशानुगत रूप से ढोते आते हैं। एक जाति के व्यक्तियों की उत्पत्ति का एक ही स्रोत माना जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि जाति एवं वर्ण-भेद के फलस्वरूप आज हमारे समाज का जो विकृत रूप है तथा जो बुराइयाँ एवं कुरीतियाँ हमारे समाज में घर कर गई हैं और जिन्हें दूर करने में हम असमर्थ हो रहे हैं, वे कालान्तर में उत्पन्न जटिलताओं के फल हैं। हमारे पूर्वजों ने जिस मौलिक एवं आधारभूत उद्देश्य से वर्ण-व्यवस्था की जो सुन्दर योजना बनाई थी, उसका उपर्युक्त अभिप्राय उनके स्वप्न में भी नहीं था। ठीक ही कहा गया है कि "वर्णों में न तो आत्मा की दृष्टि से कोई भेद है और न ही कर्म के भेद के कारण कोई छोटा या बड़ा। सभी वर्ण एक-दूसरे पर निर्भर हैं। सभी के नाम श्रेष्ठ हैं और अपने-अपने स्थान पर सबका समान महत्त्व है क्योंकि सारे वर्ण परमात्मा के विराट्शरीर से उत्पन्न हुए हैं, अतः उनमें किसी प्रकार की घृणा होना सर्वथा अनुचित है। ब्राह्मण ज्ञान-बल से, क्षत्रिय बाहु-बल से, वैश्य धन-बल से और शूद्र श्रम-बल से महान् हैं।"

जाति एवं वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति और विकास के उपर्युक्त वर्णन को ध्यान में रखते हुए हम अब इस व्यवस्था के गुण और दोष या लाभ और हानि की चर्चा करेंगे।

जाति-व्यवस्था के गुण—(१) अपने मौलिक रूप में जाति-प्रथा उपयोगी तथा लाभदायक थी। श्रम-विभाजन तथा काम-धन्धों की विशिष्टता (Division of labour and Specialisation of functions) के सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण यह प्रथा समूचे समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से करती थी। इस प्रथा ने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्त्व का समावेश किया। इस प्रथा ने स्वशासित तथा आत्म निर्भर आर्थिक व्यवस्थावाले गाँवों को इतने दिनों तक अनुप्राणित किया।

(२) जाति-प्रथा प्रत्येक वर्ण को अपने कार्य में पूर्ण रूप से कुशलता और अनुभव प्राप्त कराती है। प्रत्येक जाति मे एक वृत्तिगत संस्कार वंशानुक्रमिक रूप से चला जाता था। एक जाति के सभी लोग अपना पुश्तैनी पेशा सीखते थे और उसीको करते थे। इस प्रकार आनेवाली पीढ़ियों द्वारा पारिवारिक कार्यों के ढोये जाने के कारण, अधिक शिक्षा और प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वंशगत धन्धे के अनुकरण से प्रत्येक व्यक्ति को बचपन में ही अपने धन्धे के प्रति रुचि के साथ-साथ जानकारी और विशेषता प्राप्त हो जाती थी। समाज में बेकारी की समस्या भी नहीं रहती थी और प्रत्येक वर्ण के लोग अपने-अपने कार्यों मे दक्ष तथा प्रवीण होते थे।

(३) जाति-प्रथा के फलस्वरूप समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति होती थी। प्रत्येक वर्ण अपने कार्य को सम्मान की दृष्टि से देखता और दूसरे के कार्यों में बाधा नहीं डालता था। प्रत्येक वर्ण के लोग दूसरों की सहायता करना अपना धर्म समझते थे। धन-विभाजन के कारण अच्छे सैनिकों शिक्षकों, तथा कारीगरों का कभी अभाव नहीं होता था। किसी भी परिस्थिति मे सामाजिक कार्यों के सुचारु रूप से चलने मे कोई कठिनाई नहीं आती थी, जैसे युद्ध के समय आर्यों को खेती की कोई परवाह नहीं रहती थी।

(४) इस व्यवस्था के फलस्वरूप सभी वर्णों के सभी लोगों के व्यक्तित्व का विकास होता था। ऊँच नीच का भेद-भाव नहीं रहने के कारण सभी लोग समान माने जाते थे। प्रत्येक जाति के व्यक्तियों का एक संघ होता था और यह संघ उस जाति के सभी लोगों के व्यक्तित्व के विकास के लिए समुचित व्यवस्था करता था। इस प्रकार जाति-प्रथा सामुहिक और वैयक्तिक विकास का मुख्य माध्यम थी।

(५) जाति-प्रथा सामूहिक विकास तथा एकता का भाव जाग्रत् करती है। यह प्रथा एक जाति के सभी लोगों मे प्रेम, भ्रातृत्व, समानता और सौहार्द की भावना उत्पन्न करती है। एक जाति के लोग अपना तथा दूसरों का दुःख-सुख समान समझते थे, जिससे उनमें स्वार्थ-त्याग और भ्रातृत्व की भावना उत्पन्न होती थी। इस पारस्परिक सहयोग एवं सहायता के कारण कोई भी व्यक्ति अपने को अकेला और निस्सहाय नहीं समझता था; क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उसकी जाति के अन्य लोग उसकी मदद को सदैव तत्पर रहते थे।

(६) संगठित तथा शुद्ध जाति व्यवस्था समाज में सामंजस्य उपस्थित करती थी तथा समाज को सुदृढ और मजबूत बनाती थी। डॉक्टर राधाकृष्णन् के अनुसार वर्णों मे वैर होने के कारण समाज का आध्यात्मिक, राजनीतिक और

आर्थिक जीवन संतुलित और समन्वित रहता था । राजनीतिक और आर्थिक जीवन आध्यात्मिक जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता था । "परिणाम होता था कि राजा निरंकुश सैन्यवादी नहीं हो सका। सार्वभौम प्रभुता का शासक-वर्ग के स्वार्थ के साथ नहीं, वरन् राष्ट्र के साथ सम्बन्ध था।"[1]

(७) जाति एवं वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू-संस्कृति की विदेशी आक्रमणकारियों से रक्षा की। हमारे देश में विभिन्न समयों में रंग-बिरंग के विदेशी आक्रमणकारी आये, जैसे यूनानी हूण, शक, मुगल, पठान, तुर्क और अंगरेज। इन लोगों ने आधिपत्यों की स्थापना के बावजूद हमारा धर्म, हमारी भाषा, परम्परा, प्रथा आदि इन विदेशी विजेताओं के प्रभाव से मुक्त रहे।

(८) वर्ण-व्यवस्था के कारण रक्त की शुद्धता भी बनी रही। परिपक्व वर्ण-व्यवस्था के कठोर नियमों और नियन्त्रणों के कारण अन्तर्जातीय विवाह तथा सहभोज आदि वर्जित थे। इस कारण हमारे रक्त की शुद्धता भी बनी रही।

इस प्रकार हम पाते हैं कि अपने मौलिक रूप में जाति एवं वर्ण-व्यवस्था उपयोगी और लाभदायक थी। हम ऊपर लिख आये हैं कि कालान्तर में इसका स्वरूप जटिल तथा विकृत होता गया। अतः इससे लाभ न होकर हानि होने लगी। उपर्युक्त गुणों का स्थान अवगुणों ने ले लिया। नीचे हम जाति एवं वर्ण-व्यवस्था के अवगुणों की चर्चा करेंगे।

वर्ण-व्यवस्था के अवगुण—वर्ण-व्यवस्था के जिन गुणों का वर्णन ऊपर जाते किया गया है, वे सब आजकल नहीं पाये हैं। इस प्रथा के मौलिक रूप में जो गुण थे, अब वे सब नष्ट हो चुके हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि वर्तमान समय में जाति-व्यवस्था अवगुणों की खान बन गई है, जो निम्नलिखित है—

(१) जाति-प्रथा आर्थिक दृष्टिकोण से वर्तमान युग के लिए अनुपयुक्त है। यह प्रतिभा का विनाश करती है, जैसे शूद्र-जाति में उत्पन्न प्रतिभाशाली व्यक्ति भी समाज में नीची नजर से ही देखा जाता है या किसी उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्ति को अगर किसी निम्न पेशे में अभिरुचि है तो भी उसे उस पेशे को ग्रहण करने में हिचक होती है।

इस प्रकार यह प्रथा समयातीत (Out of date) होने के अतिरिक्त पूँजी और श्रम की गतिशीलता को प्रोत्साहन नहीं देती और आर्थिक निश्चेष्टता को प्रश्रय देती है। अर्थशास्त्रियों का यह भी मत है की यह बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। कुछ लोगों का यह भी कहना है की चूँकि

---

१ राधाकृष्णन् : 'हिन्दुओं का जीवन-दर्शन', पृष्ठ १०५।

इस प्रथा में प्रतियोगिता की भावना नहीं इसलिए, अत कार्य-कुशलता को भी धक्का पहुँचता है।

(२) जाति-प्रथा ने हमारे समाज को जातियों और उपजातियों मे खंड-विखंड कर छिन्न-भिन्न कर दिया। आज विभिन्न जातियों और उपजातियों की संख्या लगभग तीन हजार मानी जाती है। यह प्रथा विभिन्न जातियों एवं उपजातियों को पृथक्तावादी बनाती है। सर हेनरी मेन के शब्दों में—"वर्ण-व्यवस्था समाज के लिए बहुत दु:खदायी और विनाशकारी सिद्ध हुई है।"

(३) जाति-व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के मार्ग को अवरुद्ध करती है। इस प्रथा के फलस्वरूप लोग राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा जातिगत हितों को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। इसका परिणाम होता है कि राष्ट्रवाद की भावना को काफी गहरी ठेस लगती है और जातीयता की भावना उत्पन्न होती है। राष्ट्राभिमान उत्पन्न होने की अपेक्षा जातीय अभिमान उत्पन्न होता है। भारत का इतिहास बतलाता है कि १०वीं और ११वीं शताब्दी में जब हमारे देश में विदेशी आक्रमणकारियों का आगमन शुरू हुआ, तब जाति-भेद के कारण ही हमारे देशवासी उन शत्रुओं का सामना नहीं कर सके। ठीक ही कहा गया है कि जाति-भेद वास्तव मे राष्ट्ररूपी शरीर मे घुन की तरह काम करता है और उसे सर्वथा जर्जरित कर देता है।

(४) जाति-प्रथा अप्रजातान्त्रिक है, क्योंकि यह जातिगत निष्ठाओं (Sectional Loyalties) का सृजन कर समाज मे संकीर्ण तथा संकुचित प्रवृत्तियों को जन्म देती है। ऊँच-नीच और छोटे-बड़े की भावना को जन्म देने के कारण यह प्रथा समानता के सिद्धान्त का विरोधी है और इस प्रकार अप्रजातान्त्रिक है।

(५) जाति-प्रथा उच्च जातिवालों में व्यर्थ का दंभ तथा घमंड उत्पन्न करती है, जिससे वे लोग अन्य जातिवालों को हमेशा नीची नजर से देखते हैं। इस प्रकार यह प्रथा सामाजिक विषमता की जननी है।

(६) जाति-प्रथा सामाजिक सम्पर्क तथा आदान-प्रदान का मार्ग अवरुद्ध कर वर्गवाद तथा पार्थक्य की भावना को प्रश्रय देती है। इसके फलस्वरूप समाज में सामूहिक सौहार्द का विकास नहीं हो पाता है।

(७) वर्ण व्यवस्था के कारण हिन्दुओं का अधिकांश भाग सैनिक-शिक्षा से वंचित रह गया। क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य जातियों ने सैनिक-शिक्षा नहीं ली और जब हमारे देश पर विदेशी आक्रमण हुए तब हमारा राष्ट्रीय सैन्य-बल कमजोर पाया गया।

(८) इस प्रथा के फलस्वरूप हम विज्ञान की घुड़दौड़ में पीछे रह गये और विदेशों से हमारा सम्पर्क कम रहा। जाति-पाँति, छुआछूत और खान-पान के नाम,

हिन्दू लोग समुद्र पार जाना अधार्मिक कार्य समझते थे। महमूद गजनवी के आग बरसानेवाले अस्त्रों और बाबर के तोपखानों का मुकाबला हम इसीलिए नही कर पाये कि अन्य देशों मे शुद्ध खान-पान न मिलने के कारण हिन्दुओं ने विदेशों में जाना छोड दिया था और मध्य एशिया मे होनेवाले तत्कालीन नये वैज्ञानिक आविष्कारों से वे लोग अनभिज्ञ थे।

(९) इस प्रथा ने ही अस्पृश्यता यानी छुआछूत के रोग को जन्म दिया और स्त्रियों के सामाजिक विकास का मार्ग अवरुद्ध किया।

(१०) सामाजिक सुधार के मार्ग मे भी जाति-प्रथा ने सदैव रोडा अटकाया है।

निष्कर्ष—जाति एवं वर्ण-व्यवस्था के उपर्युक्त गुणों तथा अवगुणों की तालिका को देखने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसमे बुराइयाँ ही-बुराइयाँ हैं। इसके कारण हिन्दू समाज में बहुत-सी कुरीतियाँ आ गई हैं। यदि भारतीय समाज के ढाँचे को सचमुच सामाजवादी बनाना है, तो इस हानिकारक प्रथा को मिटाना नितान्त आवश्यक है।

(२) संयुक्त परिवार-प्रथा (Joint Family System)

हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था की दूसरी आधार-शिला सयुक्त परिवार-प्रथा है। सयुक्त परिवार को ठीक ही हमारे ग्रामीण जीवन की कार्यात्मक इकाई कहा गया है। हिन्दुओं मे सामाजिक एकक (unit) व्यक्ति नहीं, वरन् परिवार होता है। परिवार एक स्वाभाविक तथा महत्त्वपूर्ण सामाजिक संगठन होता है, जो मानव-जाति की प्रेम-भावना और मेल-मिलाप मे बनता और कायम रहता है। यहाँ हमें संयुक्त परिवार-प्रथा की चर्चा करनी है।

साधारणत: परिवार दो प्रकार के होते हैं। पहला, सरल परिवार (Single family) और दूसरा, संयुक्त परिवार (Joint family)। सरल परिवार का तात्पर्य वैसे परिवार से है, जिसमे स्त्री, पुरुष और उनके केवल अविवाहित बच्चे रहते हैं। विवाह के बाद बच्चे अपने माता-पिता के परिवार से अलग अपना स्वतन्त्र परिवार बना लेते हैं और अपने पारिश्रमिक और मजदूरी से अपना खर्च चलाते हैं। सरल परिवार पाश्चात्य देशों और व्यावसायिक समाजों मे पाये जाते हैं। हमारे देश में भी नौकरी पेशावाली जातियों मे इस तरह के परिवार पाये जाते हैं।

सयुक्त परिवार का अर्थ—दूसरे प्रकार के परिवार, संयुक्त या सम्मिलित परिवार (Joint family) का अभिप्राय वैसे परिवार से होता है, जिसके अन्दर दादा दादी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री, पुत्रवधू, चाचा-चाची, चचेरे

भाई-बन्धु आदि सम्मिलित रूप से रहते हैं। ऐसे परिवारों में तीन-चार पीढ़ियों तक भी परिवार की लड़ी नहीं टूटती है। संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही मकान में रहते हैं और सबकी रसोई एक ही चौके में बनती है, जबकि सरल परिवारों मे कमानेवाला सदस्य (Earning member) प्रधान होता है, संयुक्त परिवारों में सबसे प्रौढ सदस्य परिवार का प्रधान होता है—चाहे वह परिवार की आमदनी का स्रोत हो या नहीं। उसकी आज्ञाओं का पालन परिवार के अन्य सभी सदस्य करते हैं। परिवार के सभी कमानेवाले सदस्यों की आमदनी इसी सबसे वयोवृद्ध प्रधान के हाथों में या नियन्त्रण में रहती है और परिवार के सभी सदस्यों के जीवन यापन, शिक्षा, विवाह आदि सभी कार्यों एव कर्त्तव्यों के सम्पादन का उत्तरदायित्व वही सँभालता है।

एक संयुक्त हिन्दू परिवार (Hindu Joint family) में सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार होता है। इस सम्बन्ध में दो तरह के कानून प्रचलित हैं। पहला बगाल का दायभाग कानून और दूसरा, बगाल के बाहर प्रचलित, मिताक्षरा कानून। दायभाग के अनुसार परिवार के मुखिया का सम्पत्ति पर एकच्छत्र अधिकार होता है। वह, जिस ढग से चाहे, अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध कर सकता है। मिताक्षरा के अनुसार परिवार का मुखिया पारिवारिक सम्पत्ति का सिर्फ प्रबन्ध-कर्त्ता होता है। परिवार के बालिग तथा अन्य हिस्सेदारों की इच्छा के विरुद्ध उसे पारिवारिक सम्पत्ति के विक्रय आदि का सर्वाधिकार नहीं होता है।

संयुक्त परिवार की उत्पत्ति का प्रधान कारण हमारे देश, विशेषकर गाँवों, का कृषि-प्रधान होना रहा होगा। पुराने जमाने में खेती के कामों के लिए अधिक लोगों की आवश्यकता पड़ती रही होगी। यद्यपि संयुक्त परिवार हिन्दुओं के सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता है, फिर भी अन्य जातियों में भी इस प्रणाली का प्रचलन पाया जाता है। देश के कुछ स्थानों, विशेषकर मालवा और कोचीन, जहाँ मातृ-प्रधान (Matriarchal) परिवार पाये जाते हैं, को छोड़कर अन्य भागों के संयुक्त परिवार पितृ-प्रधान (Patriarchal) ही होते हैं।

संयुक्त परिवार-प्रणाली के गुण—संयुक्त परिवार-प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं—

(१) कृषि-प्रधान देश के लिए यह प्रणाली बहुत ही उपयोगी तथा उपयुक्त है, क्योंकि यह भूमि तथा कृषि-कार्य को सामूहिक रूप देने में समर्थ होती है। खेती में बहुत-से मनुष्यों के मिलकर काम करने से अधिक सफलता मिलती है। इस प्रणाली के ह्रास का ही फल हुआ कि हमारे देश की जमीन का छोटे-छोटे टुकड़ों में अपखण्डन हो गया। आज जो हमारे देश में जमीन की चकबन्दी और

सामूहिक तथा सहकारी खेती का आन्दोलन जारी है, वह इस प्रणाली के मौलिक रूप में निहित था।

(२) यह प्रणाली एक मितव्ययी (Economical) गार्हस्थ्य प्रबन्ध होती है। इसमें परिवार के खर्च में भारी बचत होती है। एक ही मकान में रहने के कारण तथा एक साथ ही भोजन-व्यवस्था होने के कारण पारिवारिक संस्थापन (Family Establishment) का खर्च कम हो जाता है।

(३) श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर न्यूनाधिक आधारित रहने के कारण यह प्रथा परिवारों की कार्यक्षमता बढ़ाती है। योग्यतानुसार कार्य बँटे रहने के कारण सभी कार्य उचित रीति से उचित समय पर सम्पन्न हो जाते हैं।

(४) संयुक्त परिवार रहने से घर की इज्जत तथा शान कायम रहती है। सभी सदस्यों के सम्मिलित श्रम और अल्प व्यय से परिवार की धाक जमती है और अतिरिक्त भूमि तथा धन-संचय में सुविधा होती है।

(५) यह प्रथा सुयोग्य नागरिक बनने के हेतु कतिपय आवश्यक गुणों को विकसित करती है। यह प्रथा परिवार के सभी सदस्यों को स्नेह-सूत्र में बाँधती है तथा उनमें सहयोग, पारस्परिक साहाय्य, सहिष्णुता, वैयक्तिक एवं आत्मस्वार्थ-त्याग, सामूहिक कल्याण प्रभृति सामाजिक भावनाओं को जन्म देती है। नागरिकता के जितने गुण मनुष्य संयुक्त परिवार में सीखता है, उतने वह सरल परिवार में रहकर नहीं सीख सकता। सरल परिवार में मनुष्य केवल अपना या अपनी स्त्री और बच्चों का ही लाभ देखता है जबकि संयुक्त परिवार में उसको अपने स्वार्थवश ही नहीं, वरन् परिवार-हित को दृष्टि में रखकर कार्य करना पड़ता है।

(६) संयुक्त परिवार-प्रणाली छोटे पैमाने पर न्यूनाधिक एक समाजवादी व्यवस्था होती है। परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति पर सभी सदस्यों का समान अधिकार होता है, सबकी आय परिवार की मिली-जुली निधि में जमा होती है और प्रत्येक सदस्य के जीवन-यापन का उत्तरदायित्व सारे परिवार के ऊपर रहता है। अतएव, यह प्रथा अपने मौलिक तथा श्रेष्ठतम रूप में समाजवाद के इस सिद्धान्त, कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुरूप मिले', का व्यावहारिक उदाहरण है।

(७) बुढ़ापा, बीमारी, बेकारी, दुर्घटना तथा आपत्ति आदि परिस्थितियों के समय संयुक्त परिवार-प्रथा एक सामाजिक बीमा (Social Insurance जैसी लाभदायक होती है। इन परिस्थितियों से ग्रस्त पारिवारिक सदस्यों द्वारा उनकी देखभाल तथा सेवा-शुश्रूषा भी होती रहती है और वे एकाकीपन की मानसिक चिन्ता से भी बरी रहते हैं। आजकल बहुत-से राज्यों द्वारा, जैसे रूस, स्वीडन

इत्यादि, इस प्रकार के कार्य किये जा रहे हैं और वैसे राज्यों को प्रगतिशील राज्य माना जाता है। ऐसे प्रगतिशील कार्य इस प्रथा द्वारा सदियों पूर्व सम्पन्न किये जाते थे।

अकेलापन तथा मित्रहीनता की जो समस्या आज पाश्चात्य देशों या बड़े-बड़े व्यावसायिक नगरों में पाई जाती है, उसकी जड़ यह प्रणाली जमने भी नहीं देती है।

(६) संयुक्त परिवार-प्रथा से मनुष्यों को उत्तरदायित्व का ज्ञान होता है और उनमें आज्ञापालन के भाव का उदय होता है। इन गुणों के फलस्वरूप आगे चलकर मनुष्य नागरिकता और राष्ट्रीयता के गुरुतर दायित्व को निभाने में समर्थ हो पाते हैं।

संयुक्त परिवार-प्रणाली के अवगुण—उपर्युक्त गुणों के होते हुए इस प्रणाली के कुछ अवगुण भी हैं, जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है—

(१) यह प्रणाली परिवार के सभी सदस्यों में समुचित उत्तरदायित्व की भावना विकसित नहीं कर पाती है। इसकी वजह यह होती है कि समूचे परिवार के भरण-पोषण का सारा उत्तरदायित्व घर के सबसे प्रौढ़ व्यक्ति पर होता है। फलतः कुछ सदस्य आलसी, सुस्त, काहिल तथा परोपजीवी बन जाते हैं।

(२) परिवार के कुछ सदस्यों में आत्मनिर्भरता और उत्तरदायित्व की भावना को कुण्ठित करने के अतिरिक्त यह प्रणाली परिवार के सभी सदस्यों को उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित अवसर प्रदान नहीं करती है। चूँकि पारिवारिक व्यवस्था के सभी निर्णय प्रधान द्वारा ही लिये जा सकते हैं, अन्य सदस्यों के स्वतन्त्र निश्चय की भावना को चोट पहुँचती है और स्वयं कुछ करने की इच्छा का विनाश हो जाता है।

(३) आर्थिक दृष्टिकोण से भी इस प्रणाली में अवगुण हैं। घर में एक कमाता है और बीस खानेवाले होते हैं। इस प्रकार आमदनी कम और उस आमदनी पर निर्भर करनेवालों की संख्या अधिक होने के कारण संयुक्त परिवारों की आर्थिक दशा बिगड़ जाती है। साथ ही सभी सदस्यों में धनोपार्जन का विशेष उत्साह नहीं रहता, क्योंकि उस धन पर सबका समान अधिकार हो जाता है।

(४) धनोपार्जन को लेकर संयुक्त परिवारों में, विशेषकर स्त्रियों में, परस्पर मनमुटाव, फूट और कलह पैदा होते हैं। कोई अधिक कमाता है तो कोई कम और कोई कुछ नहीं, किसी को अधिक बच्चे रहते हैं, तो किसी को कम और किसी को एक भी नहीं—इन बातों को लेकर सदस्यों का आपसी स्नेह-सूत्र ही दीला नहीं पड़ जाता, वरन् उनमें सदैव झगड़े होते हैं। इसका परिणाम

यह होता है कि एक सयुक्त परिवार शान्ति और सुख की चीज नहीं रहकर सघर्ष या कलह का केन्द्र बन जाता है। लोगों में अपनी आमदनी का कुछ हिस्सा छिपाकर रखने की प्रवृत्ति घर कर जाती है और अन्त मे बँटवारे का प्रश्न उठ खड़ा होता है।

सयुक्त परिवार में प्रत्येक सदस्य की उन्नति निश्चयात्मक रूप से नहीं हो पाती। समूचे परिवार में एक ही बड़ा माना जाता है। यदि परिवार मे कोई अन्य व्यक्ति उस प्रधान से अधिक विवेकशील हो, तोभी प्रधान के समक्ष उसको महत्त्व नहीं दिया जाता है। कभी-कभी प्रधान की मृत्यु के बाद, परिवार के अन्य सदस्यों को अपने उज्ज्वल भविष्य तथा मनोवांछित पेशे को छोड़कर पारिवारिक उत्तरदायित्व सँभालना पड़ता है। श्री टी० ए० रमण ने ठीक ही तो कहा है कि सयुक्त परिवार में बूढ़ों की सुरक्षा और प्रतिष्ठा तो होती ही है, लेकिन नवयुवकों के हौसले पस्त हो जाते है।

(६) चूँकि संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों और स्तरों के स्त्री-पुरुष एक साथ और एक ही घर में रहते हैं, इसलिए पर्दा-प्रथा का रहना आवश्यक हो ही जाता है। पर्दा-प्रथा का परिणाम यह होता है कि युवकों और दाम्पत्य-जीवन का पूर्ण उल्लास प्राप्त नहीं होता। स्त्रियों के लिए तो संयुक्त परिवार जेल के समान होता है। इस प्रकार यह प्रणाली युवा दम्पतियों के बौद्धिक, सास्कृतिक या आत्मिक विकास के मार्ग को अवरुद्ध करती है।

सयुक्त परिवार-प्रणाली का भविष्य—संयुक्त परिवार-प्रणाली का काफी ह्रास हो चुका है, इस तथ्य से सभी परिचित ही हैं। पाश्चात्य शिक्षा, विचारों तथा आधुनिक युग की बढ़ती हुई व्यक्तिवादी भावना के फलस्वरूप इस प्रणाली का धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है। ऊपर लिखा जा चुका है कि इस प्रणाली की उत्पत्ति का मुख्य कारण था—हमारे देश का कृषि-प्रधान होना। जैसे-जैसे गाँवों की आत्म-निर्भर अर्थ-व्यवस्था टूटती गई और हमारी प्राचीन ग्रामीण सस्कृति मे परिवर्त्तन आते गये, वैसे-वैसे यह प्रणाली भी विकृत तथा शक्तिहीन होती गई।

आज तो ऐसा समय आ गया है कि सयुक्त परिवार-प्रणाली आधुनिक जीवन की परिस्थितियों, विशेष कर सामाजिक प्रगति से कदम मिलाकर चलने में सर्वथा असमर्थ है।

संयुक्त परिवार-प्रणाली के आलोचकों का कहना है कि चूँकि यह प्रथा अपने मौलिक गुणों से विहीन हो गई और आधुनिक जीवन की परिस्थितियों के सर्वथा अनुपयुक्त है, इसलिए इसे मिटा ही देना चाहिए या इसका लोप हो जाने पर दुःख प्रकट करने की कोई बात नहीं है। इसके अनुसार अब सयुक्त परिवार में न

तो सभी सदस्यों के समान रूप से पोषण की शक्ति रह गई है और न वह पुराना स्नेह-सूत्र और सौहार्द ही। इस प्रणाली को मिटा देने के पक्षपातियों का यह भी कहना है कि हमारे देश की वर्त्तमान आर्थिक अवस्था के दयनीय होने के कारणों में एक कारण यह प्रणाली भी है। अतः इस प्रथा के मिटा देने से ही हमारी आर्थिक अवस्था सुधरेगी।

ठीक इसके विपरीत एक दूसरी विचारधारा है, जो इस प्रणाली के मिटाने के पक्ष में नहीं है। इन लोगों का कहना है कि हमारे देश में यों ही राष्ट्रीय, सामूहिक तथा सामाजिक हित-साधन की भावनाओं का ह्रास होता जा रहा है और अगर इस प्रणाली को हम मिटा देंगे तो व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना का और भी नंगा नाच होने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि हिन्दू-संस्कृति की नींव ही हिल जायगी और जो कुछ भी बची-खुची सामूहिक हित की भावना देश में पाई जाती है, उसका सर्वनाश हो जायगा। अतः इस विचारधारा के अनुसार इस प्रणाली की बुराइयों और विकृतियों को सुधारने की आवश्यकता है, न कि इसे बिल्कुल मिटा देने की।

इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यह प्रणाली निस्तेज और निष्प्राण हो चली है। जैसे-जैसे हमारा देश औद्योगीकरण के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है और भूमि पर निर्भर गाँवों में बसनेवाले लोग शहरों में आ-आकर बसते जा रहे हैं, वैसे-वैसे ही इस प्रणाली के पैरों के नीचे से जमीन खिसकती जा रही है। पाश्चात्य शिक्षा, आधुनिक विचार, नौकरी, व्यवसाय, शहरी जीवन, वैयक्तिक दृष्टिकोण आदि सभी तत्त्वों के कारण इस प्रणाली का भविष्य अंधकारमय ही दीख पड़ता है। सामाजिक बीमा के रूप में जो कार्य इस प्रणाली द्वारा सम्पादित होते थे, वे अब सभी समाजवादी तथा प्रगतिशील राज्यों द्वारा धीरे-धीरे किये जा रहे हैं। अतः भविष्य में इस प्रणाली का ह्रास या लुप्त होना अवश्यम्भावी है।

फिर भी इस प्रणाली के कतिपय इतने अच्छे गुण हैं कि पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण कर इसे जड़-मूल से नष्ट कर देना वर्त्तमान के लिए कठिन ही नहीं, वरन् अहितकर भी होगा। देश में लाख औद्योगीकरण हो, लेकिन हमारे सभी गाँव शहर में परिवर्त्तित नहीं हो सकेंगे। इसके अलावा इस प्रणाली में निहित पारस्परिक सहानुभूति, सहयोग और त्याग की भावनाओं की आवश्यकता हमें अपनी सामाजिक उन्नति और एकता के लिए पड़ेगी ही। यह कहना कि हमारी आर्थिक व्यवस्था का सुधार इस प्रणाली के मिटा देने पर ही होगा, अतिशयोक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरी सम्मति में आवश्यकता इस बात की है कि संयुक्त परिवार-प्रणाली के दोषों को दूर किया जाय इसकी आर्थिक स्थिति को व्यवस्थित किया जाय और

आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल इसमें सुधार किये जायें, न कि चन्द बुराइयों के कारण इसे पूर्णत: मिटा ही दिया जाय।

(३) हिन्दुओं के संस्कार, पर्व तथा तीर्थाटन

जाति एवं वर्ण-व्यवस्था तथा संयुक्त परिवार-प्रणाली के अलावा संस्कार, पर्व तथा तीर्थाटनों का भी हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में काफी महत्त्व रहा है और अभी भी है। संस्कारों में जन्म, नामकरण, उपनयन, विवाह, दाह आदि मुख्य हैं। हिन्दुओं के त्यौहार अपनी जाति और धर्म के किसी-न-किसी महापुरुष की स्मृति में या ऋतु-परिवर्त्तन के मौकों पर मनाये जाते हैं, जैसे—दशहरा, रामनवमी, शिवरात्रि, कृष्णाष्टमी, होली, दीपावली आदि। देश के विभिन्न स्थल, जहाँ पर हिन्दू ऋषि-मुनियों ने तप किये, हिन्दुओं के तीर्थ-स्थान बन गये हैं। इन स्थानों के दर्शन से हिन्दू लोग अपना जीवन कृत-कृत्य मानते हैं। इनमें बद्रीनाथ, रामेश्वरम्, जगन्नाथपुरी और द्वारका—ये चारों धाम और हरिद्वार, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, आदि प्रसिद्ध हैं।

मुसलमानों का सामाजिक जीवन

सामाजिक संगठन की भूमिका मे हम कह आये हैं कि हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य जातियों के ऊपर धर्म का व्यापक प्रभाव समान रूप से पाया जाता है। मुसलमानों का सामाजिक जीवन भी धर्म-प्रधान ही होता है। फिर भी हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक जीवन में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। हिन्दू-धर्म अत्यन्त ही सनातन तथा प्राचीन है, जबकि मुस्लिम-धर्म केवल १३०० वर्षों का है। यद्यपि हिन्दू धर्मावलम्बियों में भी अंधविश्वास और कट्टरपन की भावना पूर्णत लुप्त नहीं हुई है, फिर भी मुस्लिम-धर्मावलम्बियों की अपेक्षा कम है। अपेक्षाकृत मुस्लिम-धर्म के अनुयायी अधिकतर अशिक्षित हैं। इन भिन्नताओं के कारण धर्म का जादू जितना जल्द मुसलमानों के सिर पर चढता है उतना जल्द हिन्दुओं के सिर नहीं।

सैद्धान्तिक रूप में हिन्दू-धर्म की अपेक्षा मुस्लिम-धर्म अधिक जनतंत्रवादी है। इस्लाम किसी प्रकार का जाति-भेद नहीं मानता। इस्लाम के अनुसार खुदा के सामने सब मनुष्य बराबर हैं, कोई बड़ा या छोटा नहीं है। इस प्रकार मुसलमानों में खुदा के सामने सब मनुष्य बराबर हैं, कोई बड़ा या छोटा नहीं है। इस प्रकार मुसलमानों में जाति-बन्धन नहीं है। अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, सभी मुसलमान एक ही थाली में बैठकर खाना खा सकते हैं; सब एक ही हुक्के का प्रयोग करते हैं और साथ मिलकर एक ही मस्जिद में नमाज पढते हैं।

लेकिन वास्तविक वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। कई कारणों से सम्भवत; हिन्दुओं ही के रीति-रिवाज से प्रभावित होकर, मुसलमानों ने भी धीरे-धीरे कई

सम्प्रदाय तथा उपजातियों का समावेश हो गया है। शिया और सुन्नी एक-दूसरे को अलग ही नहीं, वरन् परस्पर-विरोधी मतों के सदस्य मानने लगे हैं। उनमें नाते-रिश्ते भी नहीं होते हैं। इन दोनों के अलावा अहमदिया नाम का एक तीसरा सम्प्रदाय भी पाया जाता है। इन सम्प्रदायों के अलावा मुस्लिम-जाति शेख, सैयद, पठान, मेव, मुगल आदि विभिन्न वर्गों में बँटी हुई है। इनमें शेख, सैयद और पठान अपने को अन्य जातियों से बड़ा समझते हैं। यद्यपि इस्लाम मना नहीं करता है, फिर भी साधारणतया इन वर्गों में अन्तर्विवाह नहीं ही होता है। हिन्दू या अन्य धर्मों से परिवर्त्तित मुसलमान भी नीची नजर से ही देखे जाते हैं और ऊँचे घरानों के मुसलमान उनसे नाता-रिश्ता नहीं करते। इस प्रकार हम पाते हैं कि मुसलमानो में भी एक प्रकार की जाति-व्यवस्था चल पड़ी है।

मुसलमानों के रीति-रिवाज सरल हैं। उनके रहन-सहन मे कृत्रिमता या दिखावटीपना बहुत ही कम है। उनके यहाँ हिन्दुओं की तरह संयुक्त परिवार-प्रणाली भी नहीं पाई जाती है।

बहुविवाह (Polygamy) की प्रथा मुसलमान-जाति की एक विशेषता है। प्रत्येक मुसलमान को चार स्त्रियाँ तो हदीस के आज्ञानुसार ही रखने का हक है। मुसलमानों में सगे भाई और बहिन को छोड़कर किसी भी निकटतम रिश्तेदार की लड़की से लड़के की शादी हो सकती है। इस प्रकार हिन्दुओं के समान मुसलमानों में वंश नहीं बचाया जाता। दो भाइयों या बहनों की सन्तानों मे परस्पर विवाह सबंध हो सकता है। यह प्रथा अच्छी नहीं है। इस प्रथा को नैतिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् जीव-विज्ञान की दृष्टि से भी दोषपूर्ण माना गया है। कहा जाता है कि इस प्रथा के कारण मानसिक और शारीरिक विकास तो नहीं ही हो पाता है, साथ ही पुश्तैनी बीमारियों की भी वृद्धि होती है।

बहुविवाह के अलावा बाल-विवाह और अस्थायी ववाह की प्रथा भी मुसलमानों में पाई जाती है। अस्थायी विवाह वह है, जो एक दिन, एक माह तथा एक वर्ष या उससे अधिक समय के लिए हो सकता है। इसे 'मुता' शादी कहते हैं। औरतों और मर्दों—दोनों को तलाक का अधिकार है। विधवा-विवाह की भी इजाजत है, लेकिन ऊँचे घरानों में इसका प्रचलन नहीं पाया जाता है।

मुसलमानों की विवाह-व्यवस्था के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं के समान मुसलमानो के लिए विवाह एक पवित्र बन्धन नहीं है। ठीक ही कहा गया है कि इनके लिए विवाह 'एक अनुबन्ध (Contract) है, जो वासना की तृप्ति का एक साधन-मात्र है।' इसका परिणाम यह होता है कि मुस्लिम नारियों की दशा अच्छी नहीं रहती। इनमें पर्दा की भी प्रथा है। इसके कारण

(मुसलमानो) में सहशिक्षा (Co education) में बाधा पहुँचती है, साथ ही बहुत-से लोग तपेदिक की बीमारी के शिकार हो जाते हैं।

मुसलमानों में लड़की को बाप की जायदाद में अधिकार होता है। इसका फल यह यह होता है कि इनकी जायदाद छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाती है। यह भी एक कारण है कि मुसलमानों में निकटतम रिश्तेदारों में शादी को लोग पसन्द करते हैं, क्योंकि इसके माध्यम से अपनी पारिवारिक जायदाद को दूसरे परिवार में हस्तान्तरित (Transfer) होने से बचाया जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मुसलमानों का सामाजिक जीवन भी अनेक बुराइयों से भरा हुआ है। इन कुरीतियों का दूर होना आवश्यक है। इन कुरीतियों को दूर करने का अधिक प्रयास राज्य की ओर से नहीं किया जा रहा है इसका कारण यह है कि मुसलमान भारत की एक अल्पसंख्यक जाति है और कितनी भी अच्छी नीयत से इन कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न क्यों न किया जाय, मुसलमान इसे अपने मजहब में दखल ही समझेंगे। स्मरण रहे कि हमारा संविधान भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना का समर्थन करता है। अतः मुसलमानों के सामाजिक जीवन की वर्त्तमान कुरीतियों को दूर करने की अन्तिम जिम्मेवारी मुसलमानों पर ही है।

अन्य जातियाँ

हिन्दू और मुसलमानों के अलावा इसाई तथा पारसी जातियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इन जातियों का रहन-सहन, रीति रिवाज आदि हिन्दुओं और मुसलमानों से अधिक प्रगतिशील हैं। ये शिक्षित, योग्य और व्यवहार-कुशल होते हैं। इन्होंने अल्पसंख्यक होने के आधार पर सरकार से किसी प्रकार के संरक्षण या विशेष लाभ की माँग नहीं की है।

प्रश्न

१. भारतीय समाज के संगठन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए तथा इसके प्रमुख दोषों का उल्लेख कीजिए।
२. हिन्दुओं के सामाजिक जीवन की कौन-सी दो मुख्य विशेषताएँ हैं? आजकल उनकी क्या अवस्था है?
३. जाति एवं वर्ण व्यवस्था को समझाइए तथा इनके गुणों और अवगुणों की विवेचना कीजिए।
४. संयुक्त परिवार-प्रणाली का अर्थ बताइए। भारतीय समाज से इसके क्रमिक लोप (अदर्शन) के कारणों का उल्लेख कीजिए।
५. मुसलमानो के सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए इसमें कौन कौन-सी कुरीतियाँ आ गई हैं?

१० समाज-सुधार के आन्दोलन
(Social Reform Movements)

सामाजिक संगठन की चर्चा[1] के सिलसिले में हिन्दुओं और मुसलमानों के सामाजिक जीवन की कतिपय कुरीतियों का उल्लेख किया गया है। उन बुराइयों के अतिरिक्त और भी बहुत सी कुरीतियाँ हमारे सामाजिक जीवन में अभी भी समाविष्ट हैं। उन कुरीतियों की समस्या हमें बहुत दिनों से चुनौती देती आ रही है। समय-समय पर इन कुरीतियों को दूर करने के लिए अनेक आन्दोलन भी हुए, जो 'समाज-सुधार के आन्दोलन' के नाम से विख्यात हैं। इस अध्याय में हम अपने सामाजिक जीवन की प्रमुख समस्याओं तथा उन्हें दूर करने के प्रयासों का वर्णन करेंगे।

हमारे सामाजिक जीवन में कुरीतियों की भरमार रही है। इनमें जाति-पाँति के भेद भाव, अस्पृश्यता, स्त्रियों की पिछड़ी हुई और अवनत अवस्था, बाल विवाह, विधवा-विवाह, दहेज-प्रथा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बीते हुए दिनों में सती प्रथा और बाल-वध की दूषित प्रथा भी थी। इन कुरीतियों को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न समयों में आन्दोलन किये गये। अध्ययन की सुगमता और सुविधा के उद्देश्य से हम प्रत्येक बुराई की चर्चा अलग-अलग करेंगे और उसी स्थल पर उन्हें दूर करने के लिए किये गये आन्दोलनों का भी वर्णन करेंगे।

(१) जाति-पाँति का भेद-भाव

जाति-पाँति के भेद भाव के कारणों और दुष्परिणामों की चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। हम जान चुके हैं कि यद्यपि इस प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई, फिर भी ऊँच-नीच और छुआछूत की भावना का जन्म बौद्ध-युग में जाकर हुआ।

महात्मा बुद्ध के बौद्ध-धर्म ने इन दोषों को दूर करने का प्रयास किया। महात्मा बुद्ध ने जाति-प्रथा की निन्दा की। उन्होंने जन्म की अपेक्षा कर्म पर जोर दिया और अपने बौद्ध संघ में सभी जातियों के लोगों को शामिल किया और सबको समान स्थान दिया।

---

1. देखिए, अध्याय २५।

महात्मा बुद्ध के सुधार-आन्दोलन ने जाति-पाँति के भेद-भाव को कुछ कम किया। लेकिन मौर्यों के समय में और फिर बाद में मुस्लिम-काल में इस भेद-भाव के दुष्परिणामों ने पुनः जोर पकड़ा। इसका परिणाम हुआ कि सूफी दार्शनिकों, रामानन्द, कबीर और नानक आदि सुधारकों ने इस प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। कबीर आदि संतों के पदों में, जैसे—

"जाति-पाँति पूछै नहिं कोई
हरि को भजै सो हरि का होई।"

हम स्पष्ट रूप से इस प्रथा की निन्दा पाते हैं। लेकिन इन सुधारकों का कोई अधिक प्रभाव हम नहीं देखते हैं।

भारत में अँगरेजी राज्य के दिनों में भी यह प्रथा जारी रही। लेकिन पाश्चात्य सभ्यता और अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से इस प्रथा की जटिलता क्रमशः कमने लगी। अँगरेजी शिक्षा में दीक्षित लोगों ने इस प्रथा के भेद-भाव की उपेक्षा करना शुरू कर दिया। ब्रह्म-समाज, आर्य समाज, थियोसॉफिकल सोसाइटी आदि संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलनों द्वारा जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाना अपना कर्त्तव्य समझा। इस सम्बन्ध में राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रशंसनीय कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बाद में चलकर स्वर्गीय पूज्य बापू ने भी जाति-पाँति से उत्पन्न छुआछूत की भावना को दूर करने के लिए एक जबरदस्त और सफल आन्दोलन छेड़ा। कॉंगरेस ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किये। आज जाति-पाँति और छुआछूत की भावना तथा इसके भेद-भाव का नियन्त्रण धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। हमारे गणतन्त्रात्मक संविधान ने इस भेद-भाव को अवैध घोषित कर दिया है। इस भेद-भाव का पूर्णतः नाश नहीं होने पाया है, फिर भी आनेवाले दिनों में इसका ह्रास और नाश अवश्यम्भावी है।

(२) अस्पृश्यता

अस्पृश्यता या छुआछूत की भावना जाति एवं वर्ण-व्यवस्था की ही उपज है। हिन्दू-धर्म के चौथे वर्ण शूद्रों को, जिनका कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—इन तीन वर्णों की सेवा करना था, घृणित तथा अपवित्र माना जाने लगा। इन्हें अछूत नाम से सम्बोधित किया जाने लगा और उसीसे छुआछूत यानी अस्पृश्यता की भावना जाग उठी। इन्हें छूने की बात तो दूर रही, इनकी परछाईं से भी अपवित्र हो जाने के भय से लोग भागते थे। अनेक जगहों में तो इन्हें अपने गले में घंटी बाँधकर सड़कों पर चलना पड़ता था। ये लोग

न सार्वजनिक कुँओं व जलाशयों से पानी भर सकते थे, न सार्वजनिक स्थानों, जैसे पाठशालाओं आदि, का उपयोग कर सकते थे, न तीर्थों में स्नान कर सकते थे और न मन्दिरों में जाकर देवताओं का दर्शन-पूजन ही कर सकते थे।

इस प्रकार अछूत कहे जानेवाले लोगों के साथ बड़ा ही अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। इन्हें गाँवों या शहरों से बाहर बसना पड़ता था। समाज का यह उपेक्षित वर्ग अनेक अत्याचारों का शिकार था। इतिहास के पन्ने को उलटने से पता चलता है कि यह प्रथा बहुत ही पुरानी है। चीनी यात्री फाहियान के वृत्तान्तों में तत्कालीन भारत मे विद्यमान छुआछूत की भावना का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। हिन्दू समाज की यह जाति, जो सभी जातियों की सेवा करती थी, उनकी गन्दगियों को दूर करती थी, नाना प्रकार के अत्याचारों और नियोग्यताओं का शिकार थी। उत्तर-भारत मे इनकी दशा बुरी तो थी ही, लेकिन दक्षिण-भारत में भी इनकी दशा पशुओं से भी बदतर थी।

अस्पृश्यता निवारण-आन्दोलन—अस्पृश्यता के रोग से ग्रसित भारतीय सामाजिक जीवन असंगठित होने लगा। इस कुप्रथा के बहुत-से भयावह दुष्परिणाम हुए। बहुत-से अछूतों ने अपने नारकीय, गन्दे तथा पशु तुल्य जीवन से ऊबकर और हिन्दू-धर्म द्वारा अस्वीकृत सामाजिक समानता पाने के उद्देश्य से इस्लाम और ईसाई-धर्म को स्वीकार करना शुरू किया। तब हमारे समाज सुधारकों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने अछूतों की स्थिति मे सुधार लाने के लिए आन्दोलन आरंभ किये।

वैसे तो इस सामाजिक कलंक को मिटाने के प्रयत्न समय-समय पर होते रहे, पर महात्मा बुद्ध और महावीर ने, चौदहवीं शताब्दी में रामानन्द स्वामी ने, और मुस्लिम-युग में कबीर, नानक, तुकाराम आदि भक्ति-मार्ग के प्रवर्तकों ने अछूतों की अवस्था को सुधारने के लिए आन्दोलन किये। आधुनिक युग मे राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अछूतोद्धार का बीड़ा उठाया। आर्य-समाज ने तो सबसे अधिक जोर लगाया और देश-भर मे अछूतों की शिक्षा तथा उन्नति के लिए स्कूल, पाठशालाएँ और अछूतोद्धार सभाएँ स्थापित कीं। लाला लाजपत राय ने भी लाहौर मे 'लोकसेवा-समिति' नामक संस्था की स्थापना की थी और इस समिति ने भी अच्छा काम किया था। सन् १९०६ ई० में बम्बई मे डिप्रेस्ड-क्लासेज-मिशन-सोसाइटी ऑव इंडिया (The Depressed Classes Mission Society of India) की भी स्थापना हुई थी।

लेकिन इन सभी आन्दोलनों का कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। बीसवीं सदी की दूसरी दशाब्दी मे भी इन अछूतों की संख्या छह से आठ करोड़ तक मानी जाती थी।

महात्मा गाँधी का हरिजन-आन्दोलन—सन् १९२० ई० के बाद से महात्मा गाधी के नेतृत्व मे कॉंग्रेस ने अस्पृश्यता-निवारण को अपने रचनात्मक कार्यक्रम का अ ग बनाया। गाधीजी ने अस्पृश्यता-निवारण के आन्दोलन को स्वराज्य-आन्दोलन का ही एक अविभेद्य अ श माना और कहा कि अछूतोद्धार के बिना स्वराज्य असंभव है। सन् १९३० ई० के बाद गाधीजी ने इस कार्य को सबसे अधिक महत्त्व तथा प्राथमिकता दी।

सन् १९३२ ई० मे मे नवीन शासन योजना बनाने के सिलसिले मे जब ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री रैमजे मैकडोनल्ड ने अपना साम्प्रदायिक निर्णय दिया और कि अछूतों को हिन्दुओ से अलग मानकर उन्हे विधान-सभाओं मे पृथक् सीटें दी जायेंगी तब गाधीजी ने, इस निर्णय के विरोध मे, पूना मे आमरण अनशन शुरू कर दिया। इस अनशन से उत्पन्न गभीर स्थिति को सुधारने के लिए हिन्दुओं और अछूतो क नेताओं मे एका समझौता हुआ, जिसके अनुसार हरिजनों को हिन्दुओ से अलग चुनाव मे भाग लेने से रोक गया। अगर गाधीजी ने उस वक्त इतना दृढ कदम नहीं उठाया होता, तो अछूत लोग सदा के लिए हिन्दू-जाति से अलग हो जाते।

इसके बाद गाधीजी ने फिर २१ दिनों का अनशन-व्रत किया और हिन्दुओं से अपने हृदय से अछूतो के प्रति घृणा के भाव को दूर करने की प्रार्थना की। गाधीजी के उपर्युक्त अनशन और उपवास का फल यह हुआ कि सारे देश मे अस्पृश्यता-निवारण के आन्दोलन की लहर दौड गई। स्थान-स्थान पर हरिजनों के लिए मन्दिर, कुएँ, घाट, पाठशालाएँ आदि निर्मित होने लगे।

गाधीजी ने इन लोगों का नाम 'अछूत' से बदलकर 'हरिजन' रख दिया। 'हरिजन' का अर्थ है—वह, जो ईश्वर को सबसे अधिक प्रिय है। उस समय से इस आन्दोलन का नाम 'अस्पृश्यता-निवारण-आन्दोलन' से बदलकर 'हरिजन-आन्दोलन' हो गया। सन् १९३३ ई० मे गाधीजी ने 'हरिजन-सेवक सघ' की स्थापना की। इस सघ का उद्देश्य था हरिजनो की दशा को सुधारना। इस सघ की शाखाएँ सारे देश में खुली। अभी भी यह सस्था कार्य कर रही है। हरिजनों के लिए खोली गई शिक्षण-सस्थाओ तथा औद्योगिक केन्द्रों का सचालन इसी सघ द्वारा होता है।

हरिजनों की समस्या के समाधान के लिए देश मे जागृति लाने के उद्देश्य से गाधी जी ने 'हरिजन' नाम का एक पत्र निकालना शुरू किया। उन्होंने इस पत्र के अ ग्रेजी, हिन्दी तथा गुजराती सस्करण निकालकर इस समस्या की ओर लोगों का ध्यान खींचा और नया प्रकाश डाला। गाधीजी की मृत्यु के बाद भी यह पत्र निकल ही रहा है।

हरिजनों की आर्थिक सहायता के लिए गांधीजी ने एक हरिजन-फंड का भी निर्माण किया। उन्होंने हरिजनोद्धार के लिए सम्पूर्ण देश का दौरा किया और विराट् सभाओं में भाषण देकर हरिजनों के प्रति लोगों के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न की। वे जहाँ कहीं भी जाते थे, लोगों से हरिजनोद्धार के लिए दान माँगते थे। इस प्रकार उन्होंने इस फंड में करोड़ों रुपये इकट्ठा कर दिये। इस फंड के रुपयों से असहाय और दीन हरिजनों की सहायता की जाती है तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था होती है।

सन् १९३० ई० के बाद गांधीजी ने अपने जीवन की सारी शक्ति इस कार्य में लगा दी। इस कार्य के लिए सन् १९३२ से १९४७ ई० के बीच उन्होंने ७ छोटे बड़े व्रत किये। उनके नेतृत्व में राष्ट्रीय काँगरेस ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किये। 'हरिजन-कॉलोनी' खोली गई। सन् १९४७ ई० में जब देश के विभिन्न प्रान्तों में 'जनप्रिय मन्त्रि-मण्डलों' (Popular Ministry) की स्थापना हुई तब हरिजन-नेताओं को मन्त्री पद दिया गया। बहुत सी निर्योग्यताओं को दूर करने के कानून बनाये गये।

इन सब प्रयासों का फल यह हुआ कि छुआछूत का रोग बहुत हद तक दूर हो गया। हरिजनों में राजनीतिक चेतना आने लगी। उन्होंने स्वयं भी अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन करना शुरू किया। अखिलभारतीय शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडेरेशन, हरिजन लीग इत्यादि संस्थाओं की स्थापना हुई। इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व ही हरिजनों की सामाजिक व्यवस्था में काफी प्रगति हो चुकी थी। उनके प्रति किये गये अमानुषिक व्यवहार लगभग समाप्त हो चुके थे, फिर भी छुआछूत का भेद-भाव पूर्णतः नहीं मिट पाया था। हरिजनों की आर्थिक व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया था।

अस्पृश्यता और हमारा वर्त्तमान संविधान—हमारे वर्तमान गणतान्त्रिक संविधान ने हरिजन आन्दोलन को पूरा किया। हमारे संविधान की १५वीं धारा ने जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाकर प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक समानता का अधिकार प्रदान किया है। इसके पश्चात् संविधान की १७वीं धारा द्वारा 'अस्पृश्यता' को सदा के लिए, जड़-मूल से नष्ट कर दिया गया है। इस धारा में कहा गया है—'भारतवर्ष में छुआछूत का अन्त कर दिया जाता है, छुआछूत बरतने की मनाही की जाती है। छुआछूत के आधार पर यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति पर किसी भी प्रकार की रोक-टोक लगायगा तो उसे राज्य की ओर से दण्ड दिया जायगा।

अस्पृश्यता को अवैध घोषित करने के अतिरिक्त राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों (धारा ४६) में भी कहा गया है कि 'राज्य विशेष रूप से जनता की पिछड़ी हुई जातियों,

जैसे हरिजन, कबायली जातियाँ आदि, के अधिकारों की रक्षा करेगा और उन्हें हर प्रकार के शोषण से बचायगा।

इतना ही नहीं, हमारा वर्त्तमान संविधान हरिजनों के लिए नौकरियों तथा केन्द्रीय और राज्य की विधान-सभाओं में सुरक्षित स्थानों की भी व्यवस्था करता है। उसमें कहा गया है—"प्रत्येक राज्य की विधान-सभा में हरिजनों के लिए उनकी आबादी के हिसाब से स्थान सुरक्षित रखे जायेंगे। नौकरियाँ देते समय उनके हितों का विशेष रूप से ध्यान रखा जायगा। यह देखने के लिए कि संविधान द्वारा दिये गये हरिजनो के उपर्युक्त अधिकारो की रक्षा हो, केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारो द्वारा अफसरो की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार हमारे गणतान्त्रिक संविधान ने सदियों की पुरानी छुआछूत की बीमारी को जड़मूल से नष्ट करने का प्रयास किया है। फिर भी पूर्णतः इसका नाश नहीं हो पाया है। अभी कुछ दिन हुए, देवघर (वैद्यनाथधाम) मे आचार्य विनोबा भावे को अछूतों को मन्दिर में प्रवेश कराने के प्रयास मे लाठी भी खानी पड़ी। लेकिन निकट भविष्य में ही इस कलंक को मिटाना अवश्यभावी है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि हमारे हरिजन भाई अपने में भी ऊँच-नीच का भेद-भाव रखते हैं। चमार समझता है कि उससे मेहतर नीचा है और मेहतर समझते हैं कि उनसे अधिक घृणित कंजर है। हरिजनों को उपर्युक्त आपसी भेद-भाव सर्वप्रथम और तुरत मिटाना चाहिए। उन्हें अपनी बुरी आदतें छोड़ देनी चाहिए। अर्थात् संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारो तथा सुविधाओं को यथार्थ रूप देना हिन्दुओं और भारत-सरकार का काम तो है ही, लेकिन उससे भी बढ़कर इसका उत्तरदायित्व स्वयं हरिजनों पर भी है।

(२) नारियों की स्थिति

हमारे देश की नारियो की वर्त्तमान स्थिति भी भारत एवं भारतीय सामाजिक जीवन की एक मुख्य समस्या है। यदि महिलाओं की स्थिति सचमुच ही किसी देश या समाज की संस्कृति, सभ्यता एवं उसके सामाजिक स्तर का मापदण्ड है, तो हमारा देश और और समाज निस्सन्देह बहुत ही पिछड़ा हुआ है। यह सच है कि हमारे यहाँ की कुछ महिलाओं ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे प्रसिद्धि प्राप्त की है, लेकिन वैसी स्त्रियाँ उँगली पर गिनी जा सकती हैं। हमारे देश के महिला-समाज का बहुत ही बड़ा भाग अब भी अज्ञान के अँधेरे मे रहकर गरीबी, असहायता, विवशता और दासता का जीवन बिता रहा है।

जब हम अपने देश के विगत इतिहास के पृष्ठों को उलटते हैं, तब पाते हैं कि उनकी यह दशा सदा से नहीं रही है। वैदिक काल मे भारत मे नारियों की बहुत

ही प्रतिष्ठा थी। समाज में उनका यथेष्ट आदर था और उन्हें पुरुषों के समान ही स्तर प्राप्त था। नारियों को पति की अर्द्धांगिनी माना जाता था और उनकी शिक्षा का प्रबन्ध था। गार्गी, भारती, मैत्रेयी आदि महान् विदुषी नारियों की विद्वता प्रसिद्ध है। उन्हें शास्त्रार्थों मे भाग लेने का भी अधिकार प्राप्त था। स्वयवर द्वारा वे अपने पतियों का वरण करती थीं और उनके विना कोई भी धार्मिक या पवित्र कार्य पूर्ण नही माना जाता था। तभी तो मनुस्मृति मे कहा गया था कि "जहाँ नारियों का मान-सम्मान होता है, वहाँ देवता रमण करते हैं, और जहाँ इनकी प्रतिष्ठा नहीं होती, वहाँ सारी क्रियाएँ विफल हो जाती हैं।"[1]

रामायण तथा महाभारत के समय में भी नारियों का सम्मान होता रहा। बौद्ध-काल मे नारियों को पुरुषों के बरावर तो अधिकार प्राप्त नहीं थे, फिर भी उनकी दशा अच्छी ही थी। इतिहासकारों का कहना है कि गुप्तकाल मे भी उनका काफी सम्मान था यद्यपि कि वे राजनीति में अधिक भाग नहीं लेती थी। बौद्ध-धर्म ने नारियों की गिरी हुई स्थिति को सुधारने का प्रयास किया, लेकिन शकराचार्य ने उन्हें 'नरक के द्वार' आदि की सज्ञा देकर फिर घरेलू जीवन की चहारदीवारियो मे बन्द कर दिया।

मुस्लिम युग मे हिन्दू नारियो की दशा और भी खराव हो गई। मुस्लिम आततायियों के भय से परदा-प्रथा का प्रचलन हुआ। उनके आतक से औरतों का घर से बाहर निकलना और घूमना-फिरना बन्द कर दिया गया। वाल्य विवाह और कुछ राजपूत परिवारों मे कन्या-वध (Killing of the daughter) का रिवाज शुरू हो गया, क्योंकि मुस्लिम शासकों के अत्याचारो से अपनी बहू-बेटियों की अस्मत की रक्षा करना एक बडी विकट समस्या थी। स्त्रियो की शिक्षा मे भारी कमी आई और सती तथा जौहर आदि की प्रथाओ ने जोर पकडा।

नारी सुधार-आन्दोलन—अँगरेजी राज्य के आरम्भिक दिनों तक उपर्युक्त स्थिति मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अशिक्षा, बाल विवाह सती, पर्दा, कन्यावध आदि कुप्रथाएँ विद्यमान थीं ही। इन कुप्रथाओं के विरोध में हमारे कई युग-पुरुषों, जैसे राजा राममोहन राय आदि, ने आवाज बुलन्द की और तत्कालीन सरकार से इन्हें बन्द करने का अनुरोध किया। इन प्रथाओं का अन्त कैसे हुआ, इसपर आगे प्रकाश डाला जायगा। उन्नीसवीं सदी मे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी स्त्री-शिक्षा के लिए महान् प्रयत्न किये।

---

१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्र एतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला. क्रिया ॥ (मनुस्मृति ३, ५६

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से, विशेषकर प्रथम महायुद्ध के बाद से, स्त्रियों की अवस्था में सुधार लाने के आन्दोलन ने काफी जोर पकड़ा। एनी बेसेंट के होमरूल-आन्दोलन तथा महात्मा गांधी के सत्याग्रह आन्दोलनों ने स्त्रियों में भी नवचेतना और जागरूकता की भावना पैदा कर दी। सन् १९२७ ई० में वीमेन्स इंडियन एसोसिएशन (Women's Indian Association) नामक संस्था की स्थापना एनी बेसेंट की अध्यक्षता में की गई। इस संस्था ने स्त्रियों को संगठित कर तथा उनमें राजनीतिक चेतना भरकर उन्हें मातृभूमि की सेवा के लिए तैयार किया। सन् १९२१ ई० के सत्याग्रह-आन्दोलन में सैकड़ों स्त्रियों ने पुरुषों के साथ कंधे-से कंधा मिलाकर स्वतन्त्रता-संग्राम के विभिन्न क्षेत्रों में, पुलिस की लाठियाँ और गोलियाँ सहीं।

इस संस्था की ओर से, सन् १९१७ ई० में भारत-मन्त्री मांटेग्यू के भारत आने पर, स्त्रियों का एक प्रतिनिधि मंडल अपने राजनीतिक अधिकारों की माँग के लिए उनसे मिला तथा स्त्रियों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि की समुचित व्यवस्था की माँग की। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९१९ ई० के प्रान्तीय विधान मंडलों में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हुआ।

सन् १९२५ ई० में नेशनल काउन्सिल आफ वीमेन (National Council of Women) नामक दूसरी संस्था स्थापित की गई, जिसका उद्देश्य विश्व के अन्य देशों के महिला-समाज का भारतीय महिला-समाज से सम्पर्क बढ़ाना था। सन् १९२६ ई० में स्त्रियों की तीसरी संस्था खुली, जिसका नाम पड़ा ऑल इंडिया वीमेन्स कान्फरेन्स (All India Women's Conference)। यह कान्फरेंस सबसे क्रियाशील संस्था बनी। इसका उद्देश्य देश-भर की स्त्रियों को संगठित कर उनकी केन्द्रित और सामूहिक शक्ति द्वारा स्त्रियों से सम्बन्धित सभी समस्याओं को हल करना था।

उपर्युक्त अंतिम संस्था अभी भी कायम है और देश के विभिन्न नगरों तथा प्रान्तों में इसकी सैकड़ों शाखाएँ हैं। इस संस्था द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने के जो प्रशंसनीय कार्य किये गये, उनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू, मिसेज एनी बेसेंट, श्रीमती सरला चौधरानी, श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित, श्रीमती हंसा मेहता, श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय, राजकुमारी अमृत कौर, लेडी रमाराव, भोपाल की बेगम, बड़ौदा की महारानी आदि महिला-नेत्रियों के योगदान उल्लेखनीय हैं।

सन् १९३०, १९३२ तथा १९४२ ई० के कॉंग्रेस-आन्दोलन में पुरुषों की ही तरह स्त्रियाँ भी जेल गईं। इन्होंने भी अँगरेजों की लाठियाँ तथा गोलियाँ खाईं।

सन् १६४२ ई० के आन्दोलन के सिलसिले में महात्मा गांधी की धर्म पत्नी कस्तूरबा का जेल में ही देहान्त हुआ।

इन सब आन्दोलनों के फलस्वरूप स्त्रियों को देश के राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार मिलने लगा। सन् १६१६ ई० के ऐक्ट के अनुसार ३,१५,००० स्त्रियों को प्रान्तीय धारा सभा के लिए वोट देने का अधिकार मिला। इसका प्रयोग इन्होंने पहली बार १६२३ ई० के चुनाव के समय किया। इस वर्ष केन्द्रीय एसेम्बली के निर्वाचन में स्त्रियों ने भाग लिया। सन् १६२७ ई० में श्रीमती डा० मुथुलक्ष्मी रेड्डी मद्रास-व्यवस्थापिका-सभा की सदस्य ही नहीं, वरन् उपप्रधान भी निर्वाचित हुईं।

लंदन में हुई गोलमेज कान्फरेंस (Round Table Conference) में स्त्रियों के प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया गया और श्रीमती सरोजनी नायडू, बेगम शाहनवाज तथा श्रीमती सुब्बारायण ने भाग लिया। सन् १६३५ ई० के भारत-सरकार-कानून के अनुसार लगभग ६६ लाख (१०' प्रतिशत) स्त्रियों को मताधिकार मिला। साथ ही केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं में उनके लिए स्थान[1] सुरक्षित (Reserved) कर दिये गये।

स्त्रियों की वर्त्तमान स्थिति—भारत के वर्तमान गणतान्त्रिक संविधान ने हमारे देश की स्त्रियों को पुरुषों के समान ही राजनीतिक अधिकार प्रदान किया है। राजनीतिक अधिकारों के अतिरिक्त स्त्रियों का सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान ही अधिकार दिये गये हैं। भारतीय संविधान का यह कार्य अत्यन्त ही क्रान्तिकारी माना जाना चाहिए, क्योंकि लगभग ६० वर्षों के लगातार संघर्ष के बाद इंगलैंड में सन् १६२६ ई० तथा फ्रांस में केवल १६४६ ई० में स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार मिले। स्विट्जरलैंड में तो अभी भी ऐसे अधिकार स्त्रियों को प्राप्त नहीं है।

आज हमारे देश की नारियाँ सरकारी नौकरियों, जैसे अखिलभारतीय प्रशासनिक सेवाओं (I. A S), सेना, पुलिस तथा अन्य विभागों में प्रवेश कर चुकी हैं। आज हम स्त्रियों को शिक्षक, लेखिका और कवयित्री के ही रूप में नहीं, वरन् गवर्नर, मन्त्रिणी, राजदूतिका आदि रूपों में भी देखते हैं। सुश्री सरोजिनी नायडू उत्तर-प्रदेश की गवर्नर थीं और उनकी सुपुत्री सुश्री पद्मजा नायडू आज भी प० बंगाल के

---

१ केन्द्रीय विधान-सभा—ऊपरी सभा-६, निचली सभा-८; कुल योग-१४, प्रान्तीय विधान-सभाएँ—मद्रास-८, मध्यप्रान्त-३, बंगाल-५, पंजाब-४, बम्बई-५ और सिन्ध तथा उड़ीसा—प्रत्येक में २।

गवर्नर-पद पर आसीन हैं। श्रीमती राजकुमारी अमृतकौर केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद्की सदस्या थीं। केन्द्रीय तथा राज्य-मन्त्रिपरिषदों में हम आज भी स्त्रियों को उपमन्त्रिणी के रूप मे पाते हैं। श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित ब्रिटेन तथा रूस में भारतीय राजदूतिका, संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा की अध्यक्षा और महाराष्ट्र की राज्यपाल रह चुकी हैं। अभी-अभी श्रीनेहरू की सुपुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी अखिलभारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कमिटी की अध्यक्षा थीं।

इस प्रकार हमारे समाज मे अब नारियों का स्थान पूर्ववत् दयनीय नहीं रहा। आज सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे वे भाग ले रही हैं।

नारी-जीवन की वर्त्तमान समस्याएँ—इतना सब होते हुए भी उपर्युक्त प्रकार की नारियों की संख्या अत्यल्प है। हमारे देश की अधिकांश स्त्रियों की दशा आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से अभी भी अत्यन्त शोचनीय ही है। इसे कौन अस्वीकार कर सकता है कि हमारे देश की करोड़ों नारियाँ अज्ञान के अंधकार में डूबी हुई दीनता, विवशता तथा दासता का जीवन बिता रही हैं। स्त्रियों की इस पिछड़ी हुई अवस्था के कई कारण हैं।

स्त्रियों की समस्याओं मे सबसे प्रमुख स्थान अशिक्षा का है। अशिक्षा के कारण हमारे देश की स्त्रियाँ संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों एवं सुविधाओं का उपयोग नहीं कर पाती हैं। जो कुछ लड़कियाँ पढ़ती हैं, उनके पाठ्यक्रम मे स्त्रियों के भाव जीवन की आवश्यकताओं और जिम्मेवारियों का कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। अशिक्षा के कारण हमारी स्त्रियों मे अंधविश्वास की भावना बनी हुई है।

कुछ समय से हमारे देश मे स्त्री-शिक्षा पर यथेष्ट बल दिया जा रहा है। सरकार और जनता दोनों की ओर से इसमें अभिरुचि दिखाई जा रही है। गाँवों मे प्रारम्भिक स्कूल खोलकर लड़कियों को निःशुल्क शिक्षा दी जा रही है। इस दिशा मे सरकार की ओर से, कस्तूरबा फंड से, सामुदायिक विकास-योजनाओं के अन्तर्गत और समाज कल्याण-बोर्ड द्वारा प्रयत्न किये जा रहे हैं। फिर भी हमें लम्बी मंजिल तय करनी है।

अशिक्षा के बाद पर्दे की प्रथा अभी भी अपने दुष्परिणामों के साथ मौजूद है। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में भी इस प्रथा से बाधा पहुँचती है।

बाल-विवाह की प्रथा तो अब बहुत कम हो गई है, लेकिन **बहु-विवाह, बेमेल विवाह और विधवा-विवाह** की समस्या अभी भी मौजूद है।

दहेज की प्रथा भी स्त्रियों की दुर्दशा मे सहायक है।

उपर्युक्त कारणों से आज भी देश के नारी-समाज के अधिकांश भाग की स्थिति कोई अच्छी नहीं है। उन्हें, अत्यन्त ही संकीर्ण कार्यक्षेत्र मे दीन, विवश और असहाय जीवन बिताना पड़ रहा है।

स्त्रियों के अधिकार-सम्बन्धी नये कानून—यह हर्ष की बात है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद स्त्रियो की अवनत दशा को सुधारने तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए भारत-सरकार ने हिन्दू कोड-बिल बनाया। इस बिल की धाराएँ सन् १६४१ ई० में भारत-सरकार द्वारा नियुक्त राव-कमिटी की छानबीन और सुझावों पर आधारित थीं।

हिन्दू-कोड-बिल हिन्दू-नारियों की कानूनी असमानताओं को दूर कर हिन्दू समाज मे मौलिक परिवर्तन लाने का प्रयास था। लेकिन हमारा रूढ़िग्रस्त हिन्दू-समाज एकाएक और एकबारगी इतने बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए तैयार नहीं था। इसका देशव्यापी घोर विरोध हुआ। यहाँ तक कि हमारे राष्ट्रपति भी इस बिल से पूर्णतया सहमत नहीं थे। अत इसे सामूहिक रूप से एक बार ही पास नहीं करके, इसके चार भाग कर दिये गये—पहला भाग हिन्दू-विवाह और तलाक-कानून (Hindu Marriage and Divorce Act), दूसरा हिन्दू उत्तराधिकार कानून (Hindu Succession Act), तीसरा हिन्दू अल्पवयस्कता एव अभिभावकत्व कानून (Hindu Minority and Guardianship Act) और चौथा हिन्दू-दत्तक-ग्रहण एव वृत्ति-कानून (Hindu Law of Adoption and Maintenance)। ये सब कानून सन् १६५५-५६ ई० मे ससद् द्वारा स्वीकृत कर लिये गये। इन कानूनों की प्रधान बातें निम्नलिखित हैं—

सगाई और असवर्ण-विवाहों को कानूनी मान्यता दे दी गई है। बहुविवाह का अन्त कर दिया गया है। एक मनुष्य केवल एक ही स्त्री रख सकता है और एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता। विशेष परिस्थितियों मे विवाह-विच्छेद भी हो सकता है। लड़कियों को अपने बाप की जायदाद मे अधिकार दिया गया है और उसे बेचने या दान मे देने या किसी अन्य व्यक्ति को उसका उत्तराधिकारी बनाने की उन्हें आज्ञा मिल गई है। अपने पति से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति पर जो रुकावटें विधवाओं के लिए थीं, उन्हें दूर कर दिया गया है। विधवाओं को गोद लेने का अधिकार दे दिया गया है। कोई भी नारी किसी लड़के या लड़की को गोद ले सकती है और कुछ विशेष परिस्थितियों मे हिन्दू-नारियों को अपने पति से वृत्ति प्राप्त करने का अधिकार भी दे दिया गया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि हमारी सरकार स्त्रियो को स्वतन्त्र अस्तित्व देने मे प्रयत्नशील है। हमारा समाज भी स्त्रियों की दशा सुधारने मे दिलचस्पी लेने लगा है। लेकिन इन परिवर्तनों से एक आशका भी है। कहीं ऐसा न हो कि इस स्वतन्त्र अस्तित्व को

जाती है कि क्या सचमुच भारतवासियों का एक सामाजिक जीवन है? इन लोगों के अनुसार भारत में 'एक समाज नहीं होकर कई समाज हैं।' अतः भारतवासियों का एक सामान्य सामाजिक जीवन होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार की धारणाएँ भ्रान्तिमूलक हैं; क्योंकि इस प्रकार के विचारक हमारे सामाजिक जीवन को बाह्य रूप से ही देखते हैं। इन आलोचकों की दृष्टि हमारे सामाजिक जीवन की बाह्य विभिन्नताओं एवं अनेकताओं के नीचे छिपी हुई एक मौलिक और अनोखी एकता तक नहीं पहुँच पाती है। ये लोग यह नहीं देख पाते हैं कि हमारे देश की संस्कृति में विभिन्न जातियों तथा धर्मों का समावेश होकर एक मिली जुली संस्कृति का निर्माण हो गया है। धर्म, जाति, भाषा, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि की विभिन्नताओं और अनेकताओं के बावजूद समस्त भारतवासियों में एक विशिष्ट और अवर्णनीय सामाजिक एकानुभूति है। इस सामाजिक एकानुभूति का पूर्ण और स्पष्ट आभास तब मिलता है, जबकि हम अपनी भौगोलिक सीमा से परे किसी विदेशी सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि में उसे आँकने की कोशिश करते हैं।

अतः अनेक विभिन्नताओं के पीछे छिपी हुई एक मौलिक एकता हमारे सामाजिक जीवन की एक सामान्य विशेषता है। कुछ लेखकों के अनुसार "वे विभिन्नताएँ ही हमारे सामाजिक जीवन की पहली विशेषता है।"

(२) धर्म का व्यापक प्रभाव—धर्म को जैसा सर्वोपरि स्थान भारतीय जन-जीवन में दिया गया, वैसा अन्यत्र नहीं। हमारे सामाजिक संगठनों और व्यवस्थाओं पर धर्म की अमिट और गहरी छाप पड़ी है। भारत का प्रत्येक सामाजिक वर्ग और प्रत्येक समुदाय धर्म को विशेष स्थान और महत्त्व देता है। ठीक ही कहा गया है कि "जिस प्रकार प्राचीन रोम ने अपनी नागरिकता के उच्च आदर्शों का जयनाद किया, प्राचीन यूनान ने अपने बुद्धि-वैभव से संसार को चकित किया, उसी प्रकार प्राचीन भारत ने अपने आध्यात्मिक आदर्शों का शंख नाद किया।"

हमारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था धर्म की नींव पर ही आधारित थी और हमारे देशवासियों के जीवन का प्रत्येक क्षण धर्म से प्रभावित रहता था। पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता तथा वैज्ञानिक भौतिकवाद होने के कारण यद्यपि आज हमारे सामाजिक जीवन में धर्म का वह प्राचीन सर्वोपरि स्थान नहीं रह गया है, फिर भी जन्म से मृत्यु तक हमारे जीवन में किसी-न-किसी रूप में धर्म का हाथ अवश्य ही रहता है।

(३) कृषि प्रधान समाज—गाँवों का देश होने के कारण भारतीय सभ्यता और संस्कृति कृषि-प्रधान है। हमारे देश में लगभग छह लाख गाँव हैं और भारत

जिन्होंने अठारहवीं शताब्दी के ह्रासोन्मुख भारतीय सामाजिक जीवन को पुनरुज्जीवित किया और भारत को अपने अतीत के गौरव की झलक दिखाकर भविष्य की ओर प्रगतिशील बनाया।

(२) आर्य-समाज तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती—आर्य-समाज ने भी, जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ ई० मे की, सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। आर्य-समाज ब्रह्म समाज से अधिक सफल तथा व्यापक आन्दोलन रहा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने केवल वेदों को ही प्रामाणिक ग्रन्थ माना। पुराणो तथा अन्य धर्म-शास्त्रों को उन्होंने हिन्दू-धर्म का मूल ग्रन्थ नही माना। स्वामीजी तथा आर्य समाज के अन्य अनुयायी मूर्त्ति पूजा, छुआछूत, जाति पाँति और ऊँच नीच की भावनाओं के कट्टर विरोधी थे। इन लोगों ने बाल विवाह तथा पशु-बलि का भी विरोध किया। श्राद्ध, अवतारवाद, और अनेकेश्वरवाद की भी इन लोगों ने निन्दा की। ये लोग गो-रक्षा के समर्थक थे।

स्वामीजी के नेतृत्व में आर्य समाज ने हिन्दू-धर्म को सादगी के साथ अपनाने का रास्ता दिखलाया। स्वामीजी ने अनेक स्थानों मे जा-जाकर तथा ईसाई धर्म के प्रचारको को शास्त्रार्थ में पराजित कर हिन्दू धर्म की रक्षा की।

राजा राममोहन राय जहाँ पाश्चात्य सभ्यता तथा ईसाई-धर्म से प्रभावित थे, वहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय संस्कृति तथा हिंदू धर्म को ही सर्वोत्तम मानते थे। आर्य-समाज पहली संस्था थी, जिसने अछूतोद्धार कार्य सुचारु रूप से चलाया।

इस प्रकार आर्य समाज तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के प्रशसनीय कार्य किये।

३) प्रार्थना-समाज—इसकी स्थापना सन् १८६७ ई० मे महाराष्ट्र में हुई। ब्रह्म-समाज से प्रभावित होने के कारण इस संस्था ने भी छुआछूत, जाति पाँति, मूर्त्ति पूजा, बाल-विवाह आदि सामाजिक कुप्रथाओं का अन्त करने का प्रचार किया तथा अपनी शिक्षण-संस्थाओं द्वारा स्त्री-शिक्षा और विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया।

(४) इन संस्थाओं के अतिरिक्त **थियोसाफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन, सर्वातवी, राधास्वामी और देवस्वामी आन्दोलनों** ने भी अपने मुख्य कार्य के साथ-साथ सामाजिक कुरीतियों को भी दूर करने का प्रयास किया।

(५) पिछली सदी मे मुसलमानो में भी कुछ धार्मिक आन्दोलन हुए। इन आन्दोलनों में **वहाबी-अन्दोलन, अलीगढ-आन्दोलन और अहमदिया आन्दोलन** के नाम प्रसिद्ध हैं। इन आन्दोलनों ने भी मुसलमानों के सामाजिक जीवन की कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया।

सर्वोदय-समाज

"समाज मनुष्य के मैत्रीपूर्ण अथवा शांतिमय जीवन की दशा का नाम है।" मैकाइवर ने समाज की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "मनुष्य का एक-दूसरे के साथ ऐच्छिक सम्बन्ध ही समाज है।" समाज की उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जबतक समाज के सभी व्यक्तियों एवं जातियों या वर्णों को पूर्ण रूपेण विकास करने का अवसर नहीं मिलता तबतक उस समाज की उन्नति नहीं हो सकती।

भारतीय सामाजिक जीवन के उपर्युक्त वर्णन से पता चल गया है कि इसमें विभिन्न प्रकार की कितनी ही कुरीतियाँ अभी भी विद्यमान हैं। इन्हीं सब कुरीतियों को दूर करने तथा समाज के सभी व्यक्तियों तथा अंगो को उन्नति करने का अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से मार्च, सन १९४८ ई० में वर्धा में 'सर्वोदय-समाज' की स्थापना की गई।

'सर्वोदय-समाज' की योजना गाँधीजी के 'रामराज्य' की स्थापना के हेतु बनाई गई विभिन्न योजनाओं में से एक है। सर्वोदय समाज का मुख्य ध्येय 'बहुजन हिताय' के स्थान पर 'सर्वभूतहिते रता' वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं व्यवहारीकरण करना है।

सर्वोदय-समाज का अभिप्राय वैसे समाज से है, जो (१) सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित हो, (२) जिसमें जाति, धर्म, वर्ण, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, आदि कृत्रिम भावनाओं और प्रथाओं के भेद-भाव नहीं हो, (३) जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण नहीं करे, (४) सभी परिश्रम करें, सुख से रहें और प्रगति करते रहें और (५) सबको अपनी उन्नति का समान और समुचित अवसर मिलता रहे ताकि समूह और व्यक्ति दोनों का उदय हो। इस प्रकार सर्वोदय-समाज का उद्देश्य शांतिपूर्ण उपायों द्वारा, सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं को दूर कर, समाज की सर्वाङ्गीण एवं बहुमुखी उन्नति करना है।

इस समाज के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित साधनों या कार्यक्रमों का उपयोग किया जा रहा है।—

(१) साम्प्रदायिक एकता, जाति-भेद तथा अस्पृश्यता निवारण,
(२) मद्य-निषेध और प्राकृतिक चिकित्सा,
(३) आर्थिक समानता, कृषि की उन्नति, गोसेवा,
(४) आदिमजातियों की सेवा, स्त्रियों की स्थिति में सुधार,
(५) खादी को प्रयोग तथा घरेलू उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन,

(६) प्रान्तीय संकीर्णता का विनाश तथा देश की सभी भाषाओं का विकास;

(७) ग्राम-सुधार, विद्यार्थी तथा मजदूर-सगठन,

(८) बुनियादी शिक्षा तथा भूदान।

आज देश-भर में इसकी शाखाएँ तथा उपशाखाएँ स्थापित हैं। इसके प्रधान आचार्य विनोबा भावे हैं।

भारत-सेवक-समाज

१५ अगस्त, १९४७ ई० को हमारा देश अँगरेजों के चंगुल से छूटकर आजाद हुआ और हमें राजनीतिक आजादी मिली। लेकिन हमारे देश की विकट आर्थिक, सामाजिक और अन्य समस्याएँ, राजनैतिक आजादी-भर मिल जाने से ही दूर नहीं हो गईं।

हमारा इतना बड़ा देश है और हमारे करोड़ों नर नारियों की इतनी अनगणित समस्याएँ हैं कि सिर्फ सरकारी उपायों द्वारा उन्हें हल करने करना कठिन ही नहीं, असभव था। इसलिए यह अनुभव किया गया कि जबतक देश की समस्त जनता का सहयोग सरकार को प्राप्त नहीं रहेगा तबतक देश की आर्थिक और सामाजिक उन्नति नहीं होगी। इसके साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि जबतक ऐसे कार्यक्रम को तथा ऐसी सस्था को राजनीतिक झगडों ओर विवादों से दूर नहीं रखा जाता, तबतक समस्त जनता का सहयोग मिल सकना असभव है।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए भारत-सेवक-समाज की स्थापना की गई। इस सस्था के प्रधान हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीजवाहरलाल नेहरू थे।

इस संस्था का उद्देश्य है—(१) जन-सहयोग प्राप्त करना, (२) सामाजिक कुरीतियों को दूर करना तथा (३) राष्ट्रोत्थान के लिए देश में जागरूकता, चेतना, उत्साह और त्याग की भावनाएँ उत्पन्न करना। सामाजिक कुरीतियों को दूर करना, जनता में सामुदायिक तथा पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्यो और लाभों का प्रचार करना, तथा उनके सफल सम्पादन के लिए जन शक्ति और जन सहयोग प्राप्त करना, गरीबी दूर करना तथा खाली समय में लोगों को कार्य दिलवाना आदि इस सस्था के मुख्य-कार्य हैं।

स्मरण रहे कि भारत-सेवक-समाज एक अराजनीतिक तथा गैर-सरकारी सस्था (Non-political and Governmental body) है। इसका काम समाज में भाई चारे तथा श्रम की महत्ता की भावनाओं का प्रचार करना है। इस सस्था ने सामाजिक क्षेत्र में श्लाघनीय कार्य किये हैं।

प्रश्न

१. भारत के सामाजिक जीवन की मुख्य बुराइया कौन-कौन सी है ? इनका सुधार करने के लिए कौन कौन-से मुख्य प्रयत्न हुए हैं ?

What are the main defects of the Indian social life ? What important efforts have been made to refrom them ?

२ 'अस्पृश्यता हमारे समाज का एक बहुत बडा अभिशाप है'– व्याख्या कीजिए महात्मा गाधी द्वारा, इस अभिशाप को दूर करने के लिए किये गये कार्यों का वर्णन कीजिए।

'Untouchability is a great curse of our society' Explain this statement and describe the works done by Mahatma Gandhi to remove this curse

३. भारतीय सामाजिक जीवन मे नारियों का क्या स्थान है ? वर्त्तमान समय में उनकी दशा सुधारने के लिए क्या प्रयत्न किये गये हैं ?

What is the postition of women in the Indian social life What efforts have been made to improve their condition ?

४. उन्नीसवीं सदी के धार्मिक आन्दोलनो ने समाज-सुधार के सम्बन्ध मे क्या कार्य किया ?

What did the Religious Movement of the 19th century do in the field of Social Reforms ;

५. सक्षिप्त टिप्पणी लिखें—

(१) हिन्दू-कोड बिल, (२) सर्वोदय समाज, (३) भारत-सेवक-समाज, (४) स्त्री शिक्षा, (५) भारतीय नारियों की वर्तमान समस्याएँ।

Write shorts notes on:—

(1) Hindu Code Bill, (2) Sarvcdaya Samaj (4) Bharat Sevak Samaj, (5) Women Education and (6) Present-day problems of the Indian women